परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

❊ जन्मदिवस 19–03–1971 ❊ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ❊ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

लघुतत्त्वस्फोट

ग्रन्थकर्त्ता

परम पूज्य आचार्यश्री अमृतचन्द्र जी महाराज

अनुवाद-सम्पादक

पण्डितप्रवरश्री पन्नालाल जैन-साहित्याचार्य

प्रकाशक
श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान
वाराणसी (उत्तरप्रदेश)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्राय: होता है। फलत: उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

श्री गणेश वर्णी दि. जैन संस्थान पुष्प-२

ॐ

नमः परमात्मने

श्रीमदाचार्य अमृतचंद्र सूरि विरचित

लघुतत्त्वस्फोट

अनुवादक-सम्पादक
पण्डित डॉ. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य
(सागर, म. प्र.)

प्रकाशक
श्री गणेश वर्णी दि. जैन संस्थान
(श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला)
नरिया, वाराणसी

वीर नि. संवत् २५०८]   विक्रम संवत् २०३७   [ई. सन् १९८१

प्रकाशक :

पृष्ठ संख्या : १२ + ५२४ = ५३६
लागत मूल्य :

टाईप सेटिंग :
पू□ा इम्प्रेशन्स
१०७५/ए, मातृछाया-४,
आंबावाडी, भावनगर-३६४००१
फोन : (०२७८) २२०३४७०

मुद्रक :
□ागवती ऑफसेट
१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड
बारडोलपूरा, अहमदाबाद
फोन : (०७९) २१६७६०३

प्रकाशकीय

अध्यात्मरसमधुप `आचार्य अमृतचंद्र' की महत्त्वपूर्ण संस्कृत रचना - `**लघुतत्त्वस्फोट**' एक स्तुतिपरक ग्रंथ है, जिसे अध्यात्म सम्बन्धी विविध विषयों का एक सुभाषितकोश-ग्रन्थ भी कहा जा सकता है इसीलिए इसका अपरनाम `शक्तिभणितकोश' भी उपलब्ध होता है। जैन संस्कृत, प्राकृत, तमिल एवं कन्नड़ साहित्य में प्राचीनकाल से इस शैली के ग्रन्थों के लिखे जाने की परम्परा रही है और इस कोटिके ग्रन्थों में `अष्टपाहुड', `थिरुक्कुरल', `सुभाषितरत्नसन्दोह', `बज्जालग्गं' जैसे ग्रन्थ प्रमुख हैं। वस्तुतः यह शैली गागर में सागर के भरने जैसी होती है। इसमें वही कवि सफल हो सकता है जो तत्तद्विषय का गम्भीरमर्मी विद्वान् हो तथा जिसका भाषापर असाधारण अधिकार हो। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वर्गीकृत गहनविषय सम्बन्धी मुक्त-शैली विद्वत्ता एवं कवित्वशक्ति के लिए खरी कसौटी होती है और अपनी ख्याति से सर्वदा दूर भागनेवाले आत्मनिष्ठ `आचार्य अमृतचंद्र' इस कसौटीपर निश्चय ही खरे उतरे हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में जहाँ वे सिद्धयोगी हैं, वहीं कविता के क्षेत्र में वे महाकवि शिरोमणि। उनकी कवीन्द्र की उपाधि सर्वथा सार्थक है। कवीन्द्राचार्य `अमृतचंद्र' की ज्ञान-गरिमा तथा विषय-प्रतिपादन की शैली की अपूर्वता में सभी विद्वज्जन एकमत हैं और उनके दृष्टिकोण से उन्होंने जैन अध्यात्म, विशेषता `कुंदकुंद' के अध्यात्म को सहज, सुबोध एवं सर्गगम्य बनाया है। श्रीयुत् `पं. कैलाशचंद्रजी सिद्धांताचार्य'ने उपयुक्त ही कहा है कि `कुंदकुंद को कुन्दवत् प्रकट करने का श्रेय अमृतचंद्र को ही है। प्रकटन और प्रसार में जो स्थिति भगवान महावीर और गौतम गणधर की है, वही स्थिति जैन अध्यात्म के प्रकटन और प्रसार में आचार्य कुंदकुंद और अमृतचंद्र की है।'

`**लघुतत्त्वस्फोट**' विविध विषयक २५ स्वतन्त्र प्रकरणों में विभक्त है और प्रत्येक प्रकरण में २५-२५ श्लोक हैं। इस प्रकार कुल श्लोक संख्या ६२५+२ है। कविने विषयानुकुल १३ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। यथा - वसन्ततिलका (दे. १-३ प्रकरण) वंशस्थ (दे. ४-७; २०-२१ प्रकरण), उपजाति (दे. ८-१० प्रकरण), अनुष्टुप (दे. ११-१२ प्रकरण), मञ्जुभाषिणी (दे. १३ वाँ प्रकरण), तोटक (दे. १४ वाँ प्रकरण), मत्तमयूर (दे. १८ वाँ प्रकरण), वियोगिनी (दे. १९ वाँ प्रकरण), मन्दाक्रान्ता (दे. २२ वाँ प्रकरण), हरिणी (दे. २३ वाँ प्रकरण) एवं शार्दूलविक्रीडित (दे. २४-

२५ प्रकरण)। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ दर्शन समन्वित अध्यात्म का है किन्तु स्तुतिपरक होने तथा गेय-छन्दों में ग्रथित होनेके कारण पाठक को सहज में ही उसकी मर्मानुभूति होने लगती है।

जैन-विद्या के प्रकाण्ड विद्वान श्री. पं. कैलाशचंद्रजी शास्त्रीने `**लघुतत्त्वस्फोट**' के अध्ययन के साथ-साथ `आचार्य अमृतचंद्र' की अन्य उपलब्ध समस्त रचनाओं का सूक्ष्म अध्ययन कर उनके हार्द को प्रकाशित करने का प्रयास किया है। इससे ग्रन्थकार के कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर भी सुंदर प्रकाश पड़ता है।

सम्पादकीय

ग्रन्थ का नाम

इस ग्रन्थ का नाम `लघुतत्त्वस्फोट' अथवा `शक्तिमणित कोष' है। लघुतत्त्वस्फोट का अर्थ है तत्त्वों का लघुप्रकाश और शक्तिमणित कोष का अर्थ है - शक्तिरूपी मणियों से युक्त खजाना। एक कल्पना यह भी उठती है कि ग्रन्थ का नाम शक्तिभणित कोष है अर्थात् आत्म शक्तियों के कथन का कोष। लिपि कर्त्ताने म और भ के अन्तर को नहीं समझा। इस कल्पना का समर्थन ग्रन्थ के अन्त में समागत निम्न श्लोक से मिलता है -

अस्याः स्वयं रभसि गाढनिपीडितायाः
संविद्विकासरसवीचिभिरुल्लसन्त्याः।
आस्वादयत्यमृतचंद्रकवीन्द्र एष
हृष्यन् बहूनि भणितानि मुहुः स्वशकत्येः।।

अर्थात् स्वयं वेग से अच्छी तरह निपीडित और सम्यग्ज्ञान के विकास रूप रस की तरङ्गों से समुल्लसित आत्मशक्ति के विविध कथनों का यह अमृतचंद्र कवीन्द्र हर्षित होता हुआ बार बार आस्वादन करता है।

शक्तिमणित और शक्तिभणित का स्पष्ट निर्णय न होनेके कारण `लघुतत्त्वस्फोट' इस नाम से ही प्रकाशन किया जा रहा है। `इत्यमृतचंद्रसूरीणां कृतिः शक्तिमणितकोषो नाम लघुतत्त्वस्फोटः समाप्तः' इस पुष्पिका वाक्य में दोनों नामों का उल्लेख हैं।

ग्रन्थ के कर्त्ता

ग्रन्थ के कर्त्ता `समयसार' `प्रवचनसार' `पञ्चास्तिकाय' के संस्कृत टीकाकार तथा `तत्त्वार्थसार' और `पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' के रचयिता `अमृतचंद्र सूरि' ही हैं क्योंकि पुष्पिका वाक्य के स्पष्ट उल्लेख के साथ `समयसार' और `प्रवचनसार' के अनेक गाथाओं का भावानुसरण इसमें पाया जाता है। भावानुसरण ही नहीं निम्न श्लोक में `समयसार' में कलश का पूर्णरूप से शब्दानुसरण भी पाया जाता है -

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव।
मन्ये भिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकर।।

`समयसार' में यह १४१ वाँ कलश काव्य है। विशेषता इतनी ही है कि वहाँ मन्ये के स्थान में यस्या पाठ है। इसके सिवाय `लवणखिल्यलीलायते' आदि अनेक कलशों का भी इसमें रूपान्तरण है। `समयसार' की टीका में एक जगह `अमृतचंद्र स्वामी' ने `झटिति' अर्थ में `टसिति' शब्द का प्रयोग किया है वह इसमें २३ वीं पच्चीसिका में उपलब्ध है। १८ वीं पच्चीसिका के २ श्लोक में `तवैषो विषयः स्यात्' यहाँ एतद् शब्द सम्बन्धी सु का लोप नहीं किया है जब कि अन्यत्र श्लोकों में किया है। इससे जान पड़ता है कि आचार्य को एतत् शब्द सम्बन्धी सु का लोप विकल्प से इष्ट है। इसी प्रकार का एक प्रयोग इन्होंने `नैषः' कदापि सङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम्' `पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में भी किया है।

तुलनात्मक टिप्पण में `समयसार', `प्रवचनसार' आदि की गाथाओं तथा समानार्थक कलश काव्यों के मैंने उद्धरण दिये हैं।

`लघुतत्त्वस्फोट' में समन्तभद्र स्वामी की पद्धति का अनुसरण किया गया है अर्थात् जिस प्रकार उन्होंने युक्त्यनुशासन और स्वयंभूस्तोत्र में दार्शनिक तत्त्वों का समावेश किया है उसी प्रकार इसमें भी दार्शनिक तत्त्वों का समावेश किया है। विशेषता यह है कि अनेकान्त पद्धति से भिन्न दर्शनों की मान्यताओं को जैन मान्यताओं के रूप में स्वीकृत किया गया है। वर्तमान में चल रही कितनी ही समस्याओं का समाधान इसमें किया गया है। व्यवहार चारित्र को सर्वप्रथम स्वीकृत करने की बात कहकर उसकी उपादेयता का प्रतिपादन किया है। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग निमित्त का निरूपण, निश्चय और व्यवहार की चर्चा भी जहाँ तहाँ उपलब्ध है।

ग्रन्थ की भाषा

ग्रन्थ की भाषा प्रौढ़ संस्कृत है। `अमृतचंद्राचार्य' संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान थे, यह हम `समयसारादि' ग्रन्थों की टीकाओं के माध्यम से जानते हैं। समयसारादि जैसे अध्यात्म ग्रन्थों की टीका में भी जब उन्होंने भाषा की प्रौढ़ता को नहीं छोड़ा है तब इस स्वतन्त्र ग्रन्थ में कैसे छोड़ सकते थे। प्रथम पच्चीसिका तथा अन्त की

चार पच्चीसिकाएँ भाषा की दृष्टि से प्रौढ़तम कही जा सकती हैं।

इन पच्चीसिकाओं में वसन्ततिलका, वंशस्थ, उपजाति, अनुष्टुप्, मञ्जुभाषिणी, तोटक, वियोगिनी, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, मत्तमयूर, मन्दाक्रान्ता, हरिणी और शार्दूलविक्रीडित छन्दों का प्रयोग हुआ है। `अमृतचंद्र सूरि' कवि ही नहीं कवीन्द्र थे, अतः भावानुकूल पदों के चयन में उन्हें कठिनाई प्रतीत नहीं होती। उनकी वाग्धारा गङ्गा के प्रवाह से समान अखण्ड गति से प्रवाहित हुई है। प्रथम पच्चीसिका में वृषभादि चौबीस तीर्थङ्करों का स्तवन है. ग्रन्थ में भाव की गरिमा के साथ भाषा की प्रौढ़ता भी ग्रन्थकार आचार्य `अमृतचंद्र' के वैशिष्ट्य को प्रकाशित करती है। दृष्टान्त के लिये अभिनन्दन स्वामी का स्तवन देखिये -

यद् भाति भाति तदिहाथ च (न) भात्यभाति
नाभाति भाति स च भाति न भात्यभाति।
भा (या) भाति भात्यपि च भाति न भात्यभाति
सा चाभिनन्दन विभान्त्यभिनन्दति त्वाम्।।४।।

श्लोक का अन्वयार्थ तथा पाद टिप्पण ग्रन्थ में देखिए।

विज्ञान की महिमा

आत्मरस में प्रवृत्त विज्ञानतन्तुओं की महिमा देखिए -

विज्ञानतन्तव इमे स्वरसप्रवृत्ता
द्रव्यान्तरस्य यदि संघटनाच्च्यवन्ते।
अद्यैव पुष्कलमलाकुलकश्मलेयं
देवाखिलैव विघटेत कषायकन्था।।१७।।

हे भगवन् ! यदि ये विज्ञानतन्तु स्वरस-आत्मरस में प्रवृत्त हो अन्य द्रव्यों के संयोजन-कर्तृत्व से च्युत हो जावें तो अत्यधिक मल से व्याप्त यह कषायरूपी मलिन कन्था (कथरी) आज ही विघट जाय। तात्पर्य यह है कि ज्ञान की स्वमुखी प्रवृत्ति ही कषाय को नष्ट करती है।

द्रव्यसंयम और भावसंयम की उपयोगिता

द्रव्यसंयम और भावसंयम की प्रभुता का प्रतिपादन करते हुए `अमृतचंद्र सूरि' द्रव्यसंयम को प्रथम धारण करने की बात कितनी दृढ़ता से करते हैं देखिये -

अत्यन्तमेतमितरेतरसव्यपेक्षं
स्वं द्रव्यभावमहिमानमवाधमानः।

स्वच्छन्दभावगतसंयमवैभवोऽपि
स्वं द्रव्यसंयमपथे प्रथमं न्युङ्क्थाः ।।२०।। (८)

हे भगवन् ! यद्यपि आप परस्पर अत्यंत सापेक्ष द्रव्यसंयम और भावसंयम को वाधित नहीं करते थे अर्थात् किसी एक की प्रभुता बताकर अन्य को तुच्छ नहीं बताते थे। और भावसंयम के वैभव को स्वेच्छा से हृदय में धारण करते थे तथापि अपने आपको प्रथम द्रव्यसंयम के मार्ग में लगाया था।

भक्त की भावना

हे भगवन् ! कषायरूपी कषण पट्टिका पर घिसने से मेरे ज्ञान की एक ही कला शेष रही है। उस ज्ञान की एक कला के द्वारा ही मैं आपका स्तवन करनेके लिये उद्युक्त हुआ हूँ। आपकी विभूति के प्रकट करने में उस कलासे कितना प्रकाश हो सकता है ? क्या कभी अलातचक्र भी सूर्य हुआ है ?

स्तुतिकर्ता अपने आपको भगवत्स्वरूप में किस प्रकार विलीन करता है, यह देखिये -

उत्सङ्गोच्छलदच्छकेवलपयःपूरे तव ज्यायसि
स्नातोऽत्यन्तमतन्द्रितस्य सततं नोत्तार एवास्ति मे।
लीलान्दोलितचिद्विलासलहरीभारस्फुटास्फालन-
क्रीडाजर्जरितस्य शीतशिववत् विष्वग्विलीनात्मनः ।।२५।। (२४)

हे भगवन् ! आपके भीतर छलकते हुए केवलज्ञानरूपी प्रशस्त जल के पूर में जो स्नान कर रहा है, जो निरंतर सावधान है, लीला से चञ्चल चैतन्य विलासरूपी तरङ्ग समूह के प्रचण्ड आस्फालन की क्रीडा से जो जर्जरित हो रहा है तथा शीत शिव - सेंधा नमक के समान जो सब ओरसे विलीन हो रहा है ऐसे मेरा उत्तार - उत्तरण - आपसे पृथक्भाव नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पानी में विलीन सेंधे नमक की डली उससे पृथक् नहीं हो सकती उसी प्रकार मैं भी आपसे पृथक् नहीं हो सकता। यह हे भगवान् के साथ भक्त की तन्मयता का सुंदर निदर्शन।

इस प्रकार ग्रन्थ का प्रत्येक श्लोक अद्‌भुत भाव से परिपूर्ण है। आत्मा की जो अनंत शक्तियाँ मणियों के समान देदीप्यमान हैं वे सब इस कोष में देदीप्यमान हो रही हैं। `समयसार' और `प्रवचनसार' के अन्त में आत्मा की जिन शक्तियों का दिग्दर्शन कराया है उन्हीं शक्तियों का नये परिवेश के साथ इस ग्रन्थ में प्रतिपादन किया

गया है।

ग्रन्थ की उपलब्धि

इस ग्रन्थ की ताडपत्रपत्री की उपलब्धि अहमदाबाद के देलाभण्डार में हुई है। भण्डार के व्यवस्थापकों ने इस ग्रन्थ की अबतक रक्षा की और उसे प्रकाश में लाने की उदारता दिखलाकर श्री पुण्यविजयजीने उदारता से डा. पद्मनाभजी को प्रदान किया, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। डा. साहब ने इसपर अंग्रेजी टीका लिखकर विस्तृत प्रस्तावना लिखी। ग्रन्थ का प्रकाशन अहमदाबाद से हुआ है। यद्यपि अंग्रेजी टीका के पूर्व ही मेरे द्वारा हिन्दी टीका लिखी जा चुकी थी और इसका सहकार डा. साहब को प्राप्त हो चुका था फिर भी इसका प्रकाशन कारणवश देरसे हो रहा है। ग्रन्थ दुरूह है अतः मेरे द्वारा हिन्दी टीका लिखी जानेमें त्रुटियाँ रहीं होगी, उन सबके लिए में विद्वद्वर्ग से क्षमाप्रार्थी हूँ। अपने क्षयोपशम के अनुसार मैंने ग्रन्थकर्त्ता का अभिप्राय प्रकट करने का प्रयास किया है। इस ग्रन्थ के संशोधन और संपादन में बड़ा श्रम करना पड़ा है। दृष्टि की मन्दता और शरीर की शिथिलता देखते हुए लगता है कि यह मेरी अन्तिम रचना होगी। `अमृतचंद्र स्वामी' के अद्यावधि अप्रकाशित इस ग्रन्थ पर कार्य करने का मुझँ सौभाग्य मिला, इसकी अत्यधिक प्रसन्नता है।

श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचंद्रजी ने अपनी विस्तृत प्रस्तावना में ग्रंथ कर्त्ता के जीवन पर प्रकाश डालते हुए ग्रन्थ की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया है। इसके लिये उनका आभारी हूँ। सहयोगी विद्वान डॉ. दरबारीलाल जी कोठिया वाराणसी ने दर्शन विषयक कुछ श्लोकों का अनुवाद और भावार्थ लिखकर भेजा तथा वाचना के समय एक प्रति को परिमार्जित किया। इसके लिये इनका आभारी हूँ।

आदरणीय तात्या जी बड़े धीरज के साथ लम्बे समय तक प्रतियों की पाण्डुलिपी कराने तथा उसे इधर-उधर भेजने में तत्परता दिखाते रहे, इसके लिये उनका आभारी हूँ।

विनीत
पन्नालाल साहित्याचार्य

हमारी जानकारी अनुसार यह ग्रंथ **श्री गणेश वर्णी दि. जैन संस्थान** ट्रस्ट **नरिया, वाराणसी** (गांव) में **विक्रम संवत् २०३७, ई. सन् १९८१** साल में छपवाया था।

शास्त्र का नाम :- लघुतत्त्वस्फोट
शास्त्र रचयीता का नाम :- श्री अमृतचंद्रसूरिविरचित
शास्त्र की भाषा :-
साल :-
टीका रचनार का नाम :- भट्टारक श्री शुभचंद्र और पंडित जयचंदजी
टीका की भाषा : संस्कृत और हिन्दी

प्रस्तावना

आचार्य अमृतचंद्र

`आचार्य कुंदकुंद' के `समयसार', `प्रवचनसार' और `पञ्चास्तिकाय' के आद्य टीकाकार `आचार्य अमृतचंद्र' के नामसे प्रायः सभी अध्यात्मरसिक सुपरिचित हैं। यद्यपि जैन अध्यात्म के पुरस्कर्त्ता `आचार्य कुंदकुंद' हुए; किन्तु अध्यात्म की सरिता प्रवाहित करने का श्रेय `आचार्य अमृतचंद्र' को ही प्राप्त है। `आचार्य कुंदकुंद' और अमृतचंद्र`' के मध्य में लगभग एक हजार वर्षों का अन्तराल है और इस अन्तराल में प्रख्यात जैनाचार्य हुए हैं। उनमें से `आचार्य पूज्यपाद' तो `कुंदकुंद' से प्रभावित हैं। उनके `समाधितंत्र' और `इष्टोपदेश' पर `कुंदकुंद' के `पाहुडों' का प्रभाव है। `सर्वार्थसिद्धि' टीका में[1] भी पंच परावर्तनसम्बन्धी पाँच गाथाएँ `कुंदकुंद के बारस अणुवेक्खासे' संगृहीत हैं। `आचार्य अकलंक' ने `तत्त्वार्थवार्तिक' में[2] प्रवचनसार से एक गाथा उद्धृत की है। `आचार्य विद्यानन्द'ने अपनी अष्टसहस्री में `पञ्चास्तिकाय' की गाथा `सत्ता' आदि का संस्कृत रूपान्तर दिया है। किन्तु `कुंदकुंद' के मौलिक ग्रन्थ `समयसार' को किसीने स्पर्श नहीं किया। यह श्रेय तो `अमृतचंद्र' को ही प्राप्त है। उन्होंने ही सर्वप्रथम उसका मूल्याङ्कन किया और ऐसा किया कि `आचार्य कुंदकुंद' जैनाकाश में सूर्य की तरह प्रकाशित हो गये। `कुंदकुंद' को कुन्दनवत् प्रकट करने का श्रेय `अमृतचंद्र' को ही है। अतः उनकी वाणी के प्रकटन और प्रसार में जो स्थिति भगवान् महावीर और गौत्तम गणधर की है वही स्थिति जैन अध्यात्म के प्रकटन और प्रसार में `आचार्य कुंदकुंद' और `आचार्य अमृतचंद्र' की है। जैसे भगवान् महावीर की वाणी को द्वादशाङ्ग श्रुत में गौतम गणधरने निबद्ध करके प्रवाहित किया। उसी प्रकार `आचार्य कुंदकुंद' के द्वारा पुरस्कृत अध्यात्म को अपनी टीकाओं के द्वारा `आचार्य अमृतचंद्र'ने निबद्ध और प्रवाहित किया। उनके पश्चात् ही अन्य टीकाकारोंने भी उन पर अपनी टीका रची, इस तरह अध्यात्मरूपी कमल का सौरभ फैलाकार भी, `आचार्य अमृतचंद्र' अपने

---

१. सर्वा. २/१०। बारसअणु. गा. २५ से २९ तक। २. तत्त्वा. पृ. ११६ पर। ३. अष्टस. पृ. ११३।

सम्बन्ध में मूक हैं। उन्होंने अपनी कृतियों में अपना नामोल्लेख मात्र किया है। `समयसार' और `पञ्चास्तिकाय' की टीका के अन्त में वह लिखते हैं -

`स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तृव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः।।'

अर्थ :- अपनी शक्ति से वस्तु तत्त्व को सम्यक्रूप से सूचित करनेवाले शब्दोंने यह समय की व्याख्या की है। अपने स्वरूप में लीन अमृतचंद्र सूरिय के लिये तो कुछ भी करने को नहीं हैं। इसी तरह तत्त्वार्थसार के अन्त में कहा है -

वर्णाः पदानां कर्तारो वाक्यानां तु पदावलिः।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तृणि न पुनर्वयम्।।

अर्थ :- अक्षर पदों के कर्त्ता है, पद वाक्यों के कर्त्ता हैं। वाक्य इस शास्त्र के कर्त्ता हैं, हम नहीं हैं।

`पुरुषार्थसिद्धयुपाय' के अन्त में भी यही भाव व्यक्त किया है। स्वकर्तृत्व का यह परिचय जैन अध्यात्म की अमिट छाप को व्यक्त करता है। यह बतलाता है कि `आचार्य अमृतचंद्र' जैन अध्यात्म के कोरे व्याख्यात नहीं थे, उन्होंने उसे अपने जीवन में उतार लिया था। उनका एक एक शब्द बहुमूल्य है, एक-एक वाक्य में अमृत भरा है। जैन वस्तु विज्ञान के तो वे परम प्रवीण आचार्य हैं ही। अनेकान्त उनकी तुला है। उस तुला के दो पलड़े हैं - निश्चय और व्यवहार। उनके द्वारा वह वस्तुतत्त्व की मध्यस्थभाव से समीक्षा करते हैं। उनके अन्तस्तल में न निश्चय के प्रति अनुराग है और न व्यवहार के प्रति द्वेष। दोनों में समभाव रखते हुए भी वे मोक्षमार्ग में उनकी उपयोगिता की दृष्टि से ही विचार करते हैं। `आचार्य कुंदकुंद' ने अपने `समयसार' के प्रारम्भ में जो निश्चय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ कहा है तथा शुद्धनय का जो स्वरूप कहा है, `आचार्य अमृतचंद्र' सर्वत्र उसीका अनुगमन करते हैं। हमें खोजने पर भी ऐसे स्थल नहीं मिले जहाँ `अमृतचंद्र' ने `कुंदकुंद' का अतिक्रमण किया हो, या उनकी ओटमें अपना कोई स्वतंत्र मन्तव्य निर्दिष्ट किया हो। वे एकान्ततः `कुंदकुंद'के अनुगत हैं। `कुंदकुंद'ने अपने समयसार के द्वारा अध्यात्म का जो वृक्षारोपण किया था, `अमृतचंद्र'ने उसे केवल समुद्ध करके पुष्पित और फलित किया है। जैसे वृक्ष के पत्ते पुष्प फल सब उससे अनुप्राणित रहते हैं वही स्थिति `अमृतचंद्र'के वचनों की है। उनका एक एक पद `कुंदकुंद' के अध्यात्म से अनुप्राणित है।

`समयसार' की व्याख्या का आरम्भ करते हुए तीसरे कलश में वह जो भाव व्यक्त करते हैं उसे पढ़ कर किसका तन मन रोमाञ्चित नहीं होता। वह कहते

हैं - `मैं शुद्धद्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ। परंतु मेरी परिणति मोह के उदय का निमित्त पाकर मलिन हो गई है - रागद्वेषरूप हो रही है। शुद्ध आत्मा का कथन करनेरूप इस समयसार ग्रन्थ की व्याख्या करने का यह फल चाहता हूँ कि मेरी परिणति रागादि से रहित होकर शुद्ध हो, मुझे शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो।'

कितनी पवित्र भावना है। उनकी यह भावना अवश्य ही समयसार के पठन, चिन्तन और मनन का परिणाम है। उन्होंने अवश्य ही `आचार्य कुंदकुंद' के ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन मनन और चिन्तन किया था और उससे उन्हें जो आत्मबोध हुआ था उससे उनकी अन्तर्दृष्टि अवश्य ही खुल गई थी और उसीके फलस्वरूप उन्हें `कुंदकुंद' के ग्रन्थरत्नों की इतनी सुंदर समृद्ध टीकाएँ रचने की अन्तःप्रेरणा हुई थी। यह भक्त की भगवान् के प्रति कुसुमाञ्जलि जैसी है।

पं. आशाधर जीने अपने अनगारधर्मामृत की टीका में[१] उनके नामके साथ ठक्कुर शब्द का प्रयोग किया है। ठक्कुर और ठाकुर एकार्थवाची हैं। प्रेमी जीने लिखा[२] है - ठक्कुर फेरु ओसवाल जैन थे। उनका शिल्पशास्त्र प्रकाशित हो गया है। जैनेतरों में आज भी ठाकुर शब्द का व्यवहार पाया जाता है। जैसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर। जैनाचार्यों में ऐसे भी आचार्थ हुए हैं जो जन्म से जैन नहीं थे। जैसे आचार्य विद्यानन्द, किन्तु उनकी कृतियाँ अनमोल हैं। `आचार्य अमृतचंद्र' भी यदि ऐसे ही हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। जैसे `समन्तभद्र' के आप्तमीमांसा को सुनकर विद्यानन्द विद्यानन्द बन गये, संभव है उसी प्रकार समयसार आदि के अध्ययनने अमृतचंद्र को अमृतचंद्र बना दिया हो। हमें तो उनके तीसरे कलश में उसीकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।

किन्तु सबसे आश्चर्यजनक है उनकी टीकाओं में ग्रन्थकार `कुंदकुंद' के किसी भी नाम का निर्देशन न होना। वे सूत्रकार शब्द का प्रयोग अवश्य करते हैं। समयसार की प्रथम गाथा की उत्थानिका `अथ सूत्रावतार' मात्र है। कृति के लिये सूत्र और उसके कर्त्ता के लिये सूत्रकार शब्द का प्रयोग अत्यन्त श्रद्धामूलक है। फिर भी सूत्रकार का नामोल्लेख न करना विस्मयकारक है। शायद उनकी अध्यात्मवृत्ति इसमें बाधक हो और जैसे वे अपनी टीका को वर्ण समुदायरूप पद, और पद समुदायरूप वाक्यकृत मानते हैं स्वकृत नहीं मानते। उसी प्रकार समयसारादि ग्रन्थों को भी उसी दृष्टि

---

१. एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचंद्रविरचितसमयसारटीकायां दृष्टव्यम् पृ. ५८२। `एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदभवादीत्' पृ. १६०। २. जै. आ. इ., पृ. ३०९।

में तौलते हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि अमृतचंद्र के पूर्व न तो कुंदकुंद ही उतने प्रसिद्ध थे और न उनके ग्रन्थरत्न ही। और `कुंदकुंद'ने इस ग्रन्थरत्नों में अपना किञ्चित् भी संकेत नहीं दिया है। अतः यह सम्भव है उपलब्ध मूल प्रतियों के अध्ययन से ही वे उनके भक्त बन गये हों और उन पर टीकाएँ लिखने के लिये तत्पर हुए हों।

समयसार की टीका रचते हुए जो उनकी भावना भी उसे उन्होंने तीसरे कलश में व्यक्त किया है। प्रवचनसार की टीका के प्रारम्भ में वह कहते हैं कि परमानन्दरूपी अमृत को पीनेके इच्छुक जनों के हित के लिये यह वृत्ति की जाती है। प्रवचनसार को वृत्ति परहित के लिये रची है और समयसार की टीका आत्महित के लिये रची है। इस प्रकार यहाँ भी निश्चय और व्यवहार की सरणि के दर्शन होते हैं।

उनकी टीकाओं को पढ़कर ऐसी कल्पना होती है कि कुंदकुंदने ही अमृतचंद्र के रूप में अवतार लिया है। उनकी टीकाएँ मात्र शब्दार्थव्याख्या रूप नहीं है, किन्तु प्रत्येक गाथासूत्र में भरे हुए रहस्य को उद्‌घाटित करती हैं। अतः उसे टीका न कहकर भाष्य कहना ही उचित होगा। जिसमें सूत्र के अर्थ के साथ उसके आधार से अपनी भी बात कही जाती है उसे भाष्य कहते है। अमृतचंद्र जी की टीका इसी रूप है। कहीं भी उसमें अतिक्रम या व्यतिक्रम नहीं है। और भाषा तो संस्कृत गद्यात्मक अतिमनोहर है। शब्दों का चयन अध्यात्म के सर्वथा अनुरूप है। इस प्रकार की अनुप्रासात्मक श्रुतिमधुर शब्दावली अन्य जैन टीकाओं में नहीं पाई जाती। गद्य और पद्य दोनों में एकरूपता है। गद्य में भी पद्य का आनंद आता है।

उनका जो नवीन ग्रन्थ `लघुतत्त्वस्फोट' प्रकाश में आया है उसके अन्तिम पद्य में उन्होंने अपने नाम के साथ `कवीन्द्र' विशेषण का प्रयोग किया है। उनके इस ग्रन्थ में उनके कवीन्द्रत्व के स्पष्ट दर्शन पद-पदपर होते हैं। काव्यशास्त्र की सव विशेषताएँ उनकी इस कृति में वर्तमान हैं। यों तो उनकी उपलब्ध रचनाएँ ही उनके वैदुष्य और रचनाचातुर्य की गरिमा के लिए पर्याप्त थीं। किन्तु इस नवीन कृतिने तो उनकी उस गरिमापर कलशारोहण कर दिया है।

जैनतत्त्वज्ञान की जिस निधिने `अमृतचंद्र' को सर्वाधिक आकृष्ट किया है वह है अनेकान्त और ज्ञानज्योति। उन्होंने अपनी रचनाओं के प्रारम्भ में किसी तीर्थंकर आदि व्यक्ति को नमस्कार न करके आत्मज्योति और अनेकान्त को ही नमस्कार किया है। `समयसार' के प्रारम्भ में समयसार को नमस्कार करके अनेकान्तमयी मूर्ति का स्मरण किया है। `प्रवचनसार' की टीका के प्रारम्भ में ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को नमस्कार

करके अनेकान्तमय तेज का जयकार किया है। `पञ्चास्तिकाय' की टीका में उक्त प्रकार से परमात्मा को नमस्कार करके स्यात्कारजीविता जैनी सिद्धांत पद्धति का जयकार किया है। `पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' के प्रारम्भ में परम ज्योति का जयकार करके अनेकान्त को नमस्कार किया है। `तत्त्वार्थसार' के प्रारम्भ में भी जिनेश की ज्ञानज्योति का जयकार है। अनेकान्त सिद्धांत के प्रति इतनी अधिक भक्ति की व्यक्ति तो दर्शनशास्त्र के प्रतिष्ठाताओं की कृतियों में भी नहीं मिलती।

तब क्या `अमृतचंद्र' की जैन तीर्थङ्करों के प्रति भक्ति नहीं है ऐसा प्रश्न हो सकता है। इसके समाधान के लिए `प्रवचनसार' की प्रथम मंगल गाथा की टीका के अन्तिम शब्द ही पर्याप्त हैं -

`प्रवर्तमानतीर्थनायकत्वेन प्रथमत एव परमभट्टारक-महादेवाधिदेव-परमेश्वर-पूज्य-सुगृहीत-नामश्रीवर्धमानदेवं प्रणमामि' श्रीवर्धमान स्वामी के लिए परम भट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर, पूज्य जैसे विशेषण व्यक्त करते हैं कि कितनी अधिक भक्ति भगवान् महावीर के प्रति थी। और क्यों न हो, अनेकान्त सिद्धांत उन्हीं की तो देन है। वे ही स्यात्कारजीविता जैनी सिद्धांतपद्धति के या जैनी नीति के पुरस्कर्ता हैं।

`पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' को प्रारम्भ करते हुये वे कहते हैं - `तीनों लोकों को देखने के लिए नेत्रस्वरूप परमागम का प्रयत्नपूर्वक आलोकन करके हम इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ का उद्धार करते हैं।'

इससे स्पष्ट है कि वे परमागम के गहरे अभ्यासी थे और उनको उसके प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति थी। ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थकार की रचनाओं के सम्बन्ध में अन्यथा कल्पना करना सूरज पर धूल फेंकना जैसा है !

`पञ्चास्तिकाय' की टीका के प्रारम्भ में वे उसकी व्याख्या को `द्विनयाश्रया' - दो नयों का आश्रय करनेवाली कहते हैं। इस प्रकार जिनागम की व्याख्या निश्चय और व्यवहार नय का आश्रय लेकर करनेवाले वे ही आद्य टीकाकार हैं। उन्हीं का प्रभाव उनके पश्चात् होनेवाले आध्यात्मिक टीकाकारों और ग्रन्थकारों पर देखने में आता है। इस प्रकार वे इस आध्यात्मिक युग के स्रष्टा हुए हैं।

अमृतचंद्र और काष्ठासंघ

यह हम लिख आये हैं कि `अमृतचंद्र' ने अपने सम्बन्ध में एक भी शब्द नहीं कहा। केवल आशाधर अपनी धर्मामृत टीका में उन्हें ठक्कुर कहते हैं। अन्यत्र से

भी उनके सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता।

स्व. डॉ. ए. एन. उपाध्येने `प्रवचसार' का सम्पादन किया था जो वि. सं. १९९१ (ई. सन् १९३४) में रायचंद्रशास्त्र माला बम्बई से प्रकाशित हुआ था। उसकी विद्वत्तापूर्ण अंग्रेजी प्रस्तावना में डॉ. उपाध्येने `अमृतचंद्र' के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए लिखा था -

`यह प्रश्न हो सकता है कि क्या अमृतचंद्र ने प्राकृत में भी कोई रचना की थी ? सम्भवतया की थी, उसके कारण इस प्रकार हैं - उनकी टीकाएँ बतलाती हैं कि अमृतचंद्र प्राकृत के गहरे अभ्यासी थे। समयसार की टीका की कुछ हस्तलिखित प्रतियों के अन्त में एक प्राकृत गाथा पाई जाती है जो सम्भवतया उन्हीं के द्वारा रची गई थी। इसके सिवाय मेघविजयगणि कुछ प्राकृत गाथाओं को `अमृतचंद्र' की कहते हैं जो उनके प्राकृत में रचे श्रावकाचार की हैं। उन गाथाओंमें से एक गाथा ढाढसी गाथा में पाई जाती है। उस ढाढसी गाथा के रचयिता के सम्बन्ध में केवल इतना ज्ञात होता है कि वह काष्ठासंघी थे। यदि मेघविजयजी का कथन यथार्थ है तो `अमृतचंद्र' ढाढसी गाथा के रचयिता हो सकते हैं। और ऐसी अवस्था में वे काष्ठासंघी हो सकते हैं। यदि वे काष्ठासंघी हैं तो `अमृतचंद्र' के द्वारा प्रयुक्त कुछ पदों और वाक्यांशों पर तथा कुंदकुंद के ग्रन्थों से कुछ प्रामाणिक गाथाओं को न लेने पर सुविधापूर्वक प्रकाश डाला जा सकता है। किन्तु यह सब पराश्रित कल्पना पर निर्भर है।'

श्वेतांबराचार्य मेघविजयगणिने अपने युक्तिप्रबोध में दो पद्य प्राकृत के उद्धृत किये हैं।

१. यदुवाच `अमृतचंद्र' :-

सव्वे भावा जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णाऊण।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं।।

२. श्रावकाचारे `अमृतचंद्रोऽप्याह :-

संघो को बि न तारइ कट्ठो मूलो तहेव णिप्पिच्छो।
अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा दु झायव्वो।।

इनमें पहली गाथा तो समयसार की ३४ वीं गाथा है। यह `अमृतचंद्र' की नहीं है। दूसरी गाथा ढाढसी गाथा नामक ग्रन्थ की है `अमृतचंद्र' की नहीं। इस गाथा में काष्टासंघ मूलसंघ और निःपिच्छिक संघों का उल्लेख हैं। इनमें से अन्तिम निःपिच्छिक या माथुरसंघ की उत्पत्ति दर्शनसार में वि. सं. ९५३ के लगभग बतलाई है। स्व.

श्री नाथूरामजी प्रेमीने लिखा[1] है कि यदि यह सही है तो ढाढसी गाथा विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के पहले की नहीं हो सकती।

प्रेमीजीने टिप्पण में यह भी लिखा है कि ढाढसी गाथा की एक प्रति संस्कृत टीका सहित (नं. १६१०) बम्बई की रायल एशियाटिक सोसायटी के लाइब्रेरी में है। उसके अन्त में इतना ही लिखा है कि इति `ढाढसीमुनीनां विरचिता गाथा सम्पूर्ण।'

इसका नाम ढाढसी गाथा अवश्य ही उसके रचयिता के नामपर ही पड़ा ज्ञात होता है, अन्यथा ढाढसी शब्द का कोई अर्थ नहीं होता। यद्यपि ढाढसी गाथा ध्यान से सम्बद्ध है और उसमें आत्मध्यान की चर्चा होनेसे उसका विषय अध्यात्म है फिर भी उसके `अमृतचंद्र' रचित होनेका कोई प्रमाण नहीं है। तथा न वह श्रावकाचार ही है। गणिजीने किसी गलत आधारपर से ही लिख दिया प्रतीत होता है।

किन्तु डॉ. उपाध्येने जो `अमृतचंद्र' के द्वारा प्रयुक्त कुछ पदो और वाक्यांशों के समाधान की बात कही है, तथा उनके द्वारा कुछ गाथाओं को अपनी टीका में सम्मिलित न करना लिखा है वह विचारणीय है।

`पञ्चास्तिकाय' में `अमृतचंद्र' के अनुसार गाथा संख्या १७३ है और `जयसेन' के अनुसार १८१ है। `समयसार' में `अमृतचंद्र' के अनुसार गाथा संख्या ४१५ है और `जयसेन' के अनुसार ४३९ है। तथा `प्रवचनसार' में `अमृतचंद्र' के अनुसार गाथा संख्या २७५ है तथा `जयसेन' के अनुसार ३११ है।

गाथा संख्या में इतना अंतर पड़ने का कोई स्पष्ट कारण समझ में नहीं आता। `अमृतचंद्र' आद्य टीकाकार हैं अतः उनके सन्मुख तो मूलग्रन्थ ही रहा है। किन्तु `जयसेन' के सन्मुख `अमृतचंद्र' की टीकाएँ रही हैं। इनके सिवाय भी `कुंदकुंद' के ग्रन्थों की मूल प्रतियाँ उनके सन्मुख होनी चाहिये जिनके आधारपर `जयसेन'ने अतिरिक्त गाथाएँ सम्मिलित की हैं। ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि कुछ गाथाएँ क्षेपक आदि रूप में रही हों और उन्हें `अमृतचंद्र'ने मूल की न मानकर छोड़ दिया हो। किन्तु दोनों की गाथा संख्या में इतना अंतर है कि क्षेपकवाली बात भी गले नहीं उतरती।

डॉ. उपाध्येने ठीक ही लिखा है कि यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि अमुक गाथाएँ ग्रन्थ की मूल गाथाएँ रही हैं या पीछे से उसमें मिला दी गई है। उन्होंने `प्रवचनसार' की गाथाओं के सम्बन्ध में अपनी प्रस्तावना में विचार किया है।

वह लिखते हैं - `अमृतचंद्र' की टीका का उद्देश्य गाथाओं की शाब्दिक व्याख्या

१. जै. सा. इ., पृ. ३१३।

नहीं है। उनकी टीका एक भाष्य की तरह है। (जैसा हम पूर्व में लिख आये हैं) ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि वह ऐसी गाथाओं की परवाह न करें जो प्रवचनसार के विषय में अपना ठोस और मौलिक आधार न रखती हों।

`अमृतचंद्र' ने अपने ग्रन्थों में अनेक प्राचीन गाथाओं का अनुसरण किया है यद्यपि ऐसी कुछ गाथाओं को उन्होंने प्रवचनसार की अपनी टीका में स्थान नहीं दिया है किन्तु उनका संस्कृत रूपान्तर उनके ग्रन्थों में वर्तमान है। यथा -

एदाणि पंचदव्वाणि उज्भियकालं तु अत्थिकाय त्ति।
भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं।।

यह प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार में ४३ वीं गाथा की `जयसेन'कृत टीका में मूल गाथा रूप से संगृहीत है। तत्त्वार्थसार के अजीवाधिकार में इसका संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार पाया जाता है -

विना कालेन शेषाणि द्रव्याणि जिनपुङ्गवैः।
पञ्चास्तिकायाः कथिताः प्रदेशानां बहुत्वतः।।३-४।।

प्रवनसार के तीसरे अधिकार में गाथा २९ में युक्त आहार-विहार की चर्चा है। `जयसेनकी टीका में उस प्रकरण में दो गाथाएँ विशेष हैं -

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मांसपेसीसु।
संत्ततियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं।
जो पक्कमपक्कं वा पेसीं मंसस्स खादि फासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडणं।।

इन दोनों गाथाओं का संस्कृत रूपान्तर `पुरुषार्थसिद्ध्युपाय'में है -

`आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीसु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोदानाम्।।६७।।
आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटिनाम्।।६८।।'

इस प्रकार की गाथाओं की संगति `कुंदकुंद' के प्रवचनसार जैसे संतुलित रचना प्रधान ग्रन्थ के साथ नहीं बैठती। प्रवचनसार के ही तीसरे अधिकार में कुछ गाथाएँ ऐसी हैं जो श्वेतांबर सम्प्रदाय के वस्त्र-पात्रवाद और स्त्रीमुक्ति पर प्रहार करती हैं वे अमृतचंद्र की टीका में नहीं है।

तीसरे अधिकार की २० वीं गाथा में कहा है - `परिग्रह की अपेक्षा से रहित यदि परिग्रह का त्याग न हो तो मुनि के चित्त की निर्मलता नहीं होती। और जिसका

चित्त विशुद्ध है वह कर्मों का क्षय कैसे कर सकता है।'

इसकी टीका में जयसेन ने लिखा है कि अमुक गाथाएँ `अमृतचंद्र' की टीका में नहीं है। २१ वीं गाथा में कहा है - `उस परिग्रह के होने पर मूर्छा आरम्भ असंयम कैसे नहीं होगा। तथा जो पर द्रव्य परिग्रह में रत है वह कैसे आत्मस्वरूप की साधना कर सकता है।'

गाथा २० और २१ दोनों परस्पर में सम्बद्ध है, दोनों के मध्य में किसी अन्य गाथा को स्थान नहीं है। यही प्रकरण आगे भी चलता है। गाथा २४ और पच्चीस में भी परिग्रह की निषेध है और जिनमार्ग में यथाजातरूप (नग्न दिगम्बरत्व) गुरु के वचन, विनय और शास्त्राध्ययन को ही अपवाद परिग्रह के रूप में स्वीकार किया है। इन्हीं २४-२५ गाथाओं के मध्य में वे ग्यारह गाथाएँ आती हैं जो स्त्री की मुक्ति और दीक्षा के निषेधपरक हैं।

प्रवचनसार की सुसम्बद्ध रचना के प्रकाश में कोई भी चिन्तक इन्हें ग्रन्थकार के द्वारा प्रवचनसार में रची गई नहीं मान सकता। `आचार्य कुंदकुंद'ने अपने अन्य पाहुड़ों में इस विषय पर लिखा है। हो सकता है कि ये गाथाएँ कुंदकुंद रचित हों। किन्तु उन्हें प्रवचनसार में रचा गया था, यह हम मानने के लिये तैयार नहीं हैं।

डा. उपाध्येने अपनी प्रस्तावना में इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है - `यह सुझाव कि अमृतचंद्र श्वेतांबर थे अनेक कारणों से किसी भी तरह मान्य नहीं किया जा सकता। वे कारण इस प्रकार हैं' -

१. `अमृतचंद्र' २८ मूलगुण स्वीकार करते हैं जिनमें एक नग्नता भी है। (प्रव. ३।८-९ गा.)

२. वे प्रव. के तीसरे अधिकार की गाथा ४, ५ और २५ में आये `यथाजातरूप' पद को स्वीकार करते हैं।

३. वे अपने तत्त्वार्थसार में विपरीत मिथ्यात्व का स्वरूप इस प्रकार कहते हैं -

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली।
रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तद् स्मृतम्।।५-६।।

`सग्रन्थ भी निर्ग्रन्थ है, केवली कवलाहारी है जिसमें इस प्रकार की श्रद्धा है वह विपरीत मिथ्यात्व है।' दोनों बातें श्वेतांबर मान्य हैं।

दर्शनसार में काष्ठासंघ को जैनाभासों में गिनाया है और उनकी मान्यताओं में स्त्रीदीक्षा, क्षुल्लकों की वीरचर्या, मयूरपिच्छिका के स्थान में गोपुच्छकी पीछी रखना

आदि कहा है। यतः `अमृतचंद्र'ने स्त्रीदीक्षा के निषेधवाली गाथाओं को स्थान नहीं दिया, इससे भी उन्हें काष्ठासंघी समझने का भ्रम हुआ है।

किन्तु समालोचकोंने दर्शनसार की स्थिति को मान्य नहीं किया है (देखो - भट्टारक सं. पृ. २१२)। तथा काष्ठासंघ के सम्बद्ध माथुर, वागड़, लाडवागड़ आदि में अनेक प्रख्यात आचार्य हुए हैं और उनका विपुल साहित्य वर्तमान है। उसमें इस तरह की कोई बात नहीं पायी जाती। ग्रन्थ की प्रशस्तियों से ज्ञात होता है कि अग्रवाल दि. जैन जाति का सम्बन्ध काष्ठासंघ से विशेष था।

ऐसा प्रतीत होता है कि संघों में परस्पर में कुछ वैमनस्य जैसा चलता था। इसकी एक कथा प्रेमीजीने अपने जैन साहित्य और इतिहास में (पृ. ३९१) दी है।

अतः काष्ठासंघ को जैनाभास मानकर `अमृतचंद्र' को भी बलात् उससे सम्बद्ध करना उचित नहीं है। मूलसंघ के संस्थापक `आचार्य कुंदकुंद'के ग्रन्थों पर टीका रचनेवाले अतः जिनशासन प्रभावक और अध्यात्म की सरिता प्रवाहित करनेवाले `आचार्य अमृतचंद्र' के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की अन्यथा कल्पना करना उचित नहीं है। जिन्हें अध्यात्म सह्य नहीं है वे तो `कुंदकुंद' को भी नहीं छोड़ते। किन्तु `कुंदकुंद' दिगंबर जैन शासन के सूत्रधार हैं, अतः किसीकी कुछ चलती नहीं। `अमृतचंद्र' तो उन्हीं के अनुगामी हैं। आगे हम उनकी रचनाओं पर प्रकाश डालेंगे, इससे उनकी स्थिति और भी सुस्पष्ट होकर सामने आयेगी।

अमृतचंद्र की टीकाएँ

पञ्चास्तिकाय टीका

पञ्चास्तिकाय की टीका के प्रारम्भ में `अमृतचंद्र'ने कुछ श्लोकों के द्वारा पञ्चास्तिकाय की मुख्य विषयसूची दी है कि पहले इस ग्रन्थ में सूत्रकार (`कुंदकुंद')ने मूल पदार्थों का पांच अस्तिकाय और छह द्रव्यरूप से कथन किया है। फिर जीव अजीव की पर्याय नौ पदार्थों का कथन किया है। उसके पश्चात् तत्त्वपरिज्ञानपूर्वक रत्नत्रयात्मक मार्ग के द्वारा मोक्षप्राप्ति का कथन किया है,

इस प्रकार का विषय प्रतिपादन उनके अन्य टीका ग्रन्थों में नहीं है। इससे हमें लगा कि संभवतया `अमृतचंद्र'ने सर्वप्रथम पञ्चास्तिकाय पर टीका रची थी।

गाथा की टीका में उन्होंने गाथा के पूर्वार्द्ध `समवाओ पंचण्हं समओ त्ति।' का व्याख्यान करते हुए शब्दसमय, ज्ञानसमय और अर्थसमय ये तीन भेद समय के करके

लिखा है कि इस ग्रन्थ में ज्ञानसमय की प्रसिद्धि के लिये शब्दसमय के द्वारा अर्थसमय का कथन करना इष्ट है। उस अर्थसमय के दो भेद हैं। लोक और अलोक। आगे पञ्चास्तिकायों का वर्णन करते हुए उन्होंने नय के दो भेद किये हैं - द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। तथा लिखा है कि भगवान् की देशना दोनों नयों के अधीन थी, एक नय के नहीं।

`कुंदकुंद' के इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम सत्ता का विवेचन है। उसका व्याख्यान भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितनी महत्त्वपूर्ण यह गाथा है। एक तरह से जैनाभिमत द्रव्य गुण पर्याय और उत्पाद व्यय ध्रौव्य का विश्लेषण इसके द्वारा हो जाता है। यह उसकी आधारशिला है। इसमें सत्ता को सप्रतिपक्षा कहा है। अर्थात् सत्ता का प्रतिपक्ष असत्ता है। इसकी व्याख्या करते हुए `अमृतचंद्र'ने लिखा है -

सत्ता के दो प्रकार हैं - महासत्ता और अवान्तरसत्ता। सब पदार्थसमूह में रहनेवाली और उनमें सादृश्यरूप, अस्तित्व को सूचित करनेवाली महासत्ता है। और एक ही प्रतिनियत वस्तु में रहनेवाली अवान्तर सत्ता है जो उसके स्वरूपास्तित्व की सूचिका है, उसके बिना प्रत्येक वस्तु का प्रतिनियत स्वरूप नहीं हो सकता। उनमें महासत्ता अवान्तर सत्तारूप से असत्ता है और अवान्तर सत्ता महासत्तारूप से असत्ता है। इस प्रकार सत्ता का प्रतिपक्ष असत्ता है। एक ही वस्तु में दृष्टिभेद से दोनों रहते हैं। महासत्ता सब पदार्थों में रहती है, अवान्तर सत्ता एक ही पदार्थ में रहती है। अतः महासत्ता एक है, अवान्तर सत्ता अनेक हैं, क्योंकि एक वस्तु की स्वरूपसत्ता अन्य वस्तु की स्वरूप सत्ता नहीं हो सकती। सत्ता उत्पाद, व्यय-ध्रौव्यात्मक होनेसे त्रिलक्षणा है। किन्तु जिस स्वरूप से उत्पाद है उस स्वरूप से उत्पाद ही है। जिस स्वरूप से व्यय है उस स्वरूप से व्यय ही है, और जिस स्वरूप से ध्रौव्य है उस स्वरूप से ध्रौव्य ही है। जैसे पिण्डरूप से विनाश ही है, घट रूपसे उत्पाद ही है और मिट्टीरूप से ध्रौव्य ही है। तो वस्तु का उत्पद्यमान स्वरूप घट, विनशमान रूप पिण्ड और स्थायी रूप मिट्टी ये तीनों उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप त्रिलक्षणात्मक न होने से अत्रिलक्षणात्मक है। अतः सत्ता त्रिलक्षणा भी है और अत्रिलक्षणा भी है।

इस प्रकार इस गाथा की व्याख्या द्वारा `अमृतचंद्र'ने बड़ी सरलता से समझाया है। इसे हृदयंगम करे लेनेसे जैन वस्तुव्यवस्था करतलवत् स्पष्ट हो जाती है।

आगे इस प्रकरण में द्रव्यों के सामान्य स्वरूप का विवेचन करते हुए द्रव्य गुण पर्याय की स्थिति को स्पष्ट किया है।

दूसरे प्रकरण में प्रत्येक द्रव्य का विस्तार से विवेचन है।

जीव द्रव्य का विवेचन करते हुए स्वामी `कुंदकुंदाचार्य'ने जीव और कर्म की स्थिति को विस्तार से स्पष्ट करते हुए यह स्थापित किया है कि निश्चयनय से कर्म, अपना कर्ता है और व्यवहार से जीव के भाव का कर्ता है। जीव भी निश्चय से अपने भाव का कर्ता है, और व्यवहार से कर्म का कर्ता है. `अमृतचंद्र'ने अपनी टीका के द्वारा इसे अच्छी तरह स्पष्ट किया है।

आज कल जीव और कर्म का सम्बन्ध मुख्य विवाद का विषय है। व्यवहार का अवलम्बन लेनेवाले जीव की परतन्त्रता का मुख्य कारण जीव को न मानकर कर्म को मानते हैं। तथा कर्म का कर्ता जीव को मानते हैं। किन्तु `आचार्य कुंदकुंद' कहते हैं -

कुव्वं सगं सभावं अत्ता कत्ता सगस्य भावस्स।
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्वं।।६२।।

`आत्मा अपने परिणामों को करता हुआ अपने परिणाम का कर्ता होता है, पुद्गल कर्मों का कर्ता आत्मा नहीं है, यह जिनवचन जानना चाहिए।'

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य के सद्भाव में युक्ति देते हुए `आचार्य कुंदकुंद'ने कहा है कि उनके सद्भाव से लोक अलोक की स्थिति और गति स्तिति होती है। (गा. ८७)

इसकी टीका में `अमृतचंद्र'ने लिखा है -

`धर्म और अधर्म द्रव्य विद्यमान हैं; क्योंकि उनके विना लोक अलोक का विभाग नहीं बन सकता। जीव और पुद्गल स्वभाव से ही गति और स्थितिरूप परिणाम करते हैं, स्वयं ही गतिरूप और गतिपूर्वक स्थितिरूप परिणाम को करते हुए जीव और पुद्गल का गमन अलोक में भी हो जाता। तब लोक अलोक विभाग सिद्ध नहीं होता। किन्तु जीव और पुद्गल की गति और गतिपूर्वक स्थिति का बाह्य कारणरूप से धर्म और अधर्म का सद्भाव मानने पर लोक अलोक का विभाग बन जाता है।' किन्तु ये दोनों गति और स्थिति के मुख्य कारण नहीं हैं, उदासीन कारण हैं। निश्चय से तो सब गति-स्थितिमान् पदार्थ स्वपरिणाम से ही गति और स्थिति करते हैं।'

इसकी तीसरे प्रकरण में मोक्षमार्ग की चर्चा करते हुए `अमृतचंद्र'ने गा. १५९ की टीका के अन्त में लिखा है -

`एवं हि शुद्धद्रव्याश्रितमभिन्नसाध्यसाधनभावं निश्चयनयमाश्रित्य मोक्षमार्गप्ररूपणम्। यत्तु पूर्वमुद्दिष्टं तत्स्वपरप्रत्ययपर्यायाश्रितं भिन्नसाध्यसाधनभावं व्यवहारनयमाश्रित्य प्ररूपितम्। न चैतद् विप्रतिससिद्धं निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात्सुवर्णसुवर्णपाषाणवत्।'

अर्थात् मोक्षमार्ग के कथन के दो प्रकार हैं - एक निश्चयनयन से और एक व्यवहारनय से। निश्चयनयाश्रित कथन शुद्धद्रव्याश्रित होता है और उसमें साध्य-साधन का भेद नहीं होता है। किन्तु व्यवहारनयाश्रित कथन स्वपरनिमित्तक पर्यायाश्रित होता है और उसमें साध्य साधन का भेद होता है। इसमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि निश्चय और व्यवहार में उसी प्रकार साध्या साधनभाव है जैसे सुवर्ण और सुवर्णपाषाण में है।'

आगे गाथा १६० में निश्चय मोक्षमार्ग के साधनरूप से व्यवहार मोक्षमार्ग का कथन है। और गाथा १६१ में व्यवहार मोक्षमार्ग के साध्यरूप से निश्चय मोक्षमार्ग का कथन है।

ग्रन्थ के अन्त में शास्त्र का तात्पर्य बतलाते हुए `अमृतचंद्र'ने लिखा है -

`इस शास्त्र का तात्पर्य परमार्थ से वीतरागता है। यह वीतरागता व्यवहार और निश्चय के अविरोध पूर्वक जानने पर ही इष्ट सिद्धि के लिये होती है।'

जिनकी बुद्धि अनादि कालीन भेदवासना से ग्रस्त है ऐसे प्राथमिक जन व्यवहारनय से भिन्न साध्य-साधनभाव का अवलम्बन लेकर सुखपूर्वक संसार समुद्र को पार करते हैं। वही कहते हैं - यह श्रद्धान करने के योग्य और यह श्रद्धान करने के योग्य नहीं है, यह श्रद्धान करनेवाला है, यह श्रद्धान है, यह अश्रद्धान है। यह जानने योग्य है, यह जाननेवाला है, यह ज्ञान है, यह ज्ञाता है यह आचरण करने योग्य है, यह आचरण करने योग्य नहीं है, यह आचरण है, इस प्रकार कर्तव्य, अकर्तव्य, कर्ता और कर्म के विभाग को जानने से उनका उत्साह बढ़ जाता है। वे धीरे धीरे मोह को उखाड़ने का प्रयत्न करते हैं। कभी कभी अज्ञानवश प्रमादी होकर अपने कर्तव्य में शिथिल हो जाते हैं तो दोष के अनुसार प्रायश्चित्त लेते हैं। इस प्रकार साध्य आत्मा और साधन श्रद्धान ज्ञान चारित्र में भेद करके थोड़ी थोड़ी विशुद्धि को प्राप्त होते हैं। जैसे धोबी मलिन वस्त्र को पत्थर पर पछाड़कर निर्मल जलसे धोता है। फिर निश्चयनय में भिन्न साध्य-साधनभाव का अभाव होनेसे दर्शन-ज्ञान-चरित्रमय आत्मा में लीन होते हैं उस समय समस्त क्रियाकाण्ड का आडम्बर शांत हो जाता है और आत्मा निर्विकल्प चैतन्यरूप हो जाता है। तब वे क्रम से समरसीभाव में निमग्न होते हुए परम वीतराग भाव को प्राप्त करके साक्षात् मोक्ष का अनुभव करते हैं।

आगे `अमृतचंद्रजी'ने केवल व्यवहारावलम्बी और केवल निश्चयावलम्बी का चित्रण विस्तार से किया है। उसका आशय यह है कि केवल व्यवहारावलम्बी बाह्य क्रियाकाण्ड में फँसा रहता है। वह कर्मचेतना प्रधान होता है अतः यद्यपि वह अशुभ कर्म की

प्रवृत्तियों से दूर रहता है, किन्तु शुभकर्म की प्रवृत्तियों में रमा रहता है। उसके केवल क्रियाकाण्ड के आडम्बर से रहित और दर्शन-ज्ञान-चरित्र की ऐक्य परिणतिरूप ज्ञानचेतना किञ्चित् भी नहीं होती। उसकी चित्तवृत्ति प्रचुर पुण्यबन्ध के भार से भरी होती है। अतः चिरकाल तक संसार सागर में भ्रमण करता है।'

जो केवल निश्चयावलम्बी होते हैं वे समस्त क्रियाकाण्ड के आडम्बर से विरक्त होकर आँखों को अर्धनिमीलित करके सुख पूर्वक बैठे रहते हैं। वे भिन्न साध्य-साधनभाव को तो तिरस्कृत कर देते हैं और अभिन्न साध्य साधन को प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं। इस तरह व्यवहार और निश्चय दोनों से ही भ्रष्ट होकर प्रमादी हो जाते हैं। वे पुण्यबन्ध के भय से व्रतादिरूप मुनिधर्म सम्बन्धी कर्मचेतना को अपनाते नहीं हैं और परम नैष्कर्म्यरूप ज्ञानचेतना को प्राप्त नहीं कर सकते। अतः व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद के अधीन होकर कर्मफलचेतना प्रधानवृत्ति होनेसे केवल पाप का ही बन्ध करते हैं।

किन्तु जो महाभाग पुनर्जन्म के फन्दे से छूटने के लिए नित्य उद्योगशील रहते हैं और निश्चय तथा व्यवहारमें से किसी एक का अवलम्बन न करके अत्यंत मध्यस्थ रहते हैं तथा शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व में स्थिरता के लिए सावधान रहते हैं। जब प्रमाद सताता है तो उसको शास्त्र विहित क्रियाकाण्डरूप परिणति से दूर करते हुए भी अत्यंत उदासीन रहते हैं। यथाशक्ति आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा में अनुभव करते हैं। वे स्वतत्त्व में स्थिरता के अनुसार क्रम से कर्मसंन्यास करते हुए अत्यंत निष्प्रमादी होकर कर्मफलचेतना से अत्यंत दूर होते हैं, और कर्मचेतना की अनुभूति से उदासीन होते हैं, मात्र ज्ञानचेतना की अनुभूति से उत्पन्न वास्तविक आनंद से भरपूर होकर संसारसमुद्र को पार करते हैं और इस तरह शाश्वत सुख के भोक्ता होते हैं।'

इस प्रकार 'अमृतचंद्रजी'ने पञ्चास्तिकाय की टीका के अन्त में निश्चय और व्यवहार के एकान्त का फल दिखाकर दोनों में मध्यस्थ भाव से ही मोक्षमार्ग की सार्थकता बतलाई है। उन्होंने जो यह उपादान किया है वह उनसे पूर्व किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलता। मिले भी तो कैसे, सिद्धांत ग्रन्थों में तो केवल भेद रत्नत्रय का ही कथन है। वहाँ रत्नत्रय की दो अवस्थाएँ दृष्टिगोचर नहीं होती। यह तो केवल अध्यात्म का विषय है, क्योंकि सिद्धांत का उद्देश्य मोक्षमार्ग का ज्ञान कराना है और अध्यात्म का उद्देश्य मोक्षमार्ग प्राप्त कराना है। कोई भी मुमुक्षु जब मोक्षमार्ग में लगता है तो भेद रत्नत्रय की उपासना से ही लगता है। भेद व्यवहारनय का विषय है अतः वह

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में और आत्मा में भेद करके उनकी उपासना करता है, क्योंकि उसके बिना वह आत्मा को समझ नहीं सकता। यही स्थिति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भी है। तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। तत्त्वार्थ का श्रद्धान होनेपर अंग पूर्वगत अर्थ का जानना सम्यग्ज्ञान है। और आचार आदि सूत्र ग्रन्थों में वर्णित यतियों के चारित्ररूप तप में चेष्टा सम्यक्चारित्र है। यह व्यवहार रत्नत्रय का स्वरूप है।

इसमें अश्रद्धान, अज्ञान और अचारित्र को त्याग कर श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र को ग्रहण करने का विकल्प रहता है। धीरे-धीरे विशिष्ट भावनावश स्वभावभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के एकमेक होते-होते जब त्याग और उपादान के विकल्प से शून्य यह आत्मा तन्मय हो जाता है तब यह आत्मा ही निश्चय से मोक्षमार्ग कहा जाता है।

सारांश यह है कि व्यवहार मोक्षमार्ग स्व-पर प्रत्यय-पर्यायाश्रित होता है। और दर्शन, ज्ञानचारित्र के साथ किञ्चित् भी परसमयप्रवृत्ति जबतक है तबतक निश्चय मोक्षमार्ग नहीं है। जब पर समय प्रवृत्ति से निवृत्तिरूप स्वसमय प्रवृत्ति होती है तभी दर्शन, ज्ञान, चारित्र साक्षात् मोक्षरूप होते हैं। अतः किञ्चित् भी पर समयरूप प्रवृत्ति हेय है।

गाथा १६५ की टीका में कहा है - गाथा में शुद्ध संप्रयोग शब्द आया है। मोक्ष के साधनभूत भगवान् अर्हन्त आदि में भक्तिबल से अनुरंजित चित्तवृत्ति को शुद्ध संप्रयोग कहा है। यदि ज्ञानी भी अज्ञान के किञ्चित् आवेशवश ऐसा मानता है कि शुद्ध संप्रयोग से मोक्ष होता है तो उसे भी राग का अंश होनेसे `पर समय में रत' कहा जाता है। फिर जिनकी चित्तवृत्ति निरंकुश राग से कलंकित है उनका तो कहना ही क्या है। अतः अर्हन्त आदि के सम्बन्ध में भी क्रम से राग का कणमात्र भी दूर करना चाहिए।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि `अमृतचंद्रजी'ने अर्हन्त आदि की भक्तिरूप पर समयप्रवृत्ति को परम्परा से मोक्ष का कारण स्वीकार किया है। यद्यपि स्वयं `कुंदकुंद'ने ऐसा नहीं कहा है।

प्रवचनसार टीका

प्रवचनसार की टीका के प्रारम्भ में ज्ञानानंदस्वरूप परमात्मा तथा अनेकान्तमय

तेज को नमस्कार करके `अमृतचंद्र'ने परमानंदरूप सुधारस के पिपासु भव्यों के हित के लिए प्रवचनसार की वृत्ति रचने की प्रतिज्ञा की है।

प्रवचनसार पञ्चास्तिकाय से सब दृष्टियों से महान् है, ग्रन्थरूप से भी और अर्थरूप से भी। इसमें तीन अधिकार हैं जिन्हें टीकाकार ने ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र अधिकार नाम दिया है। जैसे यह ग्रंथ महान् है उसी प्रकार इसकी टीका भी महान् है। इसकी शब्दरचना अति गहन है, विषय तो गहन है ही। `अमृतचंद्र'का वैदुष्य इसमें पद-पदपर मुखरित है। शब्दों का चयन भी अध्यात्म के अनुकूल है। कुछ शब्द और उपमाएँ तो एकदम नवीन जैसे प्रतीत होते हैं। पूरी टीका संस्कृत गद्यशैली में रचित है। जिसमें लम्बे-लम्बे समस्यन्त पद हैं। जैसे -

१. `भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनविलीननिखिलस्वपरविभागतया।' (१।५)

२. `स्वपरप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिः।' (२।१)

३. `स्यात्कारकेतनागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्त्व यौगपद्यातिशयप्रसादासादितशुद्धज्ञान-मयात्मकत्वानुभूतिलक्षणज्ञानित्व।' (३।३८)

वाक्य रचना सरस और प्रसाद गुणयुक्त है। साहित्य, दर्शन और अध्यात्म की त्रिवेणी प्रवाहित है जिसमें अवगाहन करके सांसारिक तापसे तप्त प्राणियों को आध्यात्मिक शांति मिलती है और उनके संसार परिभ्रमण का अन्त समीप आता है। अस्तु.

प्रवचनसार का प्रारम्भ एस (एषः) शब्द से होता है। जिसका अर्थ `अमृतचंद्र'ने `एष स्वसंवेदनप्रत्यक्षो दर्शनज्ञानसामान्यात्माहं' किया है अर्थात् `स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष और दर्शन सामान्य तथा ज्ञान सामान्यस्वरूप मैं आत्मा' महावीर तीर्थंकर, शेष तीर्थंकर सर्वसिद्ध, आचार्य, उपाध्याय साधु, मनुष्यलोक में वर्तमान तीर्थंकर इन सबको एकसाथ तथा पृथक्-पृथक् भी नमस्कार करके उनके विशुद्ध ज्ञानदर्शनप्रधान आश्रम को प्राप्त करके `वीतरागचारित्ररूप' साम्यभाव को धारण करता हूँ जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है।'

इस प्रकार `आचार्य कुंदकुंद'ने चारित्र के कथन का सूत्रपात करके प्रथम अधिकार में अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख का, दूसरे में जैन तत्त्वव्यवस्था का और तीसरे अधिकार में मुनि के चारित्र का वर्णन किया है।

`अमृतचंद्र'ने उसकी उत्थानिका में लिखा है - `जिसके संसार का अन्त निकट है, सातिशय विवेकज्ञान जाग्रत हुआ है, एकान्तवादसम्यबन्धी अभिनिवेश दूर हो गए

हैं, वह अनेकांत विद्या को जानकर समस्त पक्षपात को छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हो, मोक्षलक्ष्मी को उपादेयरूप से निश्चय करके मोक्षमार्ग को स्वीकार करने की प्रतिज्ञा करता है।

गाथा ६ में `कुंदकुंद'ने कहा है कि `दर्शनज्ञानप्रधान चारित्रसे सांसारिक विभव के साथ मोक्ष की प्राप्ति होती है।' इसपर से टीकाकारने चारित्र के दो भेद किए हैं - सराग और वीतराग। और कषाय का लेश होनेसे सराग चारित्र को पुण्यबन्ध का हेतु अतएव हेय कहा है और समस्त कषाय से रहित वीतरागचारित्र को निर्वाण की प्राप्ति का कारण होनेसे उपादेय कहा है। इसी तरह गाथा ११ में `कुंदकुंद'ने चारित्रधर्मरूप परिणत आत्मा के दो भेद किये हैं - शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। एकका फल निर्वाण और दूसरे का फल स्वर्ग कहा है। इसकी व्याख्या में `अमृतचंद्र'ने शुभोपयोगरूप चारित्र को अपना मोक्षरूप कार्य करने में असमर्थ और कथंचित् विरुद्ध कार्य करनेवाला कहा है। तथा गाथा १२ की उत्थानिका और टीका में अशुभोपयोग को अत्यंत हेय कहा है, उसमें चारित्र का लेश भी नहीं कहा।

इस प्रकार `अमृतचंद्र'जी शुभोपयोरूप चारित्र को हेय तो कहते हैं किन्तु अशुभोपयोग की तरह सर्वथा हेय नहीं कहते।

तीसरे चारित्राधिकार में गाथा ४५ में स्वयं `कुंदकुंद'ने श्रमणों के दो भेद किये हैं। शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। शुद्धोपयोगी आस्रव रहित होते हैं और शुभोपयोगी आस्रव सहित होते हैं।

इसकी टीका में `अमृतचंद्र'ने लिखा है। -

जो श्रामण्यरूप परिणति की प्रतिज्ञा करके भी कषायांश का उदय होनेसे समस्त पर द्रव्यों से निवृत्ति में प्रवृत्त सुविशुद्ध दर्शन-ज्ञानस्वभाव आत्मतत्त्व प्रवृत्तिरूप शुद्धोपयोग की भूमिका पर आरोहण करने में समर्थ नहीं हैं वे श्रमण हो सकते हैं या नहीं? उसका उत्तर है कि `धम्मेण परिणदप्पा' इत्यादि गाथा के द्वारा ग्रन्थकार ने स्वयं कहा है कि शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थ समवाय है। अतः शुभोपयोगियों के भी धर्म का सद्भाव होनेसे श्रमण हो सकते हैं। किन्तु वे शुद्धोपयोगियों के बराबर नहीं होते।

आगे कहा है कि वे शुभोपयोगी श्रमण शुद्धोपयोगी श्रमणों में अनुराग रखते हैं अतः वे उनकी नमस्कार आदि पूर्वक वैयावृत्ति आदि भी शुद्धात्मवृत्ति को स्थिरता को लिये करते हैं। आगे `आचार्य कुंदकुंद'ने ही शुभोपयोगी श्रमणों की प्रवृत्तियाँ इस प्रकार बतलाई हैं - पर कल्याण की भावना से ज्ञान और दर्शन का उपदेश देना, शिष्यों

को स्वीकार करके उनका पोषण करना, जिनेन्द्र की पूजा का उपदेश देना।

किन्तु दूसरे साधुओं की शुद्धात्मवृत्ति की रक्षा के अभिप्राय से वैयावृत्य करते हुए जो साधु अपने संयम की विराधना करता है वह मुनि पद से च्युत हो जाता है। अतः प्रवृत्ति संयम की साधना के लिये ही की जाती है।

इस प्रकार `आचार्य कुंदकुंद' और `अमृतचंद्र' दोनों ही शुभोपयोग को सर्वथा हेय नहीं कहते। गृहस्थ धर्म में तो शुभोपयोग की ही प्रधानता होती है। प्रवचनसार में ही (२।६५) कहा है - जीव का अशुद्ध उपयोग पर द्रव्य के संयोग का कारण होता है। उसके दो भेद हैं - विशुद्धि रूप उपरागवश शुभोपयोग होता है और संक्लेशरूप उपरागवश अशुभोपयोग होता है। शुभोपयोग से पुण्यवंध और अशुभोपयोग से पापबन्ध होता है। दोनों के अभाव में शुद्धोपयोग होता है। जो दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय की विशिष्ट क्षयोपशमरूप दशा होने पर देवाधिदेव अर्हन्त, सिद्ध और साधु में श्रद्धा भाव रखता, उनका पूजन आदि करता है, समस्त प्राणियों में कारुण्यभाव रखता है उसका उपयोग शुभ होता है, आदि।

शुभोपयोग का फल इन्द्रिय सुख बताकर इन्द्रिय सुख को दुःख ही बतलाया है। तथा शुभोपयोग से होनेवाले पुण्यबन्ध को दुःख का बीज बतलाते हुए `आचार्य कुंदकुंद'ने कहा है कि यदि शुभोपयोगरूप परिणामों से उत्पन्न पुण्य है तो वह देवता पर्यंत सब जीवों को विषयों की तृष्णा उत्पन्न करता है और तृष्णा से आकुल होकर वे जीव मरणपर्यंत विषय सुख में ही रमे रहते हैं, उन्हीं की प्राप्ति और भोग में उनका जीवन बीतता है। अतः पाप की तरह पुण्य भी दुःख का कारण है। जो ऐसा नहीं मानता कि पाप पुण्य में कोई भेद नहीं है वह अपार घोर संसार में भ्रमण करता है। (१।७४-७७) गाथा ७४ की टीका में `अमृतचंद्र' जीने लिखा है -

उक्त प्रकार से शुभ और अशुभ उपयोग के युगल की तरह तथा सुख और दुःख के युगल को तरह परमार्थ से पुण्यपाप का युगल भी नहीं ठहरता। दोनों ही आत्मा के धर्म नहीं हैं। जो इन दोनों में सुवर्ण और लोहे की बेड़ी के समान अहंकार बुद्धि से भेद मानता है और अहमिन्द्र आदि पदों का कारण मानकर धर्मानुराग करता है वह राग के वश होकर शुद्धोपयोग का तिरस्कार करता है और इस तरह जब तक संसार में रहता है तब तक शारीरिक दुःख ही भोगता है।

इस तरह `आचार्य कुंदकुंद'ने ही शुभोपयोग और तज्जन्य पुण्य को हेय कहा है और उन्हीं का अनुसरण `अमृतचंद्र'ने भी किया है। तथा समस्त दुःखों के क्षय के लिये शुद्धोपयोग को ही अपनाने पर जोर दिया है।

प्रवचनसार में (१।१४) शुद्धोपयोगी श्रमण का लक्षण सुविदित पदार्थसूत्र, संयम-तपसंयुत, वीतराग और समसुख-दुख कहा है। `अमृतचंद्र'ने प्रत्येक पद की व्याख्या अध्यात्मदृष्टि से इस प्रकार की है -

सूत्रार्थ के ज्ञान के स्व और पर द्रव्य के विभाग के परिज्ञान श्रद्धान और विधान में समर्थ होनेसे जो सुविदित पदार्थसूत्र है, समस्त षट्काय के जीवों को मारने के विकल्प से तथा पाँचों इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा के विकल्प से हटकर अपने शुद्ध स्वरूप में संयमित होनेसे और स्वरूप में विश्रान्त निर्विकल्प चैतन्य में तपन करने से संयम और तप से सहित है, समस्त मोहनीय के उदय से रहित भावना की सुष्ठुता से निर्विकार आत्मस्वरूप के प्रकट होनेसे विगतराग है, सातावेदनीय और असातावेदनीय के उदय से होनेवाले सुख दुःख जनित परिणामों की विषमता का अनुभव न करने से समसुख-दुःख है ऐसे श्रमण शुद्धोपयोगी होते हैं।

शुद्धोपयोग के प्रसाद से ही आत्मा स्वयं सर्वज्ञ सर्वदर्शी स्वयं ही होता है इस लिये उसे स्वयंभू कहते हैं यह `आचार्य कुंदकुंद' का कथन है। `आचार्य समन्तभद्र'ने चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति रचते हुए प्रथम तीर्थंकर की स्तुति का प्रारम्भ `स्वयं-भू' शब्द से किया है। इसी से वह स्तोत्र स्वयं-भू स्तोत्र के नामसे ख्यात है। किन्तु स्वयं-भू का यथार्थ आध्यात्मिक अर्थ तो सम्भवतया `आचार्य अमृतचंद्र'ने ही किया है। वह कहते हैं -

लोक में षट्कारक प्रसिद्ध हैं - कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण। इन कारकों के द्वारा कार्य की निष्पत्ति लोक में मानी जाती है। जैसे कुम्हार घट का कर्त्ता है, घट उसका कर्म है, दण्ड चक्र आदि करण हैं, पानी भरने आदि के लिये घट बनाया जाता है अतः यह सम्प्रदान है। मिट्टी की पिण्ड पर्याय से घट बनाया जाता है, अतः अपादान है। उसका भूमि आदि अधिकरण है। किन्तु आत्मा की स्वरूपोपलब्धिरूप कार्य की निष्पत्ति में षट्कारकरूप से एक आत्मा ही है वही अपना कर्ता, कर्म, आदि है। यही निश्चय व्यवस्था है। तभी आत्मा का यथार्थ में स्वयं-भूपना बनता है।

`आचार्य कुंदकुंद'ने इस ग्रंथ में मुनि या साधु के लिये श्रमण शब्द का प्रयोग किया है। इसीसे जैन संस्कृति श्रमण कही जाती है। भारत में दो ही संस्कृतियाँ प्राचीन हैं - श्रमण और ब्राह्मण और भाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार दोनों में शाश्वतिक विरोध रहा है क्योंकि सैद्धान्तिक भेद है।

`आचार्य अमृतचंद्र'ने अपने `पुरुषार्थसिद्ध्यपाय' के प्रारम्भ में एक बात बड़े महत्त्व

की लिखी है कि उपदेष्टा को सर्वप्रथम यति धर्म का उपदेश देना चाहिये। जो उसे स्वीकार करने में असमर्थ हो उसको गृहस्थ धर्म का उपदेश देना चाहिये। यह कथन बतलाता है कि मोक्षमार्ग में मुनि धर्म की महत्ता है, क्योंकि मुनि ही मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी होता है। यही बात `आचार्य कुंदकुंद' के ग्रन्थों में भी परिलक्षित होती है। वे श्रमण को लक्ष्य करके ही लिखते हैं। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि गृहस्थ को उसे पढ़ने का अधिकार नहीं है या उसे उन ग्रन्थों को पढ़ना नहीं चाहिये। यदि वह नहीं पढ़ेगा तो मुनि कैसे बनेगा। मुनि पद अज्ञानियों के लिये नहीं है। यह बात प्रवचनसार की मंगल गाथाओं की उत्थानिका से स्पष्ट है। अतः इस प्रकरण की गाथा ९१ की व्याख्या में `अमृतचंद्र'ने लिखा है - `जो सामान्य-विशेषात्मक द्रव्यों को स्व और पर के भेद सहित नहीं जानता या श्रद्धान नहीं करता और यों ही मुनि पद धारण करके आत्मा का दमन करता है वह मुनि नहीं है। जैसे जिसे धूलि और सोनेके कणों का भेद ज्ञात नहीं है वह धूलि को धोकर सोने के कण प्राप्त नहीं कर सकता। उसी प्रकार उस अज्ञानी मुनि को भी राग रहित आत्मतत्त्व की प्राप्तिरूप धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः इस अधिकार के आरम्भ में ग्रन्थकारने यह प्रतिज्ञा की है कि मैं साम्यभावरूप श्रामण्य को धारण करता हूँ जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। और प्रतिज्ञा करके साम्यभाव को धर्म निश्चित करके साम्यभाव धर्मरूप परिणत आत्मा को ही धर्म कहा है तथा उसकी सिद्धि के लिये निर्वाण सुख का साधन शुद्धोपयोग को कहा है। शुद्धोपयोग के विरोधी शुभ और अशुभ उपयोग का निराकरण करके शुद्धोपयोग का स्वरूप कहा है। उसीके प्रसाद से आत्मा को स्वाभाविक ज्ञान और सुख की प्राप्ति बतलाते हुए ज्ञान और सुख का स्वरूप कहा है।

`श्री जयसेनाचार्य' की टीका में दो गाथाएँ इस प्रकरण के अन्त में अधिक हैं। उनमें कहा है कि जो उक्त प्रकार के श्रमण को देखकर उनका वंदन नमस्कार आदिसे सत्कार करता है, उससे वह धर्म को ग्रहण करता है और उससे मनुष्य वा तिर्यञ्च भवान्तर में देव या मनुष्यगति प्राप्त करके सदा सम्पूर्ण मनोरथ होते हैं।

गाथा में `धम्ममादियदि' पद है और जयसेनने धर्म का अर्थ पुण्य किया है। `कुंदकुंद'ने पुण्य के लिए धर्म शब्द का प्रयोग किया ही नहीं। अतः ये गाथाएँ `कुंदकुंद' कृत नहीं हो सकती। न यहाँ उनकी आवश्यकता है। इससे पूर्व भी जयसेन की टीका में इसी प्रकार की नमस्कारात्मक गाथाएँ आई हैं। `अमृतचंद्र' की टीका में आगत गाथा ८२ में तो निर्वाण प्राप्त अरहंतों को नमस्कार किया ही है। वही इस

प्रकरण के उपयुक्त है।

प्रवचनसार के ज्ञानाधिकार के अन्त में `अमृतचंद्र' लिखते हैं - `स्याद्वाद की मुद्रा से अंकित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म (द्रव्यश्रुत) जयवन्त होओ।' उस शब्दब्रह्ममूलक आत्मतत्त्व की उपलब्धि जयवन्त होओ, जिस आत्मतत्त्व की उपलब्धि के प्रसाद से अनादि संसार से बद्ध मोह की गाँठ तत्काल खुल जाती है। परम वीतराग चारित्ररूप शुद्धोपयोग जयवन्त होओ, जिसके प्रसाद से यह आत्मा स्वयं धर्मरूप हो जाता है।

उक्त वाक्य बहुमूल्य है जो बतलाते हैं कि आत्मतत्त्व की उपलब्धि का मूल जिनागम का अभ्यास है और जिनागम के अभ्यास के लिए स्याद्वाद का परिज्ञान होना जरूरी है। उस आत्मतत्त्व की उपलब्धि से ही अनादि संसार सान्त हो जाता है और तब वीतराग चारित्ररूप शुद्धपयोग के द्वारा आत्मा स्वयं धर्मरूप होकर शाश्वत सुख को भोगता है।

प्रवचनसार का दूसरा ज्ञेयाधिकार तो `अमृतचंद्र' की देनसे भरपूर है। द्रव्य, गुण, पर्याय के तो वह विचक्षण पण्डित थे। इस अधिकार की प्रथम गाथा की टीका में वह द्रव्य को विस्तार सामान्य समुदायात्मक और आयत सामान्य समुदायात्मक कहते हैं तथा गुण को एकाश्रय विस्तार विशेषात्मक और पर्याय को आयत विशेषात्मक कहते हैं।

विस्तार का अर्थ है चौड़ाई और आयत का अर्थ है लम्बाई। गुण और पर्याय ये दोनों द्रव्य के विशेष हैं। गुण विस्तार विशेष है - द्रव्य के प्रत्येक अंश में सदा रहता है। पर्याय आयत विशेष है अर्थात् एक के बाद एकरूप से सदा प्रवाहित होती हैं। पर्याय द्रव्यात्मक भी होती हैं और गुणात्मक भी। अनेक द्रव्यों में ऐक्य के बोध में कारण द्रव्य पर्याय है। उसके दो भेद हैं - समानजातीय और असमानजातीय। अनेक पुद्‌गलों के मेल से निष्पन्न स्कंध समानजातीय द्रव्य पर्याय है। तथा जीव और पुद्‌गल के संयोग से निष्पन्न देव मनुष्य आदि असमानजातीय द्रव्यपर्याय है।

गुणपर्याय के भी दो भेद हैं - स्वभाव पर्याय, विभाव पर्याय। समस्त द्रव्यों के अपने-अपने अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रकट होनेवाली षट्‌स्थानपतित हानिवृद्धिरूप अनेकता की अनुभूति स्वभाव पर्याय है। तथा रूपादि या ज्ञानादि के स्व और पर कारण के द्वारा प्रवर्तमान पूर्व और उत्तर अवस्था में होनेवाले तारतम्य के कारण देखने में आनेवाले स्वभावविशेषरूप अनेकता की प्राप्ति विभावपर्याय है।

`अमृतचंद्रजी'ने मोह का लक्षण तत्त्व को न जानना कहा है। यह लक्षण बहुत ही उपयुक्त है। तत्त्व को न जानने के कारण ही अज्ञानी प्राणी मोह में पड़ता है।

यदि तत्त्व को जान ले तो मोह दूर हो जाये।

गाथा ९५ में `आचार्य कुंदकुंद'ने द्रव्य के लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तथा गुणपर्याययुक्त कहे हैं। `अमृतचंद्रजी'ने उसकी व्याख्या में इन्हें दृष्टान्तपूर्वक स्पष्ट करते हुए गुण के दो भेद कहे हैं - सामान्य और विशेष । तथा अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्त्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व और अगुरुलघुत्व आदि को सामान्य गुण कहा है, तथा अवगाहहेतुत्व, गतिनिमित्तता, स्थितिकारणता, वर्तनाहेतुता, रूपादिमत्ता और चेतनत्व को विशेष गुण कहा है।

`आचार्य देवसेन' की आलापपद्धति में गुणों के भेदों का विस्तार से कथन होनेसे स्व. डा. ए. एन. उपाध्येने प्रवचनसार की अपनी प्रस्तावना में यह सम्भावना व्यक्त की है कि `अमृतचंद्र' आलापपद्धति से परिचित थे। किन्तु हमें यह नहीं जचता; क्योंकि `अमृतचंद्र'ने निश्चयनय और व्यवहारनय के किसी भी भेद का निर्देश नहीं किया जो आलाप पद्धति में वर्णित है। `अमृतचंद्र' के उत्तरकालीन टीकाकार ब्रह्मदेव और जयसेन की टीकाओं में उनका प्रयोग पाया जाता है। ये दोनों टीकाकार आलापपद्धति में सुपरिचित थे।

`अमृतचंद्र'जी ने प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार की टीका में अस्तित्व या सत्ता, उत्पाद व्यय ध्रौव्य, और गुण-पर्याय का जो स्पष्ट विवेचन किया है जो अन्यत्र नहीं देखा जाता। अस्तित्व का वर्णन करते हुए वह कहते हैं - अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है और वह अन्य साधन से निरपेक्ष होनेके कारण अनादि अनंत है। तथा द्रव्य गुण पर्याय का अस्तित्व एक ही है भिन्न भिन्न नहीं है, क्योंकि गुण पर्याय द्रव्य से ही निष्पन्न होती हैं, और द्रव्य गुण पर्यायों से निष्पन्न होता है। इसी तरह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और द्रव्य का अस्तित्व भी एक ही है, क्योंकि उत्पाद व्यय ध्रौव्य द्रव्यरूप हैं और द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है।

उन्होंने अस्तित्व के दो भेद किये हैं स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व। उक्त कथन स्वरूपास्तित्व का है। गाथा ९८ की टीका में वह लिखते हैं -

द्रव्यों से अन्य द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि सब द्रव्य स्वभावसिद्ध हैं। और स्वभाव सिद्ध इसलिये हैं कि अनादि-निधन है। जो अनादि अनंत होता है वह अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं रखता। जो द्रव्यों से उत्पन्न होता है वह तो पर्याय है। जैसे मनुष्य या स्कंध। द्रव्य तो त्रिकालस्थायी होता है। इस प्रकार उन्होंने द्रव्य गुण पर्याय तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्य को खूब स्पष्ट किया है।

उत्पाद व्यय के बिना नहीं होता। व्यय उत्पाद के बिना नहीं होता और उत्पाद व्यय दोनों ध्रौव्य के बिना नहीं होते। तथा ध्रौव्य उत्पाद व्यय के विना नहीं होता। अतः जो उत्पाद है वही व्यय है। जो व्यय है वही उत्पाद है और जो उत्पाद व्यय है वही ध्रौव्य है। जो ध्रौव्य है वही उत्पाद व्यय है। जैसे - जो घट का उत्पाद है वही मिट्टी के पिण्ड का विनाश है क्योंकि मिट्टी की पिण्ड पर्याय का विनाश हुए बिना घट उत्पन्न नहीं होता। जो मिट्टी के पिण्ड का विनाश है वही घट का उत्पाद है, क्योंकि अभाव भवान्तर स्वभावरूप देखा जाता है। जो घट का उत्पाद और पिण्ड का विनाश है वही मिट्टी की ध्रुवता है; क्योंकि पर्याय के बिना द्रव्य की स्थिति नहीं हैं। जो मिट्टी की ध्रुवता है वही घट की उत्पत्ति और पिण्ड का विनाश है, क्योंकि द्रव्य की ध्रुवता के बिना पर्याय नहीं होती।

यदि ऐसा नहीं माना जाता है तो उत्पाद व्यय ध्रौव्य को भिन्न-भिन्न मानना होगा और ऐसी स्थिति में केवल उत्पाद मानने पर घट का उत्पाद नहीं होगा। होगा तो असत् का उत्पाद होगा; क्योकि मिट्टी की पिण्ड पर्याय के विनाश से घट का उत्पाद होता था। वह आप मानते नहीं, उसके बिना घट उत्पन्न नहीं होगा। घट के उत्पन्न न होने पर सभी पदार्थों का उत्पाद नहीं होगा। असत् का उत्पाद मानने पर आकाश के फूल आदि असंभव वस्तुओं का भी उत्पाद मानना होगा। तथा केवल विनाश मानने पर विनाश का कारण न होनेसे मिट्टी के पिण्ड का विनाश नहीं होगा। क्योंकि घट के उत्पन्न होनेसे मिट्टी के पिण्ड का विनाश होता था। यदि सत् का विनाश मानेंगे तो ज्ञानादिका भी नाश मानना होगा। तथा केवल ध्रौव्य मानने पर मिट्टी की स्थिति नहीं रहेगी। क्योंकि पिण्डादि पर्याय के बिना मिट्टी की स्थिति नहीं है। या फिर मिट्टी को सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक मानना होगा। यहो दशा अन्य सब पदार्थों को भी प्राप्त होगी। इसलिये उत्तरोत्तर पर्यायों के उत्पाद और पूर्व पूर्व पर्यायों के विनाश तथा मूलवस्तु की ध्रौन्यतारूप त्रैलक्षण्ये से युक्त द्रव्य मानना चाहिये।

किन्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्य पर्याय के आश्रित है और पर्याय द्रव्य के आश्रित है। ये सब मिलकर एक ही द्रव्य है। द्रव्य समुदायी है, अतः वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य का समुदाय है। जैसे वृक्ष स्कंध मूल और शाखा का समुदायरूप है इसी प्रकार समुदायी द्रव्य पर्यायों का समुदायात्मक है। और पर्याय उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप हैं। यदि उत्पाद व्यय ध्रौव्य पर्यायों का न मानकर द्रव्य का ही माना जाये तो सब गड़बड़ा जाये। जैसे यदि द्रव्य का नाश माना जाये तो एक ही क्षण में सब द्रव्यों का नाश होनेसे जगत् द्रव्य से शून्य हो जाये। यदि द्रव्य का उत्पाद माना जाये तो प्रति

समय द्रव्य के उत्पन्न होनेसे द्रव्यों की संख्या अनंत हो जावे तथा असत् की उत्पत्ति का प्रसंग आवे। इसी तरह द्रव्य को ध्रुव मानने पर क्रम-क्रम से होनेवाली पर्यायों का अभाव होनेसे द्रव्य का भी अभाव हो जाये। अतः उत्पाद व्यय ध्रौव्य पर्यायाश्रित हैं और पर्याय द्रव्याश्रित है। तथा ये सब मिलकर एक द्रव्य होता है।

गाथा ९९ की टीका बहुत महत्त्वपूर्ण है जो प्रकारान्तर से पर्याय को क्रमबद्धता पर प्रकाश डालती है।

उन्होंने दो शब्दों का प्रयोग किया है - द्रव्यवास्तु और द्रव्यवृत्ति। द्रव्यावास्तु से उनका अभिप्राय है - द्रव्य का आश्रय अर्थात् उसके प्रदेशरूप स्वक्षेत्र। तो द्रव्य तो एक और अखण्ड है किन्तु उसका जो विस्तार है उस विस्तार के क्रम में वर्तमान जो सूक्ष्म अंश हैं वे कहलाते हैं प्रदेश। इन प्रदेशों के ही कारण आकाश सर्वव्यापी और शेष द्रव्य अव्यापि कहे जाते हैं। तो जैसे एक भी द्रव्य के प्रदेश होते हैं वैसे ही द्रव्य का अस्तित्व एक होने पर भी उसमें जो प्रति समय परिवर्तन होता है उन्हें पर्याय कहते हैं। `अमृतचंद्रजी'ने प्रदेशों को `विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवर्ति' सूक्ष्म अंश कहा है। विष्कम्भ-विस्तार एकार्थक हैं। एक अखण्ड द्रव्य का जो एक प्रदेश है वह दूसरा नहीं है। जो दूसरा प्रदेश है, वह तीसरा नहीं है, ऐसा विचार करने पर द्रव्य अपने विस्तारक्रम से बहुप्रदेशी सिद्ध होता है। तथा एक द्रव्य की एक समय की पर्याय दूसरे समयवर्ती पर्याय नहीं है। दूसरे समयवर्ती पर्याय तीसरे समयवर्ती नहीं है। ये प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवृत्ति सूक्ष्म अंश है। पञ्चाध्यायीकारने द्रव्य द्रव्याँश, गुण गुणांशरूप में इनका वर्णन बहुत विस्तार से किया है।

`अमृतचंद्रजी'ने इन्हें स्पष्ट करने के लिये मोतियों की माला का उदाहरण दिया है। जैसे मोतियों की माला में सभी मोती अपने-अपने स्थान में चमकते हैं। जब माला फेरते हैं तो आगे-आगे के मोती अपने अपने स्थान पर उदित होते जाते हैं और उनसे पूर्व के मोती विलय होते जाते हैं। किन्तु उनमें पिरोया गया डोरा एकरूप से अवस्थित रहता है। इसी प्रकार परिणमनशील नित्य द्रव्य में सभी पर्यायें अपने-अपने समय में प्रकाशित होते हुए उत्तरोत्तर परिणाम उत्पन्न होते हैं, पूर्व पूर्व परिणाम विलय होते हैं तथा सर्वत्र पर्यायों में अनुस्यूत प्रवाह अवस्थित रहता है। यही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूपता है।

यहाँ जो विष्कम्भक्रम प्रवृत्तिवृत्ति सूक्ष्मांश को प्रदेश तथा प्रवाहक्रम प्रवृत्तिवृत्ति सूक्ष्मांश को परिणाम या पर्याय कहा है, आगे गाथा १४१ की टीका में इन्हीं के समूह को तिर्यक् प्रचय और ऊर्ध्व प्रचय नाम दिया है। और प्रदेशों के समूह को तिर्यक्

प्रचय तथा समय-समय में होनेवाली पर्यायों के समूह को ऊर्ध्व प्रचय कहा है। तथा कहा है कि सब बहुप्रदेशी द्रव्यों में तिर्यक् प्रचय होता है। परंतु काल द्रव्य में नहीं होता, क्योंकि वह शक्तिरूप से भी एक प्रदेशी है। ऊर्ध्व प्रचय तो सभी द्रव्यों में अनिवार्य है, क्योंकि द्रव्य की वृत्ति त्रिकालवर्ती है। किन्तु इतना अन्तर है कि काल द्रव्य के सिवाय शेष द्रव्यों का ऊर्ध्व प्रचय समयविशिष्ट वृत्तियों का प्रचय है और समयों का प्रचय काल द्रव्य का प्रचय है। इस अन्तर का कारण यह है कि शेष द्रव्यों की वृत्ति तो समय से भिन्न है, इसलिए उसे समय विशिष्ट वृत्ति कहा है, किन्तु काल द्रव्य की वृत्ति तो स्वयं समयरूप है, क्योंकि समय काल द्रव्य की ही तो पर्याय है।

गाथा १४२ की टीका में इसे और भी स्पष्ट किया है। यह सब कथन `आचार्य अमृतचंद्र' की ही देन है।

जैनदर्शन में काल द्रव्य को एकप्रदेशी क्यों माना गया इसकी उपपत्ति भी गाथा १४४ की टीका में `अमृतचंद्र'ने दी है जो अन्यत्र हमारे देखने में नहीं आई।

जो पहले स्वरूपास्तित्व कहा था वह द्रव्य का स्वभाव ही है उसीसे स्व और पर का भेदज्ञान होता है। अतः उसे ही पद पद पर जानने की प्रेरणा `अमृतचंद्रजी' करते हैं। उसके होने पर ही मोह दूर होता है।

गाथा १५५ में `आचार्य कुंदकुंद'ने उपयोग के शुभ अशुभ दो भेद किये हैं। `अमृतचंद्रजी' ने उपयोग के शुद्ध और अशुद्ध भेद करके अशुद्ध के शुभ और अशुभ भेद किये हैं। यह उनका वैशिष्टय है। निरुपराग उपयोग शुद्ध होता है, सोपराग अशुद्ध होता है। उपराग के भी दो भेद हैं - एक विशुद्धिरूप और एक संक्लेशरूप। विशुद्धिरूप राग शुभ है। संक्लेशरूप अशुभ है। यह शुभ अशुभरूप उपयोग ही पर द्रव्य के संयोग में कारण होता है। शरीर वचन मन ये सब पर द्रव्य हैं। स्व और पर का ज्ञान न होनेसे ही जीव पर द्रव्य में प्रवृत्ति करता है, अतः स्व द्रव्य में प्रवृत्ति के लिए भेदज्ञान आवश्यक है।

गाथा १८४-१८५ में कहा है कि पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म नहीं है, क्योंकि आत्मा पर द्रव्य के ग्रहण और त्याग से रहित है। इन पर से प्रश्न हुआ तब आत्मा कैसे पुद्गल कर्मों के द्वारा ग्रहण किया या छोड़ा जाता है। उत्तर में कहा है कि संसार अवस्था में जीव अपने परिणामों को करता है। उनको निमित्त करके पुद्गल कर्म स्वयं ही जीव से बँधते या छूटते हैं।

गाथा १८९ की टीका में इस कथन का सार उपस्थित किया गया है - जो

इस प्रकार है -

`राग परिणाम ही आत्मा का कर्म है वही पुण्य पापरूप है। राग परिणाम का ही आत्मा कर्ता है, उसीका ग्रहण और त्याग करनेवाला है, यह शुद्ध द्रव्य का निरूपण करनेवाले निश्चयनय का कथन है। और पुद्‌गल परिणाम आत्मा का कर्म है वही पुण्य पापरूप है, आत्मा पुद्‌गल परिणाम का कर्ता, ग्रहण और त्याग करनेवाला है। यह अशुद्ध द्रव्य का कथन करनेवाले व्यवहारनय का कथन है। ये दोनों ही नय हैं, क्योंकि शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूप से द्रव्य की प्रतीति होती है। किन्तु यहाँ निश्चयनय साधकतम होनेसे ग्रहण किया गया है, क्योंकि साध्य है, शुद्ध आत्मा और निश्चयनय द्रव्य की शुद्धता का प्रकाशक है, अतः वही साधकतम है, अशुद्ध आत्मा का प्रकाशक व्यवहारनय साधकतम नहीं है।'

इस प्रकार `अमृतचंद्रजी'ने व्यवहारनय को स्वीकार करते हुए भी मोक्षमार्ग में निश्चयनय को ही साधकतम कहा है। आगे कहा है जो साधु शुद्ध द्रव्य का कथन करनेवाले निश्चयनय से निरपेक्ष रहकर अशुद्ध द्रव्य का कथन करनेवाले व्यवहारनय के मोह में पड़कर परद्रव्य में ममत्व करता है वह शुद्धात्म परिणतिरूप मुनिमार्ग को दूरसे ही छोड़कर अशुद्धात्मपरिणतिरूप कुमार्ग में जाता है।'

ज्ञेयाधिकार के अन्त में और चरणानुयोग चूलिका के प्रारम्भ में `अमृतचंद्रजी'ने दो पद्य बड़े महत्त्व के कहे हैं -

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य।।

अर्थ :- चारित्र द्रव्य के अनुसार होता है और द्रव्य चारित्र के अनुसार होता है। ये दोनों सापेक्ष हैं। इसलिए या तो द्रव्य का आश्रय लेकर या चारित्र का आश्रय लेकर मुमुक्षु मोक्षमार्ग में आरोहण करे।

द्रव्यस्य सिद्धो चरणस्य सिद्धिः
द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ।
बुद्‌ध्वेति कर्माविरता परेऽपि
द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु।।

अर्थ :- द्रव्य की सिद्धि में चारित्र की सिद्धि है। चारित्र की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि है, यह जानकर कर्मों से अविरत दूसरे भी द्रव्य से अविरुद्ध चारित्र का

आचरण करो।

ये दो पद्य द्रव्य और चारित्र की परस्पर सापेक्षता बतलाते हैं। यहाँ द्रव्य से मतलब आत्मद्रव्य से है। उसीके स्वरूपबोध के लिये प्रथम दो अधिकार कहे गये हैं। तदनन्तर चारित्र का कथन है। अतः चारित्र की सिद्धि से ही शुद्ध आत्मद्रव्य की सिद्धि-प्राप्ति होती है। अतः चारित्र का पालन करना चाहिए। शुद्ध आत्मद्रव्य की प्रतीति के बिना चारित्र का पालन संसार का उच्छेद नहीं कर सकता। जो संसार का उच्छेद न करे वह चारित्र धर्म कैसे हो सकता है।

प्रवचनसार की टीका के अन्त में ४७ नयों के द्वारा आत्मा का कथन किया गया है। वे नय हैं - १. द्रव्यनय, २. पर्यायनय, ३. अस्तित्वनय, ४. नास्तित्वनय, ५. अस्तित्वनास्तित्वनय, ६. अवक्तव्यनय, ७. अस्तित्वावक्तव्यनय, ८. नास्तित्वावक्तव्यनय, ९. अस्तित्व-नास्तित्वावक्तव्यनय, १०. विकल्पनय, ११. अविकल्पनय, १२. नामनय, १३. स्थापनानय, १४. द्रव्यनय, १५. भावनय, १६. सामान्यनय, १७. विशेषनय, १८. नित्यनय, १९. अनित्यनय, २०. सर्वगतनय, २१. असर्वगतनय, २२. शून्यनय, २३. अशून्यनय, २४. ज्ञानज्ञेयाद्वैतनय, २५. ज्ञानज्ञेयद्वैतनय, २६. नियतिनय, २७. अनियतिनय, २८. स्वभावनय, २९. अस्वभावनय, ३०. कालनय, ३१. अकालनय, ३२. पुरुषकारनय, ३३. दैवनय, ३४. ईश्वरनय, ३५. अनीश्वरनय, ३६. गुणिनय, ३७. अगुणिनय, ३८. कर्तृनय, ३९. अकर्तृनय, ४०. भोक्तृनय, ४१. अभोक्तृनय, ४२. क्रियानय, ४३. ज्ञानय, ४४. व्यवहारनय, ४५. निश्चयनय, ४६. अशुद्धनय, ४७. शुद्धनय। इनमें प्रायः सभी मतवाद आ जाते हैं।

समयसार टीका -

`आचार्य कुंदकुंद'ने अपने ग्रन्थ को समयप्राभृत नाम दिया है। यथा - `वोच्छामि समयपाहुड'। किन्तु `अमृतचंद्र'ने अपनी टीका के प्रथम मंगल श्लोक में `नमः समयसाराय' लिखा और ग्रन्थ का नाम समयसार ही रूढ़ हो गया। उन्होंने अपनी टीका में उपसंहारात्मक जो पद्य लिखे वे भी समयसार कलश के नाम से ख्यात हुए। अर्थात् वे पद्य समयसाररूपी मन्दिर के शिखर पर कलश के तुल्य हैं। उन पर आचार्य शुभचंद्रने संस्कृत टीका रची। राजमल्लने ढुंढारी भाषा में उनकी टीका रची। उसे पढ़कर कविवर बनारसीदासने नाटक समयसार रचा जिसमें उन्होंने लिखा -

`नाटक सुनत हिय फाटक खुलत हैं'

अर्थात् समयसार नाटक को सुनने से हृदय के फाटक खुल जाते हैं। समय सार को नाटक का रूप देनेका श्रेय भी `अमृतचंद्र' को ही है। प्रथम गाथा की उत्थानिका है - अथ सूत्रावतारः। जब नाटक प्रारम्भ होता है तो रंगमंच पर सूत्रधार आता है। यह सूत्रावतार भी उसीका प्रतिनिधि है। ३८ वीं गाथा के अन्त में लिखा है `पूर्वरङ्गः समाप्तः'।

इसका मतलब है कि सूत्रधारका कार्य समाप्त हुआ। अब नाटक प्रारम्भ होता है। आगे लिखा है -

`अथ जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः।' अर्थात् जीव और अजीव दोनों एकमेक होकर रंगमंचपर प्रवेश करते हैं। संसाररूपी नाटक का यही तो सूत्रपात है कि जीवने सोपाधि स्वरूप को ही अपना स्वरूप मान लिया है उसे जड़ और चेतन का बोध नहीं है। इसीका चित्रण छहढाला की प्रथम ढाल में पं. दौलतराम जी ने किया है।

दूसरे कर्तृकर्माधिकार के प्रारम्भ में लिखते हैं - जीव और अजीव ही कर्ता और कर्म का वेष धारण करके प्रवेश करते हैं।

समयसार के दूसरे टीकाकार `जयसेन'ने भी `अमृतचंद्र' का ही अनुसरण करते हुए उसमें भी निश्चयन और व्यवहारनय का प्रयोग किया है' यथा -

`इस प्रकार जीवाजीवाधिकाररूपी रंगभूमि में श्रृंगार सहित पात्र के समान दोनों व्यवहारनय से एकीभूत होकर प्रविष्ट हुए और निश्चय से तो श्रृंगार रहित पात्र की तरह जुदे होकर चले गये।'

तथा कर्तृकर्माधिकार के प्रारम्भ में जयसेन ने कहा है -

`पूर्वोक्त जीवाजीवाधिकार की रंगभूमि में जीव अजीव ही यद्यपि शुद्धनिश्चय से कर्ता कर्म भाव से रहित हैं तथापि व्यवहारनय से कर्ता कर्म के वेष से श्रृंङ्गारसहित पात्र की तरह प्रवेश करते हैं।'

तीसरे पुण्यपापाधिकार के प्रारम्भ में कहा है - एक ही कर्म दो पात्ररूप होकर पुण्य और पापरूप से प्रवेश करता है। अर्थात् पुण्य-पाप मूल में एक ही हैं। इसीप्रकार आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष सबका प्रवेश और निकास कराकर अन्त में सर्वविशुद्ध ज्ञान प्रवेश करता है। किन्तु इसे निकाला नहीं गया है। यही तो ज्ञानपुंज शुद्ध आत्मा है जो बन्ध मोक्ष आदि के कारणभूत परिणामों से रहित है। इसप्रकार समयसार को नाटक का रूप देकर आचार्य `अमृतचंद्र'ने समयसार की अपनी टीका के द्वारा उसके हार्द को जिसरूप में प्रस्पष्ट किया है उससे समयसार समयसार बन गया है। टीका की प्रत्येक पंक्ति में अध्यात्म का रस भरा हुआ है। जिसका पान करके अन्तरात्मा

प्रफुल्लित हो उठता है।

ग्रन्थ का नाम समय प्राभृत होनेसे सबसे प्रथम समय का कथन है, जीव नामक पदार्थ समय है क्योंकि समय से अर्थात् एकत्वरूप से एक साथ जानता भी है और परिणमन भी करता है, सम-उपसर्ग पूर्वक अय् धातु का अर्थ गमन भी है जानना भी है। उसका प्रकाशक शास्त्र समयप्राभृत है।

आगे गाथा ३ की टीका में समय शब्द से सभी अर्थ-पदार्थ लिये हैं, क्योंकि समय से अर्थात् एकीभाव से अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त करते हैं। दोनों ही स्थानों में प्रत्येक द्रव्य के एकत्व को बतलाते हुए `अमृतचंद्र'ने लिखा है कि अन्त द्रव्यों के हिले मिले समूह में रहते हुए भी सभी द्रव्य अपने में निमग्न अनंत धर्मों के समूह को अपनाये हुए हैं, किन्तु परस्पर में एक द्रव्य दूसरे द्रव्यों को अपनाये हुए नहीं है। अत्यंत प्रत्यासत्ति होने पर भी अपने स्वरूप से च्युत न होकर पररूप से परिणमन नहीं करते। अतः वे टांकी से उकेरे हुए के समान सदा रहते हैं। द्रव्यों की यह स्वतंत्रता ही अध्यात्म का प्राण है। इसी से `अमृतचंद्र'जी ने अपनी टीका में इसपर विशेष जोर दिया है।

गाथा ६ की टीका में शुद्ध आत्मा का कथन करते हुए कहा है -

संसार अवस्था में अनादि बन्धपर्याय के कथन की अपेक्षा यह आत्मा दूध और पानी की तरह कर्मपुद्गलों के साथ यद्यपि एकरूप हो रहा है तथापि द्रव्यस्वभाव के कथन की अपेक्षा कषाय के उदयवश होनेवाले शुभाशुभ भावों के स्वभावरूप परिणमन नहीं करने से प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है। वही आत्मा समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्नरूप से उपासना किये जानेपर शुद्ध कहा जाता है। अर्थात् एक द्रव्य तो अन्य द्रव्यरूप होता नहीं। परद्रव्य के संयोग से मलिनता आती है, किन्तु द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य शुद्ध ही अनुभव में आता है, पर्यायदृष्टि से तो वह मलिन ही है।

आत्मा की अशुद्धता का कारण केवल परद्रव्य संयोग ही नहीं है। अखण्ड आत्मा का दर्शन ज्ञान चारित्ररूप से भेदन करके कथन करने से भी अशुद्धता आती है। यह बात गाथा ७ में कही है, क्योंकि धर्म और धर्मी में स्वभाव से अभेद है, किन्तु कथन द्वारा भेद उत्पन्न करके ऐसा कहा जाता है कि आत्मा में दर्शन ज्ञान चारित्र है। ऐसा करने का कारण यह है कि उसके बिना आत्मा का स्वरूप समझाया नहीं जा सकता। इसीलिये व्यवहारनय की आवश्यकता होती है क्योंकि व्यवहार के बिना परमार्थ का कथन नहीं हो सकता। फिर भी व्यवहार तो व्यवहार ही है, परमार्थ का प्रतिपादक होनेपर भी वह परमार्थ नहीं है। इससे उसकी उपयोगिता परमार्थ को

समझने के लिये है। गाथा १२ में यही स्पष्ट किया है -

`परम भावदर्शियों के लिये शुद्ध का कथन करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य है, किन्तु जो अपरम भाव में स्थित हैं वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने के योग्य हैं।'

`अमृतचंद्र'जी ने परम भाव को शुद्ध स्वर्ण के समान कहा है और सोने की नीचे की अशुद्ध दशाओं के समान अपरम भाव कहा है। और अपरम भाव में स्थितों के लिये उस समय व्यवहारनय को ही उपयोगी कहा है।

इसके भावार्थ में पं. जयचंद्रजी ने लिखा है -

जबतक यथार्थ ज्ञान श्रद्धान की प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हुई हो तब तक जिन वचनों का सुनना, धारण करना, जिन वचनों के उपदेशक गुरु की भक्ति, जिन बिम्बदर्शन आदि व्यवहारमार्ग में लगता प्रयोजनवान् है। और जिनको ज्ञान श्रद्धान तो हुआ पर साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई तब तक परद्रव्य का आलम्बन छोड़नेरूप अणुव्रत, महाव्रत का ग्रहण, समिति, गुप्ति, आदि व्यवहारमार्ग में प्रवर्तन करना कराना आदि व्यवहारनय का उपदेश करना प्रयोजनवान् है। `अमृतचंद्र' जी ने भी लिखा है -

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या -
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित्।।५।।

अर्थ :- व्यवहारनय को यद्यपि इस प्रथम पदवी में (जब तक शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति न हो तब तक) जिन्होंने पैर रखा है ऐसे पुरुषों के लिये हस्तावलम्ब कहा है। तो भी जो पुरुष चैतन्य चमत्कारमात्र, परद्रव्य भावों से रहित परम अर्थ को (जो शुद्धनय का विषयभूत है) अन्तरंग में अवलोकन करते हैं उसका श्रद्धान करते हैं तथा उस स्वरूप में लीनतारूप चारित्र को प्राप्त करते हैं उनके लिये यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान् नहीं है।

इसके पश्चात् ही `अमृतचंद्र'जी ने सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है -

आत्मा को, जो शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है, अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त और पूर्ण ज्ञानघन है, द्रव्यान्तर से भिन्न देखना श्रद्धान करना ही नियम से सम्यग्दर्शन है।'

पं. जयचंद्रजी इसे निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं, वह लिखते हैं - `जब तक व्यवहारनय के विषयभूत जीवादि भेदरूप तत्त्वों का केवल श्रद्धान रहता है तब तक

निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता इसलिये सर्वज्ञ की वाणी में जैसा पूर्ण आत्मा का स्वरूप कहा है वैसा श्रद्धान होनेसे निश्चय सम्यक्त्व होता है।' यह निश्चय सम्यक्त्व वही है जिसके होनेपर अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को चतुर्थ गुणस्थान की प्राप्ति होने के साथ उसका अनंत संसार सान्त हो जाता है। किन्तु `आचार्य जयसेन' निश्चयचारित्र के अविनाभावी को निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। यथा-आर्त रौद्रध्यानों का परित्यागरूप निर्विकल्प सामायिक में स्थिति को जो शुद्धात्मरूप का दर्शन, अनुभवन, अवलोकन, उपलब्धि, संवित्ति, प्रतीति, ख्याति, अनुभूति होती है वही निश्चयनय से निश्चयचारित्र का अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्व या वीतराग सम्यक्त्व है।

गाथा १३ में `आचार्य कुंदकुंद' भूतार्थनय से जाने गये जीवादि नव तत्त्वों को सम्यग्दर्शन कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्रादि में तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। समयसार में भूतार्थनय से जाने गए पद अधिक है।

`अमृतचंद्र' जी इसकी टीका में लिखते हैं -

`ये जीवादि नौ तत्त्व तीर्थ प्रवृत्ति के निमित्त अभूतार्थनय से कहे गये हैं। इनमें एकत्व को प्रकट करनेवाले भूतार्थनय से एकत्व लाकर शुद्धनय से व्यवस्थापित आत्मा की अनुभूति - जिसका लक्षण आत्मख्याति है - होती है। अतः इन जीवादि नौ तत्त्वों को भूतार्थनय से जानने पर सम्यग्दर्शन होता ही है।'

इसी टीका में आगे वे कहते हैं - `ये नौ तत्त्व जीव द्रव्य के स्वभाव को दृष्टि से ओझल करके स्वपर निमित्तिक एक द्रव्य की पर्यायरूप से अनुभव करने पर भूतार्थ है। और सब कालों में कभी न डिगनेवाले एक जीव द्रव्य स्वभाव का अनुभवन करने पर अभूतार्थ हैं। अतः इन नौ तत्त्वों में भी भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है। इस प्रकार यह एकत्वरूप से प्रकाशमान जीव शुद्धनय से अनुभव में आता ही है। यह अनुभव आत्मख्याति ही है और आत्मख्याति सम्यग्दर्शन ही है। इस प्रकार सब कथन निर्दोष है।'

किन्तु `आचार्य जयसेन' यहाँ भी अभेद रत्नत्रयलक्षण निर्विकल्प समाधिकाल में नौ पदार्थों को अभूतार्थ कहते हैं। उसी परम समाधिकाल में नौ पदार्थों में शुद्ध निश्चयनय से एक शुद्धात्मा ही प्रकाशित होता है, प्रतीत होता है अनुभूत होता है। वह अनुभूति प्रतीति शुद्ध आत्मा की उपलब्धि है वही निश्चय सम्यक्त्व है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि `कुंदकुंद' और उनके व्याख्याकार `अमृतचंद्र' केवल सम्यक्त्व सामान्य का स्वरूप कहते हैं। उसके साथ निश्चय या व्यवहार पद नहीं लगाते।

इन दोनों टीकाकारों के कथनों में यहाँ जो अन्तर पड़ता है उसका समाधान ब्रह्मदेव की परमात्मप्रकाश (२।१७) की टीका से होता है। उसे आगे दिया जाता है -

`सम्यक्त्व दो प्रकार का है - सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व। प्रशम संवेग अनुकम्पा आस्तिक्य की अभिव्यक्ति जिसका लक्षण है वह सराग सम्यक्त्व है। वही व्यवहार सम्यक्त्व है। उसके विषयभूत परद्रव्य हैं। वीतराग सम्यक्त्व का लक्षण निज शुद्धात्मा की अनुभूति है वह वीतराग चारित्र का अविनाभावी है। उसे ही निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। यहाँ प्रभाकर भट्ट पूछते हैं - आपने पहले अनेक बार कहा है कि अपनी शुद्ध आत्मा ही उपादेय है इस प्रकार की रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व होता है। यहाँ आप वीतराग चारित्र के अविनाभावी को निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। यह तो पूर्वापर विरोध है; क्योंकि अपनी शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। इस प्रकार की रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व गृहस्थ अवस्था में तीर्थंकर परमदेव आदि के होता है। किन्तु उनके वीतराग चारित्र नहीं है, अतः परस्पर विरोध है। इसका उत्तर देते हैं - उनके शुद्ध आत्मा उपादेय है ऐसी भावनारूप निश्चय सम्यक्त्व तो है किन्तु चारित्र मोह के उदय से स्थिरता नहीं है। शुद्धात्मभावना से च्युत होनेपर भी भरतादि निर्दोष परमात्मा अरहन्त सिद्धों का गुणस्तवन आदि करते हैं उनके चरित पुराण आदि सुनते हैं। उनके आराधक आचार्य उपाध्याय साधुओं को दान पूजा आदि करते हैं। अतः शुभराग के योग से सराग सम्यग्दृष्टि कहाते हैं। उनके सम्यक्त्व को जो निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं वह परम्परा से वीतराग चारित्र के अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्व का कारण होनेसे कहते हैं। वास्तव से तो वह सराग सम्यक्त्व नामक व्यवहार सम्यक्त्व ही है। 'द्रव्यसंग्रह' की टीका में `जीवादिसद्दहणं सम्मतं' का व्याख्यान करते हुए ब्रह्मदेवजीने कहा है - वीतराग प्रणीत शुद्ध जीवादि तत्त्व के विषय में चल मलिन अवगाढ रहित रूप से जो श्रद्धान अर्थात् रुचि है, निश्चय अर्थात् यही है और इसी प्रकार है इसी प्रकार की निश्चय बुद्धि है वह सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन अभेदनय से आत्मस्वरूप है - आत्मा का परिणाम है।'

पं. `राजमल्ल'ने अपनी पञ्चाध्यायी `अमृतचंद्रजी' की टीकाओं के आधारपर ही बनाई है और इसीसे उसे `अमृतचंद्र' की रचना भी समझ लिया गया था। उसके उत्तरार्द्ध में सम्यक्त्व का बड़ा विशद पाण्डित्यपूर्ण वर्णन है। वह सम्यकत्व को स्वानुभूतिमूलक ही मानते हैं। `अमृतचंद्र'जी भी यही कहते हैं। आत्मा का परिणामरूप सम्यग्दर्शन द्रव्यान्तरसे भिन्न आत्मा की झलक के विना कैसे हो सकता है ?

`जयसेनाचार्य'ने भी गाथा ३२० की अपनी टीका में इसे स्वीकार किया है। लिखा है -

`जब कालादि लब्धिवश भव्यत्व शक्ति की व्यक्ति होती है तब यह जीव सहज शुद्ध परिणामिकभाव लक्षणरूप निज परमात्म द्रव्य के सम्यक् श्रद्धान ज्ञान और अनुचरण पर्याय से परिणमन करता है। इस परिणमन को आगम भाषा में औपशमिक क्षायिक या क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। अध्यात्म की भाषा में शुद्ध आत्मा के अभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग इत्यादि कहते हैं।' `जयसेनाचार्य' के अनुसार चतुर्थ गुणस्थान में भी शुद्धोपयोग होता है, किन्तु उस शुद्धोपयोग का अर्थ शुद्ध उपयोग न होकर शुद्ध की ओर उपयोग होता है। शुद्ध की ओर उपयोग शुद्धनय का अवलम्बन लिए विना नहीं हो सकता; क्योंकि व्यवहारनय से तो आत्मा के रिले मिले अशुद्ध स्वरूप का ही दर्शन होता है। इसीसे आगे समयसार में शुद्धनय का लक्षण कहा है। जो आत्मा को द्रव्यकर्म नोकर्म से अस्पृष्ट, नर नारक, आदि पर्यायों में एकरूप, अवस्थित, भेदरहित, असंयुक्त देखता है वह शुद्धनय है। इस शुद्धनय के विषयभूत आत्मा की श्रद्धा के बिना सम्यक्त्व नहीं हो सकता। कुछ विद्वानों को भी यह भ्रम है कि शुद्ध आत्मा की श्रद्धा मुनि को ही होती है। किन्तु यह ठीक नहीं है।

समयसार के निर्जराधिकार में सम्यग्दृष्टि का विशेष वर्णन है। गाथा १९३ में उसके उपभोग को निर्जरा का कारण कहा है। इसकी टीका में `अमृतचंद्र'ने कहा है -

`विरागी का उपभोग निर्जरा के लिए होता है। और मिथ्यादृष्टि के रागादि भावों के सद्भाव से चेतन अचेतन द्रव्य का उपभोग बन्ध के निमित्त ही होता है।'

यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि के विपक्ष में मिथ्यादृष्टि का निर्देश है। जयसेन ने भी ऐसा ही अर्थ किया है - मिथ्यादृष्टि जीव के रागद्वेष मोह का सद्भाव होनेसे बन्ध का कारण है। सम्यग्दृष्टि जीव के रागद्वेष मोह का अभाव होनेसे समस्त भोग भी निर्जरा का कारण होता है।

आगे शिष्य प्रश्न करता है - रागद्वेष मोह के अभाव होनेपर निर्जरा का कारण कहा है। सम्यग्दृष्टि के तो रागादि हैं तब निर्जरा का कारण कैसे है ? इसका उत्तर देते हुए जयसेनाचार्य लिखते है `इस ग्रन्थ में वास्तविक रूपमें वीतराग सम्यग्दृष्टि का ग्रहण है जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टि है उसका गौणरूप से ग्रहण है। मिथ्यादृष्टि से असंयम सम्यग्दृष्टि के अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ और मिथ्यात्व के उदय से उत्पन्न रागादि नहीं हैं। श्रावक के अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ

जनित रागादि नहीं हैं। तथा सम्यग्दृष्टि के संवरपूर्वक निर्जरा होती है और मिथ्यादृष्टि के बन्धपूर्वक निर्जरा होती है। इस कारण से मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि अबन्धक है।'

गाथा १७३-१७६ की टीका में भी जयसेनाचार्य ने विस्तार से उक्त बात को कहा है।

भाषा टीकाकार जयचंद्रजी ने लिखा है कि यहाँ मिथ्यात्व सहित अनंतानुबंधी का राग प्रधान है। मिथ्यात्व के बिना चारित्रमोहसम्यबन्धी उदय के परिणाम को यहाँ राग नहीं कहा। इसलिए `अमृतचंद्र'जी ने सम्यग्दृष्टि के ज्ञान वैराग्य शक्ति का अवश्य होना कहा है। `अमृतचंद्र'जी के कथन को दृष्टि में रखते हुए पं. `जयचंद्रजी' का कथन सम्यक् प्रतीत होता है, क्योंकि `आचार्य कुंदकुंद'ने भी सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट को ही भ्रष्ट कहा है। समयसार भी उसीकी पुष्टि करता है।

गाथा ७ में जो ज्ञानी के दर्शन ज्ञान चारित्र का निषेध करके उसे शुद्ध ज्ञायक कहा है उससे ज्ञान की प्रधानता का सूत्रपात होता है। और वह पूरे समयसार में अनुस्यूत होता हुआ अन्तिम सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार में ही समाप्त होता है। समयसार का ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है उसका श्रावक या मुनि होना आवश्यक नहीं है। यद्यपि वही व्रतादि धारण करके श्रावक और मुनि होता है। गा. १५१-१५३ इसपर प्रकाश डालती हैं। गाथा १५१ में कहा है परमार्थ अथवा आत्मा समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है। उसमें स्थित मुनि निर्वाण प्राप्त करते हैं; किन्तु जो परमार्थभूत आत्मा के ज्ञान से शून्य हैं और तप व्रत करते हैं उन्हें सर्वज्ञ बालतप बालव्रत कहते हैं।

आगे कहा है - जो परमार्थ से बाह्य हैं वे अज्ञानवश पुण्य की इच्छा करते हैं। यद्यपि पुण्य संसार का कारण है, किन्तु वे मोक्ष का कारण जो आत्मा है उसे नहीं जानते। `अमृतचंद्रजी'ने अपनी टीका में इसे खूब स्पष्ट किया है।

समयसार की गाथाओं में निबद्ध अध्यात्म के रहस्य के खोलने का श्रेय `अमृतचंद्रजी' को ही है। उन्होंने जो कुछ प्रतिफलित किया है उसीके आधार पर किया है। कर्ताकर्माधिकार समयसार का सारभूत है। जो आत्मा को पौद्गलिक कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता मानते हैं। वे मिथ्यादृष्टि हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता भोक्ता नहीं हो सकता। `अमृतचंद्रजी'ने अपने `व्याप्य-व्यापकता' आदि कलश के द्वारा उसे खूब प्रस्पष्ट किया है। यह कलश गाथा ७५ की टीका में है जिसमें ज्ञानी का स्वरूप कहा है।

जीव और पुद्गल के परिणामों में परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धमात्र है तथापि कर्ता कर्म भाव नहीं है।

इस प्रकरण में `आचार्य कुंदकुंद'ने निश्चयनय और व्यवहारनय के पक्षों को स्पष्ट करके कहा है कि समयसार पक्षातिक्रान्त है। इस गाथा १४२ को स्पष्ट करने के लिए `अमृतचंद्रजी'ने जो कलश रचे हैं उनमें अमृत भर दिया है। व्यवहार या निश्चय का पक्ष लेकर व्यर्थ ही परस्पर में झगड़ते हैं। दोनों समकक्ष नहीं हो सकते। व्यवहार असत्यार्थ है, किन्तु सर्वथा असत्यार्थ नहीं है। जीवाजीवाधिकार में इसे स्पष्ट किया है। किन्तु जैसे व्यवहार हेय है वैसे शुद्धनय हेय नहीं है। यद्यपि अन्त में वह भी छूट जाता है। `अमृतचंद्रजी'ने कहा है -

`इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।

नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्त्यागाद् बन्ध एव हि।।'

`यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय हेय नहीं है, क्योंकि शुद्धनय में स्थित रहनेसे कर्मबन्ध नहीं होता। किन्तु उसे छोड़ देनेसे बन्ध अवश्य होता है।'

निर्जराधिकार में `अमृतचंद्रजी'ने अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर अबन्धक माननेवालों को कलश १३७ द्वारा अच्छी फटकार दी है - इसी निर्जराधिकार में `आचार्य कुंदकुंद'ने गाथा २०१-२०२ में कहा है - `जिस जीव के रागादिका लेशमात्र भी पाया जाता है वह सर्व आगमों का ज्ञाता होने पर भी आत्मा को नहीं जानता। आत्मा को नहीं जानते हुए वह अनात्मा को भी नहीं जानता। इस तरह जो जीव-अजीव को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है।'

इसकी टीका में `अमृतचंद्रजी'ने रागादि का अर्थ अज्ञानमय भाव किया है। उसीको लेकर पं. `जयचंद्रजी'ने अपनी टीका में जो भावार्थ दिया है उसे नीचे उद्धृत करते हैं -

`यहाँ राग कहने से अज्ञानमय राग द्वेष मोह भाव लिये गये हैं। उसमें भी अज्ञानमय कहने से मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी से हुए रागादि समझना। मिथ्यात्व के बिना चारित्र मोह के उदय का राग' नहीं लेना। क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के चारित्रमोह के उदय-सम्बन्धी राग है। वह ज्ञानसहित है, उसको रोग के समान जानता है, उस राग के साथ राग नहीं है, कर्मोदय से जो राग हुआ है उसे मेटना चाहता है। और जो राग का लेशमात्र उसके नहीं कहा, सो ज्ञानी के अशुभ राग तो अत्यंत गौण है, परंतु शुभराग होता है। उस शुभ राग को अच्छा समझ लेशमात्र भी उस राग से राग करे तो सर्वशास्त्र भी पढ़ लिये, मुनि भी होकर व्यवहारचारित्र भी पाले

तो भी ऐसा समझना चाहिए कि उसने अपने आत्मा का परमार्थस्वरूप नहीं जाना, कर्मोदयजनित भाव को ही अच्छा समझा है उसीसे अपना मोक्ष होना मानता है। ऐसा मानने से अज्ञानी है अपने और पर के परमार्थ रूप को नहीं जाना। तब, जीव अजीव पदार्थ का ही परमार्थ स्वरूप नहीं जाना और जब जीव अजीव को ही नहीं जाना तब कैसा सम्यग्दृष्टि।'

`जयसेनाचार्य'ने तो अपनी टीका में पूर्वोक्त कथन ही दोहराया है कि इस ग्रन्थ में पञ्चम गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानवर्ती वीतराग सम्यग्दृष्टियों का मुख्य रूप से ग्रहण है। आदि।

इसी निर्जराधिकार में कहा है कि ज्ञानी आगामी भोगों की इच्छा नहीं करता। इसी प्रसंग को लेकर `अमृतचंद्रजी'ने कलश १५३ में कहा है कि जो फल की इच्छा न करके कर्म करता है वह कर्म नहीं करता। उनके इस कथन में गीता के `कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' की झलक दृष्टिगोचर होती है। किन्तु है दोनों में बहुत अन्तर। गीताधर्म के अनुसार तो कर्म का फल भगवान् के हाथ में है इसलिये कर्ता से फल की इच्छा न करने को कहा जाता है। किन्तु जैनधर्म में ऐसा नहीं है। ऐसी स्थिति में सम्यग्दृष्टि ज्ञानी फल की इच्छा को भी फल प्राप्ति में बाधा मानकर फल की इच्छा नहीं करता। इच्छा करने से बन्ध है और न करने से निर्जरा है।

पुण्यपापाधिकार में कलश १०९ में `अमृतचंद्र' कहते हैं कि मोक्षार्थी को समस्त कर्म ही त्याज्य हैं तब पुण्य और पाप की बात क्या है अर्थात् पाप कर्म की तरह पुण्य कर्म भी त्याज्य हैं।

इस पर से यह शंका उत्पन्न होती है कि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के जब तक कर्म का उदय रहता है तब तक ज्ञान मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है? इस पर से `अमृतचंद्र' जी ने आगे के कलश के द्वारा ज्ञान और कर्म के एक साथ रहने के सम्बन्ध में कहा है -

`जब तक कर्म का उदय है और ज्ञान की सम्यक् कर्म विरति नहीं है तब तक कर्म और ज्ञान का समुच्चय भी कहा है। इसमें कुछ भी हानि नहीं है। किन्तु यहाँ भी विशेषता यह है कि कर्म के उदय की बलवत्ता से आत्मा के वश के जो कर्म उदय में आता है वह तो बन्ध के ही लिये है और मोक्ष के लिये तो एक परम ज्ञान ही है।'

आगे वे कर्म और ज्ञान का नय विभाग दिखलाते हुए कहते हैं - जो कर्मनय

के अवलम्बन में तत्पर हैं अर्थात् उसीके पक्षपाती हैं वे भी डूबते हैं। और जो ज्ञान को तो जानते नहीं किन्तु ज्ञाननय के पक्षपाती हैं और क्रियाकाण्ड को छोड़ स्वच्छंद हो अपने स्वरूप में उद्यम करने में मंद हैं वे भी डूबते हैं। किन्तु जो स्वयं ज्ञानरूप हुए कर्म को भी नहीं करते और प्रमाद के वश भी नहीं होते वे सब लोक के ऊपर तैरते हैं।

यहाँ कर्मनय और ज्ञाननय का विभाग और दोनों का समीकरण `अमृतचंद्र' जी की अपूर्व देन है। मुमुक्षु में ये दोनों धाराएँ चलती हैं। मुमुक्षु व्रतादि भी पालता है, नित्य कृत्य करता है किन्तु अन्तरात्मा में संलग्न रहता है, न प्रमादी होता है और न व्यवहार दर्शन ज्ञान चारित्र के क्रियाकाण्ड को निरर्थक जान छोड़ देता है। तथा न ज्ञान स्वरूप आत्मा को जाने विना व्यवहार दर्शन ज्ञान चारित्र के क्रियाकाण्ड को ही मोक्ष का कारण जान उसमें ही लगा रहता है। ऐसी स्थिति ही मोक्ष की ओर जानेमें सहायक होती है।

कर्ता कर्म अधिकार की गाथा १४४ में `कुंदकुंद स्वामी' ने कहा है - यह जो सर्वनय पक्षों से रहित समयसार है, यही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। इसकी टीका में `अमृतचंद्र'जी इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

`प्रथम ही श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञान स्वभाव आत्मा का निश्चय करो। पीछे आत्मा की ख्याति के लिये परपदार्थों की ख्याति के कारण सब इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञानों को तिरस्कृत करके मतिज्ञान को `आत्माभिमुख' करो। तथा नाना प्रकार के नयपक्षों के अवलम्बन से उत्पन्न विकल्पों के द्वारा व्याकुल श्रुतज्ञान बुद्धि को भी तिरस्कृत करके श्रुतज्ञान को भी आत्माभिमुख करो तब अत्यंत निर्विकल्प होकर विज्ञानघन परमात्मस्वरूप समयसार का ही अनुभव करते हुए आत्मा सम्यक् प्रकार से देखा जाना जाता है। अतः वही सम्यग्दर्शन है।

इसीसे आगे कर्त्ता, कर्म अधिकार को समाप्त करते हुए करनेरूप क्रिया और जाननेरूप क्रिया में भेद कहा है - जो कर्त्ता है वह ज्ञाता नहीं है और जो ज्ञाता है वह कर्त्ता नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि सम्यग्दृष्टि के पर द्रव्य के स्वामित्वरूप कर्तत्व का अभिप्राय नहीं है। उसकी स्थिति उन सेवक के जैसी है जो स्वामित्व के अभाव में व्यापार करता हुआ भी उसके हानिलाभ का जिम्मेदार नहीं है। यही स्थिति ज्ञानी की होती है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि ही होता है और सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ही होता है। इसीसे सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं। तथा भेद ज्ञान के विना सम्यग्दर्शन नहीं होता। और भेद ज्ञान के लिये वस्तु स्वरूप का

सांगोपांग ज्ञान होना आवश्यक है। चारित्र धारण करने से वस्तु तत्त्व का ज्ञान नहीं होता। हाँ, उस ज्ञान जन्य आत्मस्थिति में दृढ़ता और स्थिरता आती है। किन्तु यदि वह नहीं है तो आत्मश्रद्धा ही नहीं है अतः समयसार सम्यक्त्व प्राप्त करने की कुंजी है।

अमृतचंद्र जी के ग्रन्थरत्न

'अमृतचंद्रजी' के दो ग्रन्थरत्न सर्वप्रसिद्ध हैं - तत्त्वार्थसार और पुरुषार्थसिद्ध्यूपाय।

१. तत्त्वार्थसार

जैसा इसके नाम से प्रकट है यह तत्त्वार्थसूत्र का साररूप है। इसे 'अमृतचंद्रजी'ने संस्कृत के अनुष्टुप छंद में रचा है।

इसमें आठ अधिकार है। प्रथम अधिकार में तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार मोक्ष का मार्ग, सात तत्त्वार्थ, निक्षेप, प्रमाण और नयों का वर्णन है। दूसरे अधिकार में औपशमिक आदि पांच भावों का वर्णन करके जीव का वर्णन करते हुए चौदह गुणस्थान, चौदह जीवसमास, छह पर्याप्तियां, दस प्राण, चौदह मार्गणा का भी कथन है जो तत्त्वार्थसूत्र में नहीं है। इन्द्रियों का वर्णन करते हुए इन्द्रियों के आकार, पृथिवीकायिक आदि जीवों का आकार, उनके भेद, योग के पन्द्रह भेद, आदि का कथन है तथा चौरासी लाख योनि, उनके कुल, तिर्यञ्चौं और मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु, नारकियों और देवों की आयु, शरीर को ऊचाई, तिर्यञ्चों की अवगाहना, नरक में जानेवाले जीव, नरकों से निकले जीव, आदि बहुत वर्णन है जो तत्त्वार्थसूत्र की टीका तत्त्वार्थवार्तिक में है। तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे चौथे अध्याय का वर्णन भी इसी अधिकार में है। अन्त में कहा है जो अन्य छह तत्त्वों के साथ जीव तत्त्व की श्रद्धा करता है, जानता है और उपेक्षा करके चारित्र धारण करता है वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

तीसरे अधिकार में तत्त्वार्थसूत्र में पाँचवें अधिकार की तरह अजीवतत्त्व का वर्णन है। चतुर्थ अधिकार में आस्त्रव तत्त्व का वर्णन है। इसमें तत्त्वार्थ के छठे और सातवें अध्याय समाविष्ट हैं। पाँच व्रतों और उनके अतिचारों का वर्णन इसी अधिकार में किया है। पञ्चम अधिकार में बन्ध तत्त्व का, छठे में संवरतत्त्व का, सातवें में निर्जरातत्त्व का और आठवें में मोक्षतत्त्व का वर्णन है। इसमें भी तत्त्वार्थसूत्र से विशेष कथन है। अकलंकदेव के तत्त्वार्थवार्तिक का विशेष प्रभाव है। उसके अन्त में उद्धृत कारिकाओं में से कोई कोई मूल में सम्मिलत कर ली गई हैं।

उपसंहार में निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग का कथन करते हुए दोनों में साध्य साधनभत्व बतलाया है।

व्यवहारी मुनि और निश्चयनयमुनि का स्वरूप कहा है, अन्त में कहा है - पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्‌चारित्ररूप है। और द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा एक अद्वितीय ज्ञाता आत्मा ही मोक्षमार्ग है।

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

'अमृतचंद्रजी' का दूसरा ग्रन्थ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक है। यह एक श्रावकाचार है, किन्तु इसे नाम दिया है -

पुरुषार्थ और मोक्ष की सिद्धि का उपाय। इसमें श्रावकधर्म के व्यावहारिक स्वरूप का कथन है। किन्तु उसके प्रारम्भ में जो कथन है वह आचारशास्त्र की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

इसके प्रारम्भ में भी केवलज्ञान ज्योति को और अनेकान्त को नमस्कार करके परमागम का आलोचन करके पुरुषार्थसिद्ध्युपाय को कहने की प्रतिज्ञा की है। फिर कहा है - मुख्य कथन और उपचार कथन से जिन्होंने शिष्यों के अज्ञान को दूर करनेवाले तथा निश्चय और व्यवहार के ज्ञाता ही जगत में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। मुनीश्वर अनजान को समझानेके लिये ही अभूतार्थ व्यवहार का कथन करते हैं। जो केवल व्यवहार को ही जानता है वह उपदेश का पात्र नहीं है। जैसे जिसने सिंह नहीं देखा उसे बिलाव के समान सिंह होता है यह कहने पर बिलाव को सिंह मान बैठता है वैसे ही निश्चय को न जाननेवाला व्यवहार को ही निश्चय मान लेता है जो व्यवहार और निश्चय को जानकर तत्त्वरूप से निष्पक्ष रहता है वही उपदेश का सम्पूर्णफल प्राप्त करता है।

इतना आवश्यक कथन करने के पश्चात् वे पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नाम की ओर आते हैं। कहते हैं -

यह पुरुष चैतन्यस्वरूप है, स्पर्श, रस गन्ध वर्ण से रहित है, अपने गुणपर्याय से सहित है और उत्पादव्ययध्रौव्यरूप है। यह पुरुष नित्य होते हुए भी परिणमनशील है तथा अपने परिणामों का कर्ता भोक्ता है। जब वह समस्त विभावपर्यायों से रहित होकर अचल चैतन्य को प्राप्त होता है तब वह सम्यक् पुरुषार्थ सिद्धि को पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

इसके पश्चात् जीव कर्म से कैसे बद्ध होता है यह कथन है। कहा है - जीव के द्वारा किये गये रागादिरूप परिणामों का निमित्त पाकर अन्य पुद्गल स्वयं ही

कर्मरूप में परिणत हो जाते हैं। और जीव स्वयं ही अपने परिणामों को करता है उसमें पौद्गलिक कर्म निमित्तमात्र होते हैं। इस प्रकार यह जीव कर्मकृत भावों से असमाहित होते हुए भी अज्ञानी जनों को तद्रूप प्रतिभासित होता है। यह प्रतिभास ही संसार का बीज है। इस विपरीत अभिनिवेश को दूर करके और अपने आत्मस्वरूप का भले प्रकार निश्चय करके उससे विचलित न होना ही पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है।

श्रावकाचार के प्रारम्भ में इस प्रकार आधारभूत लिखने से ग्रन्थकार का यह अभिप्राय घोषित होता है कि तत्त्वों की श्रद्धा में जीव और कर्म के सम्बन्ध की यथार्थ स्थिति का बोध आवश्यक है। प्रायः सभीकी यह परम्परागत धारणा है कि कर्म ही जीव को बाँधे हुए हैं जीव ही पुद्गलों को कर्मरूप परिणमाता है। यही सब मिथ्या अभिनिवेश है। उसे दूर करके आत्मतत्त्व विनिश्चय करने से ही सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यक्चारित्र का वर्णन करते हुए अहिंसा का वर्णन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है जो अन्यत्र नहीं पाया जाता है। एक बात विशेष है पाँच अणुव्रतों का कथन करने के पश्चात् रात्रि भोजन त्याग का वर्णन है। अन्य श्रावकाचारों में अहिंसाणुव्रत के अन्तर्गत ही इसका वर्णन पाया जाता है।

दूसरी विशेषता यह है व्रत और शीलों के अतिचारों का वर्णन करने के पश्चात् बारह तप, छह आवश्यक, समिति, दस धर्म, बाईस परीषहजय, जो मुनि आचार में आते हैं उनका भी यथाशक्ति सेवन करने का उपदेश श्रावकों के लिये दिया है।

अन्त में कहा है कि मोक्ष के इच्छुक गृहस्थ को एकदेश रत्नत्रय भी प्रतिसमय पालन करना चाहिए। किन्तु एकदेश रत्नत्रय का पालन करते हुए जो कर्मबन्ध होता है वह विपक्षी रागकृत है रत्नत्रयकृत नहीं है; क्योंकि जो मोक्ष का कारण होता है वह बन्ध का कारण नहीं होता। आगे इसी का समर्थन करते हुए लिखा है -

`रत्नत्रयमेतत् हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः।'

अर्थ :- यह रत्नत्रय मोक्ष का ही कारण है बन्ध का कारण नहीं है। इसका पालन करते हुए जो पुण्य कर्म का आस्रव होता है वह तो शुभोपयोग का अपराध है।

जैसे समयसार में ज्ञानमय और कर्मनय की धारा में ज्ञाननय से मोक्ष और कर्मनय से बन्ध कहा है उसी प्रकार यहाँ पर भी अंशकल्पना के द्वारा जितने अंश में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है उतने अंश में बन्ध नहीं है और जितने अंश में राग है उतने अंश

में बन्ध कहा है।

इस प्रकार `अमृतचंद्रजी' का यह श्रावकाचार भी यथार्थ में पुरुषार्थसिद्धि का उपाय है। इसमें जो विशेषताएँ हैं वे अन्य श्रावकाचारों में नहीं हैं।

लघुतत्त्वस्फोट

लघुतत्त्वस्फोट नाम का एक नवीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अभी प्रकाश में आया है। इसकी प्राप्ति भगवान् महावीर के पच्चीस सोवें निर्वाण वर्ष के शुभ अवसर पर अहमदाबाद के एक श्वेतांबर भण्डार से श्वेतांबर मुनि पुण्यविजयी को हुई थी। उनसे ही कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय में बौद्ध शिक्षण के प्राध्यापक पद्मनाथ जैन को प्राप्त हुई। वह इसका अंग्रेजी में अनुवाद करना चाहते थे। उन्हीं से कारंजा गुरुकुल के संचालक ब्र. पं. माणिकचंद्रजी चवरे को प्राप्त हुई। उसका हिन्दी में अनुवाद डॉ. पं. पन्नालालजी साहित्याचार्यने किया। उसका वाचन पं. पन्नालालजी, पं. दरबारीलालजी कोठिया, पं. माणिकचंद्रजी चवरे और मेरी उपस्थिति में सबने मिलकर किया। उसीके आधार पर प्रो. पद्मनाभ जैनने अंग्रेजी अनुवाद किया जो लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर अहमदाबाद से मार्च ७८ में प्रकाशित हुआ।

इस ग्रन्थ से भी `अमृतचंद्रजी' के सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। इसकी अन्तिम सन्धि में अमृतचंद्र सूरि नाम आता है। तथा समाप्ति के पश्चात् प्रथम पद्य में अमृतचंद्र कवीन्द्र नाम आता है। यहाँ कवीन्द्र विशेषण नवीन है जो अन्यत्र नहीं पाया जाता। यों तो समयसार कलश के पद्यों की रचना में उनके कवीन्द्रत्व की स्पष्ट झलक मिलती है किन्तु लघुतत्त्वस्फोट की रचना तो उनके कवीन्द्रत्व को उजागर करती है। जैनदर्शन और अध्यात्म से ओतप्रोत यह स्तुतिकाव्य कमसे कम जैन वाङ्गमय में तो अतुलनीय है। इसके श्रुतिमधुर किन्तु गहन अध्यात्म से परिपूर्ण पद्यों में एक काव्य के सभी गुण परिपूर्ण हैं। भाषा, भाव, छंद, अलंकार सभी पर कविका असाधारण अधिकार है जैसा कि आगे की चर्चासे प्रकट होगा। इसमें दो पद्य ऐसे हैं जो समयसार कलश में भी पाये जाते हैं। अतः `कुंदकुंद' के टीकाकार `अमृतचंद्र' की रचना होने में कोई संदेह नहीं है।

ग्रन्थ नाम

इस ग्रन्थ का नाम `लघुतत्त्वस्फोट' है तथा दूसरा नाम `शक्ति (भ) णित कोश' है। इसकी अन्तिम सन्धि में कहा है -

इत्यमृतचंद्रसूरीणां कृतिः शक्ति (भ) णितकोशो नाम लघुतत्त्वस्फोटः समाप्तः।

इस सन्धि में शक्तिगणितकोश और लघुतत्त्वस्फोट के बीच में नाम शब्द पड़ा है। इसका अर्थ होता है शक्तिमणितकोश नामक लघुतत्त्वस्फोट समाप्त हुआ। यह नाम अन्तिम पद्य में भी आया है -

`आस्वादयत्वमृतचंद्र कवीन्द्र एष

हृष्यन् बहूनि मणितानि मुहुः स्वशक्तेः'

मूल प्रति में मणित पाठ है। जिसका अर्थ मणियों से जड़ा हुआ होता है और मणिता का अर्थ कहा हुआ होता है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का अन्तिम सन्धि वाक्य है -

`इति श्रीमदमृतचंद्रसूरीणां कृतिः पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽपरनाम जिनप्रवचनरहस्यकोशः समाप्तः।'

इसमें भी मूल नाम प्रथम है अपर नाम बाद में है। यहाँ नाम के साथ अपर शब्द छूट गया है यह भी सम्भव है। `अमृतचंद्र'ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के आरम्भ में ही इस नाम का अर्थ किया है जैसे यहाँ अन्त में किया है। अतः हमें तो ग्रन्थ का नाम शक्तिमणितकोष ही प्रतीत होता है। लघुतत्त्वस्फोट दूसरा नाम हो सकता है जिसका अर्थ होता है थोड़े में या शीघ्र तत्त्व का स्फोट-स्फुटन जिससे होता है। इसकी झलक अन्तिम पद्य के `व्युत्पतिमाप्तुमनसां दिगसौ शिशूनाम्' अंश में मिलती ही है। किन्तु तीसरी स्तुति के अन्तिम पद्य में भी मिलती है -

`देव स्फुट स्वयमिनं ममचित्तकोशं प्रस्फोटय स्फुटय विश्वमशेषमेव।'

ग्रन्थ परिचय

इस ग्रन्थ में पच्चीस-पच्चीस पद्यों की पच्चीस स्तुतियाँ हैं। यह ग्रन्थ `आचार्य समन्तभद्र' के वृहत्स्वयंभूस्तोत्र की तरह स्तुति ग्रन्थ है। वृ. स्व. स्तो. में भी विभिन्न छन्दों में चौबीस तीर्थंकरों की चौबीस स्तुतियाँ हैं जिनमें साधारणतया पाँच-पाँच पद्य हैं, किन्हीं में कुछ अधिक हैं। विषय विशेषरूप से दार्शनिक है, गुणवर्णनरूप भी है, स्तुति परक तो है ही। किन्तु यहाँ प्रथम स्तुति में तो चौबीसों तीर्थंकरों की स्तुति है, किन्तु आगे किसी भी तीर्थंकर का निर्देश नहीं है। मुख्यरूप से ज्ञानज्योति, और अनेकान्त की सरणि को लेकर ही विवेचन है। फिर भी कहीं कहीं स्वयंभूस्तोत्र का आभास प्रतीत होता है। बृ. स्स. स्तोत्र का प्रारम्भ ही स्वयंभुवा शब्द से होता है इसीसे उसका नाम स्वयंभूस्तोत्र प्रसिद्ध हुआ। यहाँ भी `स्वायंभुवं मह' पद से प्रथम स्तुति प्रारम्भ होती है।

`आचार्य समन्तभद्र'ने कुन्थुजिन के स्तवन में बाह्य तप को आध्यात्मक तप में वृद्धि करनेवाला कहा है। इस ग्रन्थ के १३० वें पद्य में भी तप को अध्यात्म विशुद्धि को बढ़ानेवाला कहा है। शीतलनाथ की स्तुति में समन्तभद्र ने कहा है अन्य तपस्वी सन्तान, धन, परलोक आदि की तृष्णावश कर्म करते हैं किन्तु आप पुनर्जन्म, जरा से बचने के लिये मन वचन काय की प्रवृत्ति का वारण करते हैं। लघु. में भी १६१ वें पद्य में कहा है कि आपने रागरूपी दुष्ट रोगों का शोषण करके एक ज्ञान स्वभाव में लीनता को प्राप्त किया है। किन्तु रागरूपी ज्वर को अपनाने की लालसा रखनेवाले अन्य देव विष तुल्य विषयों को अपनाते हैं। युक्त्यनुशासन में `समन्तभद्र' जिनमत को अन्य वादियों के द्वारा अधृष्य कहते हैं। यहाँ भी ८ वें स्तवन के २२ वें पद्य में ऐसा ही कहा है -

अधृष्यमन्यर्निखिलैः प्रवादिभिः - युक्त्य. ६ श्लोक

जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम्।

परैरधृष्यं जिन शासनं ते - लघु. ८।२२।

जिस प्रकार `समन्तभद्र' की रचनाओं में स्याद्वाद और अनेकान्तवाद की छटा छाई हुई है। `अमृतचंद्रजी' के इस ग्रन्थ में भी वही स्थिति है, किन्तु एक दार्शनिक में और आध्यात्मिक में जो अन्तर हो सकता है वही अन्तर है। `समन्तभद्र' का अनेकान्तवाद वस्तुपरक है और `अमृतचंद्र' का आत्मपरक।

`समन्तभद्र' भगवान ऋषभदेव को स्वयंभू कहते हैं किन्तु `अमृतचंद्र' कहते हैं - मैं उस स्वायंभुव - स्वयं होनेवाले आत्मसम्बन्धी ज्ञान ज्योति की स्तुति करता हूँ जिससे आदिदेव भगवान् स्वयंभू हुए। `समन्तभद्र' स्वयंभू को स्पष्ट नहीं करते। किन्तु `अमृतचंद्र' लिखते हैं :

स्वस्मै स्वतः स्वः स्वमिहैकभावं

स्वास्मिन् स्वयं पश्यसि सुप्रसन्नः।

`आप, अपने आपमें, अपने आपके लिये, अपने आपसे, अपने आपको, अपने आपके द्वारा देख रहे हैं।'

लघु. के १७ वीं स्तुति में आत्मा में अनेकान्तवाद का विवेचन है। अस्ति का विवेचन करते हुए कहा है -

अस्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे स्पष्टाऽसौ स्वयमनुभूतिरुल्लसन्ती।

चित्तत्त्वं विहितमिदं निजात्मनोच्चैः प्रव्यक्तं वदति परात्मना निषिद्धम्।।८।।

अर्थ :- सब ओरसे `अस्ति' इस प्रकार का विकल्प स्फुरित होनेपर अपने आप

प्रकट हुई यह स्पष्ट अनुभूति जहाँ इस चित् तत्त्व को स्वरूप से बहती है वहीं पर परस्वरूप से नास्ति रूप भी कहती है इसी प्रकार सब भंगों का कथन किया है।

१८ वीं स्तुति में भी अनेकान्तवाद का विवेचन करते हुए कर्त्ता और कर्म के भेदाभेद का कथन किया है :

जातं जातं कारणभावेन गृहीत्वा जन्य जन्यं कार्यतया स्वं परिणामम्।

सर्वोऽपि त्वं कारणमेवास्यसि कार्यं शुद्धो भावः कारणकार्याविषयोऽपि।।१७।।

कार्यरूप से उत्पन्न हुआ प्रत्येक पदार्थ कारणरूप से अपने ही परिणाम को लेकर उत्पन्न हुआ है अतः आप कारण भी हैं और कार्य भी हैं। किन्तु शुद्धभाव कारण और कार्य का अविषय है।

यह सब अध्यात्मविषयक चर्चा दर्शनशास्त्र में नहीं है। अतः ये स्तुतियाँ दार्शनिक विवेचन से ओत-प्रोत होते हुए भी आध्यात्मिक है। अध्यात्म और दर्शन का समन्वय इनमें हैं।

स्वयंभूस्तोत्र में `आचार्य समन्तभद्र'ने किसी-किसी स्तुति के अन्त में कामना व्यक्त की है, मुझे मोक्ष प्रदान करें या मेरे चित्त को पवित्र करें या आपको हम अमुक कारणों से नमस्कार करते हैं। यथा -

पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो ! जिनः श्रियं मे भगवान् विधतां। ममार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः

इस तरह की प्रार्थना लघुतत्त्व. में कहीं भी नहीं है। प्रायः सर्वत्र सर्वज्ञरूप की भावना है। यथा - पाँचवीं स्तुति के अन्त में -

नितान्तमिद्धेन तपो विशेषितं तथा प्रभो मां ज्वलयस्व तेजसा।

यथैव मां त्वां सकलं चराचरं प्रधर्ष्य विष्वं ज्वलयन् ज्वलाम्यहम्।।२५।।

हे प्रभो `अमृतचंद्र' मुझे तेज के द्वारा इस प्रकार प्रज्वलित करो, जिस प्रकार मैं अपने आपको और समस्त चराचर विश्व को प्रज्वलित करता हुआ सब ओरसे प्रज्वलित होने लगूँ।

सबसे अन्तिम स्तुति के अन्त में कहा है -

ज्ञानाग्नौ पुटपाक एष घटतामत्यन्तमन्तर्बहिः

प्रारब्धोद्धतसंयमस्य सततं विष्वक्प्रदीप्तस्य मे।

येनाशेषकषायकिट्टगलनस्पष्टीभवद्वैभवाः

सम्यग् भान्त्यनुभूतिवर्त्मपतिताः सर्वाः स्वभावश्रियः।।

उत्कृष्ट संयम के पालक मेरी ज्ञानरूपी अग्नि में यह पुटपाक घटित हो जिससे

समस्त कषायरूपी अंतरंग मल के गलने से जिनका वैभव स्पष्ट हो रहा है, ऐसी समस्त स्वभावरूप लक्ष्मियाँ अनुभूति के मार्ग में पड़कर सम्यक्‌रूप से सुशोभित हों।

उक्त उद्धरणों से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इन स्तुतियों में संयमादि का कथन नहीं है। तीसरी स्तुति में गुणस्थानों की श्रेणी में प्रवेश करते हुए अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मकृष्टिरूप सूक्ष्मसाम्पराय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली आदि अवस्थाओं का तथा उसमें होनेवाले केवलिसमुद्धात का भी वर्णन है। यह पूरी स्तुति इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें कहा है कि आपने अपने को द्रव्यसंयम में लगाया।

इस प्रकार का कथन भी बृ. स्व. स्तो. में नहीं है। अतः यह स्तुतिग्रन्थ एक तरह से बृ. स्व. स्तो. का पूरक है। जो इसमें है वह उसमें नहीं है। यह संभव है कि इसी दृष्टि से 'अमृतचंद्र'ने इसकी रचना की हो। वे जिनेन्द्रदेव के आन्तरिक गुणानुरागी हैं। 'समन्तभद्र' की तरह 'अमृतचंद्र' भी अनेकान्त के परम भक्त हैं। वे उसका उपयोग विशेषरूप से आत्मतत्त्व की व्यवस्था में करते हैं। उसीके ज्ञानगुण को लेकर वे उसीमें मग्न हो जाते हैं। उसी परम ज्योति ने उन्हें मुग्ध किया है। यद्यपि 'समन्तभद्रजी' सर्वज्ञ सिद्धि के द्वारा ही आप्त की मीमांसा करते हैं। किन्तु उनका सर्वज्ञ अनेकान्तमय वस्तु स्वरूप का प्रतिपादक होनेसे युक्ति और शास्त्र से अविरुद्ध वक्ता है।

प्रत्येक स्तुति का सार

अब हम प्रत्येक स्तुति का सारांश यहाँ देते हैं। यह हम लिख चुके हैं कि प्रत्येक स्तुति में २५ पद्य हैं।

(१) पहली स्तुति की रचना वसन्ततिलका छंद में है। इसके चौबीस पद्यों में चौबीस तीर्थंकरों के नाम आते हैं। अतः अन्तिम पद्य में इसे जिन नामावली नाम दिया है। इस पद्य में कहा है -

'जो भव्य जीव अमृतचंद्र नामधारी चित्त के द्वारा पीत जिननामावली को भाते हैं वे निश्चय से अनायास ही सकल विश्व को पी लेते हैं अर्थात् सर्वज्ञ हो जाते हैं तथा वे कभी भी कर्म नोकर्मरूप पर द्रव्य के द्वारा नहीं पिये जाते अर्थात् कर्मबन्ध से सदा अछूते रहते हैं।'

इस एक अन्तिम पद्य से ही पाठक जान जायेंगे कि इस स्तुति ग्रन्थ में अमृतचंद्रजी ने स्तुति के ब्याज से अध्यात्म की ही वर्षा की है, चित्‌रूपी चंद्र से अमृत बरसाया है।

एक वस्तु में परस्पर में विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मों की स्थिति का नाम अनेकान्तवाद है। अतः अनेकान्तवाद में विरोधाभास नामक अलंकार का चमत्कार सहज संभाव्य है। इसीसे `अमृतचंद्रजी' की इस रचना में उसके दार्शनिक और आध्यात्मिक रूप के साथ उनके कवीन्द्रत्व रूप के भी दर्शनपद पदपर होते हैं। ऐसे कवीन्द्र शायद `अमृतचंद्रजी' ही हैं।

अजितनाथ का स्तवन करते हुए वे कहते हैं आप प्रमाता भी है, प्रमाण भी हैं, प्रमेय भी हैं और प्रमाण के फल भी हैं, फिर भी ज्ञेय ज्ञेय ही है और ज्ञाता ज्ञाता ही है, न ज्ञेय ज्ञानमय होता है और न ज्ञान ज्ञेयमय होता है। इसके `चिच्चकायितचञ्चुरुच्चैः' पद में समयसार कलश की प्रतिध्वनि गूँजती है। इसी प्रकार भगवान् सुबुद्धि-सुमतिनाथ के लिए प्रयुक्त `कारकचक्रचर्चाचित्रोऽप्यकबुरसप्रसरः' पद उल्लेखनीय है जिसमें कहा है - आपका सहज प्रकाश षट्कारक समूह की चर्चा से चित्ररूप होता हुआ भी अचित्रित-एकरूप सुशोभित हो रहा है। चंद्रप्रभ भगवान् के लिए चितिचन्द्रिकौघः चैतन्यरूप चान्दनी का समूह कहा है।

प्रायः समस्त स्तुतियों में अनेकान्तरूप विरोधाभास की छटा है। धर्मनाथ की स्तुति में कहा है - आप सर्वात्मक हैं किन्तु परात्मक नहीं है। स्वात्मात्मक हैं किन्तु आपकी अपर आत्मा नहीं है।

(२) दूसरी स्तुति भी वसन्ततिलका छंद में है। ये सब आगे की स्तुतियाँ सामान्य हैं। किसी तीर्थंकर विशेष से सम्बद्ध न होकर वे प्रायः ज्ञानज्योति से सम्बद्ध हैं। इसका प्रारम्भ `तेज' से होता है जो `चैतन्यचूर्णभरभावितवैश्वरूप्य' है। जो इस निर्विकल्प और सविकल्परूप दर्शन ज्ञान मात्र `तेज' की श्रद्धा करते हैं वे विश्व को मानो स्पर्श करते हुए समस्त विश्व से पृथक् परमात्मअवस्था को प्राप्त करते हैं।

आगे कहा है - आपका स्वभाव एक होते हुए भी विधिनिषेधमय है। वह स्वभाव `अद्भुत चिदुद्गमचुञ्चुः' आश्चर्यकारक चैतन्य ज्योति के उद्गम का स्थान है।

`अमृतचंद्रजी'ने प्रायः अज्ञानी मिथ्यादृष्टि के लिए या एकान्तवादी के लिए `पशु' शब्द का प्रयोग किया है। यथा आपके विषय में संशय ही संभव नहीं है। यदि किसीके `चिदुपप्लव' चैतन्य में भ्रम होता है तो वह पशु के ही होता है।

दर्शनशास्त्र के ग्रन्थों में विपक्षी का निर्देश पशु शब्द से मिलता है। सागारधर्मामृत में मिथ्यात्व से ग्रस्त जीवों को मनुष्य होते हुए भी पशु के तुल्य कहा है और सम्यग्दृष्टि को पशु होते हुए भी मनुष्य के तुल्य कहा है। उसी दृष्टि से `अमृतचंद्रजी' ने भी पशु शब्द का प्रयोग एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि के लिए किया है।

पद्य १९ में कहा है कि ज्ञान से भिन्न अन्य फल को प्राप्त करने के इच्छुक पशु-अज्ञानी विषयों की इच्छा क्यों धारण करते हैं ? इन्द्रियों को नियन्त्रित कर ज्ञान को ही क्यों नहीं धारण करते ?

पद्य २१ में कहा है - हे ईश ! आपमें कषाय से होनेवाला समस्त विकार नहीं है।

अन्तिम पद्य में कहा है - नाना शक्तियों के समुदायरूप यह आत्मा नयदृष्टि से खण्ड-खण्ड होता हुआ शीघ्र नष्ट हो जाता है। अतः मैं खण्डरहित, किन्तु खण्डों का सर्वथा निराकरण न करनेवाला एक अत्यंत शांत अचल चैतन्यस्वरूप तेज हूँ।।२५।।

(३) तीसरी स्तुति भी वसन्ततिलका छंद में है। यह स्तुति चारित्रप्रधान है।

प्रथम पद्य में कहा है - मार्गावताररसनिर्भरभावित - मोक्षमार्ग में लगने से उत्पन्न हुए अलौकिक आनंदरस से भरपूर आपका जो चित्विकास हुआ, हे प्रभो अद्भुत विभूति के प्यासे हमें उसका एक कण भी देनेकी कृपा करो।

२. हे भगवन् ज्ञानदर्शनमात्र महिमा से युक्त अपने आत्मा में मोह को दूरकर समस्त सावद्ययोग का परिहार कर स्वयं आत्मरूप होते हुए सामायिकरूप हुए। भाव संयम के प्राप्त होते हुए भी परस्पर सापेक्ष द्रव्य-भाव की महिमा में बाधा न देते हुए आपने अपने को प्रथम द्रव्यसंयम के मार्ग में नियुक्त किया।

यहाँ भावसंयमपूर्वक द्रव्यसंयम की प्रधानता बतलाई है। आगे कहा है कि आप शुद्धोपयोग की दृढ़भूमिको प्राप्तकर अन्तर्मुख हो गये तथा नाना प्रकार के तप करते हुए क्षयोपशमजन्य चारित्र की शक्तियों को आपने धारण किया। परीषह आनेपर भी आपका अन्तःकरण कातर नहीं हुआ। बहुत भारी संयम का भार धारण करते हुए भी खिन्न नहीं हुए और दुर्जयकषायों को जीतने के लिए तत्पर रहे तथा ज्ञानरूपी अस्त्र को तीक्ष्ण करने के लिए सदैव जाग्रत रहते हुए आपने श्रुत के समस्त विषयों का मनन किया। इस प्रकार तीव्र तपों के द्वारा आत्मा और कर्म में बहुत अन्तर करते हुए आपका विवेकपाक - भेदज्ञान का परिपाक ज्ञान और क्रिया के व्यतिकर द्वारा क्रम से परम प्रकर्षको प्राप्त हुआ।

यह सब स्थिति छठे सातवें गुणस्थान की है। उसके पश्चात् श्रेणी में प्रवेश करते हुए अधः प्रवृत्तकरण हुआ, फिर अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मकृष्टि हुए। क्षीणकषाय से सयोगकेवली होकर लोकपूरण, समुद्घात किया। फिर अयोगकेवली होकर सिद्ध हुए। यह सब वर्णन इस तीसरी स्तुति में है।

(४) चतुर्थ स्तुति में जिनके ज्ञानरूप तेज को लेकर ही नमस्कार किया गया है। `अमृतचंद्रजी'ने अपनी टीकाओं में आत्मा को विज्ञानघन कहा है। यहाँ उसकी उपपत्ति देते हुए कहा है - यतः घट पट आदि पदार्थ बाह्यरूपता को धारण करते हुए भी आपमें ज्ञानरूपता को धारण करते हैं अर्थात् समस्त जगत् आपके ज्ञान का विषय है अतः आप अनंत विज्ञानघन हैं, इसीसे न किसीसे मोह करते हैं, न राग करते हैं और न द्वेष करते हैं।।२२।।

(५) पाँचवीं स्तुति भी वंशस्थ छंद में है। इसका प्रारम्भ भी विरोधाभास अलंकार से होता है कि आप बढ़ते नहीं, फिर भी सर्वोच्च हैं। नम्र न होते हुए भी अत्यंत नम्र हैं आदि।

चौथे पद्य में कहा है - अर्थसत्ता - महासत्ता आपसे भी बड़ी है, क्योंकि उसमें आप भी गर्भित हैं, किन्तु महासत्ता भी आपके ज्ञान में समाई हुई है, यतः ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो आपके ज्ञान का विषय नहीं है।

तीन सत्ताएँ हैं - अर्थ सत्ता, ज्ञान सत्ता और शब्द सत्ता। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ तीन रूप में सत् है - अर्थ रूप, ज्ञान रूप और शब्द रूप। ज्ञान का विषय चराचर जगत् है किन्तु ज्ञान तदधीन नहीं है। न ज्ञान ज्ञेय में जाता है न ज्ञेय ज्ञान में आता है। दोनों स्वतंत्र हैं फिर भी पदार्थ चिन्मय भासित होते हैं। इसी प्रकार शब्द सत्ता पुद्‌गल पर्यायरूप है तथापि उन शब्दों की वाचक शक्ति, आपके ज्ञान के एक कोनेमें पड़ी रहती है। इसी प्रसंग में बाह्य अर्थ का अपलाप करनेवाले बौद्धों का निराकरण किया गया है कि ज्ञान में प्रतिबिम्बित प्रमाण-प्रमेय की स्थिति बाह्य पदार्थों का निषेध करने में समर्थ नहीं है।

आगे कहा है कि आप एक अनंश सहज सनातन सन्मात्र को देखते हैं। यहाँ निरंश में अंश कल्पना को लेकर स्तुति हैं जो प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार की टीका में चर्चित है, यह स्तुति द्रव्य के स्वरूप और उसमें अंश कल्पना को लेकर की गई है।

(६) छठी स्तुति भी वशंस्थ है -

इसके प्रारम्भ में कहा है कि संसार का कारण क्रिया ही है, और आपने उसे क्रिया (सम्यक् चारित्र) के द्वारा ही नष्ट किया है, अन्त में समस्त क्रिया कलाप को आत्मोन्मुख करते हुए समाप्त किया है। उत्कट वैराग्य पूर्वक समस्त भोगों को त्यागकर आपने अपने जीवन को तपरूपी अग्नि में होम दिया। अध्यात्मविशुद्धि को बढ़ानेवाले तपों के द्वारा अतिप्रबल उदयाबली को निजीर्ण कर दिया और इस प्रकार

हे जिन आप सूक्ष्मदृष्टि के द्वारा राग को अत्यंत सूक्ष्म करके क्षीणकषाय हो गये - बारहवें गुणस्थान को प्राप्त हुए। अन्त में समस्त कर्तृत्व से उदासीन होते हुए आप सम्पूर्ण विज्ञानघन हो गये और अन्त में सिद्धत्व पद को प्राप्तकर विशुद्ध ज्ञान में लीन हो गये। यद्यपि आप एक चैतन्यधातुरूप हैं तथापि आपमें अनंत वीर्यादि गुण हैं। हे भगवन् आप आत्मस्वरूप से सुरिक्षित हैं, निराकुल हैं पर निरपेक्ष हैं। आपके स्वानुभव की विषयभूत आनंद परम्परा उल्लसित होती है।

अन्त में स्तुतिकर कहते हैं - `हे भगवन्' जैसे लोह के पिण्ड में आग बलात् प्रवेश कर जाती है उसी प्रकार भावना के द्वारा मेरे में प्रवेश करके अभी भी मुझे चिन्मय नहीं करते, यह मेरी ही जड़ता है।'

(७) सातवीं स्तुति भी वंशस्थ छंद में है -

हे देवः इस अनंत संसार में परवश होकर मैंने अनंतवार पंच परावर्तन किये है। अब मैं आत्मगृह में विश्राम करनेवाले आपके चैतन्यरूप अंचल में लगता हूँ।

हे भगवन् ! आपके ज्ञानामृत का एक कण मेरे लिए आज औषधि की मात्रा के समान है।

हे प्रभोः निरंतर ज्ञानरूपी रसायन का पान करते हुए और बहिरंग तथा अंतरंग संयम का निर्दोष पालन करते हुए निश्चित ही मैं स्वयं तुम्हारे समान हो जाऊँगा। ठीक ही है - संयम को ग्रहण करनेवालों के द्वारा क्या नहीं सिद्ध किया जा सकता।

इन स्तुतियों में `अमृतचंद्रजी'ने ज्ञान के साथ संयम का भी यथार्थ पक्ष लिया है। समयसार में तो भेदज्ञान की ही चर्चा होनेसे संयम का प्रसंग नहीं आया। अतः उससे यह नहीं मान लना चाहिये कि अध्यात्म में चरणानुयोग और करणानुयोग का कोई स्थान नहीं है। किन्तु वह संयम केवल क्रियाकाण्डरूप नहीं है यथा -

`समयसम्बन्धी सीमा के मार्ग में शुभ क्रियारत होते हुए भी आपने अन्य अशुभ क्रियाओं को नष्ट कर दिया। और एक चैतन्यमात्र आत्मा के अवलम्बन् से समस्त कर्तृत्व भाव को दूर कर दिया।' अर्थात् शुभ क्रिया करते हुए भी उसमें कर्तृत्व नहीं रही, यही अध्यात्मदृष्टि है।

इस स्तुति में भी अन्त में केवलज्ञानरूपी ज्योति के रूप में भगवान का स्तवन करते हुए कहा है -

(८) आठवीं स्तुति उपजाति छंद में है -

इसमें भी कषायों को लेकर स्तवन किया गया है। यथा `कषाय का संचय बन्ध का कारण होनेसे आप तत्त्वज्ञानीने कषायक्षय को ही मुक्ति का कारण कहा

है।'

एक होने पर भी कषाय ने जीव को अनेकरूप कर दिया है। प्रतिक्षण अपनी शक्ति का विकास करते हुए आपने कषायों के ऊपर एक ऐसा प्रहार किया कि सब कषायों नष्ट हो गई। कषायों का क्षय होते ही केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी की आपने वरण किया। और दूसरों पर अपने प्रभाव को प्रकट किया। यद्यपि आप ज्ञानपुंज हो गये, किन्तु आयु कर्म शेष रहने से उसे भोगने में विवश थे। अतः आपने धर्म तीर्थ का प्रवर्तन किया।

हे भगवन् आप तीर्थ से तीर्थंकर होते हैं और तीर्थंकर से तीर्थ होता है इस प्रकार में बीजांकुर के समान अनादि सन्तानरूप से कार्य-कारणभाव है।

`आपने समस्त विश्व को जाना। किन्तु वचन में इतनी शक्ति नहीं है कि सबको कह सके, अतः आप ज्ञान का अनंतवां भाग ही कह सके।'

आगम में केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में अंतर दिखाते हुए कहा है -

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।

पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो।।' गो. जी. गा.

`जो शब्दों के द्वारा नहीं कहे जा सकते, ऐसे पदार्थों का अनंतवा भाग शब्दों के द्वारा कहे जाने योग्य है और उनका भी अनंतवा भाग शास्त्र में निबद्ध है।'

उसीको ऊपर कहा गया है।

हे भगवन् यह द्वयात्मक-विधिनिषेधात्मक - वस्तुस्वरूप आपके ही मुख से उद्‌गत हुआ है। किन्तु उसका अर्थ उन्होंने ही समझा जिनका आशय उभयपक्ष के बोध से शुद्ध हो गया था। विरोदी धर्म से सापेक्ष होनेसे ही आपके शब्द विरुद्ध धर्मात्मक वस्तु को स्पर्श करते हैं। किन्तु स्याद्वाद की मुद्रा से रहित शब्द उसमें स्खलित हो जाते हैं।

इसप्रकार इस स्तुति का अन्त स्याद्वाद से होता है। अन्त में कहा है -

समतारूप सुख के स्वाद को जाननेवाले मुनियों के लिये मुनि अवस्था का महान् कष्यभार भी सुख है' जैसे दूध के स्वाद को जाननेवाले बिलाव अति गर्म दूध को पीते हुए भी सुख मानता है। आपकी आत्मा केवलज्ञान से सम्पन्न है, आप अनंत वीर्य के अतिशय से सम्पन्न हैं, आपने समस्त बाह्याभ्यंतर मन को निःशेष कर दिया है, आपसे श्रेष्ठ आप्त कौन हो सकता है ?

(९) नौवीं स्तुति भी उपजाति छंद में है।

इसमें भी संयम और तप को लेकर स्तुति को गई है - `अपने परमार्थ के

विचार के सार को अपनाया, निर्भय होकर एकाकी रहने की प्रतिज्ञा की, अंतरंग बहिरंग परिग्रह का त्याग किया और प्राणियों पर दयाभाव किया।' आपका पक्षपात रहित होते हुए भी समस्त प्राणियों में पक्षपात था। आतापन योग करते समय सूर्य की तीक्ष्ण किरणों आपके शरीर को जलाती थीं, किन्तु आप कर्मफल के परिपाक की भावना में उन्हें अमृत के कणों के समान मानते थे। रात्रि में स्मशान में जाकर शवासन से स्थित रहते हुए श्रृंगालों ने आपके सूखे शरीर को अपने दाँतों से काटा। बुद्धिमान रोगी जैसे रोग को दूर करने के लिये उपवास करता है वैसे ही आपने अनादि राग को दूर करने के लिये एक मास अधर्ममास के उपवास किये। इस प्रकार सम्पूर्ण आत्मबल से संयम को धारण करके कषाय के क्षय से केवलज्ञानी हुए और मोक्षमार्ग का उपदेश दिया।

आगे अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन करते हुए कहा है कि आपका उपयोग कभी नष्ट नहीं होता। अर्थात् ज्ञानदर्शन सदा उपयोगरूप रहते हैं। श्वेतांबर ऐसा नहीं मानते। अंत में ग्रन्थकार कहते हैं -

मैं समस्त संसार में भ्रमण करके खिन्न हो चुका हूँ, अब मैंने प्राणपण से आपको अपनाया है। मेरे सब कुछ आप हो। अधिक विवाद से क्या ?

(१०) दसवीं स्तुति भी उपजाति छंद में है -

इसके प्रारम्भ में ही कहा है कि मैं विशुद्ध विज्ञानघन आपकी एकमात्र शुद्धनय की दृष्टि से स्तुति करूँगा।

अर्थात् पूर्व स्तुतियों में व्यवहार दृष्टि रही है क्योंकि बाह्य क्रियाकलापों को लेकर भी स्तुति की गई थी, जो व्यवहार धर्म के रूप में आवश्यक है।

शुद्धनय की दृष्टि से मतलब है दर्शन-ज्ञानमय चैतन्य स्वरूप को लेकर स्तवन। यथा -

हे भगवन् ! आपका यह चैतन्य शक्ति का विकासरूप हास्य सब ओर सुगंध फैला रहा है। सो किसी भाग्यशाली मनुष्य की दृष्टि ही चैतन्यरूप मकरन्द के पान की तृष्णा से इस और जाती है।।१२।।

आप एक ज्ञायक स्वभाव से सहित हैं। स्वानुभूति से परिपूर्ण हैं। आपकी आभ्यंतर लक्ष्मी अखण्ड चैतन्य पिण्ड सहित है। अतः आप नमक की डली की उपमा को प्राप्त हो रहे हैं।।१३।।

यह उपमा समयसार कलश १४ में भी आती है। यहाँ एक दूसरी उपमा प्रालेयपिण्ड - बर्फ के डलाकी दी है। यथा -

विशुद्ध चैतन्य के पूर में सब ओरसे डूबे हुए आप आत्मरस से अत्यंत आर्द्र ही भासित होते हैं क्योंकि बर्फ का पिण्ड सब ओर से घनरूप होते हुए भी सदा सब ओरसे आर्द्र ही भासित होता है।।१४।।

सब क्रियायें कारकों से मलिन ही होती हैं क्योंकि उनकी प्रवृत्ति कर्त्ता आदि मूलक होती है। किन्तु आपका शुद्ध ज्ञान क्रियाकलाप से पराङ्मुख है, अतएव आप भामात्र ही भासित हो रहे हैं।।१८।।

हे भगवन् ! आप अत्यंत निर्मलता को प्राप्त हुए अपने में, अपने लिए अपने से अपने को स्वयं देखते हैं। अतः हे स्वामिन् आप दृष्टा और द्रश्य के भेद से रहित होकर स्थित हैं और इसलिए कारकों से रहित दर्शनरूप ही भासित होते हैं।।१९।।

अन्त में ग्रन्थकार अपनी भावना व्यक्त करते हैं -

हे योगीश्वर ! मैं एक शुद्ध, निराकुल चिद्भाव की इस अखण्ड भावना के द्वारा चिद्भाव रूप ही होता हूँ।

(११) ग्यारहवीं स्तुति अनुष्टुप छंद में है। इसमें मुख्य रूप से दर्शन और ज्ञान को लेकर स्तवन किया गया है। यथा -

हे भगवन् ! आवका एक ही उपयोग साकार अनाकार के भेद से ज्ञान और दर्शन के रूप में दो रूप हो गया है।।९।।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण का उच्छेद हो जानेसे दोनों उपयोग सदा युगपत् रहते हैं।।१०।।

उनका सहायक अनंत वीर्य भी सदा रहता है। इस प्रकार आप पूर्ण ज्ञान-दर्शन से युक्त हो सदा सुखी रहते हैं तथा सुखी रहते हुए भी प्रमादी नहीं होते। आपके दर्शन ज्ञान नश्वर नहीं हैं, क्योंकि उनके लिए अन्य कर्त्ता आदि कारकों की अपेक्षा नहीं है। आप स्वयं सदा षट्कारकमय हैं इत्यादि।

(१२) बारहवीं स्तुति भी अनुष्टुप् छंद में है।

इसमें भी अनेकान्तशाली वीतराग जिनका स्तवन है। यथा - आप स्वरूप से हो रहे हैं, पर रूप से नहीं हो रहे। फिर भी भाव अभाव दोनों को जानते हुए साक्षात् सर्वज्ञ कहे जाते हैं।।४।।

प्रागभाव आदि चारों अभाव आपमें भावरूप हैं और आप भावरूप होकर भी अभावरूपता को प्राप्त होते हैं।।१७।।

यह पर्यायरूप तत्त्व अनित्य होते हुए भी आपको प्राप्त करके नित्य हो जाता

है। और आप नित्य होकर भी अनित्य पर्याय रूप को पाकर अनित्य हो जाते हैं अर्थात् द्रव्य रूप से पर्याय भी नित्य है और पर्याय रूप से द्रव्य भी अनित्य है।।१९।।

(१३) १३ वीं स्तुति मञ्जुभाषिणी छंद में है। इसमें ज्ञान के स्वपर प्रकाश को लेकर स्तवन है यथा -

हे देवः यह चित् चमत्कार ही अपने से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न सुख वीर्य वैभव आदि अपनी शक्तियों को एक साथ जानने से आपके सहभावी अनंत आत्मधर्मों के समूह को प्रकट करता है।।३।। आप अनंत धर्मों के भार से भावित होते हुए भी एक उपयोग लक्षण के द्वारा ही जाने जाते हैं। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि आपमें उपयोग ही एक गुण है, अन्य नहीं हैं, क्योंकि गुण बिना आधार के नहीं रहते।।४।।

आप जड़ और चेतन दोनों को जानते हैं। आपका ज्ञान स्वपर प्रकाशक है। जो पर को नहीं जानता उसमें जड़ से कोई भेद नहीं है अर्थात् वह जड़वत् है। किन्तु जड़ को जानने से जड़ नहीं हो जाता। पर को जाने बिना अनुभूति नहीं होती। फिर भी अज्ञानी हाथी की तरह आँख बन्द करके भवकूपमें गिरते हैं।।९।

इसप्रकार पर को जानकर भी आप परासक्त नहीं होते। आदि समस्त विवेचन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

(१४) चौदहवीं स्तुति में भी ज्ञान-दर्शनमय चितिमात्र को लेकर स्तवन है। इसमें अन्त में कहा है -

दर्शन और ज्ञान में निश्चल वृत्तिरूप आपका शक्ति समूह संसार बीज को हरनेवाला है। ज्ञानी पुरुष क्रिया में रमण नहीं करता, किन्तु पापमार्ग से बचने के लिये शुभ क्रियाएँ व्रततपादि करता है। क्रिया के द्वारा पौद्गलिक कर्ममल को दूर करते हुए आत्मा आत्मा में स्थिर होता है और ऐसा होनेसे नियम से अपुनर्जन्म प्राप्त होता है।

हे जिन आपके समागम को ही सुख और आपके विरह को ही दुःख कहते हैं। हे जिन ! वे भाग्यशाली निश्चय से सुखी हैं जिनके आप सदा हृदय में वसते हैं।

१५ वीं स्तुति वियोगिनी छंद में है। विषय प्रायः पूर्ववत् नवीनता को लिए हुए है प्रारम्भ में ही बड़ा सुंदर दृष्टांत दिया है।

'जैसे गन्ने की गंडेरी को चूसता बालक तृप्त नहीं होता, उसी प्रकार आपकी ज्ञानकला का रात दिन आस्वाद लेनेवाला भी तृप्त नहीं होता।'

द्रव्य के बिना पर्याय नहीं, पर्याय के बिना द्रव्य नहीं। आपकी प्रकृति ही द्रयावलम्बिनी है। विधि निषेध से बाधित है और निषेध विधि से बाधित है। फिर भी दोनों समभाव धारण करके अर्थ की सिद्धि करते हैं।

कथन में पुनरुक्तियाँ भी यत्र तत्र हैं। यहाँ भी कहा है - `आप पर को जानने से पर नहीं हो जाते। क्योंकि परस्वभासन का मतलब है पर का आलम्बन लेकर आत्मभासन, क्योंकि पर को जाने बिना अपने को जानना शक्य नहीं हैं। व्यवहार दृष्टि से देखनेवालों के लिये आप पराश्रयी और परमार्थ दृष्टि से देखनेवालों के लिये स्वाश्रयी एक ही साथ उभयरूप प्रतिभासित होते हैं।'

अंत में कहते हैं -

जोरसे दबाये हुए गन्नेसे जैसे रस का प्रवाह निकलता है उसी प्रकार मेरी इस हठवादिता से उछलता हुआ आत्मरस का प्रवाह मुझे उसमें डुबो देगा। आपके चरण कमलों में जाग्रत रहनेवाले मोहरात्रि वीत गई। अतः मुझे उठाकर अपनी गोद में ले लीजिये।

यह एक आध्यात्मिक सच्ची भक्ति का प्रवाह है।

सोलहवीं स्तुति पुष्पिताग्रा छंद में है। विषय प्रायः पूर्ववत् है। यथा -

हे जिनवर ! सभी ओरसे दबाये जाने पर भी आप कभी भी नीरस नहीं होते। किन्तु उत्तरोत्तर निरंतर अनंत ज्ञानरूपी अमृत रस को देते हैं।

अंत में केवलज्ञान की महत्ता दिखलाते हुए कहा है -

परमागम तीनो कालों और तीनों लोकों का प्रकाशक होने पर आपके केवलज्ञान के एक कोने में ऐसा शोभित होता है जैसा दिनमें जुगुनु।

१७ वीं स्तुति प्रहर्षिणी छंद में है। इसमें भी स्वद्रव्यादि का विवेचन है। पद्य २१ में `समन्तभद्र' के स्वयंभूस्तोत्र के `विवक्षितो मुख्य' इत्यादि पद्य की स्पष्ट झलक है - जिसकी विवक्षा की जाती है वह मुख्य होता है जो विवक्षित नहीं होता वह गौण होता है।

१८ वीं स्तुति मत्तमयूर छंद में है। इसमें भी सामान्य-विशेष, भाव-अभाव, वाच्य-अवाच्य आदि अनेकान्तों को लेकर विवेचन है। अंत में सिद्धों में उत्पाद व्यय घटाते हुए कहा है -

जो आप पहले भविष्यत् की अपेक्षा सिद्ध थे, वही अब आप वर्तमान सिद्ध हैं। इसी प्रकार वर्तमान में जो विरक्त दशा है वही भूतकाल में सराग दशा थी।

१९ वीं स्तुति वियोगिनी छंद में है। इसका विषय भी प्रायः वही है। यथा -

आपके न पराश्रयपना है, न शून्यरूपता है, न अन्य भावों का सम्मिश्रण है क्योंकि आप अपने असंख्य प्रदेश रूप वस्तु को ग्रहण किए हुए हैं।।२।।

आप अमूर्त विशेषण से युक्त हैं अतः पुद्गलों से भिन्न हैं।।३।।

और आप चित् विशेषण से युक्त हैं अत समस्त अचेतनों से भिन्न है।।४।।

तथा सहज स्वानुभव से युक्त हैं अतः अन्य समस्त चेतनों से भिन्न है।।५।।

ये आपके अजड आदि विशेषण आपको अन्य द्रव्यों से भिन्न करते हैं स्वद्रव्य से नहीं।

इस प्रकार इस स्तुति में भेदज्ञान की प्रधानता है। इसे पढ़ते हुए समयसार कलश का `चैरूप्यं जड़रूपतां च' आदि १२६ वाँ कलश वरवस स्मरण हो आता है।

२० वीं स्तुति वशंस्थ छंद में है। इसमें व्यावहारिक नयों को लेकर विवेचन है। यथा - हे स्वामिन् आप चैतन्यमात्र विभूति से परिपूर्ण होनेसे शुद्धसंग्रहनय की दृष्टि से सुशोभित हो रहे हैं। और आप असंख्य प्रदेशों में विभाजित होनेसे ऋजुसूत्र नय की दृष्टि से शोभित हो रहे हैं। ऋजुसूत्रनय प्रति समयवर्ती पर्याय को ग्रहण करता है अतः बौद्ध का क्षणिकवाद इसी एक नय का विषय है उसीको लेकर सापेक्ष विवेचन है। बौद्धमत में निर्वाण को दीपक के निर्वाण की तरह माना है उसीको दृष्टि में रखकर कहते हैं -

दीपक की तरह निर्वाण को प्राप्त हुए आपके समस्त विकार एक शून्यतारूप हो गये अर्थात् विकारों का आपमें सर्वथा अभाव हो गया। किन्तु ऐसा करते हुए आपको कुछ भी साहस नहीं करना पड़ा जब कि मुझे कहने में भी साहस करना पड़ रहा है।।१०।। आगे विज्ञानवादी बौद्ध का निषेध करते हुए विज्ञानघन भगवान् का स्तवन किया है।

हे प्रभो, आपका विज्ञानघन सर्वभक्षी है, विश्व का कोई पदार्थ उसका अविषय नहीं है। उसमें सब पदार्थ पृथक्-पृथक् भासते हैं। इस दृष्टि से ही ज्ञानाद्वैतवाद बनता है, बाह्य पदार्थों के अभाव की दृष्टि से नहीं।।१५।।

यह पूरा स्तवन बौद्धदर्शन के निराकरण-समन्वय की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें शून्यवाद का समन्वय करते हुए अंत में कहा है - हे भगवन् मेरी बौद्ध के शून्यवाद में तो रुचि नहीं है। वहाँ, समस्त पदार्थों के शून्यमय भान से निर्मल आपके शून्य में - निर्विकल्प विज्ञानघन में प्रवेश कराकर मुझे कृतकृत्य करें।

२१ वीं स्तुति भी वशंस्थ छंद में है। इसमें भी सामान्य विशेषरूप, द्रव्यपर्यायरूप आदि को लेकर स्तवन है। उत्पादव्ययध्रौव्य को लेकर कहा है - `सत् का नाश

नहीं होता और असत् का उत्पाद नहीं होता। और उत्पाद व्यय के बिना कोई वस्तु नहीं होती। क्षण-क्षण में होनेवाला उत्पाद-व्यय आपको भिन्न-भिन्न करता है और ध्रुवत्व एकरूप करता है। भाव और अभाव दोनों ही आधार के बिना नहीं रहते। आप दोनों ही आश्रय होनेसे भाववान् भी हैं और अभाववान् भी वस्तुविवेचन की दृष्टि से पूरी स्तुति ही महत्त्वपूर्ण है।

२२ वीं स्तुति मंदाक्रान्ता छंद में, २३ वीं स्तुति हरिणी छंद में, २४ वीं स्तुति और पच्चीसवीं स्तुति शार्दूलविक्रीडित छंद में है।

इन स्तुतियों का भी विषय तो वहीं है किन्तु उसके उपपादन में और भावानुभूति में अंतर है -

हे स्वामिन् क्या ईंधन दाह से भिन्न है उसीतरह यह समस्त विश्वरूप ज्ञेय क्या आपसे भिन्न है ?

एक अनेक नहीं होता और अनेक एक नहीं होता। किन्तु आप एकानेकरूप हैं। अन्य नष्ट होता है, अन्य उत्पन्न होता है, और अन्य निरंतर विद्यमान रहता है। आपका तीनों में समान पक्षपात है। अतः आप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों से युक्त हैं। यदि वे तीनों आपसे बहिर्भूत हो जायें तो शून्यरूप हो जाये।

२२ वीं स्तुति के अंत में कहा है -

निश्चय से अनेकान्त ही आपको एक अनेक, सगुण, निर्गुण, शून्य पूर्ण, नित्य अनित्य आदि करता है।

२३ वीं स्तुति के अंत में कहा है -

सम्यग्ज्ञान और क्रिया इन दोनों की भावनाओं से भूतार्थरूप परिणमन करते हुए मेरे में निरंतर आपकी लक्ष्मियाँ प्रस्फुरत होवें, जो परम स्वाभाविक अवस्था में संलग्न उपयोगरूपी रसमें मज्जन करने से बहुत आनंददायक हैं।

२४ वीं स्तुति में कहा है -

आपके चैतन्यरूपी अमृत के पूर से भरपूर अद्भुततम रूप को आंखों के द्वारा पीकर किन्हें उन्माद नहीं सताता।।३।। जिस चैतन्यरूप चाँदनी के सागर में तीनों लोक मानो डूब रहे हैं उसमें यह मैं दूरसे ही बिना डूबा दिखाई देता हूँ फिर भी मैं सदा आपमें मग्न हूँ।।१५।।

२५ वीं स्तुति का विषय ज्ञान और कर्म का समुच्चय है। एक मुमुक्षु के लिये यह स्तुति बहुत ही उपादेय है यथा - जो पूर्व असंयम से संचित कर्मरज के विनाश के लिये सादर हृदय से संयम धारण करते हैं वे ही सहज अवस्था में स्थित अन्तस्तेज

को प्राप्त होते हैं।।३।।

रागसमूह का विनिग्रह करने के लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि राग के फन्दे में फँसे मन वचन काय का निग्रह फलदायी नहीं होता।

इस स्तुति में २४ वाँ पद्य समयसार कलश का १४१ वाँ पद्य है। जिसमें कहा है - यह भगवान् चैतन्यरूप समुद्र उठती हुई लहरों में अभिन्न रस हुआ एक है फिर भी अनेकरूप हुआ प्रवर्तता है। इससे आगे के अन्तिम पद्य में कहा है -

मेरे संयम का पुटपाक ज्ञानरूपी अग्नि में पककर तैयार हो जिससे रागादि विकारी भाव नष्ट होकर मेरा ज्ञाता दृष्टा स्वभाव भलीभाँति प्रकट हो सके।

लघुतत्त्वस्फोट की अमृतचंद्रकर्तृता

लघुतत्त्वस्फोट के उक्त विवेचन से उसके टीकाकार `अमृतचंद्र' के रचित होने में कोई संदेह नहीं रहता। भाव, भाषा और शैली तीनों दृष्टियों से उसकी समयसारकलश के साथ एकरूपता प्रस्पष्ट है। उसके सम्बन्ध में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है।

स्व. पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने तत्त्वानुशासन की प्रस्तावना में पृ. ३३ पर लिखा है -

`अमृतचंद्र का समय विक्रम की दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। पट्टावली में उनके पट्टारोहण का समय जो वि. सं. ९६२ दिया है वह ठीक जान पड़ता है, क्योंकि सं. १०५५ में बनकर समाप्त हुए धर्मरत्नाकर ग्रन्थ में अमृतचंद्राचार्य के पुरुषार्थसिद्ध्युपाय से कोई ६० पद्य उद्धृत पाये जाते हैं, जिसकी सूचना पं. परमानन्दजी शास्त्री ने अनेकांत वर्ष ९ की संयुक्त किरण ४-५ में की है। इससे `अमृतचंद्र' उक्त सम्वत् १०५५ से पूर्वकालिक विद्वान् हैं यह सुनिश्चित है। उपासकाचार के कर्ता अमितगति (सं. १०५०) से भी वे पूर्व के विद्वान् हैं जिनके उपासकाचार में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का कितना ही अनुसरण पाया जाता है जिसे पं. कैलाशचंद्रजी शास्त्रीने जैन संदेश के शोधाङ्क नं. ५ में प्रकट किया है। इन अमितगति (द्वितीय) से दो पीढ़ी पूर्व के विद्वान् अमितगति प्रथम के योगसार प्राभृत पर भी `अमृतचंद्र' के तत्त्वार्थसार तथा समयसारादि टीकाओं का प्रभाव लक्षित होता है जिनका समय अमितगति द्वितीय से कोई ४०-५० वर्ष पूर्व का जान पड़ता है। ऐसी स्थिति में अमृतचंद्रसूरि का समय विक्रम की १० वीं शताब्दी का प्रायः तृतीय चरण और तत्वानुशासन के कर्ता रामसेनाचार्य का समय १० वीं शताब्दी का प्रायः चतुर्थचरण निश्चिय होता है तथा अमितगति प्रथम विक्रम की ११ वीं शती के प्रायः प्रथम चरण के विद्वान् ठहरते हैं। ये तीनों

ही अध्यात्म विषय के प्रायः समसामयिक प्रौढ विद्वान् हुए हैं और तीनों की कथन शैली एक दूसरे से मिलती जुलती है जिनमें वृद्धता का श्रेय अमृतचंद्राचार्य को प्राप्त जान पड़ता है।'

स्वर्गीय मुख्तार साहब के उक्त निष्कर्ष के प्रकाश में कुछ कहने को शेष नहीं रहेगा। उनके समर्थन में हमें एक अन्य भी प्रमाण उपलब्ध हुआ है -

धर्मरत्नाकर में डड्ढारचित पंचसंग्रह का भी एक पद्य उद्धृत है। यथा - तदुक्तम् -

वचनैर्हेतुभिर्युक्तैः सर्वेन्द्रियभयावहैः।

जुगुप्साभिश्च वीभत्सैर्नैवं क्षायिकदृक् चलम्।।

तथा डड्ढा के पंचसंग्रह के द्वितीय अधिकार में तत्त्वार्थसार का पद्य उद्धृत है - उक्तञ्च -

`षौडशैव कषायाः स्युर्नोकषाया नवेरिताः।

ईषद् भेदो न भेदोऽस्य कषायाः पञ्चविंशतिः।।'

अतः अमृतचंद्र का समय विक्रम की दसवीं शताब्दी से आगे नहीं जाता। इस विक्रम की दसवीं शताब्दी के ग्रन्थकार देवसेनने अपने दर्शनसार में `पद्मनन्दी आचार्य कुंदकुंद' सीमंधर स्वामी के समवसरण में जानेका उद्घोष किया है। इसीके समकाल में रचित श्रुतावतार में इन्द्रनंदी ने `कुंदकुंद' अमरनाम पद्मनंदी को सिद्धांत ग्रन्थों का टीकाकार लिखा है। इसीके उत्तरकाल में नेमिचंद्र सिद्धांती ने `द्रव्यसंग्रह' की रचना की। टीकाकार ब्रह्मदेवने द्रव्यसंग्रह और परमात्मप्रकाश की टीकाएँ रची। और `कुंदकुंदाम्नाय' प्रकाश में आया। इस सब का श्रेय `आचार्य अमृतचंद्र' को है। उन्हीं का अनुगमन द्वितीय टीकाकार जयसेन ने तथा पद्मप्रभ मलधारी देवने किया। इस प्रकार `अमृतचंद्र' एक अध्यात्मयुग प्रवर्तक आचार्य हुए हैं। उन्होंने मुमुक्षु के लिये स्याद्वाद में कुशलता के साथ सुनिश्चल संयम की उपयोगिता बतलाकर ज्ञाननय और क्रियानय में तीव्र मैत्री की आवश्यकता बतलाई है। यथा -

स्यादादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।

ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः।।

अर्थात् - जो पुरुष स्याद्वाद में प्रवीणता और निश्चल संयम के द्वारा आत्मा में उपयोग लगाता हुआ उसे निरंतर भाता है वही पुरुष ज्ञाननय और क्रियानय की पारस्परिक तीव्र मैत्री का पात्र होकर इस निज भावभूमि भूमिका को पाता है।

कैलाशचंद्र शास्त्री

विषय-सूची

स्तुति	पृष्ठ
१. प्रथम स्तुति	०१
२. द्वितीय स्तुति	२४
३. तृतीय स्तुति	४३
४. चतुर्थ स्तुति	६०
५. पञ्चम स्तुति	७७
६. षष्ठ स्तुति	९४
७. सप्तम स्तुति	१०९
८. अष्टम स्तुति	१२७
९. नवम स्तुति	१४२
१०. दशम स्तुति	१५६
११. एकादश स्तुति	१७३
१२. द्वादश स्तुति	१८५
१३. त्रयोदश स्तुति	१९९
१४. चतुर्दश स्तुति	२१४
१५. पञ्चदश स्तुति	२३१
१६. षोडश स्तुति	२४३
१७. सप्तदश स्तुति	२५८
१८. अष्टादश स्तुति	२७२
१९. एकोनविंशति स्तुति	२८८
२०. विंशतितम स्तुति	३०१
२१. एकविंशतितम स्तुति	३१५
२२. द्वाविंशतितम स्तुति	३२९
२३. त्रयोविंशतितम स्तुति	३५०
२४. चतुर्विंशतितम स्तुति	३६८
२५. पञ्चविंशतितम स्तुति	३८६
पद्यानुक्रमणी	४०७

आचार्य अमृतचंद्र रचित

''लघु-तत्त्व-स्फोट''

(शक्तिगणितकोष)

ॐ नमः परमात्मने। नमोऽनेकान्ताय

स्वायम्भुवं मह इहोच्छलदच्छमीडे
येनादिदेव भगवानभवत् स्वयम्भूः।
ॐ भूर्भुवःप्रभृतिसन्मननैकरूप-
मात्मप्रभातृ परमातृ न मातृ मातृ।।१।।

अन्वयार्थ :- (**आदिदेव**) हे आदि जिनेन्द्र ! (**येन**) जिसके द्वारा आप (**स्वयम्भूः**) स्वयम्भू (**भगवान्**) भगवान् (**अभवत्**) हुए हैं, मैं (**इह**) इसलोक में (**उच्छलत्**) छलकते हुए- अतिशय प्रकट (**अच्छं**) निर्मल (**स्वायम्भुवं**) आत्म-सम्बन्धी (**तत् महः**) उस तेज-ज्ञानज्योति की (**ईडे**) स्तुति करता हूँ। जो तेज (**ॐ भूर्भुवःप्रभृतिसन्मननैकरूपं**) ॐ भूर्भुवः आदि शांतिमंत्र के समीचीन अद्वितीय मननस्वरूप है। (**आत्मप्रभातृ**) स्वप्रकाशक है (**परमातृ**) परप्रकाशक है और (**न मातृमातृ**) न मात्र ज्ञायक - आत्मा को जाननेवाला है किन्तु ज्ञायक अज्ञायक - चेतनाचेतनात्मक समस्त पदार्थों को जाननेवाला है।

भावार्थ :- यहाँ भगवान् आदिनाथ का स्तवन करते हुए उनके उस असाधारण ज्ञानगुण की गरिमा की स्तुति की गई है जिसके प्रकट होते ही वे साधारण छद्मस्थ से स्वयंभू-सर्वज्ञ हो गये। उनका वह ज्ञान गुण त्रैकालिकज्ञायक स्वभाव होनेसे आत्मा में स्वतः विद्यमान रहता है, राग-द्वेषादिक के समान आत्मा में किन्हीं बाह्य निमित्तों से प्रकट नहीं होता है। वही ज्ञानगुण केवलज्ञानरूप पर्याय से तन्मय हो लोकालोकका ज्ञाता हो जाता है, रागादि विकारी भावों से सर्वथा रहित होनेके कारण वीतराग विज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान, `चतुर्गति के जीव अपाय - दुःख से किस प्रकार छूटें' इस

अपायविचयधर्म्यध्यान के समीचीन मननस्वरूप होता है। ज्ञान, स्वपरप्रकाशक होनेसे जहाँ आत्ममातृस्व को जानता है, वहाँ परमातृ - परको भी जानता है और न केवल माता-ज्ञायक आत्मा को जानता है किन्तु संसार के समस्त चेतना चेतनात्मक पदार्थों को जानता है।।१।।

माताऽसि मानमसि मेयमसीशमासि
मानस्य चासि फलमित्यजितासि सर्वम्।
नास्त्यैव (नास्यैव) किञ्चिदुत नासि तथापि किञ्चि -
दस्येव चिच्चकचकायितचुञ्चुरुच्चैः।।२।।

अन्वयार्थ :- (**अजित**) हे अजितनाथ ! आप (**माता असि**) ज्ञायक हो (**मानम् असि**) ज्ञान हो (**मेयम् असि**) ज्ञेय हो (**ईशमा असि**) अनंतचतुष्टय लक्ष्मीरूप हो (**च मानस्य फलम् असि**) और ज्ञान के फल हो, (**इति सर्वम् असि**) इस प्रकार सबरूप हो। **[अस्य]** (**किञ्चिदेव नास्ति**) इस ज्ञान का कुछ भी नहीं है (**उत**) और आप भी यद्यपि (**किञ्चित् न असि**) किसी अन्यरूप नहीं हैं (**तथापि**) तो भी आप (**उच्चैः**) उत्कृष्टरूप से (**चिच्चकचकायितचुञ्चुः**) चैतन्य चमत्काररूप से प्रसिद्ध हो।

भावार्थ :- जो पदार्थ को जानता है उसे माता कहते हैं, आत्मा जिसके द्वारा जानता है उसे मान कहते हैं, जिसे जानता है उसे मेय कहते हैं और अज्ञाननिवृत्तिपूर्वक आत्मा में जो ज्ञान प्रकट होता है वह मान का फल कहलाता है। यहाँ गुण गुणी का अभेद दृष्टि की अपेक्षा कथन करते हुए कहा गया है कि हे अजितनाथ भगवान ! आप ही माता, मान, मेय और मान के फल हो - ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान के फल हो। न केवल, ज्ञान गुण की अपेक्षा यह कथन है किन्तु अर्हन्त की लक्ष्मीस्वरूप जो ज्ञान दर्शन सुख और वीर्य हैं उनरूप भी आप हैं। यद्यपि ज्ञायक स्वभाव के कारण अजितनाथ भगवान् अनंत ज्ञेयों को जानते हैं ऐसा व्यवहार होता है। तथापि एक भी ज्ञेय उनका नहीं होता है और न वे किसी ज्ञेय के होते हैं। वीतराग विज्ञान का दर्पण तल के समान यही स्वभाव है कि वह जानता तो सबको है परंतु किसीको आत्मीय मान कर अपने आपमें रोकता नहीं है। यह सब होने पर भी आप चैतन्य चमत्कार से तन्मय हैं।।२।।

एको न भासयति देव न भासतेऽस्मि -
न्नन्यस्तु भासयति किञ्चन भासते च।
तौ द्वौ तु भासयसि शम्भव भाससे च
विश्वं च भासयसि भा असि भासको न।।३।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे देव ! संसार में (**एकः**) एक पदार्थ - जड पदार्थ (**न भासयति**) किसीको भासित - प्रकाशित नहीं करता और (**अस्मिन्**) इस जड़ पदार्थ में कोई पदार्थ (**न भासते**) प्रकाशित नहीं होता है (**तु**) किन्तु (**अन्यः**) जड़ से भिन्न-चेतन द्रव्य (**भासयति**) किसीको भासित करता है। (**च**) तथा (**किञ्चन**) अन्य द्रव्य इसमें (**भासते**) प्रकाशित होता है। (**तु**) किन्तु (**शम्भव**) हे शम्भवनाथ ! आप (**तौ द्वौ**) उन दोनों - अचेतन और चेतन पदार्थों को (**भासयति**) प्रकाशित करते हैं और स्वयं भी (**भाससे**) प्रकाशित होते हैं। इस तरह आप (**विश्वं च भासयसि**) लोकालोकरूप विश्व को प्रकाशित करते हैं अतः (**भाः असि**) दीप्तिरूप हो, (**भासकः न असि**) भासक[१] - दीप्तिका निराकरण करनेवाले नहीं हो।

भावार्थ :- यह विश्व चेतनाचेतनात्मक पदार्थों से भरा हुआ है। इनमें अचेतन पदार्थ - पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल चेतना से शून्य होनेके कारण न किसीको प्रकाशित करते हैं और न कोई पदार्थ इनमें प्रकाशित होता है। उपर्युक्त पाँच अचेतन पदार्थों के सिवाय विश्व में एक चेतन द्रव्य भी है। यह चेतन द्रव्य चेतना से तन्मय होनेके कारण संसार के पदार्थों को प्रतिभासित करता है और संसार के पदार्थ इसमें प्रतिभासित होते हैं। हे शम्भवनाथ ! जिनेन्द्र ! आप उपर्युक्त चेतन अचेतन पदार्थों को प्रतिभासित करते हैं और स्वयं भी प्रतिभासित होते हैं। इस तरह आप विश्व को प्रतिभासित करते हैं। जब गुण और गुणी का अभेदविवक्षा से कथन होता है तब गुण को गुणी और गुणी को गुण कह दिया जाता है। यहाँ भी अभेद विवक्षा से शम्भवनाथ जिनेन्द्र को भा अर्थात् ज्ञानरूप दीप्ति से तन्मय कहा है। और भासकपने का निषेध किया है। परंतु विना आधार के गुण का अस्तित्व रह नहीं सकता इसलिये शम्भव जिनेन्द्र में भासकपने का सर्वथा निषेध भी नहीं किया जा सकता अतः `भासको न' का दूसरा अर्थ यह भी होता है कि हे भगवन् ! आप

---

[१] अस्यति प्रक्षिपति इति आसकः `असु प्रक्षेपणे' इति धातोः ण्वुल् प्रत्यये रूपं। भायाः (दीप्तेः) (आसकः) प्रक्षेपक इति भासकः तथाभूतः त्वं न भवसि।

ज्ञानरूप दीप्ति का निराकरण करने वाले नहीं हैं।।३।।

यद्भाति [१]भाति तदिहाथ च (न) भात्य[२]भाति
[३]नाभाति भाति स च भाति न यो [४]नभाति।
भा (या)भाति [५]भात्यपि च [६]भाति न भात्यभाति[७]
सा चाभिनन्दन विभान्त्यभिनन्दति त्वाम्।।४।।

अन्वयार्थ :- (**यत्**) जो ज्ञान (**भाति**) ज्ञानगुण से तन्मय रहने के कारण देदीप्यमान होनेवाले (**इह**) इस आत्मा में (**भाति**) सुशोभित रहता है (**अथ**) और (**अभाति**) ज्ञान गुण से अतन्मय होनेके कारण देदीप्यमान न रहनेवाले अन्य पदार्थ में (**न भाति**) सुशोभित नहीं होता। इसी प्रकार (**यः**) जो ज्ञायक (**नाभाति `इह'**) अतिशय सुशोभित रहनेवाले आत्मा में (**भाति**) सुशोभित रहता है और (**नभाति**) सुशोभित न रहनेवाले अन्य पदार्थ में (**न भाति**) सुशोभित नहीं होता। इसी प्रकार (**या भा**) जो ज्ञानरूप दीप्ति (**भाति `इह'**) देदीप्यमान आत्मा में (**अति आभाति**) अत्यन्त सुशोभित होती है और (**अभाति**) अदेदीप्यमान - ज्ञान से रहित अन्य पदार्थ में (**न भाति**) सुशोभित नहीं होती (**अभिनंदन**) हे अभिनंदन जिनेन्द्र ! (**विभान्ती**) विशिष्टरूप से सुशोभित होनेवाली (**सा च**) वह भा - ज्ञानदीप्ति (**त्वाम्**) आपका (**अभिनन्दति**) अभिनन्दन करती है।

भावार्थ :- यहाँ ज्ञान गुण, ज्ञायकस्वभाव और ज्ञप्तिक्रिया इन तीन विशेषताओं का अस्ति और नास्ति पक्ष से एक आत्मा में समावेश करते हुए अभिनंदन जिनेन्द्र की स्तुति की गई है। यह ज्ञान गुण अस्ति पक्ष से आत्मा में रहता है नास्ति पक्ष से आत्मातिरिक्त अन्य द्रव्य में नहीं रहता। ज्ञायकस्वभाव भी ज्ञान गुण से सुशोभित आत्मा में रहता है, अन्य जड़ पदार्थों में नहीं। इसी प्रकार ज्ञप्ति क्रिया भी आत्मा में ही रहती है अन्य जड़ पदार्थों में नहीं। `यत् तत्' इन नपुंसकलिङ्ग पदों से ज्ञान गुण का, `यः सः' इन पुंलिङ्ग पदों से ज्ञायक स्वभाव का और `या सा' इन

---

१. भाति शोभते इति भान् तस्मिन्, `भा दीप्तौ' इत्यस्य शतृप्रत्ययान्तप्रयोगः। २. न भाति इति अभान् तस्मिन्। ३. न भातीति अभान्, न भान् इति नाभान् तस्मिन् `नाश्वः' इतिवत् समासः। ४. न भातीति नभान् तस्मिन्। ५. भातीति भान् तस्मिन्। ६ भा + अति इति पदच्छेदः। ७. न भातीति अभान् तस्मिन्। ८. विशेषेण भाति शोभते इति विभान्ती शोभमानेत्यर्थः भा इत्यस्य विशेषणम्।

स्त्रीलिङ्ग पदों से ज्ञप्ति क्रिया का समावेश किया गया है। भेद विवक्षा से इन तीनों में भेद होता है परंतु अभेद विवक्षा से तीनों एक आत्मा की ही परिणति हैं।।४।

लोकप्रकाशनपरः सवितुर्यथा यो
वस्तुप्रमित्यभिमुखः सहजप्रकाशः।
सोऽयं तवोल्लसति कारकचक्रचर्चा -
चित्रोऽप्यकर्ब्बुररसप्रसरः सुबुद्धे।।५।।

अन्वयार्थ :- (**सुबुद्धे**) हे सुमति जिनेन्द्र (**सवितुः यथा**) सूर्य के प्रकाश की तरह जो प्रकाश बाह्य दृष्टि से (**लोकप्रकाशनपरः**) समस्त लोक को प्रकाशित करने में समर्थ है तथा (**वस्तुप्रमित्यभिमुखः**) अंतर्दृष्टि से आत्मतत्त्व के जानने के सम्मुख है (**सोऽयं**) ऐसा यह (**तव**) आपका (**सहजप्रकाशः**) सहज ज्ञानस्वभावरूप प्रकाश (**कारकचक्रचर्चाचित्रोऽपि**) षट्कारक समूह की चर्चा से चित्ररूप होता हुआ भी (**अकर्ब्बुररसप्रसरः**) अचित्रित - एकरसरूप प्रसार से सहित (**उल्लसति**) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपका त्रैकालिक ज्ञायक स्वभावरूप प्रकाश जब केवलज्ञानरूप पर्याय से सुशोभित होता है तब वह यद्यपि लोकालोक को प्रकाशित करता है तथापि निश्चय से आत्मस्वरूप को ही प्रकाशित करता है, इसीलिये कहा जाता है कि केवली भगवान् व्यवहारनय से लोकालोक के ज्ञाता हैं पर निश्चयनय से आत्मा के ही ज्ञाता हैं। यद्यपि व्यवहार की दृष्टि से आपका वह ज्ञानस्वरूप प्रकाश, कर्ता कर्म करण संप्रदान अपादान और अधिकरण इन छह कारकों के समूह की चर्चा से चित्रित होता है उसमें इन सब कारकों का विकल्प आता है तथापि सामान्यग्राही निश्चयनय की अपेक्षा वह सकल कारक चक्र से उत्तीर्ण होनेके कारण एकरूप ही प्रतीत होता है।।५।।

एकं प्रकाशकमुशन्त्यपरं प्रकाश्य-
मन्यत्प्रकाशकमपीश तथा प्रकाश्यम्।
त्वं न प्रकाशक इहासि न च प्रकाश्यः
पद्मप्रभ ! स्वयमसि प्रकटः प्रकाशः।।६।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! लोग (**एकं**) किसी एक को (**प्रकाशकं**) प्रकाशक (**अपरं**) किसी अन्य को (**प्रकाश्यं**) प्रकाश करने योग्य (**तथा**) और (**अन्यत्**) किसीको (**प्रकाशकं**) प्रकाशक तथा (**प्रकाश्यं**) प्रकाश्य दोनों रूप (**उशन्ति**) मानते हैं, परंतु (**त्वं**) आप (**इह**) इस जगत में (**न प्रकाशकः**) न प्रकाशक हैं (**च न प्रकाश्यः**) और न प्रकाश्य हैं (**पद्मप्रभ**) हे पद्मप्रभ जिनेन्द्र ! आप (**स्वयं प्रकटः प्रकाशः असि**) स्वयं भासमान प्रकाशरूप हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आत्मा में सुख, वीर्य तथा ज्ञान दर्शन आदि अनेक गुण विद्यमान हैं। इनमें सुख गुण आह्लाद की अनुभूतिरूप होने से आत्मा के अस्तित्व का प्रख्यापक है अतः प्रकाशक है और वीर्य आदि गुण ज्ञान के माध्यम से अनुभव में आते हैं अतः प्रकाश्य हैं, परंतु ज्ञान-दर्शन गुण स्वपरप्रकाशक होने से प्रकाशक और प्रकाश्य-दोनोंरूप हैं। यह गुण और गुणी का भेद व्यवहारनय से होता है, इसलिये कौन गुण कैसा है ? इसकी चर्चा उसी नय से संगत होती है। कारक चक्र की प्रक्रिया भी व्यवहारनय से ही घटित होती है, इसलिये जब आत्मा में प्रकाशन क्रिया के कर्ता की अपेक्षा विचार होता है तब आत्मा प्रकाशक होता है और अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा जब प्रकाशन क्रिया के कर्म की अपेक्षा विचार किया जाता है तब आत्मा प्रकाश्य कहलाता है। निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा कारकचक्र के विकल्प से उत्तीर्ण है अतः वह न कर्ता है और न कर्म है - न प्रकाशक है और न प्रकाश्य है, किन्तु एक सहज प्रकाशरूप है। हे पद्मप्रभ जिनेन्द्र ! आप इसी सहज प्रकाशरूप हैं। निश्चयनय से आत्मवस्तु का कथन कभी गुणीरूप से होता है और कभी गुणरूप से। जैसे आत्मा ज्ञायक है अथवा आत्मा ज्ञानमात्र है। यहाँ गुणरूप से कथन करते हुए पद्मप्रभ जिनेन्द्र को प्रकट प्रकाशरूप कहा गया है। उनका यह प्रकट प्रकाश स्वयं सिद्ध है राग-द्वेषादिक विकारीभाव के समान परसापेक्ष नहीं है।।६।।

अन्योन्यमापिबति वाचकवाच्यसद्यत्
सत्प्रत्ययस्तदुभयं पिबति प्रसह्य।
सत्प्रत्ययस्तदुभयेन न पीयते चेत्
पीतः समग्रममृतं भगवान् सुपार्श्वः।।७।।

अन्वयार्थ :- (**यत्**) जो (**वाचकवाच्यसत्**) वाचक - शब्द और वाच्य-अर्थरूप सत्

(**अन्योन्यम् आपिबति**) एक दूसरे को ग्रहण करता है अर्थात् एक दूसरे पर निर्भर है (**तदुभयं**) उस दोनों प्रकार के सत् को (**सत्प्रत्ययः**) सत् का ज्ञान (**प्रसह्य**) बलपूर्वक (**पिबति**) ग्रहण करता है, परंतु (**तदुभयेन**) वाचक और वाच्यरूप सत् के द्वारा (**सत्प्रत्ययः**) सत् का ज्ञान (**न पीयते**) ग्रहण नहीं किया जाता है (**चेत्**) यदि (**समग्रं अमृतं**) उस वाचक, वाच्य और सत् ज्ञान को यदि (**पीतः**) ग्रहण किया है तो (**भगवान् सुपार्श्वः**) भगवान् सुपार्श्वनाथने ग्रहण किया है।

भावार्थ :- शब्द को वाचक और अर्थ को वाच्य कहते हैं जैसे मुख के द्वारा उच्चरित और कानों के द्वारा श्रूयमाण घट शब्द वाचक है और घट शब्द के द्वारा ग्रहण में आनेवाला बना हुआ (कम्बुग्रीवादिमान्) पदार्थ-घट वाच्य है। ये दोनों ही सत् एक दूसरे के ऊपर निर्भर हैं। घट शब्द उच्चरित होता है तो उसका कोई ग्राह्य अर्थ अवश्य होता है और कोई ग्राह्य पदार्थ है तो वह किसी न किसी शब्द के द्वारा गृहीत अवश्य होता है। इन दो प्रकार के सतोंके अतिरिक्त एक ज्ञानरूप सत् भी होता है `इस उदाहरण में' जैसे घट का ज्ञान इस प्रकार घट शब्द, कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ और घट ज्ञान के भेद से सत् तीन प्रकार का होता है। इनमें शब्द और अर्थरूप सत् जड़ पदार्थ है, अतः वे परस्पर सापेक्ष होने पर भी ज्ञान से रहित हैं और इसी कारण वे ज्ञानरूप सत् को ग्रहण नहीं कर पाते। परंतु ज्ञानरूप सत् उन दोनों - शब्द और अर्थरूप सतों को अपनी स्वच्छता के कारण नियमपूर्वक ग्रहण करता है। यह रही वाचक सत् वाच्य सत् और ज्ञान सत् की बात। भगवान् सुपार्श्वनाथ इन तीनों प्रकार के सत् को ग्रहण करते हैं। वाचक और वाच्य ज्ञान के विषय होने से ज्ञेय ही है परंतु ज्ञान, स्वपर प्रकाशक होने से वह ज्ञान और ज्ञेय दोनोंरूप होता है। तात्पर्य यह है कि भगवान् सुपार्श्वनाथ शब्दसत् अर्थसत् और ज्ञानसत् इन तीनों के ज्ञाता हैं।।७।।

उन्मज्जतीति परितः(परतो) विनिमज्जतीति
मग्नः प्रसह्य पुनरुत्प्लवते तथापि।
अन्तर्निमग्न इति भाति न [१]भाति भाति
चन्द्रप्रभस्य विशदश्चितिचन्द्रिकौघः।।८।।

---

१ भातीति भान् तस्मिन्, अन्यस्मिन् पदार्थे भाति सति न भाति न शोभते इत्यर्थः।

अन्वयार्थ :- संसार के अन्य जीवों का ज्ञान (**परतः**) ज्ञान की उत्पत्ति में साधकस्वरूप इन्द्रिय तथा प्रकाश आदि पर की सहायता से (**उन्मज्जति**) उत्पन्न होता है और ज्ञान की उत्पत्ति में बाधक स्वरूप इन्द्रिय विकार तथा अंधकार आदि प्रतिबंधक कारणों से यद्यपि (**प्रसह्य**) हठात् (**विनिमज्जति**) विनिमग्न हो जाता है तथापि (**मग्नः सत्**) मग्न होने पर भी प्रतिबंधक कारणों का अभाव होने पर (**पुनः**) फिर से (**उत्प्लवते**) उत्पन्न हो जाता है। परंतु (**चन्द्रप्रभस्य**) चन्द्रप्रभ भगवान् का (**विशदः**) निर्मल (**चितिचन्द्रिकौघः**) चैतन्यरूप-ज्ञानरूप चाँदनी का समूह (**अन्तर्निमग्न**) बाह्य कारणों से निरपेक्ष होकर अन्तरङ्ग में ही निमग्न है, अंतरंग कारण से उत्पन्न होता है **[अन्यस्मिन्]** भाति सति न भाति। अन्य पदार्थ के भासित रहते हुए नहीं भासता है (**इति भाति**) इसलिये सदा भासित रहता है।

भावार्थ :- यहाँ क्षायोपशमिक ज्ञान और क्षायिक ज्ञान की विशेषता बतलाते हुए कहा गया है कि संसारी जीवों का क्षायोपशमिक ज्ञान परनिमित्त सापेक्ष होनेसे उत्पन्न होता है और विनिष्ट होता है परंतु चंद्रप्रभ भगवान् का क्षायिक ज्ञान केवल आत्मसापेक्ष होनेसे सदा भासमान रहता है। अर्थात् क्षायिक ज्ञान की उत्पत्ति में ज्ञानावरण कर्म का क्षयरूप अंतरंग कारण ही अपेक्षित रहता है प्रकाश आदि बाह्य कारण नहीं।।८।।

यस्मिन्नवस्थितिमुपैत्यनवस्थितं तत्
तत्स्थः स्वयं सुविधिरप्यनवस्थ एव।
देवोऽनवस्थितिमितोऽपि स एब नान्यः
सोऽप्यन्य एवमतथापि स एव नान्यः।।९।।

अन्वयार्थ :- यह जगत् (**यस्मिन्**) जिस इन्द्रिय सुख में (**अवस्थितिम्**) स्थिरता को (**उपैति**) प्राप्त होता है (**तत्**) वह इन्द्रियसुख (**अनवस्थितं**) अस्थिर है। जगत् ही नहीं, (**तत्स्थः**) उस इन्द्रियसुख में स्थिर रहनेवाले (**स्वयं सुविधिः अपि**) स्वयं सुविधिनाथ भगवान् भी (**अनवस्थ एव**) अस्थिर ही रहे। (**देवः**) सुविधि जिनेन्द्र पर्याय दृष्टि से (**अनवस्थितिम् इतोऽपि**) अनित्यता को प्राप्त होकर भी, द्रव्यदृष्टि से (**स एव**) वही थे। (**अन्यो न**) अन्य नहीं थे और (**सोऽपि**) वह अन्य पदार्थ भी (**अन्यः**) अन्य ही रहा। (**एवं**) इस प्रकार वे (**अतथापि**) तद्रूप न होकर भी (**स एव**) तद्रूप रहे (**अन्यो**

न) अन्यरूप नहीं हुए।

भावार्थ :- संसार के प्राणी इन्द्रिय सुख को स्थायी मानकर उसमें अपना अभिप्राय लगाते हैं पर वह इन्द्रियसुख स्थायी नहीं है, अस्थायी है - देखते देखते नष्ट हो जाता है। और की बात जाने दो सुविधिनाथ भगवान् भी गृहस्थ अवस्था में जब तक उस इन्द्रियसुख में स्थिर रहे तब तक वे स्वयं अस्थिर रहे। अस्थिरता का प्रमाण यही है कि वे अन्तः उस इन्द्रियसुख को छोड़कर आत्मसुख में ही स्थिर हुए। संसार के प्रत्येक पदार्थ पर्याय दृष्टि से अस्थिर हैं, अतः भगवान् सुविधिनाथ भी पर्यायदृष्टि से यद्यपि अस्थिर थे तथापि द्रव्यदृष्टि से वह वही थे, अन्य नहीं थे अर्थात् स्थिर - नित्य थे। इस तरह द्रव्य और पर्यायदृष्टि से भगवान् सुविधिनाथ नित्यानित्यात्मक थे। जिसमें `तद्‌वेदं भाव' - यह वही है ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता रहे वह नित्य कहलाता है और जिसमें `अतद्भाव' - अन्य भाव हो वह अनित्य कहलाता है। सामान्य-तीर्थंकरत्व की अपेक्षा सुविधिनाथ नित्य थे परंतु सराग और वीतराग अथवा छद्मस्थ और सर्वज्ञ की अपेक्षा वे अनित्य थे।।९।।

शून्योऽपि निर्भरभृतोऽसि भृतोऽपि चान्य -
शून्योऽन्यशून्यविभोऽप्यसि नैकपूर्ण्णः।
त्वं नैकपूर्णमहिमाऽपि सदैक एव
कः शीतलेति चरितं तव मातुमीष्टे।।१०।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! आप (**शून्योऽपि**) काम-क्रोधादिविकारी भावों से शून्य होकर भी (**निर्भरभृतः असि**) ज्ञान-दर्शनादि स्वकीय गुणों से अतिशय पूर्ण हैं, (**भृतोऽपि**) स्वकीय गुणपर्यायों से (**भृतोऽपि**) परिपूर्ण होकर भी (**अन्यशून्यः**) अन्य द्रव्य के गुण-पर्यायों से (**शून्यः**) शून्य हैं, (**अन्यशून्यविभवः अपि**) अन्य द्रव्यों से शून्यविभव होकर भी (**नैकपूर्णः**) ज्ञेयरूपता को प्राप्त हुए अनेक द्रव्यों से पूर्ण हैं और (**नैकपूर्णमहिमापि**) अनेक अतिशयों से परिपूर्ण महिमा से युक्त होकर भी (**सदा एक एव**) सदा एक ही हैं (**इति**) इस तरह (**शीतल**) हे शीतल जिनेन्द्र ! (**तव चरितं**) आपके चरित को (**मातुं**) जानने के लिये (**कः ईष्टे**) कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ :- यहाँ शून्यत्व - अशून्यत्व और एकत्व - अनेकत्व भङ्‌गों की अपेक्षा शीतलनाथ जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आप विकारी

भावों से रहित होनेके कारण शून्य हैं तथा स्वकीय ज्ञानदर्शनादि गुणों से सहित होनेके कारण शून्य नहीं हैं। अथवा अन्य द्रव्यों के गुणपर्यायों से रहित होनेके कारण शून्य हैं और ज्ञेय बनकर आत्मा में प्रतिफलित होनेवाले अनेक द्रव्यों तथा उनके गुण पर्यायों से पूर्ण होनेके कारण शून्य नहीं हैं। इसी तरह आप स्वरूप की अपेक्षा अद्वितीय होनेके कारण एक हैं और अनेक अतिशयों से परिपूर्ण महिमा से युक्त होनेके कारण अनेक हैं। यहाँ परस्पर विरोधी भङ्गों का समन्वय स्याद्वाद से होता है।।१०।।

नित्योऽपि नाशमुपयासि न यासि नाशं
नष्टोऽपि सम्भवमुपैषि पुनः प्रसह्य।
जातोऽप्यजात इति तर्कयतां विभासि
श्रेयःप्रभोऽद्भुतनिधान किमेतदीदृक्।।११।।

अन्वयार्थ :- (**अद्भुतनिधानः श्रेयःप्रभो**) हे आश्चर्य के निधानभूत श्रेयोनाथ। आप (**नित्योऽपि**) त्रैकालिक-अनाद्यनन्त ज्ञायकस्वभाव की अपेक्षा नित्य होकर भी (**नाशम् उपयासि**) पर्याय की अपेक्षा नाश को प्राप्त होते हैं। और द्रव्य की अपेक्षा (**नाशं न यासि**) नाश को प्राप्त नहीं होते हैं। (**नष्टोऽपि**) जीवन्मुक्त अरहंत अवस्था की अपेक्षा नष्ट होकर भी (**पुनः**) फिरसे (**प्रसह्य**) हठात् (**सम्भवम्**) मुक्तावस्थारूप जन्म को (**उपैषि**) प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार (**जातोऽपि**) संयोगी पर्याय की अपेक्षा उत्पन्न होकर भी (**अजातः**) शुद्ध आत्मद्रव्य की अपेक्षा उत्पन्न नहीं है (**इति**) ऐसा (**तर्कयताम्**) चिंतन करनेवालों के लिये आप (**विभासि**) विभासित होते हैं। हे प्रभो ! (**एतद् ईदृक् किम्**) यह ऐसा क्यों है ?

भावार्थ :- यहाँ नित्यानित्य नय की अपेक्षा श्रेयान्सनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आप नित्य होकर भी नाश को प्राप्त होते हैं और नाश को प्राप्त होकर भी नाश को प्राप्त नहीं होते हैं। तात्पर्य यह है कि आप अपने ज्ञायकस्वभाव की अपेक्षा नित्य हैं और पर्याय की अपेक्षा नाश को प्राप्त होकर भी द्रव्य की अपेक्षा नाश को प्राप्त नहीं है। नष्ट होकर भी पुनः उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर भी उत्पन्न नहीं होते हैं। फलितार्थ यह है कि आप कारण समयसार अथवा जीवन्मुक्त अवस्था की अपेक्षा नष्ट होकर भी मुक्तावस्था की अपेक्षा पुनः उत्पन्न होते हैं और मुक्तावस्थारूप उत्पन्न होकर भी पुनः अवस्थान्तर को प्राप्त नहीं होते।

इस तरह तर्कणा करनेवाले जीवों के लिए आपका समस्त स्वरूप आश्चर्य का भण्डार मालूम होता है।।११।।

सन्नप्यसन्स्फुटमसन्नपि संश्च भासि
सन्मांश्च सत्त्वसमवायमितो न भासि।
सत्त्वं स्वयंविभव भासि न चासि सत्त्वं
सन्मात्रवस्त्वसि गुणोऽसि न वासुपूज्य।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**वासुपूज्य**) हे वासुपूज्य भगवन् ! आप (**सन्नपि**) सत्‌रूप होकर भी (**स्फुटम्**) स्पष्ट ही (**असन्**) असद् रूप हैं। और (**असन्नपि**) असद्‌रूप होकर भी (**संश्च**) सद्‌रूप (**भासि**) प्रतीत होते हैं। आप (**सन्मान्**) सत् सत्ता से युक्त होकर भी (**सत्त्वसमवायमितः**) सत्त्व के साथ समवाय को प्राप्त (**न भासि**) नहीं मालूम होते हैं। (**विभव**[1]) हे जन्मरहित ! आप (**स्वयं**) स्वयं (**सत्त्वं भासि**) सत्त्वरूप मालूम होते हैं परंतु (**सत्त्वं न चासि**) सत्त्वरूप नहीं हैं। (**सन्मात्रवस्तु असि**) आप सत्तामात्र वस्तु हैं (**गुणो नासि**) गुणरूप नहीं हैं।

भावार्थ :- यहाँ वासुपूज्य भगवान् की स्तुति करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आप सत् होकर भी सत् नहीं हैं अर्थात् द्रव्यदृष्टि से सत् हैं और पर्यायदृष्टि से सत् नहीं है। इसी तरह पर्यायदृष्टि से असत् होकर भी द्रव्यदृष्टि से सत् हैं। आप सत्ता से युक्त होकर भी न्यायदर्शनसम्मत समवाय के अनुसार सत्ता के साथ समवाय को प्राप्त नहीं है। न्यायदर्शन गुण और गुणी को पृथक् मानकर उनके समवाय को स्वीकृत करता है, परंतु जैनदर्शन गुण और गुणी को प्रदेशों की अपेक्षा पृथक् न मानकर उनके त्रैकालिक तन्मयीभाव को स्वीकृत करता है। सत् गुणी है और सत्त्व गुण हैं, चूँकि इनमें प्रदेशभेद नहीं है इसलिये कभी मात्र गुण के द्वारा गुणी का कथन होता है और कभी गुणी के द्वारा गुण का उल्लेख होता है। यहाँ गुण के द्वारा गुणी का कथन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आप सत्त्व - सत्तागुणरूप प्रतीत होते हैं, परंतु मात्र सत्त्व - सत्तागुण नहीं हैं। अपितु सत्तागुण से युक्त हैं। [2]एक विवक्षा से गुण और गुणी के विकल्प को समाप्त कर गुण को ही

१. विगतो भवो जन्म यस्य स विभवः तत्सम्बुद्धौ हे विभव। २. `तत्त्वं सल्लक्षणकं सन्मात्रं वा यतः स्वतःसिद्धम्' - पञ्चाध्यायी १।८।

वस्तु कहा जाता है इस विवक्षा में आप सन्मात्र वस्तु हैं, गुण नहीं हैं, ऐसा कहा गया है।।१२।।

भूतोऽधुना भवसि नैव न वर्तमानो
भूयो भविष्यसि तथापि भविष्यसि त्वम्।
यो वा भविष्यसि स खल्वसि वर्तमानो
यो वर्त्तसे विमलदेव स एव भूतः।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**विमलदेव**) हे विमल जिनेन्द्र ! यद्यपि आप (**अघुना**) इस समय (**भूतो नैव भवसि**) भूत नहीं हैं (**वर्तमानो न**) वर्तमान नहीं हैं और (**भूयो न भविष्यसि**) पुनः भविष्य में नहीं होंगे, तथापि (**त्वं भविष्यसि**) आप भविष्यत् में होंगे। (**वा**) अथवा आप (**यो भविष्यसि**) जो होंगे (**खलु**) निश्चय से (**सः**) वह (**वर्तमानः असि**) वर्तमान है और (**यो वर्तसे**) जो वर्तमान है (**स एव भूतः**) वही भूत है।

भूतार्थ :- हे भगवन् ! आप द्रव्य और पर्यायरूप हैं। इनमें द्रव्य सामान्यरूप है और पर्याय विशेषरूप। द्रव्य अपरिवर्तनीय है, पर्याय परिवर्तनीय है। अपरिवर्तनीय वस्तु में कालचक्र का व्यवहार नहीं होता, अतः जब द्रव्यरूप से आपका विचार किया जाता है तब आप भूत, वर्तमान और भविष्यत् के व्यवहार से रहित सिद्ध होते हैं। परंतु जब पर्यायरूप से आपका विचार करते हैं तब परिवर्तनीय होने के कारण भविष्य में आप अवश्य होंगे। आज भी आप अरहन्त हैं, भविष्य में सिद्ध होंगे, परंतु सिद्ध अवस्था में जो आपका ज्ञायक स्वभाव होगा वह अभी वर्तमान में भी है और भूतकाल में भी था। इस तरह ज्ञायकस्वभाव की अपेक्षा भी आप कालत्रय के व्यवहार से परे हैं।।१३।।

एकं प्रपीतविषमापरिमेयमेय -
वैचित्र्यचित्रमनुभूयत एव देव।
द्वैतं प्रसाधयदिदं तदनन्तशान्त -
मद्वैतमेव महयामि महन्महस्ते।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**अनन्तदेव**) हे अनंतनाथ जिनेन्द्र ! जो (**एकं**) एक होकर भी (**प्रतीतविषमापरिमेयवैचित्र्यचित्रं**) ग्रहण में आये हुए छोटे-बड़े अपरिमित पदार्थों की विचित्रता से नानारूप (**एव**) ही (**अनुभूयते**) अनुभव में आता है। इस तरह प्रमेय की अपेक्षा जो (**द्वैतं प्रसाधयत्**) नानारूपता को सिद्ध करता है, रागद्वेषादि से रहित होनेके कारण (**शांतं**) शांत है, क्षायिकज्ञान - केवलज्ञानरूप पर्याय से युक्त होनेके कारण (**अद्वैतमेव**) एक ही है और लोकालोक में व्यापक होनेसे (**महत्**) महत् रूप है (**ते इदं तत् महः**) आपके इस सम्यग्ज्ञानरूप तेज की मैं (**महयामि**) पूजा करता हूँ।

भावार्थ :- भगवान् अनंत जिनेन्द्र, वीतराग विज्ञानरूप केवलज्ञान को धारण करते हैं। उनका यह केवलज्ञान, ज्ञानपर्याय की अपेक्षा यद्यपि एक है, अद्वैतरूप है, तथापि उसमें प्रतिभासित होनेवाले नाना पदार्थों की अपेक्षा वह द्वैतरूप भी है। उनका यह ज्ञान, रागादि विकारी भावों से रहित होनेके कारण शांतस्वरूप है, अनंत सुख से सम्पन्न है तथा लोकालोक की बात जानने की अपेक्षा महत्‌रूप भी है। इसके अतिरिक्त अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा भी केवलज्ञान उत्कृष्ट अनतानंतरूप होनेसे महत्‌रूप है। अनंतनाथ भगवान् के इस ज्ञानरूप तेज की मैं आराधना करता हूँ।।१४।।

[१]सर्वात्मकोऽसि न च जातु [२]परमात्मकोऽसि
स्वात्मात्मकोऽसि न तवास्त्यपरः स्व आत्मा।
आत्मा त्वमस्य न च धर्मनिरात्मता ते
न च्छिन्नदृक्प्रसररूपतयास्ति सापि।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**धर्म**) हे धर्मनाथ जिनेन्द्र ! आप (**सर्वात्मकः असि**) सर्वात्मक हैं - समस्त पदार्थ आपकी आत्मा में प्रतिबिम्बित हैं, तो भी आप (**परात्मकः**) पररूप (**जातु न असि**) कभी नहीं हैं। (**स्वात्मात्मकः असि**) स्वकीय आत्मस्वरूप हैं, (**अपरः**) अन्य कोई (**तव**) आपका (**स्व आत्मा**) निज आत्मा (**नास्ति**) नहीं है। (**अस्य आत्मा त्वं**) इस आत्मा का स्वरूप तुम्हीं हो, (**निरात्मता**) स्वरूपहीनता आपके मत में नहीं है और (**सापि**) वह स्वरूप सहितता भी (**छिन्नदृक्स्वरूपप्रसररूपतया**) सीमित दर्शनज्ञानरूप से नहीं है।

भावार्थ :- विरोधाभास अलंकार का आश्रय लेकर धर्मनाथ भगवान् का स्तवन

१. सर्वाणि आत्मनि यस्य स सर्वात्मकः। २. पर आत्मा यस्य स परात्मकः पररूपः पक्षे उत्कृष्टात्मा परमात्मेत्यर्थः।

करते हुए कहा है कि आप सर्वात्मक - सर्वरूप होकर भी परात्मक - पररूप कभी नहीं हैं। जो सर्वरूप होगा उसे पररूप होना ही पड़ेगा, यह विरोध है परंतु `सर्वाणि आत्मनि यस्य स सर्वात्मकः' ऐसा समास करने से यह अर्थ निकलता है कि आपकी आत्मा में सर्व पदार्थ हैं अर्थात् आप सर्वज्ञ हैं। इसी तरह `परात्मकः' इस पद का भी `पर उत्कष्ट आत्मा यस्य सः' ऐसा समास करनेसे यह अर्थ निकलता है कि आप परात्मा हैं। परमार्थ से एक द्रव्य अन्यरूप परिणमन नहीं करता, इसलिए कहा गया है कि आप स्वकीय आत्मस्वरूप ही हैं, अन्य-परद्रव्य आपका निज आत्मा नहीं है। आत्मा का एक अर्थ स्वरूप भी होता है अतः आत्मा का स्वरूप जो ज्ञानदर्शन है तद्रूप आप हैं। आत्मा में निरात्मता - स्वरूपहीनता नहीं है अर्थात् स्वरूपसहितता है। परंतु आत्मा की वह स्वरूपसहितता सीमित दर्शन - ज्ञानरूप नहीं है अपितु अनंतदर्शन - ज्ञानरूप है।।१५।।

अन्योन्यवैररसिकाद्भुततत्त्वतन्तु -
स्यूतस्फुरत्किरणकोरकनिर्भरोऽसि।
एकप्रभाभरसुसंभृत शान्त शान्ते
चित्सत्त्वमात्रमिति भास्यथ च स्वचित्ते।।१६।।

अन्वयार्थ :- (**एकप्रभाभरसुसंभृत**) जो अद्वितीय कान्ति के समूह से परिपूर्ण हैं तथा (**शांत**) सातिशय प्रशम गुण से युक्त हैं ऐसे (**शांत**) हे शांति जिनेन्द्र ! आप (**अन्योन्यवैररसिकाद्भुततत्त्वतन्तुस्यूतस्फुरत्किरणकोरकनिर्भरः असि**) पारस्परिक वैरभाव में रस लेनेवाले जीवों को आश्चर्यजनक देदीप्यमान किरणरूप कुड्मलों से सहित हैं अर्थात् आपके शरीर से निकलनेवाली किरणों के प्रभाव से परस्पर विरोधी जीव भी वैरभाव छोड़कर आपस में मिल जाते हैं (**अथ च**) इसके सिवाय आप (**चित्सत्त्वमात्रम्**) ज्ञान के अस्तित्त्वमात्र हैं, (**इति**) इस तरह (**स्वचित्ते**) मेरे चित्त में (**भासि**) प्रतिभासित हो रहे हैं।

भावार्थ :- यहाँ शांतिनाथ भगवान् का स्तवन करते हुए कहा गया है कि उनके शरीर से निकलनेवाली किरणों के प्रभाव से परस्परविरोधी जीव भी अपना वैरभाव भूल जाते थे। वे शांत थे, और रागादिक का विकल्प समाप्त हो जानेसे ज्ञानमात्र थे अर्थात् उनका ज्ञान ज्ञान में - ही प्रतिष्ठित हो गया था।।१६।।

यान्ति क्षणक्षयमुपाधिवशेन भेद -
मापद्य चित्रमपि चारचयन्त्यचित्रे।
कुन्थो ! स्फुटन्ति घनसंघटितानि [ता हि] नित्यं
विज्ञानधातुपरमाणव एव नैव ।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**कुन्थो** !) हे कुन्थुनाथ जिनेन्द्र ! (**विज्ञानधातुपरमाणवः**) आपके केवलज्ञानरूप धातु के अविभागी प्रतिच्छेद यद्यपि अगुरुलघु गुण के कारण (**क्षणक्षयं यान्ति**) क्षण-क्षण में नश्वरता को प्राप्त हो रहे हैं (**च**) और (**अचित्रे**) विविधरूपता से रहित अपने आपमें (**उपाधिवशेन**) ज्ञेयरूप उपाधि के कारण (**भेदम् आपद्य**) भेद प्राप्त कराकर (**चित्रमपि आरचयन्ति**) विविधरूपता को भी उत्पन्न कर रहे हैं तथापि (**हि**) निश्चय से (**नित्यं**) निरंतर (**घनसंघटितानि [ता हि] एव**) अत्यंत संघटित रूप ही होनेसे (**नैव स्फुटन्ति**) पृथक्-पृथक् नहीं होते हैं।

भावार्थ :- असंख्यात प्रदेशी आत्मा का केवलज्ञान गुण भी असंख्यात प्रदेशी है और एक-एक प्रदेशगत केवलज्ञान के अनंत अनंत अविभाग प्रतिच्छेद हैं। यद्यपि केवलज्ञान के वे अविभाग प्रतिच्छेद सामान्यरूप से अविनाशी हैं तथापि अगुरुलघु गुण के कारण षड्गुणी हानि-वृद्धि होते रहने से समय-समय में क्षय को प्राप्त हो रहे हैं। सामान्यतया केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद ज्ञेय से रहित होने के कारण अचित्र हैं - एक रूप हैं तो भी घटपटादि ज्ञेयरूप उपाधि के कारण वे अनेक मालूम होते हैं। जैसे दर्पण अपने स्वच्छस्वरूप से एकरूप होकर भी घटपटादि नाना पदार्थों के प्रतिबिम्ब से नानारूप मालूम होने लगता है। केवलज्ञान के वे प्रदेश परस्पर संघटित ही रहते हैं अतः बालूदार पत्थर के कणों के समान कभी भी बिखरकर अलग-अलग नहीं होते हैं। गुण और गुणी का त्रैकालिक अखण्ड तादात्म्य सम्बन्ध रहता है।।१७।

एकोऽप्यनेक इति भासि न चास्यनेक
एकोऽस्यनेकसमुदायमयः सदैव।
नानेकसञ्चयमयोऽस्यसि चैक एक -
स्त्वं चिच्चमत्कृतिमयः परमेश्वरार।।१८।।

अन्वयार्थ :- (**अर परमेश्वर** !) हे अर जिनेन्द्र ! आप (**एकः अपि**) द्रव्यदृष्टि से एक हो कभी (**अनेक इति भासि**) पर्यायदृष्टि से अनेक मालूम होते हैं परंतु (**अनेकः न च असि**) परमार्थ से अनेक नहीं हैं। (**सदैव**) हमेशा ही अनेक (**समुदायमयः**) अनेक पर्यायों के समुदायरूप (**एकः असि**) एक हैं। (**अनेकसंचयमयः न असि**) अनेक पर्यायों के संग्रहरूप भी नहीं हैं, किन्तु (**एकः**) एक ही हैं। इस प्रकार (**त्वम्**) आप (**एकः चिच्चमत्कृतिमयः असि**) चैतन्य चमत्कार से तन्मय एक हैं।

भावार्थ :- यहाँ अरनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहा गया है कि आप आत्मद्रव्य की अपेक्षा यद्यपि एक हैं तथापि ऊर्ध्वता सामान्य के कारण कालक्रम से होनेवाली अनेक पर्यायों की अपेक्षा अनेक हैं। परंतु परमार्थ से वे अनेक पर्यायें क्या द्रव्य में सदा विद्यमान रहती हैं ? नहीं रहतीं, एक काल में द्रव्य एक ही पर्याय से युक्त होता है, अतः वर्तमान पर्याय की अपेक्षा आप एक हैं, इतना अवश्य है कि आप वह एक आत्मद्रव्य है जो अनेक पर्यायों के समुदायरूप है। एक द्रव्य को अनेक पर्यायों के समुदायरूप कहना शक्ति की अपेक्षा ही बनता है अर्थात् द्रव्य, अपनी शक्ति से भूतकाल में अनंत पर्याय धारण कर चुका है और भविष्यत्काल में अनंत पर्याय धारण करेगा, परंतु व्यक्तिरूप से द्रव्य, अनेक पर्यायों के संचयरूप न होकर एक पर्यायरूप ही होता है। इस दृष्टि से आप एक ही हैं। पर्यायें, एक अनेक भूत वर्तमान तथा भविष्यत् काल का विकल्प उत्पन्न करती हैं अतः उनकी ओर से दृष्टि हटाकर जब त्रैकालिक - अनाद्यनंत ज्ञायक स्वभाव की अपेक्षा विचार करते हैं तब आप एक चैतन्य चमत्कार से तन्मय ही हैं।।१८।।

निर्दारितोऽपि घटसे घटितोऽपि दारं
प्राप्नोषि दारणमितोऽप्यसि निर्विभागः।
भागोज्झितोऽपि परिपूर्तिमुपैषि भागै -
निर्भाग एव च चिता प्रतिभासि मल्ले।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**मल्ले** !) हे मल्लिनाथ जिनेन्द्र ! आप (**निर्दारितोऽपि**) गुण-गुणी की अपेक्षा भेदरूप होकर भी (**घटसे**) प्रदेशभेद न होनेसे अभेदरूप हैं, (**घटितोऽपि**) अभेदरूप होकर भी (**दारं प्राप्नोषि**) भेद को प्राप्त होते हैं - गुण की अपेक्षा अभेदरूप होकर भी गुणांशों की अपेक्षा भेदरूप हैं तथा गुणांशों की अपेक्षा (**दारणम् इतोऽपि**)

भेद को प्राप्त होकर भी (निर्विभागः असि) विभाग रहित हैं - आपके वे गुणांश पृथक्त्व से रहित हैं। (भागोज्झितोऽपि) भाग से रहित होकर भी (भागेः परिपूर्तिम् उपैषि) भागों के द्वारा ही पूर्णता को प्राप्त होते हैं, (च चिता निर्विभाग एव प्रतिभासि) और चैतन्य ज्ञायक स्वभाव की अपेक्षा निर्भाग - भागरहित ही प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ :- देश, देशांश, गुण और गुणांश ये चार तत्त्व हैं। द्रव्य को देश, उसके प्रदेशों को देशांश, द्रव्य के गुणों को गुण और उनके अविभागी प्रतिच्छेदों को गुणांश कहते हैं। आत्मा एक देशद्रव्य है, उसके असंख्यात देशांत-प्रदेश हैं, उसमें ज्ञान-दर्शनादि अनेक गुण हैं और उन गुणों के अनंत गुणांश-अविभाग प्रतिच्छेद हैं। आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है, अतः वह अपने असंख्य प्रदेशों से कभी भी खण्डरूप नहीं होता। समुद्घात के समय भी उसके समस्त प्रदेश परस्पर सम्बद्ध ही रहते हैं, बालू के कणों के समान पृथक्-पृथक् नहीं होते। हे मल्लि जिनेन्द्र ! यद्यपि प्रदेश और प्रदेशवान् की अपेक्षा आप भेद को प्राप्त हैं तथापि उनमें पृथक्त्व न होनेसे आप अभेदरूप ही हैं। गुण और गुणी में प्रदेशभेद नहीं है, इसलिये आप अभेदरूप होकर भी संज्ञा, संख्या, लक्षण आदि की अपेक्षा भेद होनेसे भेदरूप हैं। गुणों की अपेक्षा भेदरूपता को प्राप्त होकर भी आप गुणांशों की अविवक्षा में अभेदरूप हैं, परंतु एक एक गुण के अनंत-अनंत अविभागी प्रतिच्छेदों की अपेक्षा जब विचार करते हैं तब आप उन अनंत-अविभागी प्रतिच्छेदों के द्वारा ही पूर्णता को प्राप्त होते हैं, ऐसा अनुभव में आता है। परमार्थ से देश, देशांश, गुण और गुणांशों का विकल्प आत्मा में नहीं है अतः आप एक चैतन्य गुण से ही तन्मय हैं, यह कहना उपयुक्त है।।१९।।

उत्पादितोऽपि मुनिसुव्रत रोपितस्त्व-
मारोऽपितोऽप्यसि समुद्घृत एव नैव।
नित्योल्लसन्निरवधिस्थिरबोधपाद-
व्यानद्धकृत्स्नभुवनोऽनिशमच्युतोऽसि।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**मुनिसुव्रत**) हे मुनिसुव्रतनाथ ! (**त्वम्**) आप अशुभोपयोग से (**उत्पाटितोऽपि**) दूर हटाये जानेपर भी शुभोपयोग में (**रोपितः**) अधिरूढ़ हुए, परंतु शुभोपयोग में (**आरोऽपितोऽपि**) आरूढ़ होनेपर भी (**समुद्घृत एव न असि**) संसारसागर से समुद्धृत नहीं हो सके। जब आप (**अनिशं**) निरंतर (**नित्योल्लसन्निरवधिस्थिरबोधपादव्यानद्धकृत्स्नभुवनः**)

नित्य ही उपयोगरूप से उल्लसित अनंत केवलज्ञान की किरणों से समस्त लोक को व्याप्त करनेवाले हुए तभी (**अच्युतः**) परमधाम से अच्युत (**असि**) हुए हैं।

भावार्थ :- जिनागम में उपयोग के तीन भेद बतलाये हैं - (१) अशुभोपयोग, (२) शुभोपयोग और (३) शुद्धोपयोग। विषयप्राप्ति के अभिप्राय को लिए हुए कषाय की जो तीव्र परिणति है उसे अशुभोपयोग कहते हैं। विषय कषाय की निवृत्ति के अभिप्राय को लिये हुए देवपूजा, पात्रदान आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करानेवाली जो मंदकषायरूप परिणति है उसे शुभोपयोग कहते हैं और शुभ तथा अशुभ के विकल्प से निवृत्त आत्मा की जो अत्यंत मंदकषायरूप अथवा कषाय के अभावरूप जो परिणति है उसे शुद्धोपयोग कहते हैं। करणानुयोग की पद्धति के अनुसार प्रथम से लेकर तृतीय गुणस्थान तक तारतम्यसे घटता हुआ अशुभोपयोग होता है। चतुर्थ से लेकर षष्ठ गुणस्थान तक तारतम्य से बढ़ता हुआ शुभोपयोग होता है और सप्तमादि गुणस्थानों में शुद्धोपयोग होता है। यह जीव जब मिथ्यात्व से हटकर सम्यक्त्व अवस्था में आता है तब अशुभोपयोग उत्पादित होकर शुभोपयोग में रोपित कहलाता है परंतु शुभोपयोगरूप परिणाम मुक्ति का साक्षात् कारण नहीं है अतः देवायु आदि पुण्य-प्रकृतियों के बंध में पड़ जानेसे यह जीव समुद्धृत-संसार सागर से पार नहीं हो पाता। शुभोपयोगरूप परिणाम के अनंतर यह जीव मोहनीय कर्म की सत्ता को लिए हुए यदि उपशम-श्रेणीपर आरूढ़ होता है तो वहाँ से च्युत होकर नीचे आता है और इसी बीच में यदि मृत्यु हो गयी तो सागरों-पर्यंत के लिये देवशरीर में रुक जाता है। जब क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होकर दशमगुणस्थान के अंततक मोहनीय कर्म की सत्ता का नाश करता हुआ बारहवें गुणस्थान में पहुँचता है और शुक्लध्यान के द्वितीय पाद के प्रभाव से ६३ कर्म-प्रकृतियों का क्षय कर तेरहवें गुणस्थान में आरूढ़ होता है तब लोकालोकावभासी केवलज्ञान के द्वारा समस्त जगत् को व्याप्त करता हुआ - जानता हुआ सचमुच ही अच्युत होता है - वहाँ से च्युत होकर नीचे नहीं आता तथा कम-से-कम अंतर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक देशोन कोटिवर्ष पूर्व के बाद नियम से मोक्षमहल में आरूढ़ होता है। इस श्लोक में श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान् का स्तवन करते हुए कहा गया है कि हे भगवान् ! आप अशुभयोग से हटकर शुभोपयोग में अधिरूढ़ हुए, पर उतने मात्र से संसार सागर से पार नहीं हो सके। जब शुद्धोपयोग में आरूढ़ होकर यथाक्रम से केवलज्ञान को प्राप्त हुए तभी परमार्थ से अच्युत हो सके।।२०।।

विष्वक्ततोऽपि न ततोऽस्य[१]ततोऽपि नित्य-
मन्तःकृतत्रिभुवनोऽसि तदंशगोऽसि।
लोकैकदेशनिभृतोऽपि नमे त्रिलोकी-
माप्लावयस्यमलबोधसुधारसेन।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**नमे**) हे नमिनाथ जिनेन्द्र आप केवलज्ञान की अपेक्षा (**विष्वक् ततोऽपि**) समस्त लोकालोक में व्याप्त होकर भी (**ततः न असि**) आत्मप्रदेशों की अपेक्षा व्याप्त नहीं हैं और (**अततोऽपि**) व्याप्त न होकर भी (**नित्यं**) निरंतर (**अंतःकृतत्रिभुवनः असि**) ज्ञान ज्ञेय सम्बन्ध से तीनों लोकों को अंतर्गत करनेवाले हैं। आप (**तदंशगः असि**) लोक के एक अंश - असंख्येयभाग में स्थित हैं और (**लोकैकदेशनिभृतः अपि**) लोक के एक देश में स्थिर होकर भी (**अमलबोधसुधारसेन**) निर्मल केवलज्ञानरूप अमृतरस के द्वारा (**इमां त्रिलोकीम्**) इस लोकत्रय को (**आप्लावयसि**) आप्लुत करते हैं।

भावार्थ :- नमिनाथ भगवान् का स्तवन करते हुए कहा गया है कि आप केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोकालोक को जानते हैं, इसलिए `णाणं णेयपमाणं' - `ज्ञान ज्ञेय के प्रमाण हैं' इस सिद्धांत के अनुसार आप सर्वत्र व्याप्त हैं परंतु आपके आत्मप्रदेश लोक के असंख्येयभाग में ही स्थित हैं, सर्वत्र व्याप्त नहीं हैं तथापि आपके केवलज्ञान में तीनों लोक अंतःप्रतिफलित हो रहे हैं। अरहन्त अवस्था में आप मध्य लोक में और सिद्ध अवस्था में लोकान्त शिखरपर स्थित हैं, तो भी केवलज्ञानरूप सुधा के द्वारा आप लोकत्रितय को तर करते रहते हैं। फलितार्थ यह है कि आप व्याप्ताव्याप्त विरोधी धर्मों से सहित हैं अर्थात् व्याप्त भी हैं और अव्याप्त भी हैं। ज्ञान की अपेक्षा व्याप्त हैं और आत्मप्रदेशों की अपेक्षा अव्याप्त हैं।।२१।।

बद्धोऽपि मुक्त इति भासि न चासि मुक्तो
बद्धोऽसि बद्धमहिमापि सदासि मुक्तः।
नो बद्धमुक्तपरतोऽस्यसि मोक्ष एव
मोक्षोऽपि नासि चिदसि त्वमरिष्टनेमे।।२२।।

---

[१] ततः असि अततः इति पदच्छेदः

अन्वयर्थ :- (**अरिष्टनेमे** !) हे अरिष्टनेमि जिनेन्द्र ! आप (**बद्धोऽपि मुक्त इति भासि**) बद्ध होकर भी मुक्त प्रतिभासित होते हैं, परंतु (**मुक्तः न च असि**) मुक्त नहीं हैं। यद्यपि (**बद्धोऽसि**) शरीर से बद्ध हैं और (**बद्धमहिमापि**) अष्टप्रातिहार्यरूप महिमा से भी बद्ध हैं तथापि (**सदा मुक्तः असि**) सदा मुक्त हैं, इस तरह (**बद्धमुक्तपरतो नो असि**) बद्ध और मुक्त से परे नहीं हैं अर्थात् बद्ध भी हैं और मुक्त भी हैं। अथवा आप (**मोक्ष एव असि**) मोक्षरूप ही हैं परंतु परमार्थ से (**मोक्षोपि नासि**) मोक्षरूप भी नहीं हैं (**त्वम्**) आप तो (**चिद् असि**) एक चैतन्यरूप हैं।

भावार्थ :- मुक्त चार प्रकार के कहे गये हैं - १. दृष्टिमुक्त, २. मोहमुक्त, ३. जीवन्मुक्त और ४. कर्मुक्त। जो जीव, दर्शन मोहोदयजनित मिथ्यादृष्टि अवस्था से मुक्त होकर सम्यग्दृष्टि अवस्था को प्राप्त होता है वह दृष्टिमुक्त कहलाता है। जो दशम गुणस्थान के अंत तक मोहनीयकर्म की समस्त प्रकृतियों का क्षय कर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान को प्राप्त हुआ है वह मोहमुक्त कहलाता है। जो ६३ कर्मप्रकृतियों से रहित होकर अरहन्त अवस्था को प्राप्त हुआ है वह तेरहवें - चौदहवें गुणस्थान में रहनेवाला जीव जीवन्मुक्त कहलाता है और जो समस्त कर्मप्रकृतियों की सत्ता से छूट जाता है वह कर्ममुक्त कहलाता है। यहाँ अरिष्टनेमि जिनेन्द्र का स्तवन करते हुए कहा गया है कि यद्यपि आप मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनंतानुबंधी चतुष्क इन सात प्रकृतियों के अतिरिक्त १४१ प्रकृतियों से बद्ध हैं तथापि दृष्टिमुक्त की अपेक्षा मुक्त हैं। इस तरह आप मुक्त तो हैं पर मोहनीयकर्म की शेष प्रकृतियों से युक्त होनेके कारण आप परमार्थ से मुक्त नहीं हैं। आगे चलकर आप मोहमुक्त होनेपर भी अन्य कर्मप्रकृतियों से बद्ध हैं तथा अष्ट प्रातिहार्यरूप बाह्य महिमा से बद्ध हैं इसलिए परमार्थ से बद्ध ही हैं मुक्त नहीं, तथापि ६३ कर्मप्रकृतियों से मुक्त हो जानेके कारण आप जीवन्मुक्त कहलाते हैं। इस तरह आप बंध और मोक्ष से परे नहीं हैं, अरहन्त अवस्था तक बद्ध और मुक्त दोनों हैं। सिद्धावस्था में समस्त कर्मों का सम्बन्ध छूट जानेसे आप परमार्थ से सदाके लिए मुक्त होते हैं। यह बद्ध और मुक्त का विभाग व्यवहारनय के आश्रित है। निश्चयनय सब द्रव्यों को स्वतंत्र स्वीकृत करता है इसलिये उसकी दृष्टि में बंधतत्त्व नहीं है। जब बंधतत्त्व ही नहीं है तब मोक्षतत्त्व कहाँ से आवेगा ? इस प्रकार आप बंध और मोक्ष, इन दोनों से रहित हैं। एक सामान्य चित्स्वरूप हैं[1] ।।२२।।

१. बंधश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतुर्बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता।। - स्वयंभूस्तोत्रे समन्तभद्रस्य

भ्रान्तोऽप्यविभ्रममयोऽसि सदाभ्रमोऽपि
साक्षाद् भ्रमोऽसि यदि वाभ्रम एव नासि।
विद्यासि साप्यसि न पार्श्व जडोऽसि नैवं
चिद्भारभास्वररसातिशयोऽसि कश्चित्।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**पार्श्व**) हे पार्श्वजिनेन्द्र आप (**भ्रान्तोऽपि अविभ्रममयः असि**) भ्रान्त होकर भी अविभ्रममय हैं और (**सदा अविभ्रमोऽपि सन्**) सदा भ्रमरहित होकर भी (**साक्षाद् भ्रमः असि**) साक्षात् भ्रमरूप हैं। (**यदि वा**) अथवा (**भ्रम एव नासि**) वस्तुस्वभाव की अपेक्षा आप भ्रमरूप नहीं ही हैं। आप तो (**विद्या असि**) केवलज्ञानरूप हैं। अथवा (**सापि न असि**) अनादि-अनंत न होनेके कारण आप केवलज्ञान भी नहीं हैं। तो क्या जड़ हैं ? (**जडः न असि**) जड - अज्ञानरूप नहीं हैं, (**एवं**) इस प्रकार (**चिद्भारभास्वररसातिशयः कश्चित् असि**) चैतन्यसमूह के देदीप्यमानउपयोगात्मक रस के अतिशय से परिपूर्ण कोई चेतन द्रव्य हैं।

भावार्थ :- हे पार्श्वनाथ भगवन् ! यद्यपि चारित्रमोह के उदय में होनेवाले रागादिभावों की अपेक्षा आप भ्रान्त हैं, दीक्षाग्रहण के पूर्व गृहस्थावस्था के चक्र में पड़े हुए हैं तथापि दर्शनमोहजनित विकार के निकल जानेसे आप विभ्रम रहित हैं - रागादि विकार यद्यपि आपकी पर्याय में विद्यमान हैं तथापि श्रद्धापेक्षया उनका स्वामित्व आपमें नहीं है। इस तरह दर्शन मोहजनित भ्रम का अभाव हो जाने तथा साथ ही अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी विकार से निवृत्त हो जानेपर भी आप संज्वलन चतुष्क के उदय में होनेवाले विकारी भावों से प्रमत्त और अप्रमत्त अवस्था के काल में हिंडोला में झूलते हुए यद्यपि भ्रमरूप रहते हैं तथापि उस भ्रम के प्रति आपका स्वामित्व नहीं है और आपकी आत्मा में इसी बात का पुरुषार्थ चलता है कि मैं इस सरागपरिणति से मुक्ति प्राप्त करूँ। इस पुरुषार्थ की ओर दृष्टि देनेपर आप भ्रमरूप नहीं हैं यह निश्चय होता है। क्रम से पुरुषार्थ के सफल होनेपर आप वीतराग होते हैं तथा इस वीतरागता के फलस्वरूप अंतर्मुहूर्त के भीतर केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं। इस तरह आप केवलज्ञानरूप हैं। परंतु अहो ! जब इस ओर दृष्टि जाती है कि केवलज्ञान तो ज्ञानगुण की एक पर्याय है, वह शुद्धज्ञान अवश्य है परंतु त्रैकालिक अनादि अनंत नहीं है, इसके विपरीत सादि अनंत है, तब आप उस केवलज्ञानरूप नहीं हैं। क्षायोपशमिक

ज्ञान से बारहवें गुणस्थान तक पहुँच चुके, तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्रकट हुआ। प्रतीत होता है उसे स्वीकृत नहीं किया जा रहा है तो क्या जड़रूप हैं ? नहीं भाई, अनादि अनंत जो चैतन्य ज्ञायकस्वभाव है, तद्रूप आप हैं। इस प्रकार आप वचनागोचर कोई अद्‌भुत पुरुष हैं।।२३।।

आत्मीकृताचलितचित्परिणाममात्र-
विश्वोदयप्रलयपालनकर्तृ कर्तृ।
नो कर्तृ बोद्‌धृ न च वोदयि बोधमात्रं
तद्‌वर्धमान तव धाम किमद्‌भुतं नः।।२४।।

अन्वयार्थ :- जिसने (**आत्मीकृताचलितचित्**) अविनाशी चैतन्यज्योति को आत्माधीन किया है, जो (**परिणाममात्रविश्वोदयप्रलयपालनकर्तृ**) परिणमन मात्र की अपेक्षा समस्त वस्तुओं के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को करनेवाला है, जो (**कर्तृ**) ज्ञप्ति क्रिया का कर्त्ता है अथवा जो (**नोकर्तृ न च बोद्‌धृ**) न कर्त्ता है, न बोद्धा है, किन्तु (**उदयि बोधमात्रं**) अभ्युदय से युक्त ज्ञानमात्र है, (**वर्धमान**) हे वर्धमान जिनेन्द्र ! (**तव**) आपका (**तद् धाम**) वह सम्यग्ज्ञानरूप तेज (**किम्**) क्या है ? यह (**नः अद्भुतं**) हमारे लिये आश्चर्य की वस्तु है।

भावार्थ :- यहाँ भगवान् वर्धमान स्वामी के उस ज्ञानरूप तेज को आश्चर्यकारक बतलाया गया है जिसने अविनाशी चैतन्य ज्योति को आत्मरूप कर लिया है। उस चैतन्य ज्योति के पूर्व जो क्षायोपशमिक चैतन्य ज्योति प्राप्त थी वह चलित थी - विनश्वर थी परंतु केवलज्ञानरूप ज्योति अविनाशी है - अनंत काल तक विद्यमान रहनेवाली है। संसार के समस्त पदार्थों में उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप परिणमन होता है, उस परिणमन को केवलज्ञान जानता है इसलिये उपचार से वह उनका कर्ता कहलाता है। केवलज्ञान पदार्थ को जानता है इस तरह जब करण कारक में कर्तृकारक की विवक्षा की जाती है तब उस ज्ञप्ति क्रिया का कर्ता केवलज्ञान होता है। परंतु जब आत्मा केवलज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानता है तब आत्मा में कर्तृकारक और केवलज्ञान में कारण कारक की विवक्षा की जाती है तब केवलज्ञान ज्ञप्ति क्रिया का कर्ता नहीं है, इसके विपरीत आत्मा कर्ता है और केवलज्ञान करण। इसी विवक्षा के अनुसार केवलज्ञान बोद्धा - जानने वाला नहीं है किन्तु उसके स्थानपर आत्मा बोद्धा है। वह केवलज्ञानरूप

धाम अष्ट प्रातिहार्यरूप अभ्युदय से सहित है तथा अष्ट प्रातिहार्यों के अतिरिक्त केवलज्ञान के समय प्रकट होनेवाले दश अतिशयों से परिपूर्ण है। केवलज्ञान, ज्ञानगुण की एक पर्याय है जो कि सादि अनंत है। जब इस पर्यायरूप विशेष से दृष्टि हटाकर सामान्य की ओर ले जाते हैं तब केवलज्ञान, केवलज्ञान न कहला कर सामान्य ज्ञान कहलाता है। हे वर्धमान जिनेन्द्र ! आपका यह तेज क्या है ? यह हम छद्मस्थों के लिये आश्चर्य की वस्तु है।।२४।।

ये भावयन्त्यविकलार्थवतीं जिनानां
नामावलीममृचंद्रचिदेकपीताम्।
विश्वं पिबन्ति सकलं किल लीलयैव
पीयन्त एव न कदाचन ते परेण।।२५।।

अन्वयार्थ :- (**ये**) जो भव्य जीव (**अमृतचंद्रचिदेकपीतां**) अमृतचंद्रसूरि के ज्ञान के द्वारा गृहीत (**अविकलार्थवतीं**) परिपूर्ण अर्थसे युक्त (**जिनानां**) ऋषभादि तीर्थंकरों की (**नामावलीं**) नामावलीरूप इस स्तुति का (**भावयन्ति**) चिंतन करते हैं वे (**किल**) निश्चय से (**लीलया एव**) अनायास ही (**सकलं विश्वं पिबन्ति**) समस्त विश्व को ग्रहण करते हैं - सर्वज्ञ हो जाते हैं और (**ते**) वे (**कदाचन**) किसी भी समय (**परेण**) कर्म-नोकर्मरूप परद्रव्य के द्वारा (**नैव पीयन्ते**) नहीं ग्रहण किये जाते अर्थात् कर्मबन्धनसे छूट जाते हैं।

भावार्थ :- वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्रों की स्तुति का फल स्वयं वीतराग और सर्वज्ञ बन जाना है। इस स्तोत्र में ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरों के नाम का उल्लेख करते हुए स्तवन किया गया है इसलिए इसे `नामावली' स्तोत्र कहते हैं। जो भव्य जीव इसकी भावना करते हैं - इसमें प्रतिपादित जिनेन्द्र गुणों का नयविवक्षा के अनुसार चिंतन करते हैं वे स्वयं सर्वज्ञ बन कर समस्त पदार्थों को अनायास जानने लगते हैं और रागादि विकारी भावों से रहित होकर वीतराग बन जाते हैं। वीतराग बननेपर कर्मबंधन से छूट जाते हैं।।२५।।

ॐ

(२)

तेजः स्पृशामि तव तद् दृशिबोधमात्र-
मन्तर्बहिर्ज्वलदनाकुलमप्रमेयम्।
चैतन्यचूर्णभरभावितवैश्वरूप्य-
मप्यत्यजत् सहजमूर्जितमेकरूपम्।।१।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! मैं (**तव**) आपके (**अन्तर्बहिर्ज्वलत्**) अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाशमान (**अनाकुलम्**) आकुलता से रहित तथा (**अप्रमेयम्**) अपरिमित-अनंत (**तत्**) उस (**दृशिबोधमात्रम्**) दर्शन और ज्ञानरूप (**तेजः**) तेज का (**स्पृशामि**) स्पर्श करता हूँ - उसकी श्रद्धा करता हूँ, जो (**चैतन्यचूर्ण भरभावितवैश्वरूप्यम्**) जानने देखनेरूप चैतन्य तत्त्व के कारण प्राप्त विविधरूपता को (**अत्यजत् अपि**) नहीं छोड़ता हुआ भी (**एकरूपम्**) एकरूप है, (**सहजम्**) स्वाभाविक है और (**ऊर्जितम्**) अनंत बल से सम्पन्न है।

भावार्थ :- यहाँ अनंत गुणों के पुञ्जस्वरूप अरहन्त भगवान् के ज्ञान दर्शन गुणों का स्तवन किया गया है, क्योंकि स्वपरप्रकाशक होनेसे ये दो गुण समस्त गुणों में प्रमुख हैं। अंतर्मुख चित् प्रकाशक को दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाशको ज्ञान कहते हैं। प्रारम्भ से लेकर दशम गुणस्थान तक के जीवों का ज्ञान-दर्शन राग का सद्भाव होनेसे आकुलता से परिपूर्ण रहता है और ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव का ज्ञान-दर्शन यद्यपि रागादि से रहित होनेके कारण आकुलता से परिपूर्ण नहीं है तथापि ज्ञानावरण और दर्शनावरण का उदय होनेसे पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण दर्शन के अभाव में आकुलता से पूर्ण है - अनंत सुख का कारण नहीं है। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवों का ज्ञान दर्शन अपरिमित और अनंत होता है तथा पूर्णता को प्राप्त हो जाने के कारण अनाकुलरूप होता है। इन गुणस्थानों में अनंत सुख भी प्रकट हो जाता है, इसलिए इन गुणस्थानवर्ती जीवों का ज्ञान दर्शन अनंत सुख से सम्पन्न होता है। ज्ञान और दर्शन, चेतना गुण के परिणमन हैं। अपनी स्वच्छता के कारण चेतना गुण में लोक अलोक के अनंत पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं अर्थात् आत्मा

के ज्ञायक स्वभाव के कारण वे ज्ञेय बनकर आते हैं। उन अनंत ज्ञेयों की अपेक्षा जब विचार होता है तब वे ज्ञान दर्शन अनंतरूप प्रतीत होते हैं परंतु जब सामान्य चेतना गुण की अपेक्षा विचार होता है तब एकरूप प्रतीत होते हैं। अरहन्त भगवान् के ज्ञान दर्शन सहजस्वभाविक हैं और अर्जित-अनंत बलसे सम्पन्न हैं।

ये निर्विकल्पसविकल्पमिदं महस्ते
सम्भावयन्ति विशदं दृशिबोधमात्रम्।
विश्वं स्पृशन्त इव ते पुरुषं पुराणं
विश्वाद्विभक्तमुदितं जिन निर्विशन्ति।।२।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**ये**) जो मनुष्य (**निर्विकल्पसविकल्पं**) विकल्परहित और विकल्पसहित (**विशदं**) निर्मल (**दृशिबोधमात्रम्**) दर्शन और ज्ञानरूप (**ते**) आपके (**इदं**) इस (**महः**) तेज की (**सम्भावयन्ति**) श्रद्धा करते हैं (**ते**) वे (**विश्वं स्पृशन्त इव**) मानों समस्त लोक-अलोकरूप विश्व का स्पर्श करते हुए (**विश्वाद् विभक्तं**) समस्त विश्व से पृथक् (**उदितं**) परमात्म अवस्था को प्राप्त (**पुराणं**) अनाद्यनन्त (**पुरुषं**) शुद्ध आत्मा को (**निर्विशन्ति**) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :- आगम में दर्शन को निर्विकल्प-घटपटादि के विकल्प से रहित और ज्ञान को सविकल्पघटपटादि के विकल्प से सहित माना गया है। ज्ञान और दर्शन दोनों ही क्षायोपशमिक और क्षायिक के भेद से दो प्रकार के होते हैं। इनमें क्षायोपमिक ज्ञान और दर्शन क्रमवर्ती होने से पूर्ण विशद नहीं है परंतु क्षायिक ज्ञान और दर्शन केवलज्ञान और केवलदर्शन अक्रमवर्ती होनेसे पूर्ण विशद हैं। हे भगवन् ! आप इन्हीं पूर्ण ज्ञान और पूर्ण दर्शन को प्राप्त हुए हैं। जो भव्य जीव आपके इस ज्ञान-दर्शनरूप स्वभाव की श्रद्धा करते हैं वे स्वयं सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हुए समस्त विश्व को जानते देखते हैं। समस्त विश्व को जानना देखना मानों समस्त विश्व का स्पर्श करना है। लोक और अलोक को विश्व कहते हैं, जहाँ षड्द्रव्यों का समूह रहता है उसे लोक कहते हैं और जहाँ मात्र आकाश रहता है उसे आलोक कहते हैं। ज्ञान की अपेक्षा यद्यपि यह जीव समस्त विश्व को जानता है और उसी अपेक्षा से लोकालोक में व्यापक कहलाता है तथापि आत्मप्रदेशों की अपेक्षा विश्व से पृथक् है - अपना अस्तित्व अलग रखता है। जो परमात्मपद को प्राप्त हो चुकता है उसे उदित कहते

हैं। परमात्मा अनाद्यनन्त होता है। आपके ज्ञान दर्शन स्वभाव के प्रति श्रद्धा प्रकट करता हुआ जब यह जीव अपने स्वभाव की ओर लक्ष्य करता है तथा तद्नुरूप आचरण करता हुआ अपने विकारी भावों को नष्ट करता है तब स्वयं परमात्मा बन जाता है। `कुंदकुंदस्वामी'ने कहा है कि जो अरहंत को जानता है वह आत्मा को जानता है और जो आत्मा को जानता है उसका मोह विलीन हो जाता है।[१] मोह के विलीन होने और सर्वज्ञ दशा के प्रकट होनेपर यह जीव परमात्मा बन जाता है।।२।।

प्रच्छादयन्ति यदनेकविकल्पशङ्कु-
खातान्तरङ्गजगतीजनितै रजोभिः।
एतावतैव पशवो न विभो भवन्त-
मालोकयन्ति निकटप्रकटं निधानम्।।३।।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे स्वामिन् ! (**यत्**) जिस कारण (**पशवः**) अज्ञानी जीव (**अनेकविकल्पशङ्कखातान्तरङ्गजगतीजनितैः**) अनेक विकल्परूपी कीलों से खोदी हुई मनोभूमिमें समुत्पन्न (**रजोभिः**) रागादि मोहतर्क के द्वारा निजस्वरूप को (**प्रच्छादयन्ति**) आच्छादित कर रहे हैं (**एतावता एव**) इसीलिए वे (**निकटप्रकटं**) निकट ही प्रकाशमान (**निधानं**) निधान - कोषस्वरूप (**भवन्तं**) आपको (**न आलोकयन्ति**) नहीं देख पाते हैं।

भावार्थ :- मिथ्यात्व के उदय से यह जीव परपदार्थों को सुख दुःख का कारण मानकर उनकी अनुकूल प्रतिकूल परिणतियों में रागद्वेष करता है। रागद्वेष की भूमिका मन है। रागद्वेष के कारण यह जीव ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध करता है। जिस प्रकार बहुत धूलि एकत्रित होकर किसी पदार्थ को आच्छादित कर लेती है इसी प्रकार यह कर्मरूपी धूलि जीव के ज्ञान स्वभाव को आच्छादित कर देती है। इसी कर्मजनित आच्छादना के कारण यह जीव पशुओं के समान अज्ञानी हो रहा है और अपने ही निकट प्रकाशमान आपको नहीं देख पा रहा है।।३।।

---

१. जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।८०।। प्रवचनसार

यत्रास्तमेति बहिरर्थतमस्यगाधे
तत्रैव नूनमयमेवमुदीयते त्वम्।
व्योम्नीव नीलिमतते सवितुः प्रकाशः
प्रच्छन्न एव परितः प्रकटश्चकास्ति।।४।।

अन्वयार्थ :- (**यत्र**) जिस (**अगाधे**) बहुत भारी (**बहिरर्थतमसि**) बाह्य पदार्थरूप अंधकार में (**अयं**) यह विश्व (**अस्तम् एति**) अस्त को प्राप्त हो रहा है (**तत्रैव**) उसीमें (**नूनम्**) निश्चित ही (**त्वम्**) आप (**एव**) इस प्रकार (**उदीय से**) उदय को प्राप्त होते हैं जिस प्रकार कि (**नीलिमतते व्योम्नि**) नीलिमा से व्याप्त आकाश में (**सवितुः प्रकाशः**) सूर्य का प्रकाश (**परितः प्रच्छन्नः**) सब ओर छाकर (**प्रकटः**) प्रकट होता हुआ (**चकास्ति**) सुशोभित होता है।

भावार्थ :- साधक के लिए बाह्य पदार्थों का आवरण आत्मसाधना में बाधक होता है, परंतु सिद्ध पुरुष के लिए बाधक नहीं होता। यही कारण है कि देवनिर्मित समवसरण में बाह्य पदार्थों का प्रपञ्च अत्यधिक होनेपर भी अरहंत की आत्मसाधना में वह कुछ भी बाधक नहीं होता। हे भगवन् ! संसार के अन्य अनेक मनुष्य बाह्य परिकर में निमग्न होकर अस्त होते हैं परंतु आप समवसरण के भारी परिकर में भी उदित रहते हैं - आत्मसाधना में जागरूक रहते हैं। यही ठीक ही है क्योंकि नीलिमा से व्याप्त आकाश में अन्य वस्तुएँ तिरोहित भले ही होती रहें परंतु सूर्य का प्रकाश उसमें चारों ओर व्याप्त होकर प्रकाशमान होता है। तात्पर्य यह है कि यह जीव रागद्वेष के कारण ही परपदार्थों में आत्मबुद्धि कर स्वरूप से च्युत होता है। यतश्च आप राग-द्वेष से रहित हैं अतः परपदार्थों के बीच भी निर्लिप्त रहनेसे आप परमात्मपद को प्राप्त हो रहे हैं।।४।।

नावस्थितिं जिन ददासि न चानवस्था-
मुत्थापयस्यनिशनात्ममहिम्नि नित्यम्।
येनायमद्भुतचिदुद्गमचुञ्चुरुच्चै-
रेकोऽपि ते विधिनिषेधमयः स्वभावः।।५।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! आप (**अनिशं**) निरंतर (**अवस्थितिं न ददासि**) पदार्थ की स्थिरता का उपदेश नहीं देते हैं (**च**) और (**नित्यं**) सदा (**आत्ममहिम्नि**) आत्मस्वरूप की महिमा में (**अनवस्थां**) अस्थिरता को (**न च**) नहीं (**उत्थापयसि**) उठाते हैं - दूर करते हैं (**येन**) यही कारण है कि जिससे (**ते**) आपका (**अद्‌भुतचिदुद्‌गमचुञ्चुः**) आश्चर्यकारक चैतन्य ज्योति से प्रसिद्ध (**अयं**) यह (**उच्चैः**) उत्कृष्ट (**स्वभावः**) स्वभाव (**एकोऽपि**) एक होनेपर भी (**विधिनिषेधमयः**) अस्ति नास्तिरूप है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपका उपदेश है कि संसार के प्रत्येक पदार्थ नित्यानित्यात्मक हैं। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा पदार्थ नित्य हैं और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनित्य हैं। आत्मा का जो ज्ञानस्वभाव है उसमें भी मतिज्ञान आदि अवान्तर भेदों की अपेक्षा परिणमन होता रहता है। अरहंत सिद्ध अवस्था में प्रकट होनेवाले केवलज्ञान में भी अगुरुलघुगुण के कारण अवान्तर परिणमन प्रति समय होता है। संसार का कोई पदार्थ सदा अवस्थित-कूटस्थ नित्य रहता है ऐसा उपदेश आपका नहीं है और आत्मस्वभाव में अनवस्था-सर्वथा अनित्यता है, इसे भी आप स्वीकृत नहीं करते। इस तरह आपका ज्ञायकस्वभाव सामान्य की अपेक्षा एक होनेपर भी उभय नय की अपेक्षा विधि और निषेध स्वभाव को लिये हुए है। तात्पर्य यह है कि आत्मा का ज्ञायक स्वभाव स्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा विधि-अस्तिरूप है और पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा निषेध-नास्तिरूप है।।५।।

यस्मादिदं विधिनिषेधमयं चकास्ति
निर्माणमेव सहजप्रविजृम्भितं ते।
तस्मात्सदा सदसदादिविकल्पजालं
त्वय्युद्विलासमिदमुत्प्लवते न चित्रम्।।६।।

अन्वयार्थ :- (**यस्मात्**) जिस कारण (**ते**) आपका (**इदं**) यह (**सहजप्रविजृम्भितं**) सहज स्वभावोत्पन्न (**निर्माणमेव**) निर्माण ही (**विधिनिषेधमयं**) विधि और निषेधरूप (**चकास्ति**) शोभायमान हो रहा है (**तस्मात्**) इसलिए (**त्वयि**) आपमें (**इदं**) यह (**उद्विलासं**) प्रकट रूप से अनुभव में आनेवाला (**सदसदादिविकल्पजालं**) सत् असत् आदि विकल्पों का समूह (**उत्प्लवते**) उच्छलित हो रहा है यह (**नि चित्रम्**) आश्चर्य की बात नहीं है।

भावार्थ :- आत्मा का जो ज्ञायक स्वभाव है वह स्वतः स्वभाव से समुत्पन्न है

क्योंकि पदार्थ का स्वभाव परनिरपेक्ष होता है मात्र उसका विभाव परसापेक्ष रहता है, जैसे जीव का ज्ञानस्वभाव किसी अन्य पदार्थों के निमित्त से उत्पन्न नहीं है परंतु उसका रागादिक विभाव चारित्रमोह कर्म के उदय से समुत्पन्न है। इस प्रकार सहज स्वभाव से समुत्पन्न जीव का ज्ञायक स्वभाव विधि और निषेधरूप है - सामान्य विशेष की अपेक्षा नित्यानित्यात्मक, एकानेक तथा स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा तदतद्रूप है। जब सहज स्वभाव ही इस प्रकार का है तब उसमें जो सत्, असत्, एक, अनेक, नित्य अनित्य तथा तद् अतद् आदि के विकल्प उछल रहे हैं उसमें आश्चर्य ही किस बात का है ? ।।६।।

भावो भवस्यतिभृतः सहजेन धाम्ना
शून्यः परस्य विभवेन भवस्यभावः।
यातोऽप्यभावमयतां प्रतिभासि भावो
भावोऽपि देव ! बहिरर्थतयास्यभावे[१]: ।।७।।

अन्वयार्थ :- (**देह**) हे देव ! (**सहजेन धाम्ना अतिभूतः**) सहज तेज से अत्यंत भरे हुए होनेसे आप (**भावो भवसि**) भावरूप हैं - सत्तारूप हैं और (**परस्य विभवेन शून्यः**) पर पदार्थ के विभव से शून्य होनेके कारण आप (**अभावः भवसि**) अभावरूप हैं। इस तरह आप (**अभावमयतां यातोऽपि**) अभावरूपता को प्राप्त होकर भी (**भावः प्रतिभासि**) भावरूप प्रतिभासित होते हैं और (**भावोऽपि**) भावरूप होकर भी (**बहिरर्थतया**) बाह्य पदार्थ की अपेक्षा (**अभावः अस्ति**) अभावरूप हैं।

भावार्थ :- यहाँ भगवान् का अस्ति-नास्तिरूप धर्मों से स्तवन करते हुए कहा गया है कि हे देव ! आप स्वकीय तेज से अत्यंत भरे हुए होनेसे अस्तिरूप हैं और पर द्रव्य के स्वभाव से शून्य होनेके कारण नास्तिरूप हैं इस तरह अनेकान्त की दृष्टि से आप भावाभावरूप हैं। अर्थात् अस्ति-नास्ति या विधि-निषेधरूप हैं।

तिर्यग्विभक्तवपुषो भवतो य एव
स्वामिन्नमी सहभुवः प्रतिभान्ति भावाः।

---

१. `बहिरर्थतया असि अभावः' इति पदच्छेदः।

तैरेव कालकलनेव कृतोद्‌र्ध्वखण्डै-
रेको भवान् क्रमविभूत्यनुभूतिमेति।।८।।

अन्वयार्थ :- (**स्वामिन्**) हे भगवन् ! (**तिर्यग्‌विभक्तवपुषः**) काल क्रम से पृथक्-पृथक् शरीर धारण करनेवाले (**भवतः**) आपके (**ये एव अमी**) जो ये (**सद्‌भुवः भावाः**) सहभावी गुण (**प्रतिभान्ति**) सुशोभित हो रहे हैं (**कालकलनेव**) कालक्रम की अपेक्षा से (**कृतोद्‌र्ध्वखण्डैः**) ऊद्‌र्ध्वद्रव्यरूप उत्तर विभागों से सहित (**तैः एव**) उन्हीं सहभावी - गुणों की अपेक्षा (**भवान्**) आप (**एकः**) एक होते हुए (**क्रमविभृत्यनुभूतिं**) क्रमवर्तित्व की अनुभूति को (**एति**) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :- यहाँ भगवान् का एकत्व और अनेकत्व धर्मों से स्तवन किया गया है। भगवान्‌ने अतीत अनेक पर्यायों में पृथक्-पृथक् शरीर धारण किया हैं अतः उन पर्यायों की अपेक्षा वे अनेक रूप हैं, परंतु उस समस्त पर्यायों में जो ज्ञानादिक गुण साथ-साथ रहे हैं, उन गुणों की अपेक्षा वे एकरूप हैं। यद्यपि काल द्रव्य की सहायता से उन ज्ञानादिक गुणों में भी परिणमन होता है परंतु उस परिणमन की विवक्षा नहीं की गयी है। तात्पर्य यह है कि हे भगवन् ! आप शरीर सम्बन्धी भवों की अपेक्षा अनेक हैं और गुणों की अपेक्षा एक हैं।।८।।

एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्त्तगुप्तं
चिन्मात्रमेव तव तत्त्वमतर्कयन्तः।
एतज्जगत्युभयतोऽतिरसप्रसारा -
न्निस्सारमद्य हृदयं जिन दीर्यतीव।।९।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**एवं**) इस प्रकार (**क्रमाक्रमविवर्तिविवर्त्तगुप्तं**) क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती विवर्तो - परिणतियों से सुरक्षित (**चिन्मात्रमेव**) चैतन्यमात्र ही (**तव**) आपका (**तत्त्वं**) स्वरूप है ऐसा (**अतर्कयन्तः**) नहीं समझनेवाले अज्ञानी जन (**एतज्जगति**) इस संसार में (**निस्सारं**) व्यर्थ ही (**उभयतः**) दोनों पक्षों का (**अतिरसप्रसारात्**) अत्यधिक आग्रह के प्रसार से (**भ्रमन्ति**) भ्रमण करते रहते हैं। यह जानकर (**अद्य**) इस समय (हृदयं) हृदय (**दीर्यतीव**) विदीर्णसा हो रहा है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! रागद्वेषादि विकारी भावोंसे रहित शुद्ध चैतन्य ज्योति -

ज्ञातादृष्टापन ही आपका स्वरूप है और यह स्वरूप भी क्रमवर्ती तथा अक्रमवर्ती - पर्याय और गुणरूप परिणतियों से युक्त है। इस ज्ञान दर्शनरूप चैतन्य ज्योति में भी ज्ञान दर्शन की अवान्तर परिणतियाँ निरंतर होती रहती हैं। परंतु अज्ञानी जन आपके इस स्वाश्रित तत्त्व को न समझकर देहादि परद्रव्याश्रित विभाव को अपना स्वरूप समझते हैं, इसी कारण वे अपने एकांत कदाग्रह से भ्रमण करते हैं। वास्तविक स्वरूप के अश्रद्धान का इतना भारी कुफल उन्हें भोगना पड़ता है यह ज्ञान कर हृदय में बड़ी पीड़ा होती है।।९।।

आलोक्यसे जिन यदा त्वमिहाद्‌भुतश्रीः
सद्यः प्रणश्यति सदा सकलः सपत्नः।
वीर्ये विशीर्यति पुनस्त्वयि दुष्टनष्टे
नात्मा चकास्ति विलसत्यहितः सपत्नः।।१०।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**इह**) इस संसार में (**अद्‌भुतश्रीः**) अनंत चतुष्टयरूप आश्चर्यकारक लक्ष्मी से युक्त (**त्वम्**) आप (**यदा**) जिस समय (**आलोक्य से**) दृष्टिगोचर होते हैं - प्राणियों की श्रद्धा के भाजन होते हैं (**तदा**) उस समय (**सद्यः**) शीघ्र ही उनके (**सकलः सपत्नः**) समस्त - अंतर बाह्य शत्रु (**प्रणश्यति**) नष्ट हो जाते हैं। और (**वीर्य विशीर्यति**) सम्यक्त्वरूप बल के नष्ट होनेपर (**पुनः**) फिर जब (**त्वयि**) आप (**दृष्टनष्टे**) श्रद्धा से हट जाते हैं - वे आपकी श्रद्धा छोड़ देते हैं तब उनको (**आत्मा**) आत्मा (**न चकास्ति**) प्रतिभासित नहीं होता अर्थात् स्वानुभूति नहीं होती, किन्तु (**अहितः सपत्नः**) अहितकारी शत्रु रागादि (विलसति) उच्छलित होने लगते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! जब यह जीव, अनंतचतुष्टयरूप लक्ष्मी से युक्त आपकी श्रद्धा करते हैं तब उनके मिथ्यादर्शन आदि अंतरंग बहिरंग शत्रु स्वयं नष्ट हो जाते हैं, परंतु जब उनका सम्यक्त्वरूपी बल विशीर्ण हो जाता है - तो वे फिरसे मिथ्यादृष्टि होकर आपकी श्रद्धा से च्युत हो जाते हैं तब वे फिर संसारभ्रमण के पात्र हो जाते हैं। मिथ्यादृष्टि अवस्था में उन्हें पुनः अहितकारी रागादि शत्रु घेर लेते हैं।।१०।

नित्योदिते निजमहिम्नि विमग्नविश्वे
विश्वातिशायिमहसि प्रकटप्रतापे।

सम्भाव्यते त्वयि न संशय एव देव
दैवात् पशोर्यदि परं चिदुपप्लवः स्यात्।।११।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे जिनेन्द्र ! (**निमग्नविश्वे**) जिसमें समस्त संसार निमग्न हैं - ज्ञेय बनकर प्रतिबिम्बित हो रहा है, (**विश्वातिशायि महसि**) जिसका तेज सबको अतिक्रांत करनेवाला है (**प्रकटप्रतापे**) जिसका प्रभाव प्रकट है जो (**निजमहिम्नि**) आत्मतत्त्व की महिमा से युक्त हैं तथा (**नित्योदिते**) जो निरंतर उदित हैं ऐसे (**त्वयि**) आपके विषय में (**संशय एव**) संशय ही (**संभाव्यते न**) संभव नहीं है (**दैवात्**) दुर्भाग्य से (**यदि**) यदि किसीके (**चिदुपप्लवः**) चैतन्य में भ्रान्ति होती है तो (**परं**) केवल (**पशोः स्यात्**) अज्ञानी जीव के ही होती है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपके सर्वज्ञ स्वभाव में संशय का अवकाश नहीं है, अर्थात् आपकी अश्रद्धा हो ही नहीं सकती। दुर्भाग्यवश मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आनेसे यदि किसीके चित्स्वरूप में भ्रान्ति होती है तो वह अज्ञानी ही है ऐसा समझना चाहिए।।११।।

विश्वावलेहिभिरनाकुलचिद्विलासैः
प्रत्यक्षमेव लिखितो न विलोक्यसे यत्।
बाह्यार्थसक्तमनसः स्वपतस्त्वयीश
नूनं पशोरयमनध्यवसाय एव।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! (**विश्वावलेहिभिः**) समस्त पदार्थों को जाननेवाले (**अनाकुलचिद्विलासैः**) आकुलता रहित चैतन्यविलास-वीतराग विज्ञान के द्वारा आप (**प्रत्यक्षमेव लिखितः**) प्रत्यक्ष ही प्रकट हैं फिर भी (**न विलोक्यसे यत्**) किसी अज्ञानी जीव को जो आपका दर्शन नहीं हो रहा है - आपकी श्रद्धा नहीं हो रही है सो (**बाह्यार्थसक्तमनसः**) बाह्य पदार्थों में जिसका मन लह रहा है तथा (**त्वयि**) आपके विषय में जो (**स्वपतः**) सो रहा है उस (**पशोः**) अज्ञानी जीव का (**नूनं**) निश्चय से (**अयं**) यह (**अनध्यवसाय एव**) अज्ञान ही है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपका जो सर्वज्ञ तथा वीतराग विज्ञान स्वभाव है उसीसे

आपकी सत्ता समस्त संसार से पृथक् सिद्ध हो रही है इतने पर भी यदि किसी प्रमादी जीवको आपका दर्शन न हो - आपकी श्रद्धा न हो तो उसे उसका ही अपराध समझना चाहिए। जिसे मध्याह्न का देदीप्यमान सूर्य दिखाई नहीं देता उसकी दृष्टि में ही विकार समझना चाहिए।।१२।।

रोमन्थमन्थरमुखो ननु गौरिवार्था-
नेकैकमेष जिन चर्वति किं वराकः।
त्वामेककालतुलितातुलविश्वसारं
सुस्वैकशक्तिमचलं विचिनोति किन्न।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र (**ननु**) निश्चय से (**रोमन्थमन्थरमुखो गौरिव**) जिस प्रकार जुगाली करनेवाला बैल ग्रास के एक-एक अंश को निकाल कर चबाता है उसी प्रकार (**एव वराकः**) यह बेचारा प्राणी (**अर्थान्**) पदार्थों की (**एकेकं**) एक-एक कर (**किं चर्वति**) क्यों चबाता है - क्यों जानता है ? (**एकाकालतुलितातुलविश्वसारं**) एक ही साथ समस्त विश्व को जाननेवाले (**सुस्वैकशक्तिं**) श्रेष्ठ आत्मबल से युक्त (अचलं) अचल-अविनाशी (**त्वां**) आपका (**किं न विचिनोति**) क्यों नहीं आश्रय करता ?

भावार्थ :- जिस प्रकार रोमन्थ करनेवाला बैल, खाये हुए पदार्थों को क्रम-क्रम से निकाल कर चबाता है, सबको एक साथ नहीं चबा सकता उसी प्रकार यह जीव क्षायोपशमिक ज्ञान की प्रक्रिया के कारण एक-एक पदार्थ को क्रम-क्रम से जान पाता है। आचार्य को जीव की इस विवशतापर करुणाभाव होता है अतः वे कहते हैं कि यह बेचारा प्राणी ऐसा क्यों करता है। संसार के समस्त पदार्थों को एक साथ जाननेवाले आपका चिंतन वह क्यों नहीं करता है, क्योंकि आपका चिंतन-मनन-श्रद्धान उसे सर्वज्ञ तथा सर्व द्रष्टा बना देगा। ऐसा होनेसे वह भी आपके ही समान समस्त पदार्थों को एक साथ जानने देखने लगेगा।।१३।।

स्वस्मिन्निरुद्धमहिमा भगवंस्त्वयायं
गण्डूष एव विहितः किल बोधसिन्धुः।
यस्योर्मयो निजभरेण निपीतविश्वा
नैवोच्छ्वसन्तिः हठकुड्मलिताऽस्फुरन्त्यः।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**भगवन्**) हे भगवन् ! (**स्वस्मिन् निरुद्धमहिमा**) अपने आपमें जिसकी महिमा समायी - रुकी हुई है ऐसा (**अयं**) यह (**बोधसिन्धुः**) ज्ञानरूपी सागर (**किल**) निश्चय से (**त्वया**) आपके द्वारा (**गण्डूष एव विहितः**) एक घूँट - चुल्लूभररूप ही कर लिया गया है। (**निजभरेण**) अपने विस्तार से (**निपीतविश्वाः**) विश्व को व्याप्त करनेवाली (**यस्य**) जिसकी (**स्फुरन्त्यः**) प्रकट (**ऊर्मयः**) लहरें (**हठकुड्मलिताः**) बलात् संकोचित होनेके कारण (**नैव उच्छ्वसन्ति**) सर्वत्र फैल नहीं पातीं।

भावार्थ :- अन्यत्र प्रसिद्ध है कि एक बार अगस्त्य ऋषिने समुद्र को चुल्लू में भरकर पी लिया था जिससे समुद्र की समस्त लहरें उन्हीं के उदर में संकोचित होकर रह गई थी। यहाँ ऐसी ही कल्पना करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आपने ज्ञानरूपी सागर को अपने आपमें निरुद्ध कर लिया है। एक चुल्लूभर पानी के समान उसे अपने आपमें विलीन कर लिया है, इसीलिए उसकी लहरें अपने आपमें केन्द्रित हो गयी हैं। फलितार्थ यह है कि आप निश्चय से आत्मज्ञ हैं और व्यवहार से लोकालोकज्ञ[1]।।१४।।

त्वद्वैभवैककणवीक्षण(विस्मयोत्थ)विश्वयोत्थ-
सौस्थित्यमन्थरदृशः किमुदासतेऽमी।
तावच्चरित्रकरपत्रमिदं स्वमूर्ध्नि
व्यापारयन्तु सकलस्त्वमुदेषि यावत्।।१५।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**त्वद्वैभवैककणवीक्षणविस्मयोत्थसौस्थित्यमन्थरदृशः**) आपके वैभव के एक अंश के देखने से उत्पन्न आश्चर्य से समुद्भूत सुख से जिनके नेत्र कुछ निमीलित हो रहे हैं ऐसे (**अमी**) ये भव्य जीव (**किम् उदासते**) क्यों उदासीन हो रहे हैं ? ये (**स्वमूर्ध्नि**) अपने मस्तकपर - अहंकारपर (**इदं**) इस (**चरित्रकरपत्रं**) चारित्ररूपी करोंत को (**तावत्**) तबतक (**व्यापारयन्तु**) चलावें (**यावत्**) जबतक (**सकलः त्वम्**) समस्त कलाओं से युक्त (**त्वम्**) आप (**उदेषि**) उदित होते हैं।

भावार्थ :- यहाँ भगवान् के बाह्य वैभव के देखनेमात्र से सन्तुष्ट हो जानेवाले भव्य प्राणी से कहा गया है कि तुम इतने मात्र से संतुष्ट होकर आगे बढ़ने के

१. जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।१५९।। नियमसार

लिए उदासीन क्यों हो रहे हो। अपने मस्तकपर चारित्ररूपी करोंत चलाओ अर्थात् चारित्र धारणकर अपने अहंकार को नष्ट करो। ऐसा करनेसे सकल परमात्मा का अपने आप स्वयं साक्षात्कार हो जावेगा अथवा तुम स्वतः सकल परमात्मा बन जाओगे। जैनेतर पुराणों में एक कथा है कि एकबार दशानन-रावण शंकरजी को प्रसन्न करने के लिए अपने मस्तक काटकर अग्निकुण्ड में होम करने लगा इस तरह वह जब नौ मस्तक काट चुका और दशवाँ मस्तक काटने के लिए उसपर शस्त्र चलाने लगा तब शंकरजीने प्रकट होकर उसे वरदान दे किया कि तूँ देवों के द्वारा अजय होगा - तुझे कोई देव जीत नहीं सकेगा। मनुष्य को रावण कुछ समझता ही नहीं था, इसलिए उसने मात्र देवों से अपने आपको अजेय होनेका वरदान माँगा था। इसी लौकिक कथाको दृष्टि में रखते हुए कहा गया है कि हे प्राणी ! तूँ अपने मस्तकपर - अपने अहंकारपर चारित्ररूपी शस्त्र चला। ऐसा करनेसे ही तुझे शुद्धात्मरूप भगवान् के दर्शन हो सकेंगे और तूँ लोक में अजेय हो सकेगा। जबतक अहंकार विद्यमान रहता है तबतक न परमात्मा के दर्शन होते हैं और न यह जीव स्वयं परमात्मा बन सकता है। अहंकार को नष्ट करने के लिए चारित्र ही परम सहायक है।।१५।

ये साधयन्ति भगवंस्तव सिद्धरूपं
तीव्रैस्तपोभिरभितस्त इमे रमन्ताम्।
ज्यायन्न कोऽपि जिन साधयतीह कार्यं
कार्यं हि साधनविधिप्रतिबद्धमेव।।१६।।

अन्वयार्थ :- (**भगवन्**) हे भगवन् ! (**ये**) जो (**तीव्रैः तपोभिः**) कठिन तप के द्वारा (**तव**) आपके (**सिद्धरूपं**) सिद्धस्वरूप को (**साधयन्ति**) साधते हैं - प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं (**त इमे**) वे ये (**अभितः**) सब ओर इसी संसार में (**रमन्ताम्**) रमण करें - उनका मात्र कठिन तप आपके सिद्ध - शाश्वत शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करानेवाला नहीं है। (**ज्यायन् जिन**) हे श्रेष्ठतम जिनेन्द्र ! (**इह**) इस संसार में (**कोऽपि**) कोई भी व्यक्ति (**कार्यं न साधयति**) कार्य को नहीं साधता है (**हि**) क्योंकि (**कार्यं**) कार्य (**साधनविधिप्रतिबद्धमेव**) साधन की विधि से स्वयं हो संबद्ध होता है।

भावार्थ :- यहाँ कहा गया है कि आत्मज्ञान के बिना कठिन से कठिन तप भी सिद्धस्वरूप को प्राप्त कराने में समर्थ नहीं है। उस तप के समय जो कषाय

में मंदता होती है उसके फलस्वरूप यह जीव पुण्य बंध कर स्वर्गादिक रम्य स्थानों को ही प्राप्त होता है, शाश्वत सुखदायक सिद्ध पद को नहीं। साथ ही इस जीवके कर्तृत्व विषयक अहंकार को नष्ट करने के लिए कहा गया है कि इस संसार में अंतरंग कारण की अनुकूलता के बिना मात्र बाह्य कारण से कार्य को सिद्ध करनेके लिए कोई समर्थ नहीं है। संसार का प्रत्येक कार्य अपने अंतरंग कारण से संबद्ध रहता है। उस अंतरंग कारण के अनुरूप बहिरंग कारण कार्य की सिद्धि में सहायक होता है।।१६।।

विज्ञानतन्तव इमें स्वरसप्रवृत्ता
द्रव्यान्तररस्य यदि संघटनाच्च्यवन्ते।
अद्यैव पुष्कलमलाकुलकश्मलेयं
देवाखिलैव विघटेत कषायकन्था।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे देव ! (**यदि**) यदि (**इमे विज्ञानतन्तवः**) ये विज्ञानरूपी तन्तु (**स्वरसप्रवृत्ताः**) स्वकीय स्वभाव में प्रवृत्त होते हुए (**द्रव्यान्तररस्य**) अन्य द्रव्य की (**संघटनात्**) रचना से (**च्यवन्ते**) च्युत होते हैं - अन्य द्रव्य के कर्तृत्व के अहंकार से निवृत्त होते हैं तो (**पुष्कलमलाकुलकश्मला**) बहुत भारी मल से परिपूर्ण तथा मलिन (**इयं**) यह (**अखिलैवः**) सबकी सब (**कषायकन्था**) कषायरूपी कथरी (**अद्यैव**) आज ही (**विघटेत**) विघटित हो जावे।

भावार्थ :- उपादान कारण की अपेक्षा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं होता, क्योंकि कर्ता स्वयं ही कार्यरूप परिणत होता है। अतः वह कर्तृकर्मभाव एक द्रव्य में ही घटित होता है, दो द्रव्यों में नहीं, परंतु यह जीव, मात्र निमित्त कारण की ओर दृष्टि देकर अपने आपको पर द्रव्य का कर्ता मान रहा है। इसी कर्तृत्व बुद्धि के कारण यह जीव जिस पर द्रव्य को अपने द्वारा किया हुआ मानता है उसके विषय में ममता भाव करता है और उसी ममता भाव के कारण उसकी इष्ट अनिष्ट परिणति में राग-द्वेषरूप कषाय करता है। जीव की यह कषाय एक कन्था - कथरी के समान है, जिस प्रकार कन्था अनेक जीर्ण वस्त्रों को धागा से सीकर बनाई जाती है तथा धीरे-धीरे वह अत्यंत मैली और ग्लानिजनक हो जाती है उसी प्रकार यह कषाय भी कर्तृत्व बुद्धिरूपी धागे से सीकर अनेक पर भावों के द्वारा उत्पन्न होती

है। यदि इस जीव के सम्यग्ज्ञानरूपी तन्तु अपने ही आत्मद्रव्य में रमण कर पर द्रव्य विषयक कर्तृत्व से च्युत हो जावें तो इस कषायरूपी कन्था के विघटित होनेमें बिलम्ब न लगे।।१७।।

अज्ञानमारुतरयाकुलविप्रकीर्णा
विज्ञानमुर्मुरकणा विचरन्त एते।
शक्यन्त एव सपदि स्वपदे विधातुं
संपश्यता तव विभो विभवं महिम्नः।।१८।।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे नाथ ! (**तव**) आपकी (**महिम्नः**) महिमा के (**विभवं**) वैभव को (**संपश्यता**) देखनेवाले पुरुष के द्वारा (**अज्ञानमारुतरयाकुलविप्रकीर्णाः**) अज्ञानरूपी वायु के वेग से विखिर कर (**विचरन्तः**) इधर-उधर विचरते हुए (**एते**) ये (**विज्ञानमुर्मुरकणाः**) विज्ञानरूपी तृषाग्नि के कण (**स्वपदे**) आत्मपद में (**सपदि एव**) शीघ्र ही (**विधातुं शक्यन्ते**) सुस्थिर किये जा सकते हैं।

भावार्थ :- यहाँ जीव के क्षायोपशमिक ज्ञान को तुषाग्नि की उपमा दी गई है और अज्ञान - मिथ्यादर्शन तथा कषाय को वायु की उपमा प्रदान की गई है। जिस प्रकार वायु के तीव्र वेग से ज्ञान मिथ्यात्व और कषाय से प्रेरित हो इधर-उधर पञ्चेन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्त हो रहा है। हे भगवन् ! जो भव्य प्राणी आपके अनंत चतुष्टयरूप वैभव की ओर लक्ष्यकर इस प्रकार का विचार करता है कि जिस प्रकार इन्होंने मिथ्यात्व और कषाय जनित चञ्चलता को दूरकर अपने ज्ञानोपयोग को अपनी ही आत्मा में केन्द्रित कर अनंतचतुष्टयरूप ऐश्वर्य को प्राप्त किया है उसी प्रकार मैं भी मिथ्यात्व और कषायजनित चञ्चलता को दूर कर अपने ज्ञानोपयोग को यदि अपनी ही आत्मा में केन्द्रित करूँ तो मैं भी अनंत चतुष्टयरूप वैभव को प्राप्त कर सकता हूँ। इस तरह स्वरूप की ओर लक्ष्य करने से जो अपने ज्ञान को एक आत्मा में ही केन्द्रित करता है वह शुक्लध्यान को प्राप्त कर कर्मक्षय करने में समर्थ होता है।।१८।।

बोधातिरिक्तमितरत् फलमाप्तुकामाः
कस्माद् वहन्ति पशवो विषयाभिलाषम्।

प्रागेव विश्वविषयानभिभूय तान्न (जानू)
किं बोधमेव विनियम्य न धारयन्ति।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**बोधातिरिक्तं**) ज्ञान से भिन्न (**इतरत्**) अन्य (**फलं**) फल को (**आप्तुकामाः**) प्राप्त करने के इच्छुक (**पशवः**) अज्ञानी जीव (**विषयाभिलाषं**) विषयों की इच्छा को (**कस्मात्**) क्यों (**वहन्ति**) धारण करते हैं (**प्रागेव**) पहले ही (**विश्वविषयान्**) समस्त विषयों को (**अभिभूय**) उपेक्षित कर (**तान् विनयम्य**) इन्द्रियों को रोककर - इन्द्रियों की प्रवृत्ति को नियन्त्रित कर (**बोधमेव**) ज्ञान को ही (**किं न धारयन्ति**) क्यों नहीं धारण करते हैं।

भावार्थ :- जीव का स्वभाव मात्र ज्ञाता दृष्टा है परंतु मोहोदयजनित विकार भाव के कारण ये जीव अपने स्वभाव को भूलकर पञ्चेन्द्रियों के विषयों में संलग्न हो रहे हैं। उन्हीं की प्राप्ति में इतना ज्ञान लग रहा है तथा शरीर की प्रवृत्ति भी उसी ओर संलग्न है। जब यह वस्तुस्थिति है कि जीव अपने ज्ञानस्वभाव को छोड़कर अन्य पदार्थों के स्वामी नहीं बन सकते तब वे अन्य पदार्थों की अभिलाषा क्यों करते हैं? क्यों नहीं पहले ही समस्त विषयों की उपेक्षा कर अपने ज्ञानस्वभाव को धारण करते हैं। यदि स्वस्वभाव की ओर इन जीवों का लक्ष्य बनता है तो बाह्य प्रवृत्ति से इसकी निवृत्ति अनायास हो सकती है।।१९।।

यैरेव देव पशवोंऽशुभिरस्तबोधा
विष्वक्कषायकणकर्बुरतां वहन्ते।
विश्वावबोधकुशलस्य महार्णवोऽभूत्
तैरेव ते शमसुधारसशीकरौधः।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे भगवन् ! (**अस्तबोधः**) सम्यग्ज्ञान से रहित (**पशवः**) अज्ञानी जीव (**यैरेव अंशुभिः**) जिन ज्ञानरूप किरणों के द्वारा (**विष्वक्**) सब ओरसे (**कषायकणकर्बुरतां**) कषायांशजनित विचित्रता को (**वहन्ते**) धारण करते हैं (**तैरेव**) उन्हीं ज्ञानरूप किरणों के द्वारा (**विश्वावबोधकुशलस्य ते**) समस्त पदार्थों के जानने में निपुण आपका (**शमसुधारसशीकररौधः**) प्रशमभावरूप सुधारस के कणों का समूह (**महार्णवः**)

महासागर (**अभूत्**) बन गया है।

भावार्थ :- अज्ञानी जीवों का ज्ञान, मिथ्यात्व तथा कषाय से दूषित रहता है अतः वे उस ज्ञान के द्वारा निरंतर कषायजनित विचित्रता को धारण करते हैं और उस विचित्रता के कारण ही निरंतर दुःखी रहते हैं। जो ज्ञान सुख का कारण है वही अज्ञानी जनों के कषायजनित विकारी भावों से दुःख का कारण बन रहा है, परंतु हे भगवन् ! आपका ज्ञान कषायजनित विकारों से रहित होनेके कारण अनंत सुख का निमित्त है। इसीलिए आपका आकुलतारहित अल्प सुख आपके सर्वज्ञ होते ही अनंतसुख का सागर बन जाता है।।२०।।

ज्ञातृत्वसुस्थितदृषि प्रसभाभिभूत-
कर्तृत्वशान्तमहसि प्रकटप्रतापे।
संविद्विशेषविषमेऽपि कषायजन्मा
कृत्स्नोऽपि नास्ति भवतीश विकारभारः।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! (**ज्ञातृत्वसुस्थितदृशिया प्रसभाभिभूतकर्तृत्वशान्तमहसि**) ज्ञाता दृष्टा शक्ति के कारण जिनके कर्तृत्व का भाव बलपूर्वक नष्ट हो गया है (**प्रकटप्रतापे**) जिनका प्रताप अत्यंत प्रकट है तथा जो यद्यपि (**संविद्विशेषविषमेऽपि**) विशिष्ट ज्ञान से विषम है तथापि (**भवति**) आपमें (**कषायजन्मा**) कषाय जनित (**कृत्स्नः अपि**) सभी (विकारभारः) विकारों के समूह (**नास्ति**) नहीं है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव में अच्छी तरह स्थिर हो चुके हैं, इसलिए आपका परद्रव्य विषय का कर्तृत्व का भाव बिलकुल शान्त हो चुका है। आपका लोकोत्तर प्रभाव प्रकट है इसीलिए सौ इन्द्र आपको निरंतर नमस्कार करते हैं। यद्यपि आपका सामान्य ज्ञान, केवलज्ञान नामक विशिष्ट ज्ञानरूप परिणत हो रहा है और उसकी स्वच्छता के कारण उसमें अनंत ज्ञेय प्रतिबिम्बित हो रहे हैं फिर भी उन ज्ञेयों से समुत्पन्न कोई व्यग्रता आपमें नहीं है। इस तरह आपके वीतराग विज्ञान में कषायजनित विकारों का अंश भी शेष नहीं है। आप पूर्णतया निर्विकार ज्ञान के धारक हैं।।२१।।

संप्रत्यसङ्कुचितपुष्कलशक्तिचक्र-
प्रौढप्रकाशरभसार्पितसुप्रभातम्।
सम्भाव्यते सहजनिर्मलचिद्विलासै-
र्नीराजयन्निव महस्तव विश्वमेतत्।।२२।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**संप्रति**) इस समय (**असङ्कुचितपुष्कलशक्तिचक्रप्रौढ-प्रकाशरभसार्पितसुप्रभातम्**) विस्तृत तथा पूर्ण शक्ति समूह के प्रौढ़ प्रकाश के वेग से सुप्रभात को प्रकट करनेवाला (**तव**) आपका (**एतत्**) यह (**घमहः**) तेज (**सहजनिर्मलचिद्विलासैः**) स्वाभाविक तथा निर्मल चैतन्य के चमत्कार से (**विश्वं नीराजयन्निव**) समस्त विश्व की आरती करता हुआ-सा (**सम्भाव्यते**) जान पड़ता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपकी आत्मा में अनंत शक्तियों का समूह विद्यमान है। यद्यपि छद्मस्थ अवस्था में उन शक्तियों का पूर्ण विकास नहीं था परंतु अब सर्वज्ञ दशा में वे सभी शक्तियाँ अपने स्वभावानुसार विस्तार और पूर्णता को प्राप्त हो रही हैं। उन सभी शक्तियों में ज्ञातृत्वशक्ति प्रमुख शक्ति हैं, क्योंकि इस शक्ति से प्रकट हुआ ज्ञान स्वपरावभासी होनेसे अपने आपको तथा साथ ही विद्यमान अन्य शक्तियों को प्रकट करता है। इस ज्ञातृत्व शक्ति का पूर्ण विकास केवलज्ञान होनेपर होता है। उस केवलज्ञान के समय समस्त विश्व आत्मा में अंतःप्रतिफलित होने लगता है। आपका यह केवलज्ञान अपने चैतन्य चमत्कार से समस्त विश्व की आरती करता हुआ-सा प्रतीत हो रहा है।।२२।।

चिद्भारभैरवमहोभरनिर्भराभिः
शुम्भत्स्वभावरसवीचिभिरुद्धुराभिः।
उन्मीलितप्रसभमीलितकातराक्षाः
प्रत्यक्षमेव हि महस्तव तर्कयामः।।२३।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**चिद्भारभैरवमहोभरनिर्भराभिः**) चैतन्य के भार से उत्कट तेजः समूह से परिपूर्ण (**उद्धुराभिः**) बहुत विशाल (**स्वभावरसवीचिभिः**) स्वाभाविक सुख रस की तरङ्गों से (**शुम्भत्**) सुशोभित होनेवाला (**तव**) आपका यह (**महः**) तेज (**हि**)

निश्चय से (**प्रत्यक्षमेव**) प्रत्यक्ष ही प्रकट हो रहा है ऐसा हम (**तर्कयामः**) समझते हैं, क्योंकि (**उन्मीलितप्रसभमीलितकातराक्षाः**) उस तेज के प्रकाश से हमारे कातर नेत्र हठात् निमीलित हो रहे हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! अनंत ज्ञान और अनंत आनंद से परिपूर्ण आपका स्वाभाविक तेज सबके प्रत्यक्ष है, उस तेज की चकाचौंध से ही हमारे नेत्र निमीलित हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि हम अपने क्षायोपशमिक ज्ञान के द्वारा आपके पूर्ण ज्ञानानंद स्वभाव की महिमा के आँकने में असमर्थ हैं।।२३।।

विश्वैकभोक्तरि विभौ भगवत्यनन्ते
नित्योदितैकमहिमन्युदिते त्वयीति।
एकैकमर्थमलम्ब्य किलोपभोग्य-
मद्याप्युपप्लवधियः कथमुत्प्लवन्ते।।२४।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**इति**) इस प्रकार ज्ञान के द्वारा (**विश्वैकभोक्तरि**) समस्त विश्व के एक भोक्ता (**विभौ**) सामर्थ्यवन्त (**भगवति**) ऐश्वर्यवन्त (**अनंते**) अंतरहित और (**नित्योदितैकमहिमनि**) निरंतर उदित अद्वितीय महिमा से युक्त (**त्वयि**) आपके (**उदिते**) उदित रहते हुए (**अद्यापि**) आज भी (**किल**) निश्चय से (**उपभोग्यं एकैकमर्थं**) अपने भोग के योग्य - अपने स्वार्थ को सिद्ध करनेवाले एक-एक अर्थ का (**अवलम्ब्य**) आश्रय ले कर (**उपप्लवधियः**) विरुद्ध बुद्धि के धारक मिथ्यादृष्टि पुरुष (**कथं**) क्यों (**उत्प्लवन्ते**) उछल-कूँद कर रहे हैं ?

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप जैसे सर्वशक्तिसम्पन्न त्रिलोकीनाथ के रहते हुए भी अज्ञानी जन, अपने भौतिक प्रयोजन की सिद्धि का अभिप्राय रख एकांतवाद का आश्रय ले उछल-कूँद करते हैं यह आश्चर्यकारी बात है।।२४।।

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक-
मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि[1]।।२५।।

अन्वयार्थ :- (**चित्रात्मशक्तिसमुदायमयः**) नाना आत्मशक्तियों के समुदायरूप (**अयं**) यह (**आत्मा**) आत्मा (**नयेक्षणखण्ड्यमानः**) नय दृष्टि से खण्ड-खण्ड होता हुआ (**सद्यः**) शीघ्र ही (**प्रणश्यति**) नष्ट हो जाता है (**तस्मान्**) इसलिये (**अहम्**) मैं (**अखण्डं**) खण्डरहित (**अनिराकृतखण्डं**) खण्डों का सर्वथा निराकरण न करनेवाला (**एकं**) एक (**एकांतशांतं**) अत्यंत शांत (**अचलं**) अविनाशी (**चिद्**) चैतन्य (**महः अस्मि**) तेजरूप हूँ।

भावार्थ :- हे भगवन् ! यह आत्मा अभेददृष्टि से नाना शक्तियों के समुदायरूप एक अखण्ड द्रव्य है परंतु जब इसका भेद दृष्टि से विचार करते हैं तब यह खण्डित होता हुआ नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार अनेक तन्तुओं के ताना-बाना से निर्मित वस्त्र एक स्वतंत्र पदार्थ दिखता है परंतु जब उसके एक-एक तन्तु को पृथक्-पृथक् कर विचार किया जाता है तब तन्तु ही सामने रह जाता है वस्त्र समाप्त हो जाता है। इसलिये हे नाथ ! मैं इस भेद दृष्टि को गौण कर अभेद दृष्टि का आश्रय लेता हुआ अनुभव करता हूँ कि मैं तो एक अखण्ड आत्मद्रव्य हूँ, गुण और गुणी का भी भेद मुझमें नहीं है, यद्यपि किसी दृष्टि से उसमें खण्ड की कल्पना होती है तथापि मैं इसे गौण कर अखण्डत्व का ही अनुभव करता हूँ, मैं सामान्य दृष्टि से एक हूँ, क्रोधादि कषायजनित वैश्वरूप्य मेरा स्वभाव नहीं है, अत्यंत शांत हूँ अपने त्रैकालिक ज्ञायक स्वभाव से कभी विचलित होनेवाला नहीं हूँ और चैतन्य से तन्मय हूँ। इसी विधि से मैं आत्मा का अस्तित्व सुरक्षित रख सकता हूँ।।२५।।

१ एष श्लोकः समयसारकलशे २७० क्रमांकितो वर्तते।

ॐ

(३)

मार्गावताररसनिर्भरभावितस्य
योऽभूत तवाविरतमुक्तलिकाविकासः।
तस्य प्रभोऽद्‌भुतविभूतिपियासिताना-
मस्माकमेककलयापि कुरु प्रसादम्।।१।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**अविरत**) निरंतर (**मार्गवताररसनिर्भरभावितस्य**) मोक्षमार्ग की प्राप्ति से उत्पन्न होनेवाले अलौकिक आनंद से अत्यंत भरे हुए (**तव**) आपके (**यः**) जो (**उत्कलिकाविकासः**) उत्कष्ठा का विकास (**अभूत्**) हुआ था (**प्रभो**) हे प्रभो ! (**अद्‌भुतविभूतिपिपासितानां**) आश्चर्यकारक विभूति की प्यास से युक्त (**अस्माकं**) हम लोगों के ऊपर (**तस्य**) उस उत्कण्ठा रस की (**एककलयापि**) एक कला के द्वारा भी (**प्रसादं कुरु**) प्रसन्नता कीजिये।

भावार्थ :- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र की एकता को मोक्षमार्ग कहते हैं। इस रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति होते ही जब आपकी आत्मा, आत्मीय आनंद से परिपूर्ण हो गई तब साक्षात् मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए आपके हृदय में जो उत्कण्ठा होती थी वह भी बहुत आनंददायक हुआ करती थी। गृहस्थी के बंधन से निर्मुक्त होकर मैंने निराकुलता के पथ को यद्यपि प्राप्त कर लिया है तथापि इस शरीररूप बंधन को भी छोड़कर मोक्ष प्राप्ति कब करूँगा, ऐसी उत्कण्ठा रहती थी। हे भगवन् ! आपकी आश्चर्यकारक अनंत चतुष्टयरूप अंतरंग और अष्टप्रातिहार्यरूप बहिरंग विभूति देखकर हम लोगों को भी उसकी आकांक्षा उत्पन्न हो रही है। हे प्रभो ! अपनी उस उत्कण्ठ की एक कला प्रदान कर हम लोगों पर भी प्रसन्नता कीजिये। हृदय में मोक्ष प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न हो जाना ही कल्याणपथ का प्रारंभ है अतः हे भगवन् ! आपके प्रसाद से इतना भाव तो मेरा प्रकट हो कि जिससे भोगाकांक्षा दूर होकर मेरे हृदय में मोक्ष की आकांक्षा उत्पन्न

होने लगे।।१।।

दृग्बोधमात्रमहिमन्यपहाय मोह-
व्यूहं प्रसह्य समये भवनं भवंस्त्वम्।
सामायिकं स्वयमभूर्भगवन्समग्र-
सावद्ययोगपरिहारवतः समन्तात्।।२।।

अन्वयार्थ :- (**भगवन्**) हे स्वामिन् ! (**प्रसह्य**) बलपूर्वक (**मोहव्यूहं**) मोह के व्यूह को (**अपहाय**) छोड़कर (**दुग्बोधमात्रमहिमनि**) ज्ञानदर्शनमात्र महिमा से युक्त (**समये**) स्वकीय आत्मद्रव्य में (**समग्रसावद्यपरिहारवतः**) समस्त पापयोग के त्यागी पुरुष का (**भवनं**) लीन होना (**सामायिकं**) सामायिक है (**समन्तात्**) सब ओरसे (**समये**) स्वकीय आत्मद्रव्य में (**भवन्**) लीन होते हुए (**त्वम्**) आप (**स्वयं**) स्वयं (**सामायिकम्**) सामायिक (**अभूः**) हुए थे।

भावार्थ :- आत्मा का स्वभाव ज्ञानदर्शनरूप है इसीको स्वसमय कहते हैं। इस स्वसमय के प्रकट होनेमें मोहचक्र प्रबल शत्रु के रूपमें सामने आता है, परंतु मोक्ष का अभिलाषी जीव उन सब चमत्कारों से विमुख होकर स्वरूप में ही रमण करता है उसका स्वरूपरमण ही वास्तविक सामायिक है। यह सामायिक, उसी जीव के निर्दोष होता है जो सावद्ययोग का पूरणरूप से त्यागी होता है। और हे भगवन् ! इस उपर्युक्त सामायिक स्वरूप आप स्वयं हैं।।२।।

अत्यन्तमेतमितरेतरसव्यपेक्षं
त्वं द्रव्यभावमहिमानमबाधमानः।
स्वच्छन्दभावगतसंयमवैभवोऽपि
स्वं द्रव्यसंयमपथे प्रथमं न्ययुङ्क्थाः।।३।।

अन्वयार्थ :- (**स्वच्छन्दभावगतसंयमवैभवः अपि**) स्वतंत्र - स्वाधीन भावसंयम के वैभव से युक्त होनेपर भी (**त्वं**) आपने (**अत्यंतं**) अत्यंतरूप से (**इतरेतरसव्यपेक्षं**) परस्पर सापेक्ष (**द्रव्यभावमहिमानम्**) द्रव्य और भाव की महिमा से युक्त (**एतं**) इस संयम को (**अबाधमानः**)

बाधा न पहुँचाते हुए (**प्रथमं**) पहले (**स्वं**) अपने आपको (**द्रव्यसंयमपथे**) द्रव्यसंयम के मार्ग में (**न्ययुङ्क्थाः**) नियुक्त किया था।

भावार्थ :- द्रव्यसंयम और भावसंयम के भेद से संयम के दो भेद हैं। चरणानुयोग में प्रतिपादित पद्धति के अनुसार निर्ग्रंथमुद्रा धारण कर महाव्रतादि का आचरण करना द्रव्यसंयम है और संयम को घातनेवाले प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ का क्षयोपशम होनेपर आत्मा में जो विरक्ति का भाव होता है उसे भावसंयम कहते हैं। ये दोनों ही संयम परस्पर अत्यंत सापेक्ष हैं। द्रव्यसंयम के बिना भावसंयम नहीं होता और भावसंयम के बिना द्रव्यसंयम कार्यकारी नहीं होता। इन दोनों की अपनी-अपनी महिमा है। इन दोनों में यद्यपि भावसंयम आत्मा की स्वाधीन परिणतिरूप है तथापि वह बाह्य आचरणरूप द्रव्यसंयम की अपेक्षा रखता है। उसके बिना भावसंयम की उत्पत्ति और विकास नहीं हो सकता, इसलिए आपने भावसंयम से युक्त होते हुए भी अपने आपको प्रथम द्रव्यसंयम के मार्ग में नियुक्त किया था।।३।।

विश्रान्तरागरुषितस्य तपोऽनुभावा-
दन्तर्बहिः समतया तव भावितस्य।
आसीद् बहिर्द्वयमिदं सदृशं प्रमेय-
मन्तर्द्वयोः परिचरः सदृशः प्रमाता।।४।।

अन्वयार्थ :- (**तपोनुभावात्**) तप की महिमा से (**विश्रान्तरागरुषितस्य**) जिनके राग और द्वेष विश्रान्त हो चुके हैं तथा (**अंतर्बहिः**) अंतरंग और बहिरंग में जो (**समतया भावितस्य**) समताभाव से युक्त हैं ऐसे (**तव**) आपके लिए (**इदं द्वयं**) यह दोनों राग-द्वेष (**बहिः**) बाह्य में (**सदृशं**) एक समान (**प्रमेयं**) प्रमाण के विषयभूत ज्ञेय (**आसीत्**) थे और (**अंतः**) अंतरंग में आप (**द्वयोः**) दोनों के (**सदृशः परिचरः प्रमाता**) एक समान व्यापक ज्ञाता थे।

भावार्थ :- चारित्रमोह के उदय से होनेवाले राग-द्वेष आत्मा की विकारी परिणति हैं। जब प्रतिपक्षी कषाय का अभाव होनेपर यह जीव तपश्चरण में प्रवृत्त होता है तब तप के प्रभाव से उसके राग-द्वेष विश्राम को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् इष्ट पदार्थ में राग और अनिष्ट पदार्थों में द्वेष का भाव समाप्त हो जाता है। तपस्वी जीव की आत्मा समताभाव से विभूषित हो जाती है। जैसे-जैसे यह जीव आगे बढ़ता जाता है

वैसे-वैसे इसकी रागद्वेष की अनुभूति कम होती जाती है। दशम गुणस्थान तक रागद्वेष, सत्ता में अवश्य विद्यमान रहते हैं पर यह जीव उन्हें अनुभूति का विषय न बनाकर ज्ञान का ज्ञेय बनाता है अर्थात् उन्हें जानता तो है पर अपने आपमें उनके स्वामित्व का भाव लाकर उनका अनुभविता नहीं बनता। ज्ञेय बनाता है, इस पक्षमें भी वह उन्हें बाह्य ज्ञेय ही बनाता है अंतर्ज्ञेय नहीं, क्योंकि अंतर्ज्ञेय तो वह आत्मा की शुद्ध परिणति को ही बनाता है। हे भगवन् ! इस तरह राग-द्वेष को नष्ट कर आपने वीतराग परिणति को प्राप्त किया है।।४।।

मोहोदयस्खलितबुद्धिरलब्धभूमिः
पश्यन् जनो यदिह नित्यबहिर्मुखोऽयम्।
शुद्धोपयोगदृढभूमिमितः समन्ता-
दन्तर्मुखस्त्वमभवः कलयंस्तदेव।।५।।

अन्वयार्थ :- (**मोहोदयस्खलितबुद्धिः**) मोह के उदय से जिसकी बुद्धि स्खलित हो रही है और इसी कारण जिसे (**अलब्धभूमिः**) उपरितन गुणस्थानों की भूमि प्राप्त नहीं हुई है ऐसा (**अयं जनः**) यह पुरुष (**इह**) इस लोक में (**यत् पश्यन्**) जिस तत्त्व को जानता हुआ (**नित्यबहिर्मुखः**) निरंतर बहिर्मुख रहता है (**तदेव**) उसी तत्त्व को (**कलयन्**) जानते हुए (**त्वम्**) आप (**शुद्धोपयोगभूमिमुइतः**) शुद्धोपयोग की भूमिको प्राप्त होकर (**समन्तात्**) सब ओरसे (**अंतर्मुखः**) अंतर्मुख (**अभवः**) हुए।

भावार्थ :- दर्शनमोह के उदय से जिसका उपयोग दूषित हो रहा है और उसीके कारण जो मिथ्यात्व सम्बन्धी गुणस्थोनों में ही विद्यमान है ऐसा जीव संसार के अन्य पदार्थों के साथ यद्यपि जीव पदार्थ को भी जानता है तथापि वह सदा बहिर्मुख ही रहता है, मोहोदय से दूषित होनेके कारण शुद्ध आत्मतत्त्व की ओर उसका झुकाव नहीं होता। शुभोपयोग के काल में यद्यपि आत्मरुचि प्रकट हो जाती है तथापि कषायजनित चञ्चलताके कारण उसकी आत्मस्वरूप में स्थिरता नहीं हो पाती। परंतु हे भगवन् ! आप शुद्धोपयोग को प्राप्त हो चुके हैं, इसलिये उस आत्मतत्त्व को जानते हुए उसीमें निरंतर अंतर्मुख लीन रहते हैं।।५।।

शुद्धोपयोगरसनिर्भरबद्धलक्ष्यः
साक्षाद् भवन्नपि विचित्रतपोऽवगूर्णः।
विभ्रत् क्षयोपशमजाश्चरणस्य शक्तीः
स्वादान्तरं त्वमगमः प्रगलत्कषायः।।६।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**साक्षात्**) (**शुद्धोपयोगरसनिर्भरबद्धलक्ष्यः**) शुद्धोपयोगसम्बन्धी आनंद में अत्यंत बद्धलक्ष्य (**भवन्**) होते हुए भी जो (**विचित्रतपोऽवगूर्णः**) नाना प्रकार के तपश्चरण करने में उद्यत रहते थे, जो (**क्षयोपशमजाः**) चारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाले (**चरणस्य शक्तीः**) चारित्रबल को (**विभ्रत्**) धारण करते थे तथा (**प्रगलत्कषायः**) जिनकी कषाय गल चुकी थी ऐसे (**त्वम्**) आप (**स्वादान्तरम्**) कषायजन्य रससे भिन्न आत्मरस को (**अगमः**) प्राप्त हुए।

भावार्थ :- हे भगवन् ! षष्ठ गुणस्थान में यद्यपि आप अनशन, ऊनोदर आदि नाना तपों के करने में उद्यत रहते थे तथापि आपका लक्ष्य शुद्धोपयोग की ओर ही संलग्न रहता था। आप प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ के क्षयोपशममें होनेवाले महाव्रतादि संयमाचरण को पालन करते थे। उस समय यद्यपि संज्वलन के उदय में होनेवाली कषाय विद्यमान थी तथापि वह उत्तरोत्तर क्षीण होती जाती थी। कषाय ही इस जीव के उपयोग की शुद्धात्मस्वरूप से हटाकर अन्य विषयों में ले जाती है। चूँकि उस समय आपकी कषाय अत्यंत क्षीण हो रही थी इसलिये स्वकीय शुद्धात्मरस को आप अच्छी तरह प्राप्त हुए - उसमें आपका उपयोग संलग्न रहता था।।६।

वेद्यस्य विश्वगुदयावलिकाः स्खलन्ती-
र्मत्वोल्लसन् द्विगुणिताद्भुतबोधवीर्यः।
गाढं परीषहनिपातमनेकवारं
प्राप्तोऽपि मोहमगमो न न कातरोऽन्तः।।७।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**वेद्यस्य**) वेदनीयकर्म की (**उदयावलिकाः**) उदयावलियों को (**विष्वक्**) सब ओर से (**स्खलन्तीः**) होती हुई (**मत्वा**) मानकर जो (**उल्लसन्**) स्वयं उल्लिसित होते हुए आप तथा (**द्विगुणिताद्भुतबोधवीर्यः**) जिनका आश्चर्यकारी ज्ञान और

आत्मबल दूना हो गया था ऐसे आप यद्यपि (**अनेकबारं**) अनेकबार (**गाढं**) बहुत भारी (**परीषहनिपातं अपि**) परीषह के आक्रमण को भी (**प्राप्तः**) प्राप्त हुए तथापि (**मोहं**) मोह-ममता को (**न अगमः**) प्राप्त नहीं हुए और (**न अंतः कातरः**) न अंतरंग में भयभीत हो हुए।

भावार्थ :- षष्ठ गुणस्थान की भूमिका में यदि कदाचित् परिषहों का समूह उपस्थित हुआ तो आपने यही विचार किया कि इस समय असाता वेदनीयकर्म के निषेक उदयावली में आकर खिर रहे हैं। खिर चुकनेपर परीषहों की बाधा स्वयं समाप्त हो जावेगी। अंतरंग के इस विचार से आपके आत्मिक उल्लास में कोई कमी नहीं आयी। इसके विपरीत आपका ज्ञान और आत्मबल पहले की अपेक्षा दूना हो गया। इस प्रकार कर्म परिणति का विचार कर आप कभी भी मोह-ममता को प्राप्त नहीं हुए और न अंतरंग में कभी आपने कायरता उत्पन्न होने दी।।७।।

अश्नन् भवान्निजनिकाचितकर्मपाक-
मेकोऽपि धैर्यबलवृद्धित (वृंहित) तुङ्गचित्तः[१]।
आसीन्न काहल इहास्खलितोपयोग-
गाढग्रहादगणयन् गुरुदुःखभारम्।।८।।

अन्वयार्थ :- (**निजनिकाचितकर्मपाकम्**) जो अपने निकाचित - फल दिये बिना न छूटनेवाले कर्मों के उदय का (**एकोऽपि**) अकेले ही (**अश्नन्**) फल भोगते थे (**धैर्यबलवृद्**) जो अपने धैर्यबल की वृद्धि करते थे (**हित[२]तुङ्गचित्तः**) जिन्होंने उदात्त चित्त को धारण किया था (**अस्खलितोपयोगगाढग्रहात्**) शुद्धात्मस्वरूप से विचलित न होनेवाले उपयोग की सुदृढ़ पकड़ से जो (**गुरुदुःखभारम्**) बहुत भारी दुःख के समूह को (**अगणयन्**) कुछ भी नहीं गिनते थे ऐसे (**भवान्**) आप (**यह**) इस लोक में (**काहलः**) कातर (**न आसीत्**) नहीं हुए थे।

भावार्थ :- जो कर्म अपना फल दिये बिना नहीं छूटते हैं उन्हें निकाचित कर्म कहते हैं। हे भगवन् ! पूर्व भव में जिन निकाचित कर्मों का बंधन पड़ गया था उनका फल आपने अकेले ही भोगा है। इससे प्रतीत होता है कि आप अनुपम धैर्यबल

१. धैर्यबलवृद् + हिततुङ्गचित्तः इति पदच्छेदः।
२. हितं धृतं तुङ्गचित्तं येन सः।

के धारक हैं तथा उदात्त चित्त से युक्त हैं। कर्मोदय के फलस्वरूप जो बहुत भारी दुःख प्राप्त हुआ उसे आपने कुछ भी नहीं समझा। उस दुःखानुभव के काल में भी आपका उपयोग आपके शुद्ध स्वरूप से स्खलित नहीं हुआ। इस प्रकार सिद्ध होता है कि आप काहल-कातर नहीं हुए - समताभाव से कर्मफल को भोगनेवाले थे।।८।।

उद्दामसंयमभरोद्वहनेऽप्यखिन्नः
संनह्य दुर्जयकषायजयार्थमेकः।
बोधस्तु(बोधास्त्र) तैक्ष्ण्यकरणाय सदैव जाग्रद्
देवश्रुतस्य (देव श्रुतस्य) विषयं सकलं व्यचैषीः।।९।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे भगवन् ! जो (**उद्दामसंयमभरोद्वहनेऽपि अखिन्नः**) बहुत भारी संयम का भार धारण करनेपर भी खिन्न नहीं हुए थे, जो (**दुर्जयकषायजयार्थं**) दुर्जय कषाय को जीतने के लिये (**एकः**) अकेले ही (**संनह्य**) संनद्ध रहकर (**बोधास्त्रतैक्ष्ण्यकरणाय**) ज्ञानरूपी शस्त्र को तीक्ष्ण करने के लिये (**सदैव जाग्रद्**) सदा जागृत रहते थे ऐसे आपने (**श्रुतस्य सकलं विषयं**) द्वादशाङ्गरूप शास्त्र के समस्त विषयों का (**व्यचैषीः**) विचार किया है - मनन किया है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! दुर्जेय कषाय को जीतने के लिये आपने तैयार होकर अकेले ही उत्कृष्ट संयम का भार धारण किया फिर भी खेद का अनुभव नहीं किया। आप छद्मस्थ अवस्था में अपने ज्ञानास्त्र की तीक्ष्ण बनाये रखने के लिये सदा सावधान रहते थे और शास्त्र प्रतिपादित समस्त विषयों का निरंतर चिंतन करते रहते थे।९।

यद्द्रव्यपर्ययगतं श्रुतबोधशक्त्या-
तीक्ष्णो (भीक्ष्णो) पयोगमयमूर्तिरतर्कयँस्त्वम्।
आक्रम्यताव[१]दपवादभराधिरूढ-
शुद्धैकबोधसुभगं स्वयमन्वभूः स्वम्।।१०।।

---

१. `यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इत्यभरः।

अन्वयार्थ :- (**आक्रम्यतावदपवादभराधिरूढ**) निरस्त करने योग्य समस्त अपवाद समूह के ऊपर अधिरूढ - उनपर विजय प्राप्त करनेवाले हे जिनेन्द्र ! (**अभीक्ष्णोपयोगमयमूर्तिः**) निरंतर ज्ञानमय उपयोग रखनेवाले (**त्वम्**) आपने (**श्रुतबोधशक्त्या**) छद्मस्थ काल में होनेवाले श्रुतज्ञान की शक्ति से (**द्रव्यपर्ययगतं यत्**) द्रव्य और पर्यायरूप जिस आत्मद्रव्य को (**अतर्क्यः**) जाना था, (**शुद्धैकबोधसुभगं**) शुद्ध क्षायिक ज्ञान से सुशोभित (**तत्**) उस (**स्वम्**) आत्मद्रव्य का (**स्वयं**) स्वयं अनुभव किया।

भावार्थ :- हे प्रभो ! आपने छद्मास्थावस्था में श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मद्रव्य को जैसा जाना था अब सर्वज्ञदशा में उसका वैसा ही अनुभव कर रहे हैं। वस्तुतः श्रुतज्ञान और केवलज्ञान में परोक्ष और प्रत्यक्ष का अंतर है, वस्तुस्वरूप का नहीं।।१०।।

तीव्रैस्तपोभिरभितस्तव देव नित्यं
दूरान्तरं रचयतः पुरुषप्रकृत्योः।
प्राप्तः क्रमात् कुशलिनः परमप्रकर्षं
ज्ञानक्रियाव्यतिकरेण विवेकपाकः।।११।।

अन्वयार्थ :- (**देह**) हे भगवन् ! (**नित्यं**) निरंतर (**अभितः**) दोनों प्रकार के (**तीव्रैः**) कठिन (**तपोभिः**) तपों के द्वारा (**पुरुषप्रकृत्योः**) आत्मा और कर्म में (**दुरान्तरं**) बहुतभारी अंतर (**रचयतः**) करनेवाले (**तव कुशलिनः**) आप कुशल महानुभाव का (**विवेकपाकः**) भेदज्ञानसम्बन्धी परिपाक (**ज्ञानक्रियाव्यतिकरेण**) ज्ञान और चारित्र के व्यतिकरसे (**क्रमात्**) क्रमपूर्वक (**परमप्रकर्षं प्राप्तः**) चरम सीमा को प्राप्त हुआ है।

भावार्थ :- आत्मा और कर्म का अनादिकाल से दूध और पानी के समान एकक्षेत्रावगाहरूप बन्ध चला आ रहा है। आत्मा चेतन द्रव्य है और कर्म अचेतन - पुद्गल द्रव्य है। इन दोनों में अवनि और अंतरिक्ष के समान महान् अंतर है, परंतु अनादिकालीन एक क्षेत्रावगाहरूप बंध देखकर अज्ञानी जीव दोनों के बीच का अंतर भूल जाते हैं। परंतु हे भगवन् आपने अपने ज्ञान के द्वारा सर्वप्रथम उन दोनों की सत्ता का पृथक्-पृथक् अनुभव किया और फिर अंतरंग बहिरंग तप तथा ज्ञान और चारित्र के उभय संयोग से उन दोनों को अलग-अलग किया है। इस प्रकार आपका भेद-विज्ञान चरमावस्था को प्राप्त हुआ है।।११।।

श्रेणीप्रवेशसमये त्वमथाप्रवृत्तं
कुर्वन् मनाक् करणमिष्टविशिष्टशुद्धिः।
आरूढ एव दृढवीर्यचपेटितानि
निर्लोठयन् प्रबलमोहबलानि विष्वक्।।१२।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**मनाक् इष्टविशिष्टशुद्धिः**) जिन्हें (परिणामों की कुछ विशिष्ट शुद्धता अभीष्ट है ऐसे (**त्वं**) आप (**श्रेणीप्रवेशसमये**) श्रेणी प्रवेश के समय (**अथाप्रवत्तं करणं कुर्वन्**) अधःप्रवृत्तकरण को करते हुए (आरूढ एव) आरूढ हुए और आरूढ होते ही आपने अपने (**दृढवीर्यचपेटितानि**) प्रबल पराक्रम से चपेटे हुए (**प्रबलमोहबलानि**) मोह राजा के सबल सैनिकों को (**विष्वक्**) चारों ओर (**निर्लोठयन्**) **भूलुण्ठिन्**) भूलुण्ठित (**कुर्वन**) कर दिया।

भावार्थ :- सातवें अप्रमत्तगणस्थान के स्वथान और सातिशय की अपेक्षा दो भेद हैं। सातिशय अप्रमत्तवाला जीव अथाप्रवृत्त अथवा अधःप्रवृत्तकरण को करता हुआ श्रेणीपर आरूढ होता है और परिणामों की विशुद्धता से मोहकर्म की प्रकृतियों को छिन्न-भिन्न करता है। हे भगवन् ! इसी आगमोक्त पद्धति से आप भी श्रेणीपर आरूढ हुए और आपने भी अपने प्रबल पराक्रम से मोहकर्म की प्रकृतियों को छिन्न-भिन्न किया।।१२ ।

कुर्वन्नपूर्वकरणं परिणामशुद्ध्या
पूर्वादनन्तगुणया परिवर्तमानः।
उत्तेजयन्नविरतं निजवीर्यसारं
प्राप्तोऽसि देव परमं क्षपणोपयोगम्।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे देव ! (**पूर्वात्**) पहले की अपेक्षा (**अनंतगुणया**) अनंतगुणी (**परिणामशुद्ध्या**) परिणमों की शुद्धि से (**परिवर्तमानः**) परिवर्तन करते हुए आपने (**अपूर्वकरणं कुर्वन्**) अपूर्वकरण नामक अष्टम गुणस्थान को प्राप्त किया और (**अविरतं**) निरंतर (**निजवीर्यसारं**) आत्मा की श्रेष्ठशक्ति को (**उत्तेजयन्**) उत्तेजित करते हुए आप (परमं) उत्कृष्ट (**क्षपणोपयोगं**) क्षपणाविधि को (**प्राप्तोऽसि**) प्राप्त हुआ।

भावार्थ :- हे भगवन् ! अथाप्रवृत्तकरण के बाद, आप अपूर्वकरण को प्राप्त हुए।

वहाँ पूर्व की अपेक्षा अनंतुगणी विशुद्धता से आप कर्मों की क्षपणाविधि में अग्रसर हुए।।१३।।

प्राप्यानिवृत्तकरणं करणानुभावा-
न्निर्गालयन् झगिति बादरकर्मकिट्टम्।
अन्तर्विशुद्धिविकसत्यसहजाच्छभावो
जातः क्वचित् क्वचिदपि प्रकटप्रकाशः।।१४।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**अनिवृत्तिकरणं प्राप्य**) अनिवृत्तिकरण नामक नवम गुणस्थान को प्राप्त कर वहाँ अपने (**करणानुभावात्**) अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों के प्रभाव से (**झगिति**) शीघ्र ही (**बादरकर्मकिट्टम्**) बादरकर्मरूपी कीटको (**निर्गालयन्**) निर्लुप्त किया। तदनन्तर (**क्वचित्**) कहीं किन्हीं भागों में (**अंतर्विशुद्धिविकसत्सहजाच्छभावः**) अंतरंग की विशुद्धता से विकसित होनेवाला सहज निर्मलं भाव (**जातः**) प्राप्त हुआ और (**क्वचिदपि**) कहीं (**प्रकटप्रकाशः**) प्रकट प्रकाश - मोह क्षय के अभिमुख विशुद्धि का उत्कर्ष प्रकट हुआ।

भावार्थ :- अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों के द्वारा कर्मों की अनुभागशक्ति को क्षीण करते हुए आप सहजस्वभाव के प्राप्त करने में अग्रसर हुए।।१४।।

स्वं सूक्ष्मकिट्टहठघट्टनयाऽवशिष्ट-
लोभाणुकैककणचिक्कणमुत्कयंस्त्वम्।
आलम्ब्य किञ्चिदपि सूक्ष्मकषायभावं
जातः क्षणात् क्षपितकृत्स्नकषायबन्धः।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**सूक्ष्मकिट्टहठघट्टनया**) सूक्ष्म कीटको भी हठात् नष्ट करने से (**अवशिष्टलोभाणुकैककणचिक्कणं**) जिसमें मात्र संज्वलन लोभसम्बन्धी एक सूक्ष्म कण की चिक्कणता शेष रह गई थी ऐसे (**स्वं**) अपने आपको (**उत्कयन् त्वम्**) उत्कण्ठित करते हुए आप (**सूक्ष्मकषायभावं किञ्चिदपि आलम्ब्य**) सूक्ष्म कषायभाव का कुछ आलम्बन लेकर दशम गुणस्थान को प्राप्त हुए और वहाँ (**क्षणात्**) क्षणभर में (**क्षपितकृत्स्नकषायबन्धः**

जातः) समस्त कषायबन्ध को नष्ट करनेवाले हो गये।

भावार्थ :- नवम गुणस्थान के अंत में जो कषाय की सूक्ष्म कीट शेष रह गई थी उसे भी नष्ट करने का प्रयत्न करते हुए जब आपके संज्वलन लोभसम्बन्धी सूक्ष्मतम राग रह गया तब आप सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशम गुणस्थान को प्राप्त हुए। वहाँ आपने समस्त कषायों के बंध का अभाव कर दिया।।१५।।

उद्वम्य मांसलमशेषकषायकिट्ट-
मालम्ब्य निर्भरमनन्तगुणा विशुद्धीः।
जातोऽस्यसंख्यशुभसंयमलब्धिधाम-
सोपानपङ्क्तिशिखरैकशिखामणिस्त्वम्।।१६।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**त्वम्**) आपने (**अनंतगुणाः विशुद्धीः**) अनंतगुणी विशुद्धताओं का (**निर्भरम्**) अतिशय (**आलम्ब्य**) आलम्बन लेकर (**मांसलं**) सुदृढ़ (**अशेषकषायकिट्टं**) समस्त कषायरूपी कीटको (**उद्वम्य**) वमन किया और उसके फलस्वरूप आप (**असंख्यशुभसंयमलब्धिधामसोपानपङ्क्तिशिखरैकशिखामणिः**) असंख्यात शुभसंयम की प्राप्तिरूप स्थानको प्राप्त करानेवाली सोपानपङक्तिसम्बन्धी शिखर के अद्वितीय शिखामणि (**जातः असि**) हो गये।

भावार्थ :- समस्त कषायभाव को नष्ट कर आप यथाख्यात चारित्र के धारक हुए।।१६।।

शब्दार्थसंक्रमवितर्कमनेकधाव-
स्पृष्टया तदास्थितमनास्त्वमसंक्रमोऽभूः।
एकाग्ररुद्धमनस्तव तत्र चित्त-
ग्रन्थौ स्फुटत्युदितमेतदनन्ततेजः।।१७।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**शब्दार्थसंक्रमवितर्क**) शब्द और अर्थ के संक्रमण से युक्त श्रुत का (**अनेकधावस्पृष्ट्या**) अनेक प्रकार आलम्बन लेनेसे जो पृथक्त्ववीचार नामका शुक्लध्यान है (**तदास्थितमनाः**) उसीमें आपका मन स्थित रहा, परंतु कषाय का निरोध

हो जानेसे यहाँ (**त्वम् असंक्रमः अभूः**) आप संक्रमण से रहित हो गये। (**एकाग्ररुद्धमनसः**) एकाग्र पदार्थ में मन को रोकनेवाले (**तव**) आपकी (**चित्तग्रंथौ स्फुटति सति**) मन की गाँठ खुलते ही (**तत्र**) उस क्षीणमोहगुणस्थान के अंत में (**एतत्**) यह आगे कहा जानेवाला (अनंततेजः) अनंततेज (**उदितं**) उदित हुआ है।

भावार्थ :- शुक्लध्यान के प्रथम पाद - पृथक्त्ववितर्कविचार में अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति होती रहती है, परंतु द्वितीय पाद-एकत्ववितर्कमें वह संक्रान्ति समाप्त हो जाती है। बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान के अंत में एकत्ववितर्क नामका द्वितीय शुक्लध्यान प्रकट होता है उसके फलस्वरूप यहाँ अनंत तेज प्रकट होता है।।१७।।

साक्षादसंख्यगुणनिर्जरणस्त्रसजस्त्व-
मन्ते भवन् क्षपितसंहतघातिकर्मा।
उन्मीलयन्नखिलमात्मकलाकलाप-
मासीरनन्तगुणशुद्धिविशुद्धतत्त्वः।।१८।।

अन्वयार्थ :- (**साक्षात् असंख्यगुणनिर्जरणस्त्रजः**) साक्षात् असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरारूप माला के (**अंते भवन्**) अंतिम स्थान में रहते हुए जिन्होंने (**क्षपितसंहतघातिकर्मा**) समस्त घातियाकर्मों का क्षय कर दिया है तथा जो (**अखिलम् आत्मकलाककलापं**) सम्पूर्ण आत्मकलाओं के समूह को (**उन्मीलयन्**) प्रकट कर रहे हैं ऐसे (**त्वं**) आप (**अनंतगुणशुद्धिविशुद्धतत्त्वः**) अनंतगुणी शुद्धि से आत्मतत्त्व को विशुद्ध करनेवाले (**आसीः**) हुए हैं।

भावार्थ :- सम्यग्दृष्टि आदि गुणश्रेणी निर्जरा के दश स्थानों में जिनका अंतिम स्थान है अर्थात् जिनके सबसे अधिक निर्जरा होती है उस निर्जरा के फलस्वरूप उनके घातियाकर्म तो नष्ट हो ही जाते हैं प्रत्येक समय असंख्य कर्मस्कन्धों की भी निर्जरा होती रहती है। उस समय उनके समस्त आत्मगुणों का विकास हो जाता है और उनका आत्मतत्त्व अनंतगुणी विशुद्धि से निर्मल हो जाता है।।१८।।

एतत्ततः प्रभृति शान्तमनन्ततेज
उत्तेजितं सहजवीर्यगुणोदयेन।

यस्यान्तरुन्मिषदनन्तमनन्तरूप-
संकीर्णपूर्णमहिम प्रतिभाति विश्वम्।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**ततः प्रभृति**) उसी समय (**सहजवीर्यगुणोदयेन**) सहज-स्वाभाविक वीर्य गुण के प्रकट होनेसे (**एतत्**) यह (**शान्तं**) शांत (**अनंततेजः**) अनंत तेज (**उत्तेजित**) प्रकट होता है (**यस्य अंतः**) जिसके भीतर (**उन्मिषदनन्तं**) प्रकटित होते हुए अनंत पदार्थों से युक्त तथा (**अनंतरूपसंकीर्णपूर्णमहिम**) अनंतरूपों से संकीर्ण एवं पूर्व महिमावाला (**विश्वम्**) लोकालोक (**प्रतिभाति**) प्रतिभासित होता है।

भावार्थ :- इसी गुण स्थान में अनंतवीर्य के साथ सहज शांत, केवलज्ञानरूप, वह अनंत तेज प्रकट होता है जिसमें अनंतानंत पदार्थों से व्याप्त समस्त विश्व प्रतिबिम्बित होता है।।१९।।

योगान् जिघांसुरपि योगफलं जिघृक्षुः
शेषस्य कर्मरजसः प्रसभं क्षयाय।
आस्फोटयन्नतिभरेण निजप्रदेशाँ -
स्त्वं लोकपूरमकरोः क्रमजृम्भमाणः।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**योगान् जिघांसुः अपि**) जो योगों को नष्ट करने की इच्छा करते हुए भी (**योगफलं जिघृक्षुः**) योगों का फल ग्रहण करना चाहते थे तथा जो (**क्रमजृम्भमाणः**) क्रम से विस्तार को प्राप्त हो रहे थे ऐसे (**त्वं**) आपने (**शेषस्य कर्मरजसः**) शेष कर्मरूपी रज का (**प्रसभं**) हठात् (**क्षयाय**) क्षय करनेके लिये (**अतिभरेण**) बहुत वेग से (**निजप्रदेशान्**) आत्म प्रदेशों को (**आस्फोटयन्**) फैलाते हुए (**लोकपूरं**) लोकपूरण समुद्घात (**अकरोः**) किया था।

भावार्थ :- जिन केवलियों की आयु कर्म की स्थिति अल्प ही तथा शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति अधिक हो वे उन अघआतिया कर्मों की स्थिति घटाकर आयु के बराबर करनेके लिये लोकपूरण समुद्घात करते हैं। इस समुद्घात के दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण के भेद से चार भेद हैं और उसके करनेमें आठ समय लगते हैं। हे प्रभो ! शेष अघातिया कर्मों का क्षय करनेके लिये आपने भी यह लोकपूरण

समुद्घात किया था।।२०।।

पश्चादशेषगुणशीलभरोपपन्नः
शीलेशितां त्वमधिगम्य निरुद्धयोगः।
स्तोकं विवृत्य परिवर्त्य झगित्यनादि-
संसारपर्ययमभूज्जिन सादिसिद्धः।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**पश्चात्**) उस लोकपूरण समुद्घात के बाद (**अशेषगुणशीलभरोपपन्नः**) जो समस्त अर्थात् चौरासीलाख उत्तर गुण और अठारह हजार शील के भेदों से सहित हैं, तथा (**शीलेशिताम् अधिगम्य**) शीलों के ऐश्वर्य को प्राप्त कर (**निरुद्धयोगः**) जिन्होंने योगनिरोध किया है ऐसे (**त्वम्**) आप (**स्तोकं**) कुछ काल तक (**विवृत्य**) चौदहवें गुणस्थान में रहकर (**झगिति**) शीघ्र ही (**अनादि संसारपर्ययम्**) अनादि संसार पर्याय को (**परिवर्त्य**) परिवर्तितकर (**सादिसिद्धः**) सादिसिद्ध (**अभूत्**) हो गये।

भावार्थ :- लोकपूरण समुद्घात के पश्चात् जो अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त हुए हैं तथा वहाँ आनेपर जिनके चौरासी लाख उत्तर गुणों और अठारह हजार शील के भेदों की पूर्णता हुई है, जिन्होंने योगनिरोध कर अयोग अवस्था को प्राप्त किया है, ऐसे आपने 'अ इ उ ऋ लृ' इन पाँच लघुस्वरों के उच्चारण में जितना काल लगता है उतने कालतक इस अयोगकेवली गुणस्थान में रहकर अनादि कालीन संसारपर्याय का नाश किया तथा सादि सिद्धपर्याय को प्राप्त किया।।२१।

सम्प्रत्यनन्तसुखदर्शनबोधवीर्य-
संभारनिर्भरभृतामृतसारमूर्तिः।
अत्यन्तमायततमं गमयन्नदर्क-
मेको भवान् विजयतेऽस्खलितप्रतापः।।२२।।

अन्वयार्थ :- (**सम्प्रति**) इस समय - सिद्धपर्याय में (**अनंतसुखदर्शनबोधवीर्यसंभारनिर्भर-भृतामृतसारमूर्तिः**) जिनकी अविनाशी श्रेष्ठ मूर्ति अनंत सुख, अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान

और अनंत वीर्य के संभार से अत्यंत परिपूर्ण है और (**अस्खलितप्रतापः**) जिनका प्रताप कभी कालत्रय में भी स्खलित नहीं होता ऐसे (**एको भवान्**) भाव-द्रव्य कर्म नो कर्मरूप पुद्‌गल द्रव्य के संपर्क से रहित एक, आप (**अत्यंतम् आयततमं**) अनंत तथा अत्यंत दीर्घ (**उदर्कं**) भविष्यत्काल को (**गमयन्**) व्यतीत करते हुए (**विजयते**) जयवन्त प्रवर्तते हैं।

भावार्थ :- यहाँ भगवान् की सिद्धावस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आप अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य इस अनंत चतुष्टय से युक्त रहते हुए अनंत भविष्यकाल में भी इसी सिद्धपर्याय में अवस्थित रहेंगे। आपकी यह सिद्धपर्याय सादि अनंत है।।२२।।

कालत्रयोपचितविश्वरसातिपान-
सौहित्यनित्यमुदिताद्‌भुतबोधदृष्टिः।
उत्तेजिताचलितवीर्यविशालशक्तिः
शश्वद् भवाननुपमं सुखमेव भुङ्‌क्ते।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**कालत्रयोपचितविश्वरसातिपानसौहित्यनित्यमुदिताद्‌भुतबोधदृष्टिः**) त्रिकाल सम्बन्धी समस्त पदार्थों के रसातिपानसे समुत्पन्न तृप्ति से जिनकी आश्चर्यकारक ज्ञानरूप दृष्टि निरंतर उदित रहती है तथा (**उत्तेजिताचलितवीर्यविशालशक्तिः**) जिनके वीर्य की विशाल शक्ति सदा क्रियाशील और स्वकीय कार्य से अविचलित रहती है ऐसे (**भवान्**) आप (**शश्वत्**) निरंतर (**अनुपमं**) उपमारहित (**सुखमेव**) सुख ही (**भुङ्‌क्ते**) भोगते हैं।

भावार्थ :- सिद्ध भगवान् के आत्मीक अनंत सुख का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आप त्रिकाल सम्बन्धी अनंत पदार्थों को जानते देखते हैं इसलिये अज्ञान और अदर्शन जनित दुःखसे रहित हैं तथा आपका अनंत बल सदा उत्तेजित - क्रियाशील और स्वकार्य से कभी विचलित नहीं होता, अतः अशक्ति सम्बन्धी दुःख से रहित हैं इस तरह आप निरंतर अनुपम सुख ही भोगते हैं। सांसारिक जीवों का सुख विषयेच्छा की पूर्ति से समुत्पन्न है और आपका सुख विषयेच्छा की निवृत्ति से समुत्पन्न है, अतः उसे सांसारिक जीवों के सुख की उपमा नहीं दी जा सकती।।२३।।

संक्रामसीव लिखसीव विकर्षसीव
(संरक्षसीव) पिबसीव बलेन विश्वम्।
उद्दामवीर्यबलगर्वितदृग्विकाश -
लीलायितैर्दिशि दिशि स्फुटसीव देव।।२४।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे देव ! ऐसा जान पड़ता है मानो आप (**विश्वं**) समस्त लोकालोक को (**बलेन**) बलपूर्वक (**संक्रामसि इव**) केवलज्ञान में प्रतिबिम्बित होनेके कारण अपने आपमें संक्रान्त कर रहे हों (**लिखसि इव**) लिखसे रहे हों (**विकर्षसि इव**) आकुष्ट-सा कर रहे हों (**संरक्षसि इव**) संरक्षिता-सा कर रहे हों (**पिवसि इव**) पी-सा रहे हों और (**उद्दामीवीर्यबलगर्वितदृग्विकाशलीलायितैः**) उत्कृट - अनंत वीर्य -बल से गर्वित, दृष्टिविकास की लीलाओं से (**दिशि दिशि**) प्रत्येक दिशा में मानों (**स्फुटसि इव**) स्वयं प्रकट हो रहे हों।

भावार्थ :- ज्ञानगुण की स्वच्छता के कारण आप समस्त विश्व के ज्ञायक हैं, इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि इस विश्व को आप हठात् अपने आपमें संक्रान्त कर रहे है। अपने आपमें लिख रहे हों, अपनी ओर खींच रहे हों, अपने आपमें संरक्षित कर रहे हों और उसका पान कर रहे हों। साथ ही अनंत बल से परिपूर्ण दृष्टि के विकास से ऐसा जान पड़ता है कि आप मानों समस्त दिशाओं में स्वयं ही स्फुटित हो रहे हों।।२४।।

देव स्फुटं स्वयमिमं मम चित्तकोशं
प्रस्फोटय स्फुटय विश्वमशेषमेव।
एष प्रभो सं (?) प्रसभजृम्भितचिद्विकाश-
हासैर्भवामि किल सर्वमयोऽहमेव।।२५।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे भगवन् ! (**स्वयं स्फुटं मम इमं चित्तकोशम्**) स्वयं विकसित मेरे इस हृदयरूपी कुड्मल को (**प्रस्फोटय**) अतिशय विकसित करें तथा (**अशेषमेव विश्वं**) समस्त विश्व को (**स्फुटय**) विकसित करें। जिससे (**प्रभो**) हे नाथ ! (**किल**) निश्चय पूर्वक (**एषः अहमेव**) यह मैं ही (**सं(?) प्रसभविजृम्भितचिद्विकाशहासैः**) बलपूर्वक

वृद्धि को प्राप्त चैतन्यगुण के विकासरूप हास्य के द्वारा (**सर्वमयः**) सर्वमय (**भवामि**) हो जाऊँ।

भावार्थ :- यहाँ ग्रंथकर्ता आकाङ्क्षा प्रकट करते हैं कि हे भगवन् ! आपके अनुग्रह से मेरा हृदयरूपी कुड्मल खिल जावे जिसके फलस्वरूप संसार के समस्त पदार्थ मुझ में प्रतिभासित होने लगें और मैं सर्वमय - सर्वज्ञ हो जाऊँ।।२५।।

ॐ

(४)

वंशस्थवृत्तम्

सदोदितानन्तविभूतितेजसे स्वरूपगुप्तात्ममहिम्नि दीप्यते।
विशुद्धदृग्बोधमयैकचिद्भृते नमोऽस्तु तुभ्यं जिन विश्वभासिने।।१।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**सदोदितानन्तविभूतितेज से**) सदा के लिये प्रकट हुए अनंतचतुष्टयरूप विभूति के तेज से सहित (**स्वरूपगुप्तात्ममहिम्नि**) स्वरूप से गुप्त - रक्षित आत्मा की महिमा में ([१]**दीप्यते**) देदीप्यमान (**विशुद्धदृग्बोधमयैकचिद्भृते**) विशुद्ध दर्शन और ज्ञानरूप चेतना को धारण करनेवाले तथा (**विश्वभासिने**) समस्त लोकालोक को जाननेवाले (**तुभ्यं**) आपके लिये (**नमोऽस्तु**) नमस्कार हो।

भावार्थ :- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अंतराय इन चार घातिया कर्मों के नष्ट हो जानेपर `जिन' संज्ञा प्राप्त होती है। `जयति स्म कर्मशत्रून् इति जिनः' जो कर्मरूप शत्रु को जीत चुकते हैं वे जिन कहलाते हैं। उपर्युक्त चार घातिया कर्म नष्ट होनेपर आत्मा में अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य यह अनंत चतुष्टयरूप विभूति उत्पन्न होती है। उनकी यह विभूति अनंत रहती है - उसका कभी नाश नहीं होता है तथा इस विभूति के कारण ही उनका तेज अपरिमित हो जाता है। उसी तेज से आकृष्ट होकर सौ इन्द्र निरंतर उनकी वंदना करते हैं। वे अपने चैतन्यस्वरूप से सुरक्षित आत्मा की महिमा में देदीप्यमान रहते हैं। मोहजनित विकारी भावों से रहित दर्शन और ज्ञान चेतना को धारण करते हैं और केवलज्ञान के प्रकट हो जानेसे लोक अलोक को स्पष्ट जानते हैं। ऐसी अद्भुत सामर्थ्य से युक्त जिनेन्द्र भगवान् के लिये यहाँ नमस्कार किया है।।१।।

---

१. आत्मनेपदधातोरपि क्वचित् शतृप्रत्ययो दृश्यते।

अनादिनष्टं तव धाम य(म)द्वहिस्तदद्य दृष्टं त्वयि संप्रसीदति।
अनेन नृत्याम्यहमेष हर्षतश्चिदङ्गहारैः स्फुटयन् महारसम्।।२।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**तव**) आपका जो (**धाम**) तेज (**भद् बहिः, अनादिनष्टं**) अनादिकाल से - मेरे अनुभव से दूर हो रहा था (**तद्**) वह तेज (**अद्य**) आज (**त्वयि** संप्रसीदति) आपके प्रसन्न होनेपर (**दृष्टं**) दिखाई देने लगा है - मेरे अनुभवमें आने लगा है। (**अनेन**) इस कारण (**एषोऽहम्**) यह मैं (**चिदङ्गहारैः**) चैतन्यरूप अङ्गविक्षेप के द्वारा (**महारसं स्फुटयन्**) महान-अद्वितीय रस को प्रकट करता हुआ (**हर्षतः**) हर्ष से (**नृत्यामि**) नृत्य करता हूँ।

भावार्थ :- हे भगवन् ! मिथ्यात्व कर्म के तीव्रोदय के कारण मेरी दृष्टि अब तक आपके दिव्यज्ञान - तेजपर गई नहीं। आप अनंत चतुष्टरूप तेज से विभूषित हैं। यह बात आज तक मेरी श्रद्धा में नहीं आई, परंतु आज आपके प्रसाद से मेरा वह मिथ्यात्व कर्म क्षीण हो गया है, अतः आपका यह दिव्य तेज मेरे अनुभव में आने लगा है इसलिए मैं आनंदविभोर हर्ष से नृत्य करता हूँ। जिस प्रकार कोई मनुष्य चिरकाल से खोयी हुई अपनी वस्तु को प्राप्त कर हर्ष से नृत्य करने लगता है उसी प्रकार मैं भी चिर काल से भूले हुए आपके दिव्य तेज को प्राप्त कर हर्ष से नृत्य कर रहा हूँ। अर्थात् हे भगवन् ! मैं अपने जिस आत्मतेज को अनादिकाल से भूला हुआ था वह आज आपके प्रसाद से मेरी दृष्टि में आ गया। मेरी श्रद्धा हो गई कि जो वीतराग स्वरूप आपका है वही मेरा स्वरूप है, हमारे और आपके आत्मद्रव्य में कोई अंतर नहीं है। अंतर मात्र पर्याय में है, आपकी वीतराग पर्याय है और मेरी सराग पर्याय है। मेरी सराग पर्याय मोह जनित है, अतः मैं अपने पुरुषार्थ से मोह को नष्ट कर आपके ही समान वीतराग बन सकता हूँ। अपनी इस निधि का बोध होनेके कारण मैं अपने चिद्ङ्गहार - चैतन्य के विकल्पों से महान् रस को प्रकट करता हुआ हर्ष से नृत्य करता हूँ।।२।।

इदं तवोदेति दुरासदं महः प्रकाशयद्विश्वविसारि वैभवम्।
उदञ्च्यमानं सरलीकृतास्खलत्स्वभावभावैर्निजतत्त्ववेदिभिः।।३।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**सरलीकृतास्खलत्स्वभावभावैः**) जिनका स्वभावभाव

सरलीकृत - मायारहित तथा अस्खलित - अविचलित है ऐसे (**निजतत्त्वेदिभिः**) आत्मतत्त्व के ज्ञाता पुरुषों के द्वारा जो (**उदञ्च्यमानं**) उत्कृष्टरूप से पूजित हो रहा है तथा जो (**विश्वविसारि**) विश्वव्यापी (**वैभवं**) वैभव को (**प्रकाशयत्**) प्रकट कर रहा है ऐसा (**इदं**) यह (**तव**) आपका (**दुरासदं**) दुर्लभ (**महः**) तेज (**उदेति**) प्रकट हो रहा है - हमारे अनुभव में आ रहा है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! अरहन्त अवस्था प्रकट होते ही आपका वह दिव्य तेज प्रकट हो जाता है जो अन्य संसारी जीवों के लिए दुर्लभं रहता है, जो विश्वव्यापी सामर्थ्य को प्रकट करता है और सरल एवं अस्खलित स्वभावभाव से युक्त आत्मतत्त्व के ज्ञाता पुरुष जिसकी सदा स्तुति करते हैं।।३।।

इमाः स्वतत्त्वप्रतिबद्धसंहृताः समुन्मिषन्त्यश्चिति शक्तयः स्फुटः।
स्वयं त्वयानन्त्यमुपेत्य धारिता न कस्य विश्वेश दिशन्ति विस्मयम्।।४।।

अन्वयार्थ :- (**विश्वेश**) हे विश्वेश्वर - हे त्रिलोकीनाथ ! जो (**स्वतत्त्वप्रतिबद्धसंहृताः**) आत्मतत्त्व से सम्बद्ध हैं तथा आत्मतत्त्व में ही जिनका समावेश होता है (**चिति समुन्मिषन्त्यः**) जो चेतन - ज्ञानस्वरूप आत्मा में (**समुन्मिषन्त्यः**) प्रकट हो रही हैं, (**स्फुटाः**) अत्यंत स्पष्टरूप से जिनका अनुभव हो रहा है और (**स्वयं**) स्वयं (**आनन्त्यं**) अनंतरूपता को (उपेत्य) प्राप्त होकर जो (**त्वया**) आपके द्वारा (**धारिताः**) धारण की गई हैं ऐसी (**इमाः**) ये (**शक्तयः**) शक्तियाँ (**कस्या**) किसे (विस्मयं) आश्चर्य (**न दिशन्ति**) उत्पन्न नहीं करती ?

भावार्थ :- आत्मा चैतन्यस्वरूप हैं। भेदनय से गुण-गुणी का भेद स्वीकृत करनेपर उस आत्मा में अनंत शक्तियाँ प्रकट होती हैं। वे सब शक्तियाँ आत्मा से ही उत्पन्न होती हैं और आत्मा में ही समावेश को प्राप्त होती हैं जिस प्रकार लहरें समुद्र से ही उत्पन्न होती हैं और समुद्र में ही समाविष्ट होती हैं उसी प्रकार ये शक्तियाँ आत्मा से ही उत्पन्न होती हैं और आत्मा में ही समाविष्ट हो जाती हैं। यद्यपि आप एक हैं तथापि अनंत शक्तियों के धारक होनेसे अनंतरूप प्रतीत होते हैं[१]। हे भगवन् ! आपकी ये अनंत शक्तियाँ किसे आश्चर्य उत्पन्न नहीं करती ? अर्थात् सभीको आश्चर्य उत्पन्न करती हैं।।४।।

---

१. इतो गतमनेकतां दधत् - २७३ समयसार कलश।

स्ववैभवस्य ह्यनभिज्ञतेजसो य एव नुः स प्रतिभाससे पशोः।
स एव विज्ञानघनस्य कस्यचित् प्रकाशमेकोऽपि वहस्यनन्तताम्।।५।।

अन्वयार्थ :- (**हि**) निश्चय से (**स्ववैभवस्य अनभिज्ञतेजसः**) आत्मासामर्थ्य से अपरिचित तेजवाले (**पशोः नुः**) अज्ञानी पुरुष के लिए आप (**यः एव**) जो ही हैं - एक शक्ति के स्वामी हैं (**सः एव**) वही (**प्रतिभास से**) प्रतिभासित होते हैं, परंतु (**विज्ञानघनस्य कस्यचित्**) वीतराग विज्ञान से परिपूर्ण किसी ज्ञानी जीव की दृष्टि में आप (**प्रकाशं**) स्पष्ट ही (**एकोऽपि**) एक होकर भी (**अनंततां**) अनंतपने को (**वहसि**) धारण करते हैं।

भावार्थ :- पूर्व श्लोक में इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया गया था कि आप एक होकर भी अनंत शक्तियों को कैसे धारण करते हैं ? उसके उत्तर में वहीं कहा गया था कि आप शक्तियों की अनंतता के कारण स्वयं अनंतरूपता को प्राप्त हैं अर्थात् आप अनंत होकर अनंत शक्तियों को धारण करते हैं। इस श्लोक में इस बात को स्पष्ट किया जा रहा है कि एक व्यक्ति अनंतपने को किस प्रकार प्राप्त होता है ? स्ववैभव - आत्मा की अनंत सामर्थ्यसे अपरिचित अज्ञानी पुरुष का तो यह एकांत अभिप्राय रहता है कि जो आत्मा एक शक्ति का स्वामी है वही दूसरी शक्ति का स्वामी है, इस प्रकार एक आत्मा अनंत शक्तियों का धारक होता है। यह आश्चर्य की बात है, परंतु जो विज्ञानघन होनेसे आत्मा के वैभव से परिचित है उसका अभिप्राय रहता है कि आत्मा प्रत्येक शक्ति की अपेक्षा भिन्न-भिन्न है, अतः वह प्रदेशों की अपेक्षा एक होकर भी शक्तियों की अपेक्षा अनंतरूपता को धारण करता है।

बात यह है कि यहाँ आचार्य `एक और अनेक' इन दो विरोधी धर्मों का समन्वय करते हुए जिनेन्द्र की स्तुति कर रहे हैं। वे कहते हैं कि हे भगवन् ! आप एक होकर भी अनेक हैं। एक तो इसलिये हैं कि आपके प्रदेश भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रति भिन्न-भिन्न नहीं हैं और अनेक इसलिये हैं कि आपकी वे अनंत शक्तियाँ भिन्न-भिन्न कार्य करती हैं तथा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से उनका विवेचन होता है। जैसे एक तोला मिश्री में स्पर्श रस गंध और वर्ण ये चार गुण हैं। यहाँ कोई पूछता है कि चार गुण कितने-कितने हैं ? क्या चार-चार आने भर हैं ? उत्तर मिलता है कि नहीं, चारों गुण एक-एक तोला हैं। तो क्या मिश्री चार तोला है ? नहीं, एक तोला ही है। फिर इसकी संगति कैसे बैठती है ? स्पर्श रस गंध और वर्ण

के प्रदेश जुदे-जुदे नहीं हैं इसलिये सब मिलकर भी एक ही तोला हैं। तो यह कहना चाहिए कि मिश्री एक अखण्ड पदार्थ है उसमें स्पर्श रस गंध और वर्ण का विकल्प नहीं है। हाँ, प्रदेशभेद न होनेसे मिश्री स्पर्शादि चाररूप नहीं है एकरूप है। परंतु जब स्पर्श रस गंध और वर्ण इन चारों के स्वभाव और उन चारों को जानने के साधन स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रियों को दृष्टि में रखकर विचार करते हैं तो मिश्री स्पर्शादि के भेद से चाररूप दिखती है।

प्रकृत में विभिन्न शक्तियों के प्रति आत्मा के प्रदेश जुदे-जुदे नहीं है। इसलिये आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है और विभिन्न शक्तियों के कार्य जुदे-जुदे हैं, अतः आत्मा उन शक्तियों के कारण अनेकरूप है। द्रव्य की एकता और अनेकता का समन्वय गुण और पर्यायों की अपेक्षा किया जाता है। यहाँ आचार्य ने शक्तिरूप गुणों की अपेक्षा आत्मा की एक और अनेकता का वर्णन किया है।।५।।

वहन्त्यनन्तत्वममी तवान्वया अमी अनन्ता व्यतिरेककेलयः।
त्वमेकचित्पूरचमत्कृतैः स्फुरँस्तथापि देवैक इवावभाससे।।६।।

अन्वयार्थ :- (**देह**) हे देव ! यद्यपि (**तव**) आपके (**अमी**) ये (**अन्वयाः**) गुण (**अनंतत्वम्**) अनंतपने को (**वहन्ति**) धारण करते हैं और (**अमी**) ये (**व्यतिरेककेलयः**) पर्यायों की सन्ततियाँ (**अनंताः**) अनंत हैं (**तथापि**) तो भी (**एकचित्पूरचमत्कृतैः**) एक चैतन्य के चमत्कार से (**स्फुरन्**) स्फुरित होते हुए (**त्वम्**) आप (**एक इव**) एकके समान (**अवभाससे**) जान पड़ते हैं।

भावार्थ :- प्रत्येक द्रव्य, गुण और पर्यायों का समूह है। जो अन्वयरूप से समस्त पर्यायों में द्रव्य के साथ रहते हैं उन्हें गुण अथवा अन्वय कहते हैं और जो क्रम-क्रम से होती हैं उन्हें पर्याय अथवा व्यतिरेक कहते हैं। एक द्रव्य में एक साथ अनेक गुणों का सद्भाव रहता है परंतु पर्याय एककाल में एक ही रहती है। इस प्रकार एक द्रव्य में रहनेवाले गुण अनंत हैं तथा कालक्रम से होनेवाली पर्यायें भी अनंत हैं। हे भगवन् ! जब इन अनंत गुणों और अनंत पर्यायों की ओर दृष्टि देकर आपका विचार करता हूँ तब आप अनंतरूप प्रतीत होते हैं परंतु जब इस ओर दृष्टि जाती है कि आप इन अनंत गुणों और पर्यायों से युक्त होकर भी एक चैतन्य चमत्कार से ही देदीप्यमान हो रहे हैं तब ऐसा जान पड़ता है कि आप एक हैं, अनंत नहीं

हैं।।६।।

असीमसंवर्द्धितबोधवल्लरीपिनद्धविश्वस्य तवोल्लसन्त्यमी।
प्रकाममन्तर्मुखक्लृप्तपल्लवाः स्वभावभावोच्छलनैककेलयः।।७।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**असमीसंवर्द्धितबोधवल्लरीपिनद्धविश्वस्य**) सीमारहित वृद्धि को प्राप्त हुई केवलज्ञानरूपी लता के द्वारा जिन्होंने समस्त विश्व को व्याप्त कर रक्खा है ऐसे (**तव**) आपकी (**अमी**) यह (**अंतर्मुखक्लृप्तपल्लवाः**) आत्मस्वभाव की ओर समुद्यत हैं पत्र जिसके ऐसी (**स्वभावभावोच्छलनैककेलयः**) स्वकीय शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करने की अद्वितीय क्रीड़ाए (**प्रकामं**) अत्यंत (**उल्लसन्ति**) सुशोभित हो रही हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! व्यवहार नय से आप अनंत ज्ञान के धारक हैं - आपने अपने इस अनंत ज्ञान का ज्ञेय समस्त विश्व-लोक और अलोक को बनाया है। परंतु निश्चयनय से आपका वह अनंत ज्ञान बहिर्मुख न होकर अंतर्मुख है अतएव आप लोकालोक के ज्ञाता न होकर आत्मज्ञ हैं - एक आत्मा को जानते हैं। यहाँ लोकालोक के जानने का निषेध नहीं है किन्तु उसे आत्मज्ञता में ही गतार्थ किया गया है। ज्ञानगुण का विभाव और स्वभावरूप परिणमन होता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये चार ज्ञान, ज्ञानगुण के विभाव परिणमन हैं और केवलज्ञान स्वभाव परिणमन है। कारण समयसार की दशा में बारहवें गुणस्थान तक आपका पूर्ण पुरुषार्थ इसी केवलज्ञानरूप स्वभाव परिणमन को प्राप्त करने में संलग्न रहा और अब कार्यसमयसार की दशा में उसकी प्राप्ति हो चुकनेपर उसीमें छलक रहा है - व्यवहारनय से अनंतज्ञान ज्ञेयों को और निश्चयनय से आत्मस्वभाव को ज्ञेय बना रहा है।।७।।

अमन्दबोधानिलकेलिदोलितं समूलमुन्मूलयोऽखिलं जगत्।
तवेदमूर्जस्वलमात्मखेलितं निकाममान्दोलयतीव मे मनः।।८।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**अमन्दबोधानिकेलिदोलितं**) अनंत ज्ञानरूपी वायु की क्रीड़ा से कम्पित, (**अखिलं जगत्**) समस्त जगत् - स्वकीय संसार स्थिति को (**समूलं `यथा स्यात्तथा'**) मूल सहित (**उन्मूलयतः**) उन्मूलित करनेवाले - नष्ट करनेवाले (**तव**) आपकी (**इदम्**) यह (**ऊर्जस्वलं**) सबल (**आत्मखेलितं**) आत्मक्रीडा (**मे मनः**) मेरे मन को (**निकामं**)

अत्यंत (आन्दोलयतीव) हिलासी रही है।

भावार्थ :- जिस प्रकार कोई मनुष्य वायु के प्रबल आघात से कम्पित समस्त वृक्षावली को जड़ सहित उखाड़ कर दूर फेंक रहा हो तो उसकी उस प्रबल शक्ति सम्पन्न क्रीडा को देख, दर्शन का मन आश्चर्यान्वित जैसा हो जाता है उसी प्रकार हे भगवन् ! आप अनंत ज्ञानरूपी प्रबल वायु के द्वारा कम्पित समस्त जगत् - स्वकीय संसारस्थिति को जड़-मूल से नष्ट कर रहे हैं। अतः आपकी यह आत्मक्रीडा मेरे मन को आश्चर्य से चकित कर रही है। तात्पर्य यह है कि मोक्ष प्राप्त करने के पहले आपने केवलज्ञान प्राप्त किया तथा उसके द्वारा अपने अतीत अनंत भवों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त किया।।८।।

अगाधधीरोद्धतदुर्द्धरं भरात्तरङ्गयन् वल्गसि बोधसागरम्।
यदेककल्लोलमहाप्लवप्लुतं त्रिकालमालार्पितमीक्ष्यते जगत्।।९।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**त्रिकालमालार्पितं**) तीनों कालसम्बन्धी अनंत पर्यायों से सहित यह (**जगत्**) लोक, (**यदेककल्लोलमहाप्लवप्लुतं**) जिसकी एक तरङ्ग सम्बन्धी महापूर में डूबा हुआ (**ईक्ष्यते**) दिखाई देता है उस (**अगाधधीरोद्धतदुर्द्धरम्**) अगाध, धीर, उद्धत और दुर्धर (**बोधसागरम्**) सम्यग्ज्ञानरूपी सागर को (**भरात्**) बड़े जोर से (तरङ्गयन्) तरङ्गित करते हुए आप (**वल्गसि**) चलते हैं।

भावार्थ :- हे प्रभो ! आपका केवलज्ञानरूपी सागर अगाध है - उसकी सीमा को कोई प्राप्त नहीं कर सकता है, क्योंकि उसके अविभागप्रतिच्छेद उत्कृष्ट अनंतानंत प्रमाण हैं। रागादिजनित चञ्चलता से रहित होनेके कारण वह धीर है - क्षोभरहित है। उद्धत - एक साथ लोक-अलोक को जानने में समर्थ है तथा दुर्द्धर है - मेघपटल तथा पर्वत आदि उसके प्रकाश को रोकने में असमर्थ हैं। यही नहीं, त्रिकालवर्ती अनंतानंत पर्यायों से सहित यह जगत् उस केवलज्ञानरूपी सागर की एक तरङ्गसम्बन्धी महाप्रवाह में निमग्न है। तात्पर्य यह है कि वह केवलज्ञान ज्ञेय के प्रमाण से बहुत बड़ा है। समस्त लोकालोकरूप ज्ञेय उसके एक कोण में बबूले के समान जान पड़ते हैं।।९।।

विशिष्टवस्तुत्वविविक्तसम्पदो मिथः स्खलन्तोऽपि परात्मसीमनि।
अमी पदार्थाः प्रविशन्ति धाम ते चिदग्निनीराजनपावनीकृताः।।१०।।

अन्वयार्थ :- (**परात्मसीमनि**) उत्कृष्ट आत्मा की सीमा में (**मिथः**) परस्पर (**स्खलन्तोऽपि**) स्खलित होते हुए भी (**विशिष्टवस्तुत्वविविक्तसम्पदः**) जिनकी सम्पदा-सामर्थ्य अपने-अपने विशिष्ट वस्तुत्व से विविक्त है - पृथक्-पृथक् है जो (**चिदाग्निनीराजनपावनीकृताः**) चैतन्यरूप अग्नि की आरती से पवित्र हैं ऐसे (**अमी**) ये (**पदार्थाः**) चेतन-अचेतन पदार्थ (**ते**) आपके (**धाम**) केवलज्ञानरूप तेज में (**प्रविशन्ति**) प्रवेश कर रहे हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! संसार के समस्त पदार्थ यद्यपि आपके ज्ञान में एकसाथ प्रतिबिम्बित होनेसे परस्पर व्याघात को प्राप्त हो रहे हैं तथापि वे अपने-अपने पृथक्-पृथक् विशिष्ट वस्तुत्व से सहित हैं - सब अपने-अपने गुण पर्यायों से भिन्न-भिन्न हैं। सराग जीव के ज्ञान में आये हुए पदार्थ उसकी राग परिणति से दूषित जान पड़ते हैं, परंतु आप पूर्ण वीतराग हैं अतः आपके ज्ञान में आये हुए पदार्थ मात्र चैतन्यरूपी अग्नि की आरती से पवित्र हैं। तात्पर्य यह है कि आप उन पदार्थों को जानते भर हैं उनमें इष्ट-अनिष्ट की कल्पना नहीं करते। इष्ट-अनिष्ट की कल्पना मोह के विकार से होती है और यतश्च आपका मोहविकार नष्ट हो चूका है अतः जाननामात्र रह गया है। इस तरह ये पदार्थ आपके केवलज्ञानरूपी तेज में उस प्रकार प्रवेश कर रहे हैं जिस प्रकार कि किसी दर्पण में घट-पटादि पदार्थ।।१०।।

परस्परं संवलितेन दीप्यता समुन्मिषन् भूतिभरेण भूयसा।
त्वमेकधर्मावहिताचलेक्षणैरनेकधर्मा कथमीक्ष्यसेऽक्षरः।।११।।

अन्वयार्थ :- जो (**परस्परं**) परस्पर (**संवलिन**) मिले हुए (**दीप्यता**) देदीप्यमान तथा (**भूयसा**) बहुत भारी (**भूतिभरेण**) अनंतचतुष्टरूप सम्पत्ति के समूह से (**समुन्मिषन्**) प्रकाशमान हो रहे हैं (**अनेकधर्मा**) नित्य, अनित्य, एक, अनेक आदि अनेक धर्मों से सहित हैं और (**अक्षरः**) अविनाशी हैं, ऐसे (**त्वम्**) आप (**एकधर्मावहिताचलेक्षणैः**) एक धर्म में स्थिर दृष्टि रखनेवाले पुरुषों के द्वारा (**कथम्**) किस प्रकार (**ईक्ष्यसे**) देखे जा सकते हैं ?

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप जिस अनंतचतुष्टयरूप लक्ष्मी से प्रकाशमान हो रहे हैं वह लक्ष्मी परस्पर मिली हुई है अर्थात् ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य के प्रदेश

पृथक्-पृथक् न होनेसे सब एक दूसरे में मिल रहे हैं। आप परस्पर विरोधी अनेक धर्मों से सहित हैं और अक्षर - अविनाशी हैं। आपके इस स्वरूप का देखने के लिए द्रष्टा की दृष्टि भी अनेक धर्ममय होना चाहिए, इसके विपरीत जिनकी दृष्टि एक ही धर्म में स्थिर हो रही है ऐसे द्रष्टा आपको कैसे देख सकते हैं ? ।।११।।

अनन्तभावावलिका स्वतोऽन्यतः समस्तवस्तुश्रियमभ्युदीयते।
जडात्मनस्तत्र न जातु वेदना भवान् पुनस्तां विचिनोति कात्स्न्र्यतः।
।१२।।

अन्वयार्थ :- (**स्वतोऽन्यतः**) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणों से (**समस्तवस्तुश्रियम् अभि**) समस्त वस्तुओं में (**अनंतभावावलिका**) अनंत पर्यायों की सन्तति (**उदीयते**) उदित होती है। (**जडात्मनः**) अज्ञानी जीव को (**तत्र**) उनमें (**जातु**) कभी भी (**वेदना**) ज्ञान (न) नहीं होता है (**पुनः**) किन्तु (**भवान्**) आप (**तां**) उन पर्यायों की सन्तति को (**कात्स्न्र्यतः**) सम्पूर्णरूप से (**विचिनोति**) जानते हैं।

भावार्थ :- संसार के समस्त पदार्थों में निज और पर कारणों से अर्थात् उपादान और निमित्त कारणों से अनंत पर्यायों की सन्तति उत्पन्न होती है। अज्ञानी जीव उन्हें जानता नहीं है पर सर्वज्ञ होनेसे आप उन अनंत पर्यायों की सन्तति की संपूर्णरूप से जानते हैं। केवलज्ञान को विषय सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों में है, अतः आप उन सबको जानते हैं जबकि अज्ञानी जीव को उनका ज्ञान नहीं होता है।।१२।।

न ते विभक्तिं विदधाति भूयसी मिथो विभक्ताऽप्यवादसंहतिः।
सुसंहितद्रव्यमहिम्नि पुष्कले महोर्मिमालेव निलयतेऽम्बुधौ।।१३।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**भूयसी**) बहुत भारी (**अपवासंहतिः**) अपकृष्ट - हीन शब्दों की सन्तति (**मिथो**) परस्पर (**विभक्तापि**) विभक्त होनेपर भी (**ते**) आपके (**विभक्तिं**) पृथक्करण को (**न विदधाति**) नहीं करती है। वह (**पुष्कले**) परिपूर्ण (**सुसंहितद्रव्यमहिम्नि**) गुण-पर्यायों से संगत द्रव्य की महिमा में उस प्रकार (**निलीयते**) निलीन हो जाती है जिस प्रकार (**अम्बुधौ**) समुद्र में (**महोर्मिमालेव**) महान् तरङ्गों की माला।

भावार्थ :- हे भगवन् ! असंख्य शब्दावली भी आपकी महिमा का पूर्ण वर्णन करने के लिए समर्थ नहीं है। जिस प्रकार समुद्र में बड़ी-बड़ी तरङ्गों की माला उठती है और उसीमें विलीन हो जाती है उसी प्रकार कवि लोग आपकी गुणवर्णना के लिए शब्दयोजना करते हैं पर उनकी वह शब्दयोजना आपकी महिमा में विलीन हो जाती है।।१३।।

विभो विधानप्रतिषेधनिर्मितां स्वभावसीमानमभूमलङ्घयन्।
त्वमे वमेकोऽयमशुक्लशुक्लवन्न जात्वपि द्व्यात्मकतामपोहसि।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे स्वामिन् ! (**विधानप्रतिषेधनिर्मितां**) विधि और निषेध से रची हुई (**अभूम्**) इस (**स्वभावसीमानम्**) स्वभाव की मर्यादा का (**अलङ्घयन्**) उल्लङ्घन करते हुए (**अयम् एकः त्वमेव**) यह एक आप ही (**अशुक्लशुक्लवत्**) कृष्ण और शुक्ल के समान (**जात्वपि**) कभी भी (**द्व्यात्मकताम्**) द्विरूपता को (**न अपोहसि**) नहीं छोड़ते हैं।

भावार्थ :- जिस प्रकार कृष्ण और शुक्ल ये दोनों गुण, परस्पर विरोधी हैं उसी प्रकार विधि और निषेध ये दोनों पक्ष परस्पर विरोधी हैं, परंतु जिस प्रकार एक ही पदार्थ अपनेसे अधिक श्वेत पदार्थ की अपेक्षा कृष्ण और अपने से अधिक कृष्ण पदार्थ की अपेक्षा शुक्ल कहा जाता है उसी प्रकार हे भगवन् ! आपकी स्वभाव सीमा भी विधि - अस्तिरूप है और परचतुष्टय की अपेक्षा निषेध - नास्तिरूप है। द्रव्य की अपेक्षा एक है और गुण तथा पर्याय की अपेक्षा अनेक है। इन विरोधी धर्मों की संगति स्याद्वाद से ही हो सकती है एकांतवाद से नहीं। यह विशेषता एक आपमें ही है अन्य देवों में नहीं है।।१४।।

भवत्सु भावेषु विभाव्यतेऽस्तिता तथाऽभवत्सु प्रतिभासि नास्तिता।
त्वमस्तिनास्तित्वसमुच्चयेन नः प्रकाशमानो न तनोषि विस्मयम्।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**भवत्सु भावेषु**) हो रहे पदार्थों में (**अस्तिता**) अस्तिपना (**विभाव्यते**) प्रतीत होता है (**तथा**) तथा (**अभवत्सु**) नहीं हो रहे पदार्थों में (**नास्तिता**) नास्तिपना (**प्रतिभाति**) प्रतीत होता है, परंतु (**त्वम्**) आप (**अस्तिनास्तित्वसमुच्चयेन**) अस्तिपना और नास्तिपना के समुच्चय - युगपत्प्रवृत्ति से (**प्रकाशमानः**) प्रकाशित होते हुए (**नः**) हम

स्याद्वादियों को (**विस्मयम्**) आश्चर्य (**न तनोषि**) नहीं करते हैं।

भावार्थ :- अस्ति और नास्ति ये दो धर्म परस्पर विरोधी हैं। जो पदार्थ वर्तमान में हो रहे हैं उनमें अस्तिधर्म रहता है और जो वर्तमान में नहीं हो रहे हैं किन्तु पहेल हो चुके हैं या आगे होनेवाले हैं उनमें नास्तिधर्म रहता है। परंतु हे भगवन् ! आप अस्ति और नास्ति दोनों रूप हैं। आपकी इस द्विरूपता से हमें कोई आश्चर्य नहीं हो रहा है क्योंकि हम जानते हैं कि संसार का प्रत्येक पदार्थ द्रव्यदृष्टि से सदा नित्य रहता है और पर्यायदृष्टि से अनित्य। जब हम आपके ज्ञायकस्वभाव चेतनद्रव्य की अपेक्षा विचार करते हैं तब आप नित्य प्रतीत होते हैं क्योंकि आपका यह ज्ञायकस्वभाववाला चेतन द्रव्य अनादि अनंत है - कभी नष्ट नहीं होनेवाला है और जब नर नारकादि स्थूल पर्यायों अथवा समय-समयवर्ती सूक्ष्म पर्यायों की अपेक्षा विचार करते हैं तब आप अनित्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि आपकी वह पर्याय सादिसान्त है। वर्तमान पर्याय के सद्भावकाल में आप अस्तिरूप हैं और अतीत एवं अनागत पर्याय के काल में नास्तिरूप हैं।।१५।।

उपैषि भावं त्वमिहात्मना भवन्नभावतां यासि परात्मनाऽभवन्।
अभावभावोपचितोऽयमस्ति ते स्वभाव एव प्रतिपत्तिदारुणः।।१६।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**इह**) इस जगत् में (**त्वम्**) आप (**आत्मना भवन्**) स्वकीय द्रव्य क्षेत्र काल भाव से होते हुए (**भावं**) सद्भाव - अस्तिरूपता को (**उपैषि**) प्राप्त हो रहे हैं और (**परात्मना**) परकीय द्रव्य क्षेत्र काल भाव से (**अभवन्**) न होते हुए (**अभावतां**) असद्भाव नास्तिरूपता को (**यासि**) प्राप्त हो रहे हैं। सो (**अभावभावोपचितः**) अभाव - नास्तिधर्म और भाव - अस्तिधर्म से सहित (**अयम्**) यह (**ते**) आपका (**स्वभाव एव**) स्वभाव ही है। आपका यह स्वभाव (**प्रतिपत्तिदारुणः**) प्रतीति की अपेक्षा कठिन है - स्याद्वादविज्ञान से अपरिचित लोगों की बुद्धि के बाह्य है।

भावार्थ :- संसार के प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व स्वचतुष्यय की अपेक्षा होता है परचतुष्टय की अपेक्षा नहीं, इसलिये स्वचतुष्टय की अपेक्षा वह भावरूप होता है और परचतुष्टय की अपेक्षा अभावरूप। इन दोनो विवक्षाओं के कारण आप भी भाव और अभाव - अस्तिनास्तिरूपता को प्राप्त हो रहे हैं। हे भगवन् ! इन दो विरोधी धर्मों का एकत्र समन्वय स्याद्वाद से ही संभव है, एकांतवाद से नहीं। एकान्तवादियों

के लिए तो इसकी प्रतीति करना भयावह ही है।।१६।।

सदैक एवायमनेक एव वा त्वमप्यगच्छन्नवधारणामिति।
अबाधितं धारयसि स्वमञ्जसा विचारणार्हा न हि वस्तुवृत्तयः।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**अयम्**) यह पदार्थ (**सदा**) सर्वदा (**एक एव**) एक ही है (**वा**) अथवा (**अनेक एव**) अनेक ही है (**इति**) इस प्रकार की (**अवधारणाम्**) एकांत प्रतीति को (**अगच्छन्**) प्राप्त न होते हुए (**त्वमपि**) आप भी (**अबाधितं**) बाधारहित (**स्वम्**) अपने आपको (**धारयसि**) धारण करते हैं यह ठीक ही है (**हि**) क्योंकि (**अञ्जसा**) वास्तव में (**वस्तुवृत्तयः**) पदार्थ की परिणतियाँ - स्वभाव (**विचारणार्हाः**) विचार करने के योग्य - तर्क के विषयभूत (**न**) नहीं है।

भावार्थ :- यहाँ एक और अनेक इन दो विरोधी धर्मों का समन्वय करते हुए भगवान् का स्तवन किया गया है। हे भगवन् ! द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा आप एक हैं और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अनेक हैं। वस्तु का ऐसा स्वभाव ही है। ऐसा क्यों है ? यह तर्क का विषय नहीं।।१७।।

त्वमेकनित्यत्वनिखतचेतसा क्षणक्षयक्षोभितचक्षुषापि च।
न वीक्ष्यसे संकलितक्रमाक्रमप्रवृत्तभावोभयभारिवैभवः।।१८।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**संकलितक्रमाकर्मप्रवृत्तभावोभयभारिवैभवः**) क्रमप्रवृत्त - पर्याय और अक्रमप्रवृत्त - गुण, इन दोनों भावों को धारण करनेवाले वैभव से युक्त (**त्वम्**) आप, (**एक-नित्यत्वनिखातचेतसा**) मात्र नित्यत्व में जिसका चित्त संलग्न है ऐसे पुरुष के द्वारा (**च**) और (**क्षणक्षयक्षोभितचक्षुषापि**) क्षणक्षय से जिसका चित्त क्षोभित हो रहा है ऐसे पुरुष के द्वारा भी (**न वीक्ष्य से**) नहीं देखे जाते हैं।

भावार्थ :- जिनागम में द्रव्य का लक्षण `गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' कहा गया है - जो गुण और पर्यायों से सहित हो वह द्रव्य हैं। इनमें गुण अक्रमवर्ती हैं - एक साथ सब पर्यायों में द्रव्य के साथ रहते हैं और पर्याय क्रमवर्ती हैं - एक के अनंत दूसरी पर्याय आती है। ऐसा कोई समय नहीं है जब कि द्रव्य पर्याय से रहित और पर्याय द्रव्य से रहित होता हो। हे भगवन् ! आप ज्ञायकस्वभाव से युक्त, पर से भिन्न और

स्वकीय गुणपर्यायों से अभिन्न एक स्वतंत्र द्रव्य हैं अतः आप भी गुणपर्यायात्मक दोनों भावों से सहित हैं। सब पर्यायों में व्यापक रहने से गुण नित्य माने जाते हैं और पर्याय क्रमवर्ती होनेसे अनित्य माने जाते हैं। जो दृष्टा, मात्र नित्यपक्ष को ग्रहण करता है वह केवल आपके गुणों की ओर दृष्टि देता है और जो क्षणक्षयीपक्ष - अनित्यपक्ष को ग्रहण करता है वह केवल पर्याय की ओर दृष्टि देता है। इन दोनों एकांतवादियों के द्वारा आपका पूर्ण स्वरूप नहीं जाना जा सकता, उसे तो वही जान सकता है जो नित्य और अनित्य इन दोनों पक्षों को स्वीकृत करता हो। यह नित्य और अनित्यधर्म को लिए हुए भगवान् का स्तवन है।।१८।।

अपेलवः केवलबोधसम्पदा सदोदितज्योतिरजय्यविक्रमः।
असौ स्वतत्त्वप्रतिपत्त्यवस्थितस्त्वमेकसाक्षी क्षणभङ्गसङ्गिनाम्।।१९।।

अन्वयार्थ :- जो (**केवलबोधसम्पदा**) केवलज्ञानरूप सम्पदा के द्वारा (**अपेलवः**) परिपूर्ण हैं (**सदोदितज्योतिः**) वह केवलज्ञान ज्योति सदा उदित रहती है (**अजय्यविक्रमः**) जिनका अनंत वीर्य अजय्य है - जीता नहीं जा सकता है तथा जो (**स्वतत्त्वप्रतिपत्त्यवस्थितः**) आत्मतत्त्व की उपलब्धि में सम्यक् प्रकार से अवस्थित हैं ऐसे (**असौ त्वम्**) वह आप ही (**क्षणभङ्गसङ्गिनाम्**) एकांत क्षणिकवादियों के लिए (**एकसाक्षी**) अद्वितीय साक्षी हैं। अर्थात् आपके सन्मुख रहेत हुए उनका क्षणभङ्गवाद ध्वस्त हो जाता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप अनंत ज्ञान और अनंत बल से युक्त हैं तथा निश्चय के आत्मतत्त्व में अवस्थित हैं अर्थात् आत्मतत्त्व को जानते हैं। आपकी इस नित्यरूपता से एकांत क्षणिकवादियों की मान्यता खण्डित हो जाती है। अर्थात् आप उनकी मान्यता के विरुद्ध उदाहरण स्वरूप हैं।।१९।।

प्रकाशयन्नप्यतिशायिधामभिर्जगत् समग्रं निजविद्व्यलङ्कृतैः।
विविच्यमानः प्रतिभासते भवान् प्रभो परस्पर्शपराङ्मुखः सदा।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**प्रभो**) हे नाथ ! (**निजविद्व्यलङ्कृतैः**) आत्मज्ञान से सुशोभित (**अतिशयधामभिः**) लोकोत्तर तेज से (**समग्रं**) सम्पूर्ण (**जगत्**) जगत् को (**प्रकाशयन् अपि**) प्रकाशित करते हुए भी (**भवान्**) आप (**सदा**) सर्वदा (**परस्पर्शपराङ्मुखः**) पर के स्पर्श

से पराङ्मुख रहते हैं तथा (**विविच्यमानः**) पर से पृथक् (**प्रतिभासते**) प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ :- यहाँ भगवान् के वीतरा विज्ञान को हृदय में रख आचार्य स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे प्रभो ! यद्यपि आप अपने वीतरागविज्ञान - केवलज्ञान के द्वारा समस्त जगत् को जानते हैं तथापि परपदार्थों के स्पर्श से रहित हैं। जिस प्रकार दर्पण बाह्य पदार्थों को प्रतिबिम्बित करता हुआ भी उनसे दूर रहता है उसी प्रकार आप भी लोकालोक को जानते हुए भी उनके स्पर्श से सदा दूर रहते हैं। वीतराग विज्ञान की कैसी अद्भुत महिमा है कि वह यद्यपि समस्त पदार्थों को जानता है तो भी उनके स्पर्श से दूर रहता है - कभी भी उनमें आत्मबुद्धि नहीं करता है। उसे केवलज्ञान के द्वारा आप संसार के समस्त पदार्थों से पृथक् अनुभव में आते हैं। हे भगवन् ! आपका वह केवलज्ञान जहाँ परपदार्थों के बोध से सहित है वहाँ निजबोध - आत्मतत्त्व के बोध से भी अलंकृत रहता है।।२०।।

परात्परावृत्तचिदात्मनोऽपि ते स्पृशन्ति भावा महिमानमद्भुतम्।
न तावता दुष्यति ताव की चितिर्यतश्चितिर्या चितिरेव सा सदा।
।२१।।

अन्वयार्थ :- (**भावाः**) पदार्थ (**परात्**) परपदार्थों से (**परावृत्तचिदात्मनः अपि ते**) पराङ्मुख है चिदात्मा जिनकी, ऐसे होनेपर भी आपकी (**अद्भुतम्**) आश्चर्यकारी (**महिमानम्**) महिमा को (**स्पृशन्ति**) स्पर्श करते हैं अर्थात् आपके ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं परंतु (**तावता**) उतने मात्र से - परपदार्थों को जानने मात्र से (**ताव की**) आपकी (**चितिः**) चेतना - ज्ञातृत्वशक्ति (**न दुष्यति**) दोषयुक्त नहीं होती है। (**यतः**) क्योंकि (**या चितिः**) जो चेतना है (**सा**) वह (**सदा**) सदा (**चितिः एव**) चेतना ही रहती है।

भावार्थ :- स्व-परपदार्थों को जाननेवाली आत्मा की जो शक्ति है उसे चिति या चेतना कहते हैं। अध्यात्मभाषा में यही आत्मा का ज्ञायक स्वभाव कहलाता है। रागी जीव इच्छापूर्वक पदार्थों को जानता है इसलिये उसका ज्ञायकस्वभाव पराभिमुक होता है, परंतु वीतराग जीव इच्छापूर्वक पदार्थों को नहीं जानता, इसलिये उसका ज्ञायकस्वभाव पर से पराङ्मुख होता है। हे भगवन् ! यतः आप वीतराग हैं अतः आपका ज्ञायकस्वभाव पर से पराङ्मुख है। परंतु पराङ्मुख होनेपर भी उसमें परपदार्थों का प्रतिफलन होता ही है। जिस प्रकार दर्पण में यह इच्छा नहीं है कि मुझ में घट-पटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित

होवें परंतु उसकी स्वच्छता के कारण वे उसमें प्रतिबिम्बित होते ही हैं इसी प्रकार आपकी ऐसी इच्छा नहीं हैं कि हम पदार्थों को जाने, फिर भी ज्ञानगुण की निर्मलता के कारण उसमें पदार्थ प्रतिबिम्बित होते ही हैं। आचार्य कहते हैं कि इतने मात्र से आपके ज्ञायकस्वभाव में कोई दोष उत्पन्न नहीं होता क्योंकि जो ज्ञायकस्वभाव है वह सदा ज्ञायकस्वभाव ही रहता है, पदार्थरूप नहीं होता है। यहाँ ज्ञेय में ज्ञायकस्वभाव की भिन्नता बतलाते हुए जिनेन्द्र का स्तवन किया गया है।।२१।।

अमी वहन्तो बहिरर्थरूपतां वहन्ति भावास्त्वयि बोधरूपताम्।
अनन्तविज्ञानघनस्ततो भवान्न मुह्यति द्वेष्टि न रज्यते च न।।२२।।

अन्वयार्थ :- यतः जिस कारण (**बहिरर्थरूपताम्**) घट-पटादि के भेद से बाह्य पदार्थों की आकृति को (**वहन्तः**) धारण करनेवाले (**अमी भावाः**) ये पदार्थ (**त्वयि**) आपमें (**बोधरूपताम्**) ज्ञानरूपता को (**वहन्ति**) धारण करते हैं (**ततः**) उस कारण (**भवान्**) आप (**अनंतविज्ञानघनः**) अनंतविज्ञान - केवलज्ञान से घन - परिपूर्ण रहते हैं और (**न मुह्यति**) न मोह करते हैं (**न द्वेष्टि**) न द्वेष करते हैं (**च**) और (**न रज्यते**) न राग करते हैं।

भावार्थ :- जिस प्रकार पदार्थ के निमित्त से दर्पण का पदार्थाकार परिणमन वास्तव में दर्पण की ही अवस्था है उसी प्रकार आपके ज्ञान में प्रतिबिम्बित - ज्ञेयाकार होकर आये हुए घट-पटादि पदार्थ वास्तव में ज्ञान की पर्याय होनेसे ज्ञान ही हैं। इस प्रकार यद्यपि आपमें ज्ञेय आते हैं पर वे परमार्थ से ज्ञेय नहीं किन्तु ज्ञान के ही परिणमन हैं, अतः आप अनंत ज्ञान से घन - सान्द्र-परिपूर्ण हैं। जिस प्रकार दर्पण में, इष्ट-अनिष्ट पदार्थ प्रतिबिम्बित होनेपर भी उसमें मोह राग और द्वेष नहीं होता उसी प्रकार इष्ट-अनिष्ट पदार्थ, ज्ञान में आनेपर भी आपमें मोह राग और द्वेष उत्पन्न नहीं होते। यहाँ अभेदनय से ज्ञेय और ज्ञान में अभेदरूपता का वर्णन करते हुए वीतराग विज्ञान के माध्यम से भगवान् का स्तवन किया गया है।।२२।।

यदेव बाह्यार्थघनावघट्टनं तवेदमुत्तेजनमीश तेजसः।
तदेव निःपीडननिर्भरस्फुटन्निजैकचित्कुड्मलहासशालिनः।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! (**यदेव इदम्**) जो यह (**बाह्यार्थघनावघट्टन**) बाह्य पदार्थों का अत्यधिक अवघट्टन - संस्पर्श है (**तदेव**) वही (**निःपीडननिर्भरस्फुटन्निजचित्कुड्मलहास-शालिनः**) तीव्र आघात से अत्यधिक विकसित होनेवाले अपने अद्वितीय चैतन्यरूप कलीके विकास से सुशोभित (**तव**) आपके (**तेजसः**) तेज - ज्ञानज्योति का (**उत्तेजनम्**) उत्तेजन - संवर्धन है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! जिस प्रकार अङ्गुली आदि के संस्पर्श से फूल की कली खिल उठती है उसी प्रकार घट-पटादि बाह्य पदार्थों के संस्पर्श से आपकी चेतनारूप कली खिल उठती है। इस तरह जो बाह्य पदार्थों का अत्यधिक आघात है वह आपके ज्ञानरूप तेज को उत्तेजित करनेवाला है। ज्ञान ज्योति का यह उत्तेजन उसे केवलज्ञानरूप में परिवर्धित करना है। केवलज्ञान सदा उपयोगरूप रहता है तथा उसमें समस्त पदार्थ निरंतर प्रस्फुरित होते रहते हैं। यहाँ ज्ञेय के निमित्त से ज्ञान विकसित होता है यह बतलाते हुए भगवान् का स्तवन किया गया है।।२३।।

प्रमेयवैशद्यमुदेति यद्बहिः प्रभातृवैशद्यमिदं तदन्तरे।
तथापि बाह्यार्थरतैर्न दृश्यते स्फुटः प्रकाशो जिनदेव तावकः।।२४।।

अन्वयार्थ :- यद्यपि (**बहिः**) बाहर (**यत्**) जो (**प्रमेयवैशद्यम्**) पदार्थों की विशदता (**उदेति**) प्रकट होती है (**तत् इदम्**) वही यह (**अन्तरे**) भीतर (**प्रमातृवैशद्यम्**) ज्ञाता की विशदता है (**तथापि**) तथापि (**बाह्यार्थरतैः**) बाह्य पदार्थों में लीन पुरुषों के द्वारा (**जिनदेव**) हे जिनेन्द्र भगवन् ! (**तावकः**) आपका (**स्फुटः**) स्पष्ट (**प्रकाशः**) प्रकाश (**न दृश्यते**) नहीं देखा जाता है।

भावार्थ :- बाहर में जो पदार्थगत स्पष्टता की प्रतीति होती है वह प्रमाता के अंतर्गत वैशद्य से होती है अर्थात् प्रमाता का अंतर्गत वैशद्य ही पदार्थ की स्पष्टता का कारण है। हे भगवन् ! इस प्रकार आपके अंतरङ्ग की ज्ञान गरिमा यद्यपि स्पष्ट है तथापि बाह्य पदार्थों में लीन रहनेवाले मनुष्य उसे देख नहीं पाते हैं यह आश्चर्य की बात है। तात्पर्य यह है कि अंतरङ्ग की निर्मलता की अनुभूति अंतरङ्ग में लीन रहनेवाले मनुष्यों को ही हो सकती है बाह्य पदार्थों में लीन रहनेवाले मनुष्यों को नहीं।।२४।।

तथा सदोऽन्ते जित (जिन) वीर्यसम्पदा प्रपञ्चयन् वैभवमस्मि तावकम्।
यथा विचित्राः परिकर्मकौशलात् प्रपद्यसे स्वादपरम्परा स्वयम्।
।२५।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**यथा**) जिस प्रकार आप (**परिकर्मकौशलात्**) आत्मपुरुषार्थ की कुशलता से (**स्वयम्**) अपने आप (**विचित्राः**) नाना प्रकार के (**स्वादपरम्पराः**) सुख समूह को (**प्रपद्यसे**) प्राप्त हो रहे हैं (**तथा**) उस प्रकार (**सदोऽन्ते**) समवसरण सभा में (**तावकं**) आपका जो (**वैभवम्**) वैभव है उसे (**प्रपञ्चयन् अस्मि**) विस्तृत कर रहा हूँ।

भावार्थ :- यतः आप अनंत सुख से सम्पन्न हैं अतः अपनी सामर्थ्य के अनुसार समवसरण में स्थित आपके वैभव का विस्तार कर रहा हूँ।।२५।।

ॐ

(**५**)

(**वंशस्थवृत्तम्**)

न वर्द्धसे यासि च सर्वतुङ्गतामसीमनिम्नोऽसि विभोऽनमन्नपि।
अवस्थितोऽप्यात्ममहोभिरद्भुतैः समन्तविस्तारततोऽवभाससे।।१।।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे भगवन् ! आप (**न वर्द्धसे**) वृद्धि को प्राप्त नहीं हो रहे हैं (**च**) फिर भी (**सर्वतुङ्गतां**) सबसे अधिक उन्नतिको (**यासि**) प्राप्त हो रहे हैं। (**अनमन् अपि**) नम्रीभूत न होते हुए भी (**असीमनिम्नः असि**) अत्यंत नम्र हैं और (**अवस्थितोऽपि**) अवस्थित - एकरूप होते हुए भी (**अद्भुतैः आत्ममहोभिः**) आश्चर्यकारक आत्मतेज के द्वारा (**समन्तविस्तारततः**) सब और विस्तार से व्याप्त (**अवभाससे**) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- यहाँ विरोधाभास अलंकार के द्वारा भगवान् का स्तवन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आप यद्यपि वृद्धि को प्राप्त नहीं हो रहे हैं फिर भी सबसे अधिक उन्नत हैं, लोक में उन्नत वही होता है जो वृद्धि को प्राप्त होता है, परंतु आप वृद्धि के विना ही सबसे अधिक उन्नत हैं। यह विरुद्ध बात है, इसका परिहार यह है कि केवलज्ञान होते ही शरीर को वृद्धि रुक जाती है, इसलिए कहा गया है कि आप वृद्धि को प्राप्त नहीं होते फिर भी सबसे अधिक उन्नत हैं अर्थात् सबसे अधिक श्रेष्ठ हैं। तुङ्गका अर्थ उन्नत और श्रेष्ठ दोनों होते हैं, अतः परिहार पक्ष में श्रेष्ठ अर्थ लेना चाहिए। दूसरा विरोध यह है कि आप किसीको नमन नहीं करते फिर भी अत्यंत निम्न - नीचे हैं। नमन किये विना निम्न - नीचे कैसे हुआ जा सकता है ? पर आप नमन किये बिना ही नीचे हैं। परिहार इस प्रकार है कि आप उस उच्चतम भूमिका में पहुँच गये हैं जहाँ आराध्य और आराधक का विकल्प समाप्त हो जाता है, अतः आप किसीको नमस्कार नहीं करते हैं। निम्नका अर्थ गंभीर होता है अतः आप अनंत गाम्भीर्यगुण से सहित हैं अर्थात् अनेक बाधक कारण उपस्थित

होनेपर भी क्षोभ को प्राप्त नहीं होते। तीसरा विरोध यह है कि आप अवस्थित हैं - अनंत चतुष्टयरूप लक्ष्मी से एकरूप हैं न घटते हैं न बढ़ते हैं फिर भी आप आश्चर्यकारक तेज के द्वारा सब ओर विस्तार से व्याप्त हैं, जो अवस्थित होता है उसका विस्तार रुक जाता है, परंतु आप अवस्थित होनेपर भी अत्यधिक विस्तार से व्याप्त हैं। विरोध का परिहार यह है कि आप अनंत चतुष्टयरूप लक्ष्मी की अपेक्षा अवस्थित हैं फिर भी आपका तेज - प्रभाव समस्त लोक में फैल रहा है। उसी तेज के कारण आप शत इन्द्रों के द्वारा वंदनीय हैं।।१।।

अनाद्यनन्तक्रमचुम्बिवैभवप्रभावरुद्धाखिलकालविस्तरः।
अयं निजद्रव्यगरिम्णि पुष्कले सुनिश्चलो भासि सनातनोदयः।।२।।

अन्वयार्थ :- (**अनाद्यनन्तक्रमचुम्बिवैभवप्रभावरुद्धाखिलकालविस्तरः**) अनादि अनंत क्रम से युक्त वैभव के प्रभाव से जिन्होंने समस्त काल के विस्तार को रोक रक्खा है, जो (**पुष्कले**) परिपूर्ण (**निजद्रव्यगरिम्णि**) आत्मद्रव्य की गरिमा में (**सुनिश्चलः**) अच्छी तरह निश्चल है और (**सनातनोदयः**) जिनका अनुभव सनातन - नित्य है - कभी नष्ट होनेवाला नहीं है अथवा अनादिकालीन है, ऐसे (**अयं**) यह आप (**भासि**) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- अपने-अपने उपादान और कालद्रव्यरूप सामान्य प्रत्ययके कारण प्रत्येक द्रव्य में अनादि अनंत पर्यायों का चक्र क्रम से परिवर्तित होता रहता है। द्रव्य का ऐसा स्वभाव है उसी स्वभाव के कारण आपका वैभव भी क्रम से ही विकसित हुआ है। वर्तमान में जो वीतरागता और सर्वज्ञता से युक्त आपकी अरहंत पर्याय है यह अनादि नहीं है। आप क्रम-क्रम से ही इस पर्याय को प्राप्त हुए हैं। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार अन्य दर्शनकार ईश्वर को अनादि-अनंत शुद्ध मानते हैं उस प्रकार जैन दर्शन स्वीकृत नहीं करता। उसकी मान्यता है कि संसार का अशुद्ध प्राणी ही अपनी साधना के बल से विकारों को नष्ट कर शुद्ध अवस्था को प्राप्त होता हुआ ईश्वर बनता है। इस प्रकार पर्यायार्थिकनय से विचार करनेपर आपका यह परमार्हन्त्यरूप वैभव क्रम से प्रकट हुआ है, परंतु द्रव्य की त्रैकालिक योग्यता को विषय करनेवाले निश्चयनय से विचार करनेपर आपका यह परमाहन्त्यरूप परम वैभव सनातन है - सदा से आपमें विद्यमान है। तथा आप परिपूर्णता को प्राप्त आत्मद्रव्य की गरिमा में अत्यंत निश्चल हैं। वस्तुतः स्वभाव दृष्टि से संसार का प्रत्येक द्रव्य अपने आपमें परिपूर्ण होता

है, उसका कोई भी गुण कहीं बाहर से - अन्य द्रव्य से आकर उसमें नहीं मिलता है। हे भगवन् ! आप अपने इस स्वभाव में सुनिश्चल हैं, अतः सुशोभित हो रहे हैं।।२।।

इदं तव प्रत्ययमात्रसत्तया समन्ततः स्यूतमपास्तविक्रियम्।
अनादिमध्यान्तविभक्तवैभवं समग्रमेव श्रयते चिदच्छताम्।।३।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! जो (**समन्ततः**) सब ओरसे (**प्रत्ययमात्रसत्तया**) ज्ञानमात्रसत्ता के द्वारा (**स्यूतम्**) युक्त है तथा (**अपास्तविक्रियम्**) जिसका समस्त विकार नष्ट हो गया है ऐसा (**इदं**) यह (**तव**) आपका (**अनादिमध्यान्तविभक्तवैभवं**) आदि मध्य और अंत के भेद से रहित वैभव (**समग्रमेव**) सम्पूर्णरूप से (**चिदच्छताम्**) चेतन-आत्मा की स्वच्छता को (**श्रयते**) प्राप्त हो रहा है।

भावार्थ :- आत्मा का ज्ञायकस्वभाव त्रैकालिक होनेके कारण आदि मध्य और अंतर से रहित है। सब ओरसे एक ज्ञान की सत्ता से ओतप्रोत है - तन्मय है। रागादिक विकारी भावों के नष्ट हो जानेके कारण वीतराग विज्ञानता को प्राप्त है। हे भगवन् ! यही ज्ञायकस्वभाव आपका निज वैभव है। अष्ट प्रातिहार्यरूप वैभव, परासापेक्ष होनेके कारण निज वैभव नहीं कहा जा सकता। यह ज्ञायकस्वभावरूप वैभव आत्मा की स्वच्छता से सम्बद्ध है।।३।।

भवन्तमप्यात्ममहिम्नि कुर्वती किलार्थसत्ता भवतो गरीयसी।
तथापि सालं विदि तज्जतीह ते यतोऽस्ति बोधाविषयो न किञ्चन।
।।४।।

अन्वयार्थ :- यद्यपि (**किल**) निश्चय से (**भवन्तमपि**) आपको भी (**आत्ममहिम्नि**) अपनी महिमा में (**कुर्वती**) गर्भित करती हुई (**अर्थसत्ता**) पदार्थों की सत्ता - महासत्ता (**भवतः**) आपसे (**गरीयसी**) गुरुतर है - बहुत भारी है (**तथापि**) तो भी (**सा**) वह सत्ता (**इह**) इस जगत् में (**ते**) आपके (**विदि**) ज्ञान में (**अलं**) अच्छी तरह समाई हुई ([१]**तज्जति**)

१. तस्माज्जाता तज्जा, तज्जा इव आचरति तज्जति, आचारार्थे क्विप्।

उस ज्ञान से ही उत्पन्न हुई के समान जान पड़ती है। (**यतः**) क्योंकि (**ते**) आपके (**बोधाविषयः**) ज्ञान का अविषय (**किञ्चन न**) कुछ भी नहीं है। !

भावार्थ :- हे भगवन् ! महासत्ता का विस्तार इतना अधिक है कि उसने आपको भी अपनी महिमा में गतार्थ कर लिया, इस प्रकार वह महासत्ता आपसे भी बड़ी है, परंतु वह महासत्ता आपके अनंत ज्ञान के एक कोण में ही विलीन है और इस प्रकार विलीन है कि जिससे ऐसी जान पड़ती है मानों उसी ज्ञान से उत्पन्न हुई हो। तात्पर्य यह है कि आपके ज्ञान का विस्तार महासत्ता से भी अधिक है, क्योंकि जो महासत्ता संसार के समस्त पदार्थों में व्याप्त है वह आपके ज्ञानसागर के एक कोनो में ही स्थित है। लोकालोक के भीतर ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो आपके ज्ञान का विषय न हो अथवा यहाँ एकभाव यह भी हो सकता है कि संसार में अर्थ, शब्द और प्रत्यय के भेद से तीन सत्ताएँ हैं। अर्थसत्ता पदार्थ को विषय करती है जैसे जलधारणादि कार्य से युक्त कम्बुग्रीवादिमान् - घटपदार्थ ! शब्दसत्ता उस पदार्थ को घट, कुम्भ, कलश आदि शब्दों के द्वारा प्रतिपादित करती है और प्रत्ययसत्ता, उन घटपदार्थ और घटादि शब्दों से होनेवाले ज्ञान को विषय करती है। इस पद्य में तथा आगे के पाँचवें और छठे पद्य में क्रम से इन तीन सत्ताओं के द्वारा जिनेन्द्रदेव का स्तवन किया गया है।।४।।

समग्रशब्दानुगमाद्गभीरया जगद्ग्रसित्वाऽप्यभिधानसत्तया।
त्वदच्छबोधस्थितया विडम्ब्यते नभस्तलप्रस्फुरितैकतारका।।५।।

अन्वयार्थ :- हे विभो ! जो (**समग्रशब्दानुगमात् गभीरया**) समस्त शब्दों का अनुगम - विषय करने से गंभीर है तथा (**जगद् ग्रसित्वापि**) समस्त संसार को ग्रस कर भी - व्याप्त करके भी (**त्वदच्छबोधस्थितयां**) आपके निर्मल ज्ञान में स्थित है ऐसी (**अभिधानसत्तया**) शब्दसत्ता के द्वारा (**नभस्तलप्रस्फुरिता एकतारका**) आकाशतल में चमकती हुई एक तारा (**विडम्ब्यते**) विडम्बित होती है - तिरस्कृत होती है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! जगत् के समस्त पदार्थों को ग्रहण करनेवाली शब्दसत्ता यद्यपि बहुत भारी है तथापि वह आपके ज्ञानसागर के एक कोने में स्थित है। अनंत ज्ञान के एक कोने में प्रतिभासित शब्दसत्ता ऐसी जान पड़ती है जैसे अनंत आकाश में एक तारा चमक रही हो। तात्पर्य यह है कि आपके ज्ञान के सामने शब्दसत्ता

की स्थिति अतितुच्छ है।।५।।

विनैव विश्वं निजवस्तुगौरवाद्विभो भवन्मात्रतया प्रवृत्तया।
न जातुचित् प्रत्ययसत्तयाा परः करम्ब्यते भाति तथापि चिन्मयः।
।६।।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे स्वामिन् ! जो (**निजवस्तुगौरवात्**) आत्मवस्तु के गौरव से (**विश्वं विनैव**) विश्व के बिना ही - समस्त पदार्थों की अपेक्षा के बिना ही (**भवन्मात्रतया प्रवृत्तया**) आपके बराबर प्रवृत्त है अर्थात् आपके ऐसी (**प्रत्ययसत्तया**) ज्ञानसत्ता के द्वारा यद्यपि (**परः**) परपदार्थ (**जातुचित्**) कभी भी (**न करम्ब्यते**) व्याप्त नहीं किया जाता (**तथापि**) तो भी वह परपदार्थ (**चिन्मयः**) चैतन्यरूप (**भाति**) सुशोभित होता है।

भावार्थ :- हे नाथ ! संसार के अनंतानंत पदार्थों के विषय करनेवाली - जाननेवाली जो आपकी ज्ञानसत्ता है वह किसी पदार्थ के कारण विकसित हुई हो यह बात नहीं है, क्योंकि वह अपनी ज्ञायकशक्ति से स्वयं ही उत्पन्न हुई है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अन्य दर्शनकार अर्थ और आलोक - पदार्थ और प्रकाश आदि के कारण ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं उस प्रकार जैन दर्शन नहीं मानता है। उसकी मान्यता है कि आत्मा का वह ज्ञान स्वतः स्वभाव से सिद्ध है यह बात जुदी है कि वह पदार्थ और आलोक आदि से विकसित होता है। हे भगवन् ! आपकी यह ज्ञानसत्ता आपके ही बराबर है अर्थात् आपके असंख्यात प्रदेशोंमें से प्रत्येक प्रदेश में व्याप्त है। ऐसा नहीं है कि वह गुण के बराबर हो और अलातचक्र के समान शीघ्रता से भ्रमण करती हुई सब प्रदेशों में व्याप्त के समान दिखती हो। आप अपनी इस ज्ञानसत्ता के द्वारा परपदार्थों को जानते तो हैं परंतु वह उनरूप कदापि नहीं होती अर्थात् अपने गुण-पर्याय को छोड़कर परपदार्थों के गुणपर्याय को कभी भी ग्रहण नहीं करती। उसके ज्ञायक स्वभाव के कारण यद्यपि परपदार्थ ज्ञेय होकर उसमें प्रतिभासित होते अवश्य हैं, परंतु वे त्रिकाल में पर ही रहते हैं। ज्ञान और ज्ञेय काऐसा ही विचित्र सम्बन्ध है कि वे परस्पर एक-दूसरे के संपर्क में रहकर भी एक-दूसरेरूप परिणमन नहीं करते। जिस प्रकार दर्पण में घट-पटादि पदार्थों का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार ज्ञान में पदार्थों का प्रतिबिम्ब (विकल्प) आता है, परंतु जिस प्रकार घट-पटादि का प्रतिबिम्ब परमार्थ से दर्पण का ही परिणमन है उसी प्रकार ज्ञान में प्रतिबिम्बित

होनेवाले परज्ञत्रेयों का प्रतिबिम्ब परमार्थ से ज्ञान का ही परिणमन है, ज्ञेयों का नहीं। इस स्थिति में ज्ञान में जो ज्ञेयों का आकार झलकता है वह एक चैतन्यरूप आत्मा का ही परिणमन है इसी दृष्टि से यहाँ कहा गया है कि हे भगवन् ! जो परपदार्थ आपकी ज्ञानसत्ता में आता है वह चिन्मयरूप ही है।।६।।

न वार्थसत्ता षृथगर्थमण्डलीं विलङ्घ्य विस्फूर्जति कापि केवला।
भवान् स्वयं सन्नखिलार्थमालिकां सदैव साक्षात्कुरुते चिदात्मना।
।७।।

अन्वयार्थ :- (**वा**) अथवा (**कापि**) कोई (**केवला**) मात्र (**अर्थसत्ता**) पदार्थों की सत्ता (**अर्थमण्डली**) अर्थसमूह को (**विलङ्घ्य**) उलंघनकर (**पृथक्**) जुदी (**न विस्फूर्जति**) प्रकट नहीं है। (**भवान्**) आप (**स्वयं**) अपने आप (**अखिलार्थमालिकां**) समस्त पदार्थों के समूह को (**सन्**) तद्रूप होते हुए (**चिदात्मना**) चैतन्यस्वभाव से (**सदैव**) सदा ही (**साक्षात्कुरुते**) प्रत्यक्ष करते हैं - प्रत्यक्ष देखते हैं।

भावार्थ :- पदार्थों में जो सत्ता नाम का गुण है वह उनसे पृथक् नहीं है, क्योंकि गुण और गुणी में प्रदेशभेद न होनेसे अभेद माना जाता है। भेद विवक्षा में सत्ता को लक्षण और तत्त्व-पदार्थ को लक्ष्य कहा जाता है, परंतु अभेदविवक्षा में सत्ता को ही पदार्थ कहा जाता है।[१] इसी अभिप्राय से यहाँ कहा गया है कि अर्थसत्ता, पदार्थ से पृथक् नहीं है। `ज्ञेय को जानते समय ज्ञान का ज्ञेयाकार परिणमन होता है' इस सिद्धांत को हृदय में रखकर कहा गया है कि हे भगवन् ! आप समस्त पदार्थरूप होते हुए अर्थात् उन्हें अपना ज्ञेय बनाते हुए चैतन्यस्वरूप से उनका सदा साक्षात्कार करते हैं। परमार्थ से ज्ञान में प्रतिबिम्बित ज्ञेय, ज्ञान ही है, इसलिये उन्हें चित्स्वरूप कहने में आपत्ति नहीं है।।७।।

न शब्दसत्ता सह सर्ववाचकैर्विलङ्धयेत् पुद्गलतां कदाचन।
तथापि तद्वाचकशक्तिरञ्जसा चिदेककोणे तव देव वल्गति।।८।।

---

१. `तत्त्वं सल्लक्षणकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्' पञ्चाध्यायी।

अन्वयार्थ :- यद्यपि (**शब्दसत्ता**) शब्दों की सत्ता (**सर्ववाचकेः सह**) समस्त वाचकों के साथ (**कदाचन**) कभी भी (**पुद्‌गलतां**) पुद्‌गलपने का (**न विलङ्घयेत्**) उल्लंघन नहीं करती है अर्थात् समस्त शब्द सदा पुद्‌गलद्रव्य की ही पर्यायरूप हैं (**तथापि**) तो भी (**देव**) हे देव ! (**तद्वाचकशक्तिः**) उन शब्दों की वाचकशक्ति (**अञ्जसा**) परमार्थ से (**तव**) आपके (**चिदेककोणे**) चैतन्य के एक कोनेमें (**बल्गति**) संचार करती है।

भावार्थ :- शब्द पुद्‌गलद्रव्य की पर्याय हैं अतः उनकी सत्ता और उनकी वाचकशक्ति भी पुद्‌गलद्रव्य ही है। इस प्रकार आपके चैतन्यस्वरूप से सर्वथा विजातीय द्रव्य होनेपर भी वे शब्द आपके ज्ञान में ज्ञेय बनकर आते हैं और आपके अनंत ज्ञान के एक कोणमें ही विलीन हो जाते हैं। परमार्थ से केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेद उत्कृष्ट अनंतानंत हैं, अतः उनमें संसार के समस्त पदार्थ एक कोण में ही प्रतिबिम्बित हुए से जान पड़ते हैं।।८।।

कुतोऽन्तरर्थो बहिरर्थनिह्नवे विनान्तरर्थाद्बहिरर्थ एव न।
प्रमेशून्यस्य न हि प्रमाणता प्रमाणशून्यस्य न हि प्रमेयता।।९।।

अन्वयार्थ :- (**बहिरर्थनिह्नवे**) बाह्य पदार्थों का अभाव माननेपर (**अंतरर्थः**) अंतर्वर्ती पदार्थ (**कुतः**) कैसे हो सकता है और (**अंतरर्थात् विना**) अंतर्ज्ञेय के बिना (**बहिरर्थः**) बाह्य अर्थ (**न एव**) नहीं हो सकता है। (**हि**) निश्चय से (**प्रमेयशून्यस्य**) प्रमेय - बाह्य पदार्थ से रहित ज्ञान में (**प्रमाणता न**) प्रमाणता नहीं हो सकती और (**प्रमाणशून्यस्य**) प्रमाण से रहित वस्तु में (**प्रमेयता न हि**) प्रमेयता नहीं रह सकती।

भावार्थ :- शून्याद्वैतवादी जैसे कुछ दर्शनकार बाह्य पदार्थों का सर्वथा अभाव मान कर एक ज्ञान का ही अद्वैत सिद्ध करते हैं और चार्वाक जैसे कुछ दर्शनकार ज्ञानदर्शन के आधारभूत आत्मतत्त्व के अस्तित्व को अस्वीकृत कर ज्ञानदर्शन का भी अस्तित्व नहीं मानते हैं। उन दर्शनकारों की मान्यता का प्रतिषेध करते हुए आचार्य ने कहा है कि यदि बाह्य पदार्थों का निह्नव किया जाता है - उनके अस्तित्व को अस्वीकृत किया जाता है तो अंतर्ज्ञेय का अस्तित्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? इसी प्रकार अंतर्ज्ञेय के बिना बाह्य अर्थ का अस्तित्व कैसे मना जा सकता है ? क्योंकि प्रमाण और प्रमेय का व्यवहार परस्पर सापेक्ष है। प्रमाण के विना पदार्थ में प्रमेय का व्यवहार नहीं हो सकता है और प्रमेय के बिना प्रमाण में प्रमाण का व्यवहार नहीं हो सकता।

इस श्लोक में आचार्य ने अंतर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेय की चर्चा की है। बाह्य पदार्थो का ज्ञान में जो विकल्प आता है वह अंतर्ज्ञेय कहलाता है और उस विकल्प में कारणभूत जो पदार्थ है वह बहिर्ज्ञेय कहलाता है। जैन सिद्धांत दोनों ज्ञेयों का स्वीकृत करता है क्योंकि बहिर्ज्ञेय के बिना अंतर्ज्ञेय की और अंतर्ज्ञेय के बिना बहिर्ज्ञेय की सत्ता सिद्ध नहीं होती है। दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं।।९।।

न मानमेयस्थितिरात्मचुम्बिनी प्रसह्य बाह्यार्थनिषेधनक्षमा।
वदन्ति बोधाकृतयः परिस्फुटं विनैव वाचा बहिरर्थमञ्जसा।।१०।।

अन्वयार्थ :- (**आत्मचुम्बिनी**) आत्मा में स्थित (**मानमेयस्थितिः**) प्रमाण और प्रमेय अथवा ज्ञान और ज्ञेय की स्थिति (**प्रसह्य**) हठात् (**बाह्यार्थनिषेधनक्षमा**) बाह्य पदार्थों का निषेध करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि (**बोधाकृतयः**) ज्ञानमें जो पदार्थों की आकृतियाँ अंकित हो रही हैं वे (**वाचाविना एव**) वचनों के बिना ही (**परिस्फुटं**) स्पष्टरूप से (**अञ्जसा**) वास्तविक (**बहिरर्थम्**) बाह्य अर्थ को (**वदन्ति**) कहती हैं - सूचित करती हैं।

भावार्थ :- जो एकांतवादी अंतर्ज्ञेय को ही स्वीकृत कर बाह्य ज्ञेय का सर्वथा निषेध करते हैं उनकी उस मान्यता को निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि आत्मा में जो ज्ञानज्ञेय की स्थिति है वह हठपूर्वक बाह्य पदार्थों का निषेध नहीं कर सकती, क्योंकि ज्ञान में जो ज्ञेय की आकृतियाँ पड़ रही हैं वे बाह्य ज्ञेय के अस्तित्व को स्पष्टरूप से सूचित करती हैं। जिसप्रकार दर्पण में पड़नेवाली पदार्थों की प्रतिकृतियाँ सामने स्थित पदार्थों के अस्तित्व को सूचित करती हैं उसीप्रकार ज्ञान में पड़नेवाली प्रतिकृतियाँ बाह्य पदार्थों के अस्तित्व को सूचित करती हैं। तात्पर्य यह है कि हे भगवन् ! आप अनेकान्तदृष्टि से अंतर्ज्ञेय दोनों के अस्तित्व को स्वीकृत करते हैं।।१०।।

विनोपयोगस्फुरितं सुखादिभिः स्ववस्तुनिर्मग्न गुणैर्विभावितः।
त्वमेकतामेषि समग्रवाचकं यथा विना वाचकवाच्यभावतः।।११।।

अन्वयार्थ :- (**उपयोगस्फुरितं बिना**) इच्छाजन्य उपयोग के बिना, (**सुखादिभिः**

स्ववस्तुनिर्मग्नगुणैः) आत्मतत्त्व में निमग्न सुखादि गुणों के द्वारा (**विभावितः**) प्रसिद्धि को प्राप्त हुए (**त्वम्**) आप (**वाचकवाच्यभावतः विना**) वाचकवाच्यभाव के बिना (**समग्रवाचकं यथा**) समस्त अर्थों के वाचक सत् के समान (**एकताम् एषि**) एकता को प्राप्त हो रहे हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! मोहकर्म का सर्वथा क्षय हो जानेसे आपको किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती, अतः आपको सुख आदि गुणों का कोई बाह्यरूप दृष्टि में नहीं आता, इससे सिद्ध होता है कि आपके समस्त गुण स्वकीय वस्तुतत्त्व में निर्मग्न हैं। उन्हीं गुणों के साथ आप एकत्व को प्राप्त हो रहे हैं, क्योंकि निश्चयनय गुण-गुणी में भेद को स्वीकृत न कर उन्हें एक अखण्ड द्रव्य मानता है। जिस प्रकार समस्त पदार्थों का वाचक `सत्' शब्द एकरूपता को प्राप्त है, क्योंकि उसमें वाचक-वाच्य का भेद नहीं है और अखण्डरूप से वह समस्त पदार्थों का संग्रह करता है उसी प्रकार आप भी एकरूपता को प्राप्त हैं।।११।।

क्रमापतद्भूरिविभूतिभारिणि स्वभाव एव स्फुरतस्तवानिशम्।
समं समग्रं सहभाविवैभवं विवर्तमानं परितः प्रकाशते।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**क्रमापतद्भूरिविभूतिभारिणि**) क्रम से आनेवाली बहुत भारी विभूति के धारक (**स्वभाव से एव**) स्वभाव में ही (**अनिशं**) निरंतर (**स्फुरतः**) संलीन रहनेवाले (**तव**) आपका यह (**विवर्तमानं**) परिवर्तनशील - षड्गुणी हानिवृद्धिरूप परिणमन से युक्त (**समग्रं**) सम्पूर्ण (**सहभाविवैभवं**) गुणों का वैभव (**परितः**) सब ओर (**समं**) एक साथ (**प्रकाशते**) प्रकाशित हो रहा है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपका जो स्वभाव, क्रम से प्रकट होनेवाली अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्यरूप उत्कृष्ट विभूति से सम्पन्न है, उसी स्वभाव में आप निरंतर लीन हैं। हे प्रभो ! आपके समस्त गुणों का वैभव एक साथ सभी ओरसे प्रकाशित है तथा वह गुणों का वैभव अगुरुलघु गुण के कारण निरंतर परिणमन करता है।।१२।।

क्रमाक्रमाक्रान्तविशेषनिह्नवादनंशमेकं सहजं सनातनम्।
सदैव सन्मात्रमिदं निरङ्कुशं समन्ततस्त्वं स्फुटमीश पश्यसि।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! (**त्वम्**) आप (**क्रमाक्रमाक्रान्तविशेषतनिह्नवात्**) क्रम और अक्रम से प्राप्त होनेवाले पर्याय और गुणरूप विशेषों के गौण करनेसे (**अनंशं**) अखण्ड (**एकं**) एक (**सहजं**) सहज (**सनातन**) अनाद्यनन्त (**निरङ्कुशं**) निर्बाध (**इदं**) इस (**सन्मात्रं**) सत्मात्र तत्त्व को (**स्फुटम्**) स्पष्टरूप से (**समन्ततः**) सब ओरसे (**सदैव**) सदा ही (**पश्यति**) देखते हैं।

भावार्थ :- पर्याय क्रमवर्ती और गुण अक्रमवर्ती है। सत् में जब इनकी विवक्षा रहती है तब वह अनेक तथा खण्डरूप अनुभव में आता है, परंतु जब इनकी विवक्षा को गौण कर देते हैं तब वह एक अखण्ड, सहज और अनाद्यनन्त अनुभव में आता है। हे भगवन् ! आप इसी एक, अखण्ड, सहज तथा सनातन सन्मात्र तत्त्व को स्पष्टरूप से देखते-जानते हैं।।१३।।

प्रदेशभेदक्षणभेदखण्डितं समग्रमन्तश्च बहिश्च पश्यतः।
समन्ततः केवलमुच्छलन्त्यमी अमूर्तमूर्ताः क्षणिकास्तवाणवः।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**प्रदेशभेदक्षणभेदखण्डितं**) प्रदेशभेद और क्षणभेद से विभक्त - तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वताप्रचयको लिए हुए (**समग्रं**) समस्त (**अंतश्च बहिश्च**) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग पदार्थों को (**समन्ततः**) सब ओरसे (**पश्यतः**) देखनेवाले (**तव**) आपके ज्ञान में (**अमी**) ये (**अमूर्तमूर्ताः**) अमूर्तिक, मूर्तिक तथा (**क्षणिकाः**) क्षण-क्षण में परिवर्तित होनेवाले (अणवः) प्रदेश (**केवलं**) मात्र (**उच्छलन्ति**) छलकते भर हैं अर्थात् उनके प्रति ममत्वभाव नहीं हैं।

भावार्थ :- संसार में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य माने गये हैं। इनमें पुद्गलद्रव्य मूर्त है और शेष पाँच द्रव्य अमूर्त हैं। इन द्रव्यों में एक जीव तथा धर्म और अधर्म द्रव्य के असंख्यात असंख्यात प्रदेश हैं। पुद्गल के संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश हैं, आकाश के अनंत प्रदेश हैं तथा कालद्रव्य का एक प्रदेश है। इन प्रदेशों का जो विस्तार है वह तिर्यक् प्रचय है और कालक्रम से जो उनकी समयव्यापी पर्यायें प्रकट होती हैं उनका समूह ऊर्ध्वताप्रचय है। ये सब द्रव्य जब ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं - इनका विकल्प ज्ञान में आता है तब अंतर्ज्ञेय कहलाते हैं और बाह्य में स्थित हैं, अतः बहिर्ज्ञेय या बाह्य प्रमेय कहलाते हैं। आप इन दोनों ज्ञेयों को सम्पूर्णरूप से जानते हैं। जानते समय इन द्रव्यों के

मूर्तिक और अमूर्तिक प्रदेश तथा उनकी क्षण-क्षणवर्ती पर्याय आपके ज्ञान में सब ओरसे छलकते हैं - प्रतिभासित होते हैं। इनका छलकना भी दर्पण में पड़नेवाले प्रतिबिम्ब के समान है अर्थात् जिसप्रकार दर्पण में अपने भीतर प्रतिबिम्बित पदार्थों के प्रति किसी प्रकार का ममताभाव नहीं होता है उसीप्रकार आपके ज्ञान में छलकनेवाले इन ज्ञेयों के प्रति आपका कोई ममताभाव नहीं रहता। इसी अभिप्राय को यहाँ `केवलं' शब्द से प्रकट किया गया है।।१४।।

सतो निरंशात् क्रमशोऽशकल्पनाद्विपश्चिमांशावधिबद्धविस्तराः।
यथोत्तरं सौक्ष्म्यमुपागताः सदा स्फुरन्त्यनन्तास्तव तत्त्वभक्तयः।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**निरंशात्**) स्वयं निरंश - अखड होनेपर भी जिसमें (**क्रमशः**) क्रम से (**अंशकल्पनात्**) अंशों की कल्पना की जाती है ऐसे (**सतः**) सत् से (**विपश्चिमांशावधिबद्धविस्तराः**) जिनका अंतिम अंश की अवधितक विस्तार है तथा जो (**यथोत्तरं**) आगे-आगे (**सौक्ष्म्यम् उपागताः**) सूक्ष्मता को प्राप्त हैं ऐसे (**अनंताः**) अनंत (**तत्त्वभक्तयः**) तत्त्वविभाग (**सदा**) सर्वदा (**तव**) आपके ज्ञान में (**स्फुरन्ति**) प्रकाशमान होते हैं।

भावार्थ :- संग्रहनय के द्वारा प्रतिपादित सामान्य दृष्टि से सत् निरंश है उसमें किसी अंश का विभाग नहीं है, परंतु जब उसमें व्यवहारनय प्रतिपादित दृष्टि से क्रमशः अंश की कल्पना की जाती है तब उसके द्रव्य गुण पर्याय आदि अनेक अंश होते जाते हैं और यह अंश तब तक होते रहते हैं जब तक कि हो सकते हैं। ये सभी तत्त्व उत्तरोत्तर सूक्ष्मता को प्राप्त होते जाते हैं। जैसे सत् की अपेक्षा द्रव्य सूक्ष्म है और द्रव्य की अपेक्षा जीवद्रव्य सूक्ष्म है। सूक्ष्मता को प्राप्त होनेका कारण यह है कि वे उत्तरोत्तर महासत्ता से निवृत्ति होकर अवान्तर सत्ता को प्राप्त होते जाते हैं। इस प्रकार संग्रहनयने जिसे एक कहा था व्यवहारनयने उसे अनंत भेदों से विभक्त कर दिया। तत्त्वों के ऐसे अनंत विभाग आपके ज्ञान में सदा प्रतिभासित होते रहते हैं।।१५।।

अखण्डसत्ताप्रभृतीनि कात्स्न्‍र्यतो बहून्यपि द्रव्यविखण्डता[१]नि ते।
विशन्ति तान्येव रतानि तैर्विना प्रदेशशून्यानि पृथक् चकासति।
।।१६।।

१. भावे क्रतः प्रत्ययः द्रव्यस्य विखण्डितानि द्रव्यविखण्डितानि द्रव्यांश इति यावत्।

अन्वयार्थ :- (**अखण्डसत्ताप्रभृतीनि**) अखण्ड सत्ता को आदि लेकर जो (**बहून्यपि**) बहुत से (**द्रव्यविखण्डितानि**) द्रव्यखण्ड - द्रव्यांश हैं (**तानि कात्स्न्र्यतः एव**) वे सब सम्पूर्णरूप से ही (**ते**) आपके ज्ञान में (**विशन्ति**) प्रवेश करते हैं और वहीं (**रतानि**) रहत हो जाते हैं। ज्ञान में प्रतिभासित वे द्रव्यखण्ड (**तैः विना**) ज्ञान की परिणति होनेके कारण यद्यपि उन द्रव्यों के बिना (**प्रदेशशून्यानि**) प्रदेशों से शून्य हैं तथापि (**पृथक्**) पृथक्-पृथक् (**चकासति**) सुशोभित होते हैं - प्रतिफलित रहते हैं।

भावार्थ :- अखण्ड महासत्ता एक है, परंतु जब उसमें अवान्तर सत्ता की अपेक्षा खण्ड कल्पना की जाती है तब उसके द्रव्य-गुण आदि अनेक भेद हो जाते हैं। भगवान् के केवलज्ञान में उन सब अनेक भेदों का प्रतिबिम्ब पड़ता है और केवलज्ञान के क्षायिक होनेसे वह प्रतिबिम्ब उसमें सदा पड़ता रहता हैं, इसलिये ऐसा जान पड़ता है मानों वे द्रव्य के अनेक भेद उसीमें रत हो गये हों - लीन हो गये हों। क्षायोपशमिकज्ञान अक्रमवर्ती होता है, अतः उसमें प्रतिबिम्बित पदार्थ सदा के लिए लीन नहीं होता, परंतु क्षायिकज्ञान अक्रमवर्ती है - एक साथ समस्त पदार्थों को ग्रहण करता है इसलिए जो भी पदार्थ उसमें प्रतिबिम्बित होते हैं वे उसीमें लीन हो जाते हैं। केवलज्ञान में जो पदार्थ आये हैं वे अंतर्ज्ञेय बनकर आये हैं, अतः परमार्थ से वे प्रदेशों से शून्य हैं, क्योंकि प्रदेशों का विभाग बहिर्ज्ञेय में ही रहता है अंतर्ज्ञेय में नहीं। एतावता वे अंतर्ज्ञेय यद्यपि बहिर्ज्ञेय के प्रदेशों से शून्य हैं तो भी भगवान् के ज्ञान में पृथक्-पृथक् ही प्रतिभासित होते हैं।।१६।।

कृतावतारानितरेतरं सदा सतश्च सत्तां च चकाशतः समम्।
विचिन्वतस्ते परितः सनातनं विभाति सामान्यविशेषसौहृदम्।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**इतरेतरं**) परस्पर सापेक्षरूप से (**कृतावतारान्**) जिन्होंने ज्ञान में अवतरण किया है (**च**) और जो (**सदा**) निरंतर (**सत्तां चकाशतः**) अपनी-अपनी पृथक् सत्ता को प्रकाशित करते हैं ऐसे (**सतः**) पदार्थों को (**समं**) एकसाथ (**परितः**) सब ओरसे (**विचिन्वतः**) संचित करनेवाले-जाननेवाले (**ते**) आपका (**सनातनं**) शाश्वत (**सामान्यविशेषसौहृदयम्**) सामान्य और विशेष का मैत्रीभाव (**विभाति**) सुशोभित होता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपके केवलज्ञान और केवलदर्शन गुण अपनी-अपनी पृथक् सत्ता रखनेवाले समस्त पदार्थों को सामान्य तथा विशेषरूप से एक साथ ग्रहण करते

हैं इसलिये आपका यह सामान्य और विशेष सम्बन्ध का मैत्रीभाव सदा सुशोभित रहता है। सामान्य विशेष की अपेक्षा रखता है और विशेष सामान्य की अपेक्षा रखता है, इस प्रकार दोनों का आप सापेक्षरूप से विषय करते हैं।।१७।।

मुहुर्मिथः कारणकार्यभावतो विचित्ररूपं परिणाममियूतः।
सग्रभावास्तव देव पश्यतो व्रजत्यनन्ताः पुनरप्यनन्तताम्।।१८।।

अन्वयार्थ :- (**देह**) हे नाथ ! (**मिथः**) परस्पर (**कारणकार्यभावतः**) कारणकार्यभाव से (**मुहुः**) बार-बार (**विचित्ररूपं**) नाना प्रकार के (**परिणामं**) परिणमन को (**इयूतः**) प्राप्त करनेवाले (**समग्रभावाः**) समग्र पदार्थ (**तव पश्यतः**) आप दृष्टा के ज्ञान में (**अनंताः अपि**) अनंत होकर भी (**पुनः अनंततां**) फिर से अनंतपने को (**व्रजन्ति**) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपके ज्ञान में प्रतिबिम्बित होनेवाले पदार्थ यद्यपि स्वयं अनंत हैं तथापि वे प्रतिसमय होनेवाले परिणमनों की अपेक्षा और भी अधिक अनंत हो जाते हैं। यह परिणमन कार्यकारणभाव से होता है। उत्तरपर्याय की उत्पत्ति में पूर्वपर्याय कारण है और उत्तरपर्याय कार्य। कार्यकारण की यह श्रृंखला सदा चलती रहती है। `अनंत पदार्थ फिर भी अनंतता को प्राप्त होते हैं' इसकी एक विवक्षा यह भी जान पड़ती है कि आपके ज्ञान में आये हुए पदार्थ काल की अपेक्षा अनंतता को प्राप्त हैं, क्योंकि आपके ज्ञान में आये हुए पदार्थ अनंत काल तक यथावत् प्रतिभासित होते रहते हैं। तात्पर्य यह हैं कि आप अनंत पदार्थों की अनंत पर्यायों को एक साथ जानते हैं।।१८।।

अनन्तशो द्रव्यमिहार्थपर्ययैर्विदारितं व्यञ्जनपर्ययैरपि।
स्वरूपसत्ताभरगाढयन्त्रितं समं समग्रं स्फुटतामुपैति ते।।१९।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**इह**) इस लोक में जो (**अर्थपर्ययैः**) अर्थपर्यायों (**अपि**) और (**व्यञ्जनपर्ययैः**) व्यञ्जनपर्यायों के द्वारा (**अनन्तशः**) अनंतबार (**विदारितं**) भेद को प्राप्त है तथा (**स्वरूपसत्ताभरगाढयन्त्रितं**) स्वरूप की सत्ता के समूह से अत्यंत युक्त है अर्थात् अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्यायों से अनंतबार विदीर्ण होनेपर भी जो अपने अस्तित्व को नहीं छोड़ता है ऐसा (**समग्रं द्रव्यं**) सम्पूर्ण द्रव्य (**ते**) आपके ज्ञान में (**समं**) एक

साथ (**स्फुटतां**) स्पष्टता को (**उपैति**) प्राप्त होता है।

भावार्थ :- द्रव्य के गुणांशों में जो परिणमन होता है उसे अर्थपर्याय कहते हैं और द्रव्य के प्रदेशों में जो परिणमन होता है उसे व्यञ्जनपर्याय कहते हैं। संसार का प्रत्येक द्रव्य, इन अनंत अर्थपर्यायों तथा व्यञ्जनपर्यायों को पुंज है। हे भगवन् ! इन दोनों प्रकार की पर्यायों से युक्त द्रव्य आपके ज्ञान में स्पष्ट झलक रहा है। यद्यपि द्रव्य में उक्त पर्यायों की अपेक्षा प्रतिसमय भेद होता रहता है तथापि वह अपने स्वरूप की सत्ता से कभी च्युत नहीं होता है।।१९।।

व्यपोहितुं द्रव्यमलं न पर्यया न पर्ययान्द्रव्यमपि व्यपोहते।
त्यजेद् भिदां स्कन्धगतो न पुद्गलो न सत्पृथग्द्रव्यगमेकतां त्यजेत्।
।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**पर्यया:**) पर्यायें (**द्रव्यं**) द्रव्य को (**व्यपोहितुं**) छोड़ने के लिए (**अलं न**) समर्थ नहीं हैं और (**द्रव्यमपि**) द्रव्य भी (**पर्ययान्**) पर्यायों को (**न व्यपोहते**) नहीं छोड़ता है। (**स्कन्धगतः**) स्कन्धरूपता को प्राप्त हुआ पुद्गल (**भिदां**) भेद को (**न त्यजेत्**) नहीं छोड़ता है और (**पृथक्द्रव्यगं सत्**) पृथक्-पृथक् द्रव्यों में रहनेवाला सत् (**एकतां**) एकरूपता को (**न त्यजेत्**) नहीं छोड़ता है।[१]

भावार्थ :- यह सिद्धांत है कि द्रव्य, पर्याय से रहित और पर्याय, द्रव्य से रहित नहीं होता है। प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय किसी न किसी पर्याय से युक्त रहता है और उस समय उस पर्याय से तन्मय रहता है। पुद्गल द्रव्य के दो भेद हैं - अणु और स्कंध। इनमें अणु द्रव्य है और स्कंध उसकी पर्याय है। दो या दोसे अधिक मिले हुए अणुओं को स्कंध कहते हैं। यतश्च स्कंध पर्याय है अतः वह अणुरूप द्रव्य को छोड़ने में असमर्थ है। यही कारण है कि पुद्गल स्कंधरूप होता हुआ भी अणुरूप होनेसे भेद को नहीं छोड़ता है और सत् स्वभाव से अभेद को विषय करनेवाला होनेसे एक है। वह यद्यपि पृथक्-पृथक् द्रव्यों में व्याप्त होनेसे अनेकरूप प्रतीत होता है, परंतु स्वकीय सामान्यग्राही स्वभाव से एकरूप है। यहाँ एक और अनेक इन दो विरोधी धर्मों का अनेकांत की पद्धति से समन्वय किया गया है।।२०।।

---

१. पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समया परूविंति।।१२।। - पंचास्तिकाय

अभेदभेदप्रतिपत्तिदुर्गमे महत्यगाधाद्भुततत्त्ववर्त्मनि।
समग्रसीमास्खलनादनाकुलास्तवैव विष्वग् विचरन्ति दृष्टयः।।२१।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**अभेदभेदप्रतिपत्तिदुर्गमे**) अभेद और भेदज्ञान से दुर्गम (**महति**) बहुत भारी (**अगाधाद्भुततत्त्ववर्त्मनि**) अगाध तथा आश्चर्यकारी तत्त्व के मार्ग में (**समग्रसीमास्खलनात्**) समस्त सीमा में स्खलित न होनेसे (**अनाकुलः**) आकुलतारहित - निर्बाध (**तव एव**) आपकी ही (**दृष्टयः**) दृष्टियाँ (**विष्वग्**) सब ओर (**विचरन्ति**) विचरण करती हैं।

भावार्थ :- सामान्य की अपेक्षा तत्त्व अभेदरूप है और विशेष की अपेक्षा भेदरूप है। अथवा गुण और गुणी में प्रदेशभेद न होनेसे अभेदरूप है और संज्ञा संख्या लक्षण आदि की अपेक्षा भेदरूप हैं। भेद और अभेद इन दो विरोधी धर्मों के कारण तत्त्व का मार्ग अन्य लोगों के लिए दुर्गम हो गया है, परंतु हे भगवन् ! आपको अनेकान्तदृष्टियाँ वस्तुतत्त्व की समस्त सीमाओं में निर्बाध होकर विचरती हैं।।२१।।

अभिन्नभिन्नस्थितमर्थमण्डलं समक्षमालोकयतः सदाऽखिलम्।
स्फुटस्तवात्मायमभिन्नसन्मयोऽप्यनन्तपर्यायविभिन्नवैभवः।।२२।।

अन्वयार्थ :- (**अभिन्नभिन्नस्थितं**) अभिन्न और भिन्नरूप से स्थित (**अखिलं**) समस्त (**अर्थमण्डलं**) पदार्थ समूह का (**सदा**) सर्वदा (**समक्षम्**) प्रत्यक्षरूप से (**आलोकयतः**) अवलोकन करनेवाले (**तव**) आपका (**अयम् आत्मा**) यह आत्मा (**स्फुटः**) स्पष्ट अनुभव में आनेवाला (**अभिन्नसन्मयः अपि**) अभेद सद्रूप होता हुआ भी (**अनन्तपर्यायविभिन्नवैभवः**) अनंत पर्यायों के भेदरूप वैभव से सम्पन्न है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! संसार के समस्त पदार्थ लोकाकाश में एकक्षेत्रावगारहरूप से स्थित होनेके कारण अथवा गुण गुणी में अभेद होनेसे यद्यपि अभिन्न स्थित रहे जाते हैं तथापि अपनी-अपनी पृथक्सत्ता से युक्त होनेके कारण अथवा गुण गुणी में भेद होनेसे सब भिन्न-भिन्न स्थित भी हैं। इन सब पदार्थों को आप सदा प्रत्यक्ष देखते हैं। अन्य पदार्थ ही नहीं, आपकी आत्मा भी अभिन्न और भिन्नरूप से स्थित है। अभिन्न तो इसलिए है कि वह अपनेसे अभिन्न रहनेवाले सत्ता गुण से तन्मय है और भिन्न इसलिए है कि वह काल कर्म से होनेवाली अनंत पर्यायों के वैभव से सहित है।

और अभिन्न इन दो परस्पर विरोधी दृष्टियों का समन्वय किया गया है।।२२।।

अनाकुलत्वादिभिरात्मलक्षणैः सुखादिरूपा निजवस्तुहेतवः।
तवैककालं विलसन्ति पुष्कलाः प्रगल्भबोधज्वलिता विभूतयः।।२३।।

अन्वयार्थ :- जो (**अनाकुलत्वादिभिः**) अनाकुलता आदि (**आत्मलक्षणैः**) अपने लक्षणों से (**सुखादिरूपाः**) सुखादिरूप हैं, (**निजवस्तुहेतवः**) आत्मोपलब्धि के कारण हैं, (**पुष्कलः**) अपने आपमें परिपूर्ण हैं तथा (**प्रगल्भबोधज्वलिताः**) पूर्णज्ञान - केवलज्ञान से प्रकाशमान हैं ऐसी (**तव**) आपकी (**विभूतयः**) अनंत चतुष्टयरूप विभूतियाँ (**एककालं**) एक काल में - एकसाथ (**विलसन्ति**) सुशोभित हो रही हैं।

भावार्थ :- अनाकुलता सुख का लक्षण है, स्वपरावभासनता - निजपर को प्रकाशित करना ज्ञान का लक्षण है, आत्मा का अवलोकन होना दर्शन का लक्षण है और समस्त गुणों को स्वस्वरूप में स्थिर रखना वीर्य का लक्षण है। इस प्रकार अनंत सुख, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन और अनंत वीर्य आपकी प्रमुख विभूतियाँ हैं। ये सब विभूतियाँ आत्मतत्त्व की उपलब्धि में कारण हैं अर्थात् इनके माध्यम से ही अन्य जीव आत्मा का अस्तित्व स्वीकृत करते हैं। इन उपर्युक्त विभूतियों में अनंत ज्ञान ही एक ऐसी विभूति है जो दीपक के समान स्वपरप्रकाशी होनेसे अपने साथ अन्य विभूतियों के अस्तित्व को भी प्रकाशित करती है।।२३।।

समस्तमन्तश्च बहिश्च वैभवं निमग्नमुन्मग्नमिदं विभासयन्।
त्वमुच्छलन्नैव पिधीयसे परैरनन्तविज्ञानघनौघघस्मर।।२४।।

अन्वयार्थ :- (**निमग्नं**) आत्माश्रित होनेसे स्वरूप में निमग्न और (**उन्मग्नं**) पराश्रित होनेसे समवसरण में स्थित (**इदं**) इस (**समस्तम्**) सम्पूर्ण (**अन्तश्च बहिश्च वैभवं**) अनंत चतुष्टयरूप अंतरङ्ग और अष्ट प्रातिहार्यरूप बहिरङ्ग वैभव को (**विभासयन्**) प्रकाशित करनेवाले तथा (**अनंतविज्ञानघनोघघस्मरः**) अनंत विज्ञान के द्वारा मेघासमूहरूप आवरक को नष्ट करनेवाले (**त्वम्**) आप (**उच्छलन्**) उदित होते हुए (**परैः**) अन्य पदार्थों के द्वारा (**नैव पिधीयसे**) आच्छादित नहीं होते हैं।

भावार्थ :- जिस प्रकार उदित होते हुए सूर्य चंद्रमा आदि को मेघ आदि आच्छादित

कर लेते हैं उस तरह आपको कोई भी परपदार्थ आच्छादित नहीं कर सकता है। उसका कारण भी यह है कि आपने अपने अनंत ज्ञान के द्वारा समस्त आवरण करनेवाले पदार्थों को प्रभावहीन कर दिया है। परपदार्थों का प्रभाव क्षायोपशमिक ज्ञानपर ही पड़ता है क्षायिक अनंत ज्ञानपर नहीं। आप अनंत चतुष्टयरूप जिस अंतरङ्ग वैभव को प्रकट कर रहे हैं वह एक आत्माश्रित होनेसे निमग्न कहा जाता है और अष्ट प्रातिहार्यरूप जिस बहिरङ्ग वैभव को प्रकट कर रहे हैं वह समवसरण में स्थित होने तथा सबकी दृष्टि में आनेसे उन्मग्न कहलाता है।।२४।।

नितान्तमिद्धेन तपोविशोषितं तथा प्रभो मां ज्वलयस्व तेजसा।
यथैष मां त्वां सकलं चराचरं प्रघर्ष्य विष्वग् ज्वलयन् ज्वलाम्यहम्।
।।२५।।

अन्वयार्थ :- (**प्रभो**) हे स्वामिन् ! (**तपोविशोषितं**) तप के द्वारा सुखाये हुए (**मां**) मुझे (**नितान्तम्**) अत्यंत (**इद्धेन**) देदीप्यमान (**तेजसा**) तेज के द्वारा (**तथा**) उस प्रकार (**ज्वलयस्व**) प्रज्वलित करो (**यथा**) जिस प्रकार (**एषोऽहं**) यह मैं (**मां**) अपने आपको (**त्वां**) आपको और (**सकलं**) समस्त (**चराचरं**) चराचर विश्व को (**प्रधर्ष्य**) सगड़कर (**ज्वलयन्**) प्रज्वलित करता हुआ (**विष्वग्**) सब ओरसे (**ज्वलामि**) प्रज्वलित होने लगूं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! तपश्चरण के द्वारा मैंने अपने आपको खूब सुखाया है, राग-द्वेषादि की आर्द्रता को नष्टकर उसे एकदम शुष्क कर दिया है अतः इसे आप केवलज्ञानरूप देदीप्यमान तेज के द्वारा प्रज्वलित कर दीजिये जिससे मैं स्वयं प्रज्वलित हो जाऊँ और अपनी ज्वाला से सकल विश्व को प्रज्वलित कर सकूं।।२५।।

ॐ

(६)

वंशस्थवृत्तम्

क्रियैकमूलं भवमूलमुल्वणं क्रियामयेन क्रिययैव निघ्नता।
क्रियाकलापः सकलः किल त्वया समुच्छलच्छीलभरेण शीलितः।।१।

अन्वयार्थ :- (**क्रियैकमूलं**) जो मिथ्याप्रवृत्तिरूप क्रिया का प्रधान - मूल कारण है ऐसे (**उल्वणं**) बहुत भारी (**भवमूलं**) संसार के मूलकारणरूप मिथ्याभाव को (क्रिययैव) सम्यक्त्वपूर्वक होनेवाली चारित्ररूप क्रिया के द्वारा ही (**निघ्नता**) नष्ट करनेवाले, (**क्रियामयेन**) सम्यक्चारित्ररूप क्रिया से तन्मय तथा (**समुच्छलच्छीलभरेण**) बढ़ते हुए शीलसमूह से युक्त (**त्वया**) आपके द्वारा (**किल**) निश्चय से (**सकलः**) सम्पूर्ण (**क्रियाकलापः**) क्रियाओं का समूह (**शीलितः**) उत्तम शील - सत्स्वभाव से युक्त किया गया है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! संसार का मूलकारण मिथ्याभाव है क्योंकि नवीन कर्मबंध होनेके जितने प्रत्यय कारण आगम में बतलाये गये हैं उनमें मिथ्यात्व की प्रधानता है, सबसे प्रथम कारण वही है तथा वह मिथ्याभाव ही मिथ्याक्रियाओं का - हिंसादिरूप पापपरिणतियों का कारण है। मिथ्यात्व के काल में इस जीव की रुचि शुद्ध आत्मतत्त्व से हटकर विषयों की ओर प्रवृत्त होती है। ऐसे इस मिथ्याभाव को आपने तपश्चरणरूप क्रिया के द्वारा ही नष्ट किया है। तपश्चरणरूप क्रिया से आप तन्मय हैं तथा आपका शुद्धात्मस्वरूप शील का समूह निरंतर छलकता रहता है। निश्चय से आपने समस्त क्रियाओं के समूह को शील से युक्त किया है अर्थात् आपकी जितनी क्रियाएँ है उन सबको आपने शुद्धात्मस्वरूप की रमणतारूप शील से युक्त किया है।।१।।

अमन्दनिर्वेदपरेण चेतसा समग्रभोगान् प्रविहाय निःस्पृहः।
तपोऽनले जुह्वदिह स्वजीवितं बभौ भवभ्रंशकुतूहली भवान्।।२।।

अन्वयार्थ :- (**अमन्दनिर्वेदभरेण**) उत्कट वैराग्य में तत्पर (**चेतसा**) चित्त के द्वारा (**समग्रभोगान्**) समस्त भोगों को (**प्रविहाय**) अच्छी तरह छोड़कर जो (**निःस्पृह**) निस्पृह - निदान की आकांक्षा से रहित थे, जो (**इह**) इस जगत् में (**स्वजीवितं**) अपने जीवन को (**तपोऽनले**) तपरूपी अग्नि में (**जुह्वत्**) होम रहे थे तथा जो (**भवभ्रंशकुतूहली**) संसार को नष्ट करने की उत्सुकता से युक्त थे ऐसे (**भवान्**) आप (**बभौ**) अत्यंत सुशोभित हुए थे।

भावार्थ :- संवेग - संसार से भय और निर्वेद - वैराग्य से युक्त होकर आपने समस्त भोगों का पूर्ण त्याग किया और उस त्याग के फलस्वरूप किसी सांसारिक पदार्थ की इच्छा नहीं कि। आपने अपना समस्त जीवन तप की आग में होम दिया क्योंकि आप संसार को नष्ट करने के लिए उत्सुक थे। परमार्थ से संसार का नाथ नहीं कर सकता है जो निःस्पृह होकर तपश्चरण करता है। संसार की अन्य तपस्वी, संतान, धन तथा परलोक की साधना के लिए तपश्चरण करते हैं परंतु हे जिनेन्द्र ! आपका तपश्चरण जन्मजरारूपी रोगों का छोड़ने की भावना से हुआ।।२।।

भवस्य पन्थानमनादिवाहितं विहाय सद्यः शिववर्त्म वाहयन्।
विभो परावृत्य विदूरमन्तरं कथंचनाध्वानमवाप्तवानसि।।३।।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे नाथ ! (**अनादिवाहितं**) जिसपर अनादिकाल से चलते आये ऐसे (**भवस्य पन्थानं**) संसार के मार्ग को (**सद्यः**) शीघ्र ही (**विहाय**) छोड़कर जो (**शिववत्मई वाहयन्**) मोक्षमार्ग को चलाने लगे ऐसे आप (**विदूरं अंतरं**) बहुत भारी दूरी को पारकर (**कथंचन**) किसी तरह (**अध्वानं**) मार्ग को (**अवाप्तवान् असि**) प्राप्त हुए हैं।

भावार्थ :- मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये संसार के मार्ग हैं इस मार्गपर यह जीव अनादिकाल से चला आ रहा है। जब संसार सागर का तट अत्यंत निकट रह जाता है तब यह जीव रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग को प्राप्त होता है। हे भगवन् ! आपने अपने अनंत पुरुषार्थ से संसार भ्रमण का लम्बा मार्ग पार कर किसी तरह मोक्षमार्ग को प्राप्त किया है और मोक्षमार्ग के प्राप्त होते ही आप परीतसंसार हो गये हैं।।३।।

अधृष्यधैर्य विहरन्तमेककं महियसि ब्रह्मपथे निराकुलम्।
अधर्षयन्नेव (न्नैव) भवन्तमुद्धता मनागपि क्रूरकषायदस्यवः।।४।।

अन्वयार्थ :- (**अधृष्यधैर्य**) जिनका धैर्य अधृष्य था - तिरस्कार के अयोग्य था, जो (**महीयसि**) अत्यंत श्रेष्ठ (**ब्रह्मपथे**) मोक्षमार्ग में (**एककं**) अकेले ही (**विहरन्तं**) विहार कर रहे थे तथा जो (**निराकुलम्**) आकुलता से रहित थे ऐसे (**भवन्तम्**) आपको (**उद्धताः**) अत्यंत उद्दण्ड (**क्रूरकषायदस्यवः**) दुष्ट कषायरूपी चोर (**मनागपि**) किंचिद् भी (**नैव अधर्षयन्**) तिरस्कृत नहीं कर सके थे धौंस नहीं दिखा सके थे।

भावार्थ :- मार्ग में एकाकी चलनेवाले व्यक्ति को दुष्ट चोर पीड़ित करते हैं परंतु श्रेष्ठतम् मोक्षमार्ग में आप निराकुलता से सहित एकाकी ही चले, कषायरूपी उद्दण्ड चोर आपका कुछ भी विघात करने में समर्थ नहीं हुए।।४।।

[१]तपोभिरध्यात्मविशुद्धिवर्द्धनैः प्रसह्य कर्माणि भरेण पाचयन्।
मुहुर्मुहुः पूरिततरेचितान्तरा भानकाषीत् प्रबलोदयावलीः।।५।।

अन्वयार्थ :- (**भवान्**) आपने (**अध्यात्मविशुद्धिवर्द्धनैः**) अन्तरङ्ग की विशुद्धि को बढ़ानेवाले (**तपोभिः**) तपों के द्वारा (**प्रसह्य**) हठपूर्वक (**भरेण**) अधिकमात्रा में (**कर्माणि**) अशुभ कर्मों को (**पाचयन्**) निर्जीर्ण करते हुए (**प्रबलोदयावलीः**) कर्मों की प्रबल उदयावलियों को (**मुहुर्मुहुः**) बार-बार उदयावली से बाह्य कर्मनिषेकों से पूरित करके निर्जीर्ण (**अकार्षीत्**) किया। !

भावार्थ :- जिनागम में तप के बाह्य और अंतरङ्ग इस प्रकार दो भेद कहे हैं। अनशनऊनोदर आदि बाह्य तप कहलाते हैं और प्रायश्चित्त विनय आदि अंतरङ्ग तप कहलाते हैं। बाह्य तप का प्रयोजन अंतङ्ग की शुद्धि को बढ़ाना है।[२] तपश्चरण के काल में जबतक शुभ राग का जोर रहता है तबतक उससे शुभास्रव और शुभ बंध होता है। परंतु विशुद्धि का वेग बढ़ते हुए जब शुभ राग का अंश समाप्त होकर

१. अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते।
भावन् पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत्।। - स्वयंभूस्तोत्र

२. बाह्यं तपो दुश्चरमाचरँस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थम्।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन् ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने।। - स्वयंभूस्तोत्र

शुद्धोपयोग की दशा में वृद्धि होने लगती है तब वह तप संवर और निर्जरा का कारण हो जाता है। कुछ तपश्चरण अविपाक निर्जरा का प्रमुख कारण है। हे भगवन् ! मुनि अवस्था में आपने यह सब बार बार किया था। अविपाक निर्जरा के समय आपने उदयावली से बाह्य निषेकों को उदय में लाकर निर्जीर्ण किया था।

त्वमुच्छिखाप्रस्खलितैकधारया रजः क्षयश्रेणिकृताधिरोहणः।
अखण्डितोत्साहहठावघट्टनैः कषायवर्ष्माक्षपयः प्रतिक्षणम्।।६।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**क्षयश्रेणिकृताधिरोहणः**) क्षपकश्रेणीपर आरोहण करनेवाले (त्वम्) आपने (**उच्छिखाप्रस्खलितैकधारया**) अत्यंत तीक्ष्ण तथा कभी स्खलित न होनेवाली धारा से (**अखण्डितोत्साहहठावघट्टनैः**) अखण्ड उत्साह से युक्त सुदृढ़ प्रहारों के द्वारा (**कषायवर्ष्म रजः**) कषायरूप कर्मरज को (**प्रतिक्षणम्**) प्रत्येक क्षण - प्रति समय (**अक्षपयः**) नष्ट किया था।

भावार्थ :- हे नाथ ! मुनि अवस्था में आपने क्षपकश्रेणी मांढकर शुक्लध्यानरूपी खड्ग को तीक्ष्णधारा के प्रबल प्रहारों से कषायरूप कर्मरज का प्रतिसमय क्षय किया था। सप्तम गुणस्थान के बाद दो श्रेणियाँ होती हैं, एक उपशमश्रेणी और दूसरी क्षपकश्रेणी। उपशम श्रेणीवाला जीव शुक्लध्यान के प्रभाव से चारित्र मोहनीयकर्म के भेदस्वरूप संज्वलन क्रोध मान माया और लोभ कषाय का उपशम करता है और क्षपकश्रेणीवाला उपर्युक्त कषायों का क्षय करता है। उपशम श्रेणीवाला दशम गुणस्थान के अंत में संपूर्ण चारित्र मोह का उपशम कर ग्यारहवें गुणस्थान में जाता है और अंतर्मुहूर्त के अनंतर वहाँ से गिरकर पुनः नीचे आता है, परंतु क्षपकश्रेणीवाला जीव, दशम गुणस्थान के अंत में समस्त मोह कर्म का क्षय कर बारह वें गुणस्थान को प्राप्त होता है तथा वहाँ शुक्लध्यान के द्वितीय भेद से ज्ञानावरण दर्शनावरण अंतराय तथा नामकर्म की तेरह प्रकृतियों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करता है। अब वह पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ दशा को प्राप्त होता है।।६।।

उपर्युपर्यध्यवसायमालया विशुध्य वैराग्यविभूतिसम्मुखः।
कषायसंघट्टननिष्ठुरो भवानपातयद्बादरसूक्ष्मकिट्टिकाः।।७।।

अन्वयार्थ :- (**उपर्युपरि**) ऊपर-ऊपर बढ़ती हुई (**अध्यवसायमालया**) ध्यान की सन्तति से (**विशुध्य**) निर्मल होकर जो (**वैराग्यविभूतिसम्मुखः**) वैराग्यरूपी विभूति के सम्मुख हैं तथा (**कषायसंघट्टननिष्ठुरः**) कषाय के नष्ट करनेमें अत्यंत निर्दय हैं ऐसे (**भवान्**) आपने (**बादरसूक्ष्मकिट्टिकाः**) बादर कृष्टि और सूक्ष्म कृष्टियों को (**अपातयत्**) नष्ट किया था।

भावार्थ :- संज्वलनलोभ के जो स्पर्धक अपेक्षाकृत तीव्र अनुभागशक्ति को रखते हैं वे बादर कृष्टि कहलाते हैं और जो उत्तरोत्तर सूक्ष्मरूपता को प्राप्त हो चुकते हैं वे सूक्ष्म कृष्टि कहे जाते हैं। नवम गुणस्थान तक इनकी बादर अवस्था रहती है और दशम गुणस्थान में सूक्ष्म अवस्था रहती है। हे भगवन् ! आपने इन दोनों कृष्टियों को नष्ट किया था और नष्ट करनेका कारण यह था कि आप पूर्ण वीतरागदशारूप विभूति को प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे।।७।।

समन्ततोऽनन्तगुणाभिरद्भुतः प्रकाशशाली परिणम्य शुद्धिभिः।
नितान्तरसूक्ष्मीकृतरागरञ्जनो जिन क्षणात् क्षीणकषायतां गतः।।८।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**समन्ततः**) सब ओरसे (**अनंतगुणाभिः**) अनंत गुणी (**शुद्धिभिः**) शुद्धियों से (**परिणम्य**) परिणमन कर जो (**अद्भुतः**) अतिशय पूर्ण अवस्था को प्राप्त हुए हैं (**प्रकाशशाली**) अंतःप्रकाश - वीतराग ज्ञान से सुशोभित हैं तथा (**नितान्तसूक्ष्मीकृतरागरञ्जनः**) जिन्हों ने संज्वलनसम्बन्धी राग को अत्यंत सूक्ष्म कर दिया है ऐसे आप (**क्षणात्**) क्षण भर में (**क्षीणकषायतां गतः**) क्षीणकषाय अवस्था को प्राप्त हुए थे।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप दशम गुणस्थान में सूक्ष्मसाम्पराय अवस्था को प्राप्त हो बाहरवें गुणस्थान में आकर क्षीणकषाय अवस्था को प्राप्त हुए। उस समय आप छद्मस्थ वीतराग दशा से सुशोभित थे और आपका ज्ञान राग की लालिमा से रहित हो गया था।।८।।

कषायनिष्पीडनलब्धसौष्ठवो व्यतीत (व्यतीत्य) **काष्ठां जिन साम्परायिकीम्।**
स्पृशन्नपीर्यापथमन्तमुज्जवलस्त्वमस्खलः स्थित्यनुभागबन्धनः।।९।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**कषायनिष्पीडनलब्धसौष्ठवः**) कषाय के सर्वथा

नष्ट हो जानेसे जिन्हें श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त हुई है, (**साम्परायिकीम्**) साम्परायिक आस्रव सम्बन्धी (**काष्ठां**) सीमा को (**व्यातीत्य**) व्यतीत कर जो (**अंतं ईर्यापथम्**) अंतिम ईर्यापथ आस्रव को (**स्पृशन्**) प्राप्त हुए हैं तथा जो कषाय सम्बन्धी कलुषता के नष्ट हो जानेसे (**उज्वलः**) निर्मल हुए हैं ऐसे (**त्वम्**) आप (**स्थित्यनुभागबन्धतः**) स्थिति और अनुभाग बन्ध से (**अस्खलः**) रहित हुए थे।

भावार्थ :- आस्रव के दो भेद हैं - एक साम्परायिक और दूसरा ईर्यापथ ! जिस आस्रव से प्रकृति,स प्रदेश, स्थिति और अनुभाग ये चारों बंध होते हैं उसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं और उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। योग के निमित्त से प्रकृति और प्रदेशबंध होते हैं तथा कषाय के निमित्त से स्थिति और अनुभागबंध होते हैं। दशम गुणस्थान तक योग और कषाय दोनों रहते हैं इसलिये वहाँ तक साम्परायिक आस्रव होता है तथा ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक मात्र योग रहता है इसलिए इन गुणस्थानों में ईर्यापथ आस्रव होता है। हे भगवन् ! क्षीणकषाय गुणस्थान में आनेपर आपका साम्परायिक आस्रव तो छूट गया मात्र सातावेदनीय का ईर्यापथ आस्रव शेष रह गया।।९।।

शनैः समृद्धव्यवसायसम्पदा क्रमात् समासन्नशिवस्य ते सतः।
बभूवुरुन्मृष्टकलङ्ककश्मलाः प्रफुल्लहर्षोत्कलिका मनोभुवः।।१०।।

अन्वयार्थ :- (**शनैः**) धीरे-धीरे (**क्रमात्**) क्रम से (**समृद्धव्यवसायसम्पदा**) पूर्ण उद्योगरूप सम्पत्ति के द्वारा (**समासन्नशिवस्य**) जिन्होंने मुक्ति को निकट कर लिया है तथा जो (**सतः**) अतिशय प्रशस्त हैं ऐसे (**ते**) आपकी (**मनोभुवः**) चित्तरूपी भूमियाँ (**उन्मृष्टकलङ्ककश्मलाः**) जिनकी पापरूपी कालिमा नष्ट हो गई थी और (**प्रफुल्लहर्षोत्कलिकाः**) जिनमें हर्षरूप उत्कृष्ट कलियाँ खिल रही थीं ऐसी (**बभूवुः**) हो गई थी।

भावार्थ :- हे भगवन् ! क्षीणकषाय गुणस्थान में पहुँचने पर आपने एकत्ववितर्क शुक्लध्यानरूप पुरुषार्थ से मोक्षपर्याय को अत्यंत निकट कर लिया। क्योंकि क्षीणकषाय गुणस्थान के बाद जीनन्मुक्त अवस्था - अरहंत अवस्था प्राप्त करने में अंतर्मुहूर्त से अधिक विलम्ब नहीं लगता और पूर्ण मुक्त अवस्था प्राप्त करने में देशोनकोटिवर्षपूर्व से अधिक समय नहीं लगता। उस समय आप अंतरात्मा की उत्कृष्ट सीमा को प्राप्त हो चुकते हैं तथा अंतर्मुहूर्त के अनंतर नियम से परमात्मा पद को प्राप्त करते हैं।

आपके हृदय की समस्त कालिमा - राग-द्वेषजनित मलिनता नष्ट हो जाती है और वह वीतराग परमानंद की प्रफुल्ल कलियों से सुवासित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि क्षणभर में अनंत सुख का पात्र हो जाता है।।१०।।

समामृतानन्दभरेण पीडिते भवन्मनःकुड्मलके स्फुटत्यति।
विगाह्य लीलामुदियाय केवलं स्फुटैकविश्वोदरदीपकार्चिषः।।११।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**भवन्मनःकुड्मलके**) आपके मनरूप कली के (**समामृतानन्दभरेण**) समतासुधारूप आनंद के भार से (**पीडिते**) पीडित होकर (**अतिस्फुटति**) अत्यंत विकसित होनेपर (**स्फुटैकविश्वोदरदीपकार्चिषः**) लोकालोकरूप समस्त विश्व के मध्य में प्रज्वलित दीपक सम्बन्धी ज्वाला की (**लीलाम्**) लीला - शोभा को (**विगाह्य**) प्राप्त कर (**केवलम्**) केवलज्ञान (**उदियाय**) उत्पन्न हुआ।

भावार्थ :- जिस प्रकार पराग या केसर आदि के भार से पीडित होनेपर कमल की कली खिल उठती है उसी प्रकार समतामृतरूप आनंद के भार से आपके हृदयकमल की कली खिल उठी तथा उसी समय आपके वह केवलज्ञान उत्पन्न हुआ जो कि समस्त लोकालोकरूप घर के मध्य में प्रज्वलित होनेवाले दीपक की ज्वाला के समान जान पड़ता था।।११।।

स्वयं प्रबुद्धाखिलवास्तवस्थितिः समस्तकर्तृत्वनिरुत्सुको भवन्।
चिदेकधातूपचयप्रपञ्चितः समस्तविज्ञानघनो भावनभूत।।१२।।

अन्वयार्थ :- उस समय (**भवान्**) आप (**स्वयं**) अपने आप (**प्रबुद्धाखिलवास्तवस्थितिः**) जिन्होंने समस्त पदार्थों को वास्तविक स्थिति को जान लिया है तथा जो (**समस्तकर्तृत्वनिरुत्सुकः**) समस्त पदार्थों के कर्तृत्व से निरुत्सुक - उदासीन हैं ऐसे (**भवन्**) होते हुए (**चिदेकघातूपचयप्रपञ्चितः**) एक चैतन्यरूप धातु की वृद्धि से विस्तृत और (**समस्तविज्ञानघनः**) सब ओरसे विज्ञानघन - केवलज्ञान से परिपूर्ण (**अभूत्**) थे।

भावार्थ :- हे भगवन् ! केवलज्ञान होनेपर आप स्वयं किसी अन्य पदार्थ की सहायता के बिना ही समस्त पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानने लगे थे। मोह के निकल जानेके कारण आप किन्हीं अन्य पदार्थों के कर्तृत्व के प्रति निरुत्सुक

हो गये थे अर्थात् `मैं किसी पदार्थ को करूँ' इस प्रकार के कर्तृत्वभाव से छूट गये थे। राग-द्वेषादि विकारों से रहित एक चैतन्य - ज्ञानदर्शनस्वभाव से परिपूर्ण और अनंतानंत अविभागप्रतिच्छेदों से सहित केवलज्ञान से तन्मय थे। तात्पर्य यह है कि आप कर्म और कर्मफलचेतना से रहित होकर एक ज्ञान-चेतनारूप ही हुए थे।।१२।

ततो गलत्यायुषि कर्म पेलवं स्खलद्बहिःशेषमशेषयन् भवान्।
अवाप सिद्धत्वमनन्तमद्भुतं विशुद्धबोधोद्धतधाम्नि निश्चलः।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**ततः**) नदनन्तर (**आयुषि गलित**) आयु कर्म के क्षीण होनेपर (**स्खलद्बहिः शेषं**) निर्जीर्ण होनेसे बाकी बचे हुए (**पेलवं**) शक्तिहीन (**कर्म**) कर्मों को (**अशेषयन्**) समाप्त करते हुए (**भवान**) आप (**अनंतं**) कभी नष्ट न होनेवाले तथा (**अद्भुतं**) आश्चर्यकारक (**सिद्धत्वम्**) सिद्धपद को (**अवाप**) प्राप्त हुए और (**विशुद्धबोधोद्धतधाम्नि**) विशुद्ध ज्ञानरूपी उत्तुङ्ग भवन में (**निश्चलः**) स्थिर (**अभूत्**) हो गये।

भावार्थ :- अनादि काल से यद्यपि आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध हो रहा है तथापि आत्मा का एक भी प्रदेश, न कर्मरूप हुआ है और न कर्म, आत्मारूप हुआ है। तात्पर्य यह है कि अनादि संयोग होनेपर भी दोनों द्रव्य पृथक्-पृथक् हैं। तेरहवें गुणस्थान में पहुँचने के बाद आपने केवलज्ञान को प्राप्त किया, उस केवलज्ञान के द्वारा लोकालोक को जाना। पश्चात् जब आयु समाप्त होनेको हुई तब अयोग केवलीनामक चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश कर आपने व्युपरत क्रियानिवर्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान के द्वारा उपान्त समय में बहत्तर और अंत समय में तेरह इस प्रकार पचासी कर्म प्रकृतियों का क्षय कर आश्चर्यकारक सिद्धपद प्राप्त किया और अनंतानंत काल के लिये निर्मल ज्ञानरूपी उतुङ्ग भवन में स्थित हो गये।।१३।।

चिदेकधातोरपि ते समग्रतामनन्तवीर्यादिगुणाः प्रचक्रिरे।
न जातुचिद्द्रव्यमिहैकपर्ययं बिभर्ति वस्तुत्वमृतेऽन्यपर्ययैः।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**चिदेकधातोः अपि ते**) एक चैतन्य धातुरूप होनेपर भी आपकी (**समग्रतां**) पूर्णता को (**अनंतवीर्यादिगुणाः**) अनंत वीर्य आदि गुणों ने किया था, क्योंकि (**इह**) इस जगत् में (**द्रव्यं**) द्रव्य (**वस्तुत्वं ऋते**) अपने वस्तुत्व को छोड़कर (**अन्यपर्ययैः**) अन्य

द्रव्य की पर्यायों के साथ (**जातुचित्**) कभी भी (**एकपर्ययं**) एकरूपता को (**न बिभर्ति**) नहीं धारण करता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! यद्यपि आप एक चैतन्य धातुमात्र हैं, उसके साथ लगे हुए द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप अन्य पदार्थ सदा के लिए नष्ट हो गये हैं तथापि अनंतवीर्य आदि गुणों से आप परिपूर्ण हैं। क्योंकि अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्य की पर्यायों के साथ कभी एकरूपता को धारण नहीं करता। वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि संसार में सब पदार्थ एक दूसरे से मिले रहनेपर भी अपने-अपने गुण और पर्यायों को धारण करते हैं, अन्य द्रव्यसम्बन्धी गुण और पर्यायों के साथ एकरूपता को कभी प्राप्त नहीं होते।।१४।।

स्ववीर्यसाचिव्यबलाद् गरीयसीं स्वधर्ममालामखिलां विलोकयन्।
अनन्तधर्मोद्धतमाल(ल्य)धारिणीं जगत्त्रयीमेव भवानलोकयत्।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**स्ववीर्यसाचिव्यबलात्**) अपने वीर्य की सहायता के बल से (**गरीयसीम्**) अत्यंत श्रेष्ठ तथा (**अखिलां**) सम्पूर्ण (**स्वधर्ममालां**) स्वकीय धर्मों की सन्तति को (**विलोकयन्**) देखते हुए (**भवान्**) आपने (**अनंतधर्मोद्धतमाल(ल्य)धारिणीं**) अनंत धर्मों की उत्कृष्ट माला को धारण करनेवाले (**जगत्त्रयीं**) तीनों लोकों को ही (**अलोकयत्**) देख लिया।

भावार्थ :- सिद्ध भगवान् में जो अनंत वीर्य नाम का गुण है उसकी सहायता से वे ज्ञान दर्शन आदि अनंतगुणों की सन्तति को धारण करते हैं तथा केवलज्ञान के द्वारा अपने अनंत गुणों को जानते हुए वे अनंत धर्मों से युक्त तीनों लोकों को ही जानते हैं, यहाँ आपकी आत्मज्ञता में ही सर्वज्ञता को समावेश किया गया है।।१५।।

त्रिकालविस्फूर्जदनन्तपर्ययप्रपञ्चसंकीर्णसमस्तवस्तुभिः।
स्वयं समव्यक्ति विलैककेवलं भवन्ननन्तत्वमुपागतो भवान्।।१६।।

अन्वयार्थ :- (**त्रिकालविस्फूर्जदनन्तपर्ययप्रपञ्चसंकीर्णसमस्तवस्तुभिः**) कालत्रय में उत्पन्न होनेवाली अनंत पर्यायों के समूह से युक्त समस्त वस्तुओं के साथ (**समव्यक्ति**) एक साथ व्यक्त हुए (**एककेवलं**) एक केवलज्ञानरूप (**भवन्**) होते हुए (**भवान्**) आप

(किल) निश्चय से (**अनंतत्वम्**) अनंतरूपता को (**स्वयं उपागतः**) स्वयं प्राप्त हुए हैं।

भावार्थ :- संसार के प्रत्येक पदार्थ अपनी तीन काल सम्बन्धी अनंत पर्यायों के समूह से व्याप्त हैं। वही पदार्थ केवलज्ञान में उसकी स्वच्छता गुण के कारण एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं। अतः जिस प्रकार एक ही दर्पण, अपने उदर में प्रतिबिम्बित नाना पदार्थों के कारण अनेकरूपता को प्राप्त होता है उसी प्रकार आपका केवलज्ञान भी अपने भीतर प्रतिबिम्बित अनंत ज्ञेयों की अपेक्षा अनंतरूपता को प्राप्त हुआ है। हे भगवन् ! यतः आप अनंतरूपता को प्राप्त हुए केवलज्ञान से तन्मय हैं अतः आप भी अनंतरूपता को प्राप्त हुए हैं। यहाँ अनंत ज्ञेयों की अपेक्षा एक केवलज्ञान की अनंतरूपता और उससे तन्मय होनेके कारण भगवान् की अनंतरूपता का वर्णन किया गया है।।१६।।

यदत्र किञ्चित्सकलेऽर्थमण्डले विवर्तते वर्त्स्यति वृत्तमेव वा।
समग्रमप्येकपदे तदुद्गतं त्वयि स्वयं ज्योतिषि देव भासते।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे भगवन् ! (**अत्र**) इस (**सकले**) समस्त (**अर्थमण्डल**) पदार्थसमूह में (**यत् किञ्चित्**) जो कुछ (**विवर्तते**) हो रहा है (**वर्त्स्यति**) आगे होगा (**वा**) अथवा (**वृत्तमेव**) पहले हो चुका है (**तत्समग्रं अपि**) वह सभी (**ज्योतिषि**) ज्योतिः - केवलज्ञान स्वरूप (**त्वयि**) आपमें (**स्वयं**) अपने आप (**एकपदे**) एक साथ (**उद्गतं**) प्रतिबिम्बित होता हुआ (**भासते**) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ :- हे देव ! गुण गुणी में अभेद विवक्षा के कारण आप स्वयं केवलज्ञानरूप हैं। केवलज्ञान का ऐसा स्वभाव है कि उसमें तीन लोक और तीन कालसम्बन्धी पदार्थों का परिणमन दर्पण के समान एक साथ प्रतिबिम्बित होता है। यह भगवान् के सर्वज्ञस्वभाव का वर्णन है।।१७।।

निवृत्ततृष्णस्य जगच्चराचरं व्यवस्यतस्तेऽस्खलदात्मविक्रमम्।
परात्परावृत्य चिदंशवस्त्वयि स्वभावसौहित्यभराद् झडन्त्यमी।।१८।।

अन्वयार्थ :- (**अस्खलदात्मविक्रमम्**) जिस प्रकार स्वयं निज का पराक्रम स्खलित नहीं हो उस प्रकार (**चराचरं**) चर अचररूप समस्त (**जगत्**) जगत् को (**निवृत्ततृष्णस्य**)

तृष्णा रहित होकर (**व्यवस्यतः**) जाननेवाले (**ते**) आपकी (**अमी**) ये (**चिदंशवः**) चैतन्य की किरणें (**स्वभावसौहित्यभरात्**) स्वाभाविक तृप्ति के समूह से (**परात्**) पर पदार्थों से (**परावृत्य**) दूर हटकर (**त्वयि**) आपमें (**झडन्ति**) झलझला रही हैं - सुशोभित हो रही हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! यद्यपि आप निवृत्ततृष्ण हैं - किसी अन्य पदार्थ को जानने की आपकी इच्छा नहीं है तथापि ज्ञानगुण को निर्मलता के कारण आप चराचर विश्व को जानते हैं। समस्त विश्व को जानते समय आप अपने अनंतवीर्य से सम्पन्न रहते हैं - उसे किसी प्रकार छोड़ते नहीं हैं। आपकी ये चैतन्य स्वभाव की किरणें पर पदार्थों से हटकर अंतरात्मा में ही सुशोभित हो रही हैं और उसका कारण यह है कि उन ज्ञानरश्मियों को बाहर की ओर ले जानेवाला आपका मोहजन्य विकार नष्ट हो चुका है अतः वे स्वभाव में ही स्थिर हो रही हैं। यहाँ `बहिर्ज्ञेय के ज्ञानत्व को गौण कर' अंतर्ज्ञेय के ज्ञातृत्व को प्रकट किया गया है।।१८।।

अनन्तसामान्यगभीरसारणीभरेण सिञ्चन् स्वविशेषवीरुधः।
त्वमात्मनात्मानमनन्यगोचरं समग्रमेवान्वभवस्त्रिकालगम्।।१९।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**अनंतसामान्यगभीरसारणीभरेण**) अनंत सामान्य केवलदर्शनरूपी गहरी नहर के समूह से (**स्वविशेषवीरुधः**) अपने विशेषरूप - केवलज्ञानरूप लताओं को (**सिञ्चन्**) सींचनेवाले (**त्वम्**) आपने (**अनन्यगोचरं**) जो दूसरे के द्वारा न जाना जा सके ऐसे (**त्रिकालगं**) तीन कालसम्बन्धी (**समग्रमेव**) सम्पूर्ण ही (**आत्मानं**) आत्मा को (**आत्माना**) अपने आपके द्वारा (**अन्वभवः**) अनुभूत किया है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! अरहन्त अवस्था में आप, अनंत दर्शन और अनंत ज्ञान के स्वामी हो गये। यद्यपि चेतना गुण का दर्शन और ज्ञानरूप परिणमन अनादि से चला आ रहा था पर वह क्षायोपशमिक दर्शन और क्षायोपशमिक ज्ञानरूपी रहता था। अरहन्त अवस्था के प्रकट होते ही उसका क्षायिक दर्शन और क्षायिक ज्ञानरूप परिणमन हो जाता है। क्षायिक दर्शन को केवलदर्शन और क्षायिक ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। क्षायोपशमिक दर्शन और क्षायोपशमिक ज्ञान की प्रवृत्ति क्रम से होती थी पर क्षायिक दर्शन और क्षायिक ज्ञान की प्रवृत्ति युगपत् होती है। आप इन दोनों परिणतियों के द्वारा त्रिकाल सम्बन्धी अनंतानंत पर्यायों से सहित अपनी आत्मा को स्वयं जानने देखने

लगते हैं। तात्पर्य यह है कि आप अनंत दर्शन और अनंत ज्ञान के स्वामी हैं तथा उनका ज्ञेय आपने अपनी आत्मा को ही बनाया है। आपकी इस आत्मज्ञता में ही व्यवहारनय की विषयभूत सर्वज्ञता अंतर्निहित है।।१९।।

अनन्तशः खण्डितमात्मनो महः प्रपिण्डयन्नात्ममहिम्नि निर्भरम्।
त्वमात्मनि व्यापृतशक्तिरुन्मिषन्ननेकधात्मानमिमं विपश्यसि।।२०।।

अन्वयार्थ :- जो अनंत ज्ञेयों की अपेक्षा (**अनंतशः**) अनंत भेदों से (**खण्डितं**) विभक्त (**आत्मानो महः**) आत्मज्योतिरूप केवलज्ञान को (**निर्भरम्**) पूर्णरूप से (**आत्ममहिम्नि**) आत्मा की महिमा में (**प्रपिण्डयन्**) संकोचित कर रहे हैं तथा (**आत्मनि**) अपने आपमें (**व्यापृतशक्तिः**) जिनका अनंतबल व्यापार कर रहा है ऐसे (**त्वम्**) आप (**इमं**) इस (**उन्मिषन्ननेकधात्मानं**) अनेकरूपता को प्राप्त आत्मा को (**विपश्यसि**) विशिष्टरूप से देखते हैं - जानते हैं।

भावार्थ :- व्यवहारनय से अनंत ज्ञेयों को जानने की अपेक्षा जो केवलज्ञान अनंतरूपता को प्राप्त हो रहा था निश्चयनय से वही केवलज्ञान एक आत्मा को जानने के कारण एकरूपता को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार व्यवहारनय से जो अनंत वीर्य अनंत गुणों का धारक होनेसे अनंतरूपता को प्राप्त हो रहा था वही एक अखण्ड आत्मा के आश्रित होनेसे एकरूपता को प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार व्यवहारनय से यह आत्मा यद्यपि अनेकरूप है तथापि निश्चयनय से एक अखण्ड द्रव्य है। हे भगवन् ! आपने अनंत ज्ञान और अनंत दर्शन का लक्ष्य इसी एक अखण्ड आत्मा को बनाया है।।२०।।

प्रमातृमेयाद्यविभिन्नवैभवं प्रमैकमात्रं जिन भावमाश्रितः।
अगाधगम्भीरनिजांशुमालिनीं मनागपि स्वां न जहासि तीक्ष्णताम्।
।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे कर्मशत्रुओं के विजेता (**अगाधगंभीर**) हे अगाध गाम्भीर्य से युक्त ! (**प्रमातृमेयाद्यविभिन्नवैभवं**) प्रमाता और प्रमेय आदि के भेद से जिसका वैभव अखण्डित है ऐसे (**प्रमैकमात्रं**) प्रमितिमात्र (**भावं**) भाव को (**आश्रितः**) प्राप्त हुए (**त्वम्**) आप (**निजांशुमालिनीं**) आत्मकिरणों से युक्त (**स्वां**) स्वकीय (**तीक्ष्णताम्**) तीक्ष्णता को

पदार्थ ग्रहण की पटुता को (**मनागपि**) रञ्चमात्र भी (**न जहासि**) नहीं छोड़ते हैं।

भावार्थ :- जाननेवाले को प्रमाता, जानने योग्य पदार्थ को मेय अथवा प्रमेय और जाननेरूप क्रिया को प्रमा या प्रमिति कहते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में इन तीनों का विकल्प रहता है, परंतु निर्विकल्प दशा में पहुँचने पर यह सब विकल्प समाप्त होकर एक प्रमा या प्रमिति ही शेष रह जाती है। हे जिनेन्द्र ! आप इसी निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त हुए हैं। आपका ज्ञान अगाध है तथा कषायजन्य चञ्चलता का अभाव हो जानेसे आप अत्यंत गंभीर हैं अर्थात् आपको यह इच्छा नहीं है कि हम अमुक पदार्थ को जानें, परंतु फिर भी पदार्थों को ग्रहण करने में जो आपकी तीक्ष्णता - पटुता है उसका आप रञ्चमात्र भी त्याग नहीं करते हैं पूर्ण तत्परता के साथ समस्त पदार्थों को ग्रहण करते हैं - जानते हैं। आपकी इस पटुता का कारण यह है कि वह स्वयं आत्मज्ञानरूप किरणों से सुयुक्त है।।२१।।

अनन्तरूपस्पृशि शान्ततेजसि स्फुटौजसि प्रस्फुटतस्तवात्मनि।
चिदेकतासङ्गलिताः स्फुरन्त्यमूः समन्ततीक्ष्णानुभवाः स्वशक्तयः।
।।२२।।

अन्वयार्थ :- (**अनन्तरूपस्पृशि**) अनंत पदार्थों को स्पर्श करनेवाले-जाननेवाले, (**शान्ततेजसि**) शांत तेज से युक्त और (**स्फुटौजसि**) प्रकट प्रभाव से सहित (**आत्मनि**) शुद्ध आत्मतत्त्व के विषय में (**प्रस्फुटतः तव**) अत्यंत स्पष्टता को प्राप्त होनेवाले आपकी (**चिदेकतासङ्कलिताः**) चैतन्य की एकता से सहित तथा (**समन्ततीक्ष्णानुभवाः**) सब ओरसे तीक्ष्ण अनुभव से युक्त (**अमूः**) ये (**स्वशक्तयः**) अपनी शक्तियाँ (**स्फुरन्ति**) प्रकट हो रही हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! लोकालोकावासी केवलज्ञान को हो जानेसे आपकी आत्मा अनंतपदार्थों के स्वरूप को जाननेवाली है, कषायजनित कलुषता और चञ्चलता के नष्ट हो जानेसे उसका तेज अत्यंत शांत है तथा उसका प्रताप इतना लोकोत्तर है कि शत इन्द्रों का समूह उसकी वंदना करता है। इस उपर्युक्त आत्मा विषय में ज्यों ही आप प्रकटता को प्राप्त हुए अर्थात् आपकी ऐसी परिणति हुई त्यों ही आपमें ऐसी अनंत शक्तियाँ प्रकट हो गई जो चैतन्यतत्त्व की एकता से सङ्कलिता हैं - एक चैतन्यरूप हैं तथा जिनका सब ओर स्पष्ट अनुभव होता रहता है।।२२।।

अनन्तविज्ञानमिहात्मना भवाननन्तमात्मानमिमं विघट्टयन्।
प्रचण्डसंघट्टहठस्फुटत्स्फुटस्वशक्तिचक्रः स्वयमीश भासते।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! जो (**इह**) इस जगत में (**अनंतविज्ञानं**) अनंत-केवलज्ञान से सहित (**इमम्**) इस (**अनंत**) अंतातीत - अविनाशी (**आत्मानं**) आत्मा को (**आत्मना**) अपने आपके द्वारा (**विघट्टयन्**) विघट्टित कर रहे हैं - पुनः पुनः उसी एकका अवलंबन ले रहे हैं तथा इसके फलस्वरूप (**प्रचण्डसंघट्टहठस्फुटत्स्वशक्तिचक्रः**) उस तीव्रं संघट्टन-स्वरूपावलम्बन के कारण जिनकी आत्मा शक्तियों का समूह हठपूर्वक प्रकट हो रहा है ऐसे आप (**स्वयं**) अपने आप (**भासते**) सुशोबित हो रहे हैं।

भावार्थ :- परमार्थ से आत्मा अनंत शक्तियों का पुञ्ज है, परंतु कर्माच्छादित होनेके कारण उसकी वे अनंत शक्तियाँ अनुभव में नहीं आती हैं। जब उसमें आत्म पुरुषार्थ से अनंत-केवलज्ञान प्रकट होता है तब उसकी वे शक्तियाँ हठ पूर्वक स्वयं प्रकट हो जाती हैं। हे स्वामिन् ! आपकी ये सब शक्तियाँ हठात् प्रकट हो गई हैं अतः आप अतिशयरूप से सुशोभित हो रहे हैं।।२३।।

स्वरूपगुप्तस्य निराकुलात्मनः परानपेक्षस्य तवोल्लसन्त्यमूः।
सुनिर्भरस्वानुभवैकगोचरा निरन्तरानन्दपरम्परास्रजः।।२४।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**स्वरूपगुप्तस्य**) आत्मस्वरूप से सुरक्षित, (**निराकुलात्मनः**) आकुलता से रहित तथा (**परानपेक्षस्य**) पर की अपेक्षा से शून्य (**तव**) आपकी (**अमूः**) ये (**सुनिर्भरस्वानुभवैकगोचराः**) अत्यंत उत्कट आत्मानुभव के अद्वितीय विषयभूत (**निरंतरानन्दपरम्परास्रजः**) निरंतर सुख सन्ततिकी मालाएँ (**उल्लसन्ति**) उल्लसित होती हैं - सुशोभित होती हैं।

भावार्थ :- संसारदशा में यह जीव आत्मा की अनंत सामर्थ्य से अपरिचित होनेके कारण आत्मरक्षा के लिए बाह्य पदार्थों का संयोग मिलाने का उद्यम करता है और उसके न मिलनेपर आकुल रहता है - दुःखी होता है कि मेरे पास रक्षा के कुछ भी साधन नहीं हैं। इस प्रकार निरंतर पर सापेक्ष रहता है - अन्य पदार्थों की आकाङ्क्षा करता रहता है परंतु हे भगवन् ! आप आत्मा की अनंत सामर्थ्य से सुपरिचित हैं अतः स्वरूपगुप्त हैं अपने ज्ञानदर्शन स्वरूप को ही अपनी सुरक्षा का साधन मानते

हैं इसीलिए आपकी सब आकुलताएँ नष्ट हो गई हैं तथा आप पूर्णरूप से पर निरपेक्ष हो चुके हैं। संसारी जीव का इन्द्रियजन्य आनंद, पर सापेक्ष होनेके कारण पराधीन, बाधासहित और बीच-बीच में व्युच्छिन्न - नष्ट होता रहता है,[१] परंतु आपका आत्मोत्थ आनंद निरंतर है - व्यवधान से रहित है, एक बार प्रकट होनेपर उसमें कभी अंतर - व्यवधान नहीं पड़ता है तथा उसका आपको निरंतर अनुभव होता रहता है। यहाँ अनंत सुख को लक्ष्य कर भगवान् का स्तवन किया गया है।।२४।।

प्रसह्य मां भावनयाऽनया भवान् विशन्नयःपिण्डमिवाग्निरुत्कटः।
करोति नाद्यापि यदेकचिन्मयं गुणो निजोऽयं जडिमा ममैव सः।
।।२५।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**अयःपिण्डं विशन्**) लोहपिण्ड के भीतर प्रवेश करनेवाली (**उत्कटः अग्निरिव**) प्रचण्ड अग्नि के समान (**भान्**) आप (**अनया भावनया**) इस भावना के द्वारा (**प्रसह्य**) हठात्-बलपूर्वक (**मां विशन्**) मेरे भीतर प्रविष्ट होते हुए मुझे (**अद्यपि**) आज भी (**यत्**) जो (**एकचिन्मयं**) एक चैतन्यरूप (**न करोति**) नहीं कर रहे हैं (**अयं**) यह (**ममैव**) मेरा ही (**सः**) वह (**निजः जडिमागुणः**) निजी जड़ता - अज्ञानतारूप गुण है।

भावार्थ :- जिस प्रकार प्रचण्ड अग्नि लोहपिण्ड के भीतर प्रवेश कर उसे अग्निरूप कर लेती है उसी प्रकार इस भावना - स्तुति के माध्यम से आपको भी मेरे भीतर प्रवेश कर मुझे अपनेरूप एकचिन्मय - ज्ञाता दृष्टा स्वभाव से तन्मय कर लेना चाहिए था पर आपने आज तक मुझे अपनेरूप नहीं किया है इसमें आपकी अपेक्षा नहीं किन्तु मेरी जड़ता ही कारण है। आपकी स्तुति का निमित्त मिलनेपर भी मैं आपके समान वीतराग - सर्वज्ञ नहीं बन सका, इसमें मेरे उपादान की अनुकूलता का न होना ही प्रमुख कारण है।।२५।।

१. `सपरं वाधासहियं विच्छिण्णं इंदियेहिं जं लद्धं' - प्रवचनसार।

ॐ

(७)

वंशस्थवृत्तम्

असीमसंसारमहिम्नि पञ्चधा व्रजन् परावृत्तिमनन्तशोऽवशः।
लगाम्ययं देव बलाच्चिदञ्चले स्वधाम्नि विश्रान्तिविधायिनस्तव।।१।।

अन्वयार्थ :- (**देह**) हे देव ! (**असीमसंसारमहिम्नि**) अनंत संसार की महिमा में (अवशः) विवश हो (**अनन्तशः**) अनन्तबार (**पञ्चधा परावृत्ति**) पाँच प्रकार के परावर्तनों को (**व्रजन्**) प्राप्त होता हुआ (**अयम्**) यह मैं (**स्वधाम्नि**) आत्मगृह में (**विश्रान्तिविधायिनः**) विश्राम करनेवाले (**तव**) आपके (**चिधञ्चले**) चैतन्यरूप अञ्चलके नीचे (**बलात्**) हठपूर्वक (**लगामि**) संलग्न होता हूँ - शरण पानेके लिए आपके ज्ञान स्वभाव की छाया में स्थिर हो रहा हूँ।

भावार्थ :- हे भगवन् ! मैं अनादि काल से संसाररूपी महा अटवी में भ्रमण करता हुआ विवश हो अनंतों बार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पाँच परावर्तनों को प्राप्त हो रहा हूँ। परंतु आप अपने घर में - चिदानंद स्वभाव में विश्राम कर रहे हैं। परावर्तनों के दुर्दान्त चक्र से आप पाप हो चुके हैं, अतः पुरुषार्थ करके मैं भी आपके चिदानंद स्वभाव के अञ्चल में संलग्न हो रहा हूँ - उसकी शरण में आ रहा हूँ। आप इस चित्रूप अञ्चल को पसार कर उसकी छाया में मेरी रक्षा कीजिये। तात्पर्य यह है कि हे भगवन् ! अनंत काल में वीतराग सर्वज्ञ देव की शरण प्राप्त हुई है अतः उनके माध्यम से मैं भी अपने ज्ञानानंद स्वभाव को प्राप्त कर पाँच परावर्तनों के चक्र से बहिर्भूत होना चाहता हूँ।।१।।

कषायसंघट्टनघृष्टशेषया ममैकया चित्कलया व्यवस्यतः।
क्रियात् (कियान्) प्रकाशस्तव भूतिभासने भवत्यलातं दिनकृन्न जातुचित्।
।।२।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**कषायसंघट्टनघृष्टशेषया**) कषाय समूह के संघर्षण से शेष बची हुई (**एकया**) एक (**चित्कलया**) अल्पमात्र ज्ञान की कला के द्वारा (**व्यवस्यतः**) उद्युक्त (**मम**) मेरा (**तव**) आपकी (**भूतिभासने**) विभूति के प्रकाशन में (**कियान्**) कितना (**प्रकाशः**) प्रकाश है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है। क्योंकि (**अलातं**) अधजली लकड़ी का प्रकाश (**जातुचित्**) कभी भी (**दिनकृत्**) दिवस को करनेवाला (**न**) नहीं होता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! मेरा ज्ञान अत्यंत अल्प है उसके द्वारा मैं आपकी विभूति का वर्णन करने के लिए समर्थ नहीं हूँ क्योंकि जिस प्रकार अधजली लकड़ी का अल्पतम प्रकाश कभी भी दिन के करने में समर्थ नहीं है उसी प्रकार अपने अल्पतम ज्ञान के द्वारा मैं आपकी विभूति का वर्णन करने में समर्थ नहीं हूँ।।२।।

कियत्स्फुटं किञ्चिदनादिसंवृतं कियज्जवलत् किञ्चिदतीव निर्वृतम्।
क्रियत् स्पृशत् किञ्चिदसंस्पृशन्मय त्वयीश तेजःकरुणं विषीदति।
।।३।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! (**कियत् स्फुटं**) जो कितना ही प्रकट है (**किञ्चित् अनादिसंवृतम्**) कितना ही अनादिकाल से आच्छादित है (**कियज्ज्वलत्**) कितना ही प्रकाशमान है (**किञ्चित् अतीवनिर्वृत्तम्**) कितना ही अत्यंत बुझा हुआ है - अप्रकाशमान है (**कियत् स्पृशत्**) कितना ही स्पर्श कर रहा है - पदार्थों को जान रहा है और (**किञ्चित् असंस्पृशन्**) कितना ही नहीं स्पर्श कर रहा है - पदार्थों को नहीं जान रहा है ऐसा (**मम**) मेरा (**तेजः**) तेज-ज्ञान (**त्वयि**) आपके विषय में (**करुणं `यथा स्यात् तथा'**) करुणरूप से (**विषीदति**) विषाद युक्त हो रहा है।

भावार्थ :- हे नाथ ! आपका स्तवन करनेके लिये उद्यत अपने ज्ञान की सामर्थ्य का जब विचार करता हूँ तब मुझे बहुत विषाद होता है, क्योंकि मेरा यह ज्ञान संसारवर्धक

विषयकषाय के कार्यों में कुछ प्रकट है परंतु संसारसागर से पार करानेवाले वीतरागता वर्धक कार्यों में अनादि से आच्छादित हो रहा है - उनकी ओर उसका लक्ष्य भी नहीं जाता है, भोगोपभोग की सामग्री के संचित करने में कुछ देदीप्यमान है परंतु त्यागमार्ग में अत्यंत बुझा हुआ है - निश्चेष्ट है, पूर्वबद्धकर्मों का मन्दोदय होनेपर कुछ पदार्थों का आस्रव और बंधमार्ग का स्पर्श करता है - उन्हें जानता है, परंतु आत्मकल्याणकारी संवर और निर्जरा के मार्ग को स्पर्श नहीं करता - उन्हें जानता भी नहीं है। इस प्रकार मेरा यह ज्ञान बहुत करुणापूर्ण स्थिति में है - आपकी करुणा का पात्र है अतः आप मेरे ज्ञान को केवलज्ञानरूप में परिणति कीजिये, जिससे उस अनंत ज्ञान के माध्यम से मैं आपके अनंत गुणों का स्तवन कर सकूं।।३।।

प्रलाप(प्रहाय) विश्वं सकलं बलाद् भवान्मम स्वयं प्रक्षरितोऽतिवत्सलः।
पिपासितोऽत्यन्तमबोधदुर्बलः क्षमेत पातुं कियदीश मादृशः।।४।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे नाथ ! (**अतिवत्सलः**) अत्यंत स्नेह से परिपूर्ण (**भवान्**) आप (**बलात्**) बलपूर्वक (**सकलं विश्वं प्रलाप [प्रहाय]**) सकल विश्व को छोड़कर (**स्वयं**) अपने आप (**मम**) मेरे ऊपर (**प्रक्षरितः**) अमृत वर्षा कर रहे हैं परंतु (**अबोधदुर्बलः**) अज्ञान से दुर्बलता को प्राप्त हुआ (मादृशः) मेरे समान प्राणी (**अत्यंत पिपासितोऽपि सन्**) अत्यंत प्यासा होनेपर भी (**कियत्**) कितना (**पातुं**) पीनेके लिए (**क्षमेत**) समर्थ हो सकता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप स्वयं - किसीको प्रेरणा के बिना ही अत्यंत वत्सल होनेके कारण मुझ पामरपर अमृत वर्षा कर रहे हैं परंतु मैं अनादि अज्ञान से इतना दुर्बल हो रहा हूँ कि पिपासातुर होनेपर भी उस अमृत को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सक रहा हूँ। जिस प्रकार स्वच्छ जल से भरी हुई नदी बह रही हो, परंतु कोई अज्ञानी प्यास से पीड़ित होनेपर भी अज्ञानवश नदी के जल को ग्रहण न कर रहा हो तो इसमें नदी का अपराध नहीं है किन्तु उसी अज्ञानी का अपराध है। इसी प्रकार आपके उपदेशामृत की धारा प्रवाहित हो रही है, परंतु मैं अज्ञानवश उस धारा में अवगाहन नहीं कर पा रहा हूँ यह विषाद का विषय है।।४।।

अयं भवद्बोधसुधैकसीकरो ममाद्य मात्रा परिणामकाङ्क्षिणः।
क्रमेण संधुक्षितबोधतेजसा ममैव पेयस्य (पेयरस्स-) कलो भवानषि।
।।५।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**अयं**) यह (**भवद्बोधसुधैकसीकरः**) आपके ज्ञानामृत का एक कण (**परिणामकाङ्क्षिणः**) किसी अच्छे परिपाक की इच्छा करनेवाले (**मम**) मेरे लिए (**अद्य**) आज (**मात्रा**) औषधि की मात्रा के समान है। इस मात्रा के द्वारा (**क्रमेण**) क्रम से (**संधुक्षितबोधतेजसा**) जिसका ज्ञानरूप तेज वृद्धि को प्राप्त हुआ है ऐसे (**ममैव**) मेरे ही द्वारा (**सकलोऽपि भवान्**) आप संपूर्णरूप से (**पेयः**) पान करने योग्य हो रहे हैं।

भावार्थ :- जिस प्रकार कोई निर्बल मनुष्य उत्कृष्ट औषधि की मात्रा का सेवन कर क्रम-क्रम से अपनी शक्ति को बढ़ाता हुआ बहुत अधिक पदार्थों का सेवन करने में समर्थ हो जाता है उसी प्रकार मैं भी संसार भ्रमणरूपी रोग से अत्यंत निर्बल होकर उसकी निवृत्तिरूपी परिणाम की इच्छा करता था। निरंतर मेरी इच्छा रहती थी कि इस रोग से किसी प्रकार निवृत्त हो सकूं। अंतिम अवस्था में मुझे आपके ज्ञानामृत का एक कण मिल गया अर्थात् श्रुतज्ञान के द्वारा मुझे यह बोध हो गया कि वीतराग जिनेन्द्रदेव की शरण ग्रहण करने से यह भवभ्रमणरूप रोग नष्ट हो सकता है। इस ज्ञानामृत के एख कणने मेरे लिए वही कार्य किया जो मरणोन्मुख मनुष्य के लिये किसी उत्तम औषध की मात्रा करती है। इस मात्रा के प्रभाव से मेरे ज्ञान की सामर्थ्य क्रमशः बढ़ने लगी और आज इस स्थिति में हूँ कि आप संपूर्णरूप से मेरे अनुभव के विषय ही रहे हैं - आपका स्वरूप जानने की सामर्थ्य मुझ में आ गई है।।५।।

अनारतं बोधरसायनं पिबन्नखण्डितान्तर्बहिरङ्गसंयमः।
ध्रुवं भविष्यामि समः स्वयं त्वया न साध्यते किं हि गृहीतसंयमैः।
।।६।।

अन्वयार्थ :- हे प्रभो ! जो (**अनारतं**) निरंतर (**बोधरसायनं**) सम्यग्ज्ञानरूपी रसायन का (**पिबन्**) पान करता है तथा जिसका (**अखण्डितान्तर्बहिङ्गसंयमः**) अंतरङ्ग और बहिरङ्ग संयम खण्डित नहीं हुआ है ऐसा मैं (**ध्रुवं**) निश्चित ही (**स्वयं**) अपने आप (**त्वया समः**) आपके समान (**भविष्यामि**) हो जाऊँगा। सो ठीक ही है (**हि**) क्योंकि (**गृहीतसंयमैः**) संयम को धारण करनेवाले मनुष्यों के द्वारा (**किं न साध्यते**) क्या नहीं सिद्ध कर लिया जाता ? अर्थात् सभी कुछ सिद्ध कर लिया जाता है।

भावार्थ :- जिस प्रकार उत्तम रसायन का सेवन करनेवाला और कुपथ्य सेवन से दूरवर्ती मनुष्य निश्चय ही नीरोग हो जाता है उसी प्रकार निरंतर ज्ञानरूपी रसायन का सेवन करनेवाला तथा अंतरङ्ग और बहिरङ्ग संयम की निर्दोष साधना से विषय कषायरूप कुपथ्य से दूरवर्ती मैं निश्चित ही नीरोग हो जाऊंगा। हे भगवन् ! मैं आपके ही समान भवभ्रमणरूपी रोग से निर्मुक्त हो जाऊँगा। वास्तव में संयम की महिमा अद्भुत है।।६।।

व्यतीतसंख्येष्वपि शक्त्यरक्षया स्थितस्य मे संयमलब्धिधामसु।
सदा गुणश्रेणिशिखामणिश्रितं विभो कियद्दूरमिदं पदं तव।।७।।

अन्वयार्थ :- (विभो) हे भगवान् ! (शक्त्यरक्षया) अपनी शक्ति की न्यूनता से (व्यतीतसंख्येषु संयमलब्धिधामसु) असंख्यात संयमलब्धि के स्थानों में (स्थिरतस्य मे) स्थित रहनेवाले मेरे लिये (सदा) सर्वदा[१] (गुणश्रेणिशिखामणिश्रितं) गुणस्थानों की श्रेणी के श्रेष्ठ स्थान-त्रयोदश गुणस्थान सम्बन्धी (तव) आपका (इदं पदम्) यह स्थान (कियद् दूरम्) कितना दूर है।

भावार्थ :- यह भावनापरक स्तवन है। स्तवनकर्ता आत्मा की अनंत शक्ति की ओर लक्ष्य कर रहा है कि हे भगवन् ! मैं अभी अपनी शक्ति की न्यूनता से संयम

१. 'असंख्येयानि संयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति। तत्र सर्वजधन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोः, तौ युगपदसंख्योयानि स्थानानि गच्छतः, ततः पुलाको व्युच्छिद्यते। कषायकुशीलस्ततोऽसंख्येयानीष्टस्थानानि गच्छति एकाकी। ततः कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलवकुशाः युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छन्ति, ततो वकुशो व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमकषायस्थानानि निर्ग्रंथः प्रतिपद्यते। सोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमेकं स्थानं गत्वा निर्ग्रंथस्नातको निर्वाणं प्राप्तनोत्येतेषां संयमलब्धिरचना गुणा भवतीति।' राजवार्तिक - ९।४७।

के असंख्य लब्धिस्थानों में ही स्थित हूँ उनके द्वारा साध्य पद में स्थित नहीं हो सका हूँ, परंतु आपकी शरण प्राप्त होनेसे मुझे यह विश्वास हो गया है कि मेरे लिये भी आपका पद प्राप्त हो सकता है। अब वह मेरे लिये दूर नहीं है।।७।।

उपर्युपर्यूर्जितवीर्यसम्पदा विभो विभिन्दंस्तव तत्त्वमस्म्यहम्।
अलब्धविज्ञानघनस्य योगिनो न बोधसौहित्यमुपैति मानसम्।।८।।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे नाथ ! (**अहम्**) मैं (**उपर्युपर्यूर्जितवीर्यसम्पदा**) ऊपर ऊपर वृद्धि को प्राप्त हुई शक्तिरूप सम्पदा के द्वारा (**तव**) आपके (**तत्त्वं**) यथार्त स्वरूप का (**विभिन्दन्**) विश्लेषण करनेवाला (**अस्मि**) हूँ, सो ठीक ही है क्योंकि (**अलब्धविज्ञानघनस्य**) जिसे विज्ञानघन आत्मा की उपलब्धि नहीं हुई है ऐसे (**योगिनः**) साधु का (**मानसम्**) मन (**बोधसौहित्यं**) ज्ञान विषयक तृप्ति को (**न उपैति**) प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! मैं अबतक अज्ञान के कारण क्षीण शक्ति होनेसे आपके परमार्थ स्वरूप को नहीं समझ सका था, परंतु जैसे जैसे मेरी आत्मशक्ति बढ़ती जाती है वैसे वैसे ही आपके परमार्थ स्वरूप को समझता जाता हूँ। परमार्थ से जिसने विज्ञान घन-आत्मा प्राप्त नहीं किया है उसका मन ज्ञान के आश्रय से होनेवाली तृप्ति को प्राप्त नहीं होता।।८।।

अजस्रमश्रान्तविवेकधारया सुदारुणं देव मम व्यवस्यतः।
स्वयं जयन्त्युल्लसिताद्भुतोदयाः क्षणप्रहीणावरणा मनोभुवः।।९।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे देव (**अजस्रं**) निरंतर (**अश्रान्तविवेकधारया**) अविराम विवेक की धारा से (**सुदारुणं**) अत्यंत कठिन (**व्यवस्यतः**) उद्योग करनेवाले (**मम**) मेरी (**मनोभुवः**) मनरूपी भूमियाँ (**स्वयं**) अपने आप (**क्षणप्रहीणावरणाः**) जिनके आवरण क्षणभर में नष्ट हो गये हैं तथा (**उल्लासिताद्भुतोदयाः**) जिनमें आश्चर्यकारक अभ्युदय प्रकट हुए हैं ऐसी होती हुई (**जयन्ति**) जयवन्त प्रवर्तती हैं - उत्कृष्टता को प्राप्त होती हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन के काल में जो विवेकधारा - भेद विज्ञान की सन्तति उत्पन्न होती है वह तो अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होनेपर नष्ट हो जाती है, परंतु अब मुझे जो क्षायिक सम्यग्दर्शन हुआ है वह

कभी नष्ट होनेवाला नहीं है, अतः उसके काल में जो भेद विज्ञान की धारा प्रकट हुई है वह निरंतर विद्यमान रहनेवाली है. उस विज्ञान की धारा से मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं एक ज्ञाता दृष्टा स्वभाववाला स्वतंत्र आत्मद्रव्य हूँ, नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म मेरी आत्मा से पृथक् हैं। अनादि काल से इनका मेरी आत्मा के साथ संयोग अथवा भावकर्म की अपेक्षा क्षणिक तादात्म्य सम्बन्ध बन रहा है पर यह निश्चित है कि वह सदा रहनेवाला नहीं है। इस भेद विज्ञान से मैं शरीरादि पर पदार्थों को छोड़ने के लिये पूर्ण कटिबद्ध हुआ हूँ - घोर तपश्चरण के द्वारा इस कार्य के लिये उद्यम कर रहा हूँ। तथा क्षपकश्रेणी में आरूढ होकर कर्मों के सेनानी मोहकर्म को जड़-मूल से नष्ट कर चुका हूँ। मोहकर्म के नष्ट होते ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म भी क्षणभर में प्रक्षीण - सदा के लिये नष्ट हो चुके हैं। इनके नष्ट होते ही मेरी मनोभूमि - मेरी आत्मा में अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य ये आश्चर्यकारक आत्माश्रित अतिशय प्रकट हुए हैं। तात्पर्य यह है कि आपकी स्तुति करनेवाला भक्त आपके सदृश हो जाता है। आर्हत दर्शन की ही यह विशेषता है कि वह भक्त को भी भगवान् बनने का अवसर देता है।।९।।

समामृतक्षालनगाढकर्मणा कषायकालुष्यमपास्य तत्समम्।
ममाद्य सद्यः स्फुटबोधमण्डलं प्रसह्य साक्षाद् भवतीश ते महः।
।।१०।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! (**समामृतक्षालनगाढकर्मण**) समताभावरूप अमृत के द्वारा अच्छी तरह प्रक्षालित करनेसे (**कषायकालुष्यं**) कषायसम्बन्धी कलुषता को (**अपास्य**) नष्ट कर (**तत्समम्**) उसके नष्ट होनेके साथ ही (**मम**) मेरे (**अद्य**) आज (**सद्यः**) शीघ्र ही (**स्फुटबोधमण्डलं**) स्पष्ट केवलज्ञान का समूह प्रकट हुआ है और उसके फलस्वरूप (**प्रसह्य**) बलपूर्वक (**ते महः साक्षात् भवति**) आपके तेज का साक्षात्कार हो रहा है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! यद्यपि क्षायिक सम्यग्दर्शन के होनेसे मेरा ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो गया था तथापि चारित्रमोह के उदय में होनेवाली कषायरूप कलुषता से वह मलिन हो रहा था - उसमें इष्ट-अनिष्ट का भाव उत्पन्न हो रहा था। परंतु अब मैं समताभावरूपी जल से उस कलुषता को बिलकुल दूर कर चुका हूँ और उसके दूर करते ही

अंतर्मुहूर्त के भीतर मेरा वह ज्ञान केवल ज्ञानरूप में परिणत हो गया है, केवलज्ञानरूप परिणत होते ही मुझे आपके तेज का अनुभव होने लगा है।

त्वमात्मसात्म्यज्ञ चिदेकवृत्तितामशिश्रियः शोषितरागदुर्गदः।
परे तु रागज्वरसात्म्यलालसा विशन्ति बाला विषयान्विषोषमान्।
।।११।।

अन्वयार्थ :- (**आत्मसात्म्यज्ञ**) हे आत्मस्वभाव के ज्ञाता भगवन् ! (**शोषितरागदुर्गदः**) जिन्होंने रागरूपी दुष्ट रोगो का शोषण कर दिया है ऐसे (**त्वम्**) आपने (**चिदेकवृत्तिताम्**) एक ज्ञानस्वभाव में लीनता को (**अशिश्रियः**) प्राप्त किया है (**तु**) किन्तु (**रागज्वरसाम्यलालसाः**) रागरूपी ज्वर के साथ तादात्म्य की इच्छा रखनेवाले (**बालाः**) अज्ञानी (**परे**) अन्य देव (**विषोपमान्**) विषतुल्य (**विषयान् विशन्ति**) विषयों में प्रवेश करते हैं।

भावार्थ :- `राग, आत्मा का विकारी भाव हैं' ऐसी दृढ़ श्रद्धा कर उसे नष्ट करनेका आपने प्रबल पुरुषार्थ किया और उस पुरुषार्थ के फलस्वरूप उस रागरूपी दुःखदायक रोग को नष्ट कर आप पूर्ण वीतराग अवस्था को प्राप्त हुए हैं। राग के सद्भाव में कदाचित् आपका उपयोग आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में भी जाता था पर अब राग के नष्ट हो जानेपर वह एक चैतन्यपुञ्ज आत्मा में ही लीन हो रहा है। यह तो आप वीतराग की बात रही, परंतु जो रागरूपी ज्वर के साथ तादात्म्य का अनुभव कर रहे हैं, जिनकी यह श्रद्धा नहीं हुई है कि राग आत्मा का विकारी भाव होनेसे हेय है वे अज्ञानी हरिहरादिक देव, विषतुल्य पञ्चेन्द्रियों के विषयों में लीन हो रहे हैं। यहाँ सराग और वीतरागदशा के फल का वर्णन करते हुए आचार्यों ने जिनेन्द्रदेव का स्तवन किया है।।११।।

कियत्कियत् संयमसीमवर्त्मनि क्रियारतेनाप्यपराः क्रिया घ्नता।
त्वयेदमुच्चण्डचिदेकविक्रमैः समस्तकर्तृत्वमपाकृतं हठात्।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**संयमसीमवर्त्मनि**) संयमसम्बन्धी सीमा के मार्ग में (**कियत् कियत्**) कुछ कुछ (**क्रियारतेनापि**) शुभ क्रियाओं में रत होनेपर (**अपराः क्रियाः घ्नता**)

पापास्रवसम्बन्धी अन्य क्रियाओं को (**घ्नता**) नष्ट करनेवाले (**त्वया**) आपने (**उच्चण्डचिदेकविक्रमैः**) अत्यधिक एक चैतन्यमात्र आत्मा के आलम्बन से (**हठात्**) हठपूर्वक (**इदं समस्तकर्तृत्वं**) इस समस्त कर्तृत्वभाव को (**अपाकृतम्**) दूर किया है - नष्ट किया है।

भावार्थ :- संयम धारण करनेपर यद्यपि आप चरणानुयोग में प्रतिपादित सामायिक, स्वाध्याय, समिति आदि शुभ क्रियाओं को करते थे तथापि पापवर्धक क्रियाओं से सदा विमुख रहते थे। और शुभ क्रियाओं को करते हुए भी आपका उपयोग एक आत्मस्वरूप में ही स्थिर होता था। जैसे सामायिक की क्रिया करते समय आपका उपयोग अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में ही स्थिर होता था। हे भगवन् ! इस आत्माश्रयी प्रवृत्ति के कारण आपने सब प्रकार का कर्तृत्व छोड़ दिया था। अर्थात् छठवें गुणस्थान में प्रतिपादित शुभ क्रियाओं के कदाचित् कर्ता होनेपर भी आप परमार्थ से उनके कर्ता नहीं थे, क्योंकि आपकी प्रवृत्ति अन्य क्रियाओं से हटकर एक चैतन्यस्वरूप में ही लीन रहती थी।।१२।।

अकर्तृसंवेदनधाम्नि सुस्थितः प्रसह्य पीत्वा सकलं चराचरम्।
त्वमेष्ट(त्वमेव) पश्यस्यनिशं निरुत्सुकः स्वधातुपोषोपचितं निजं वपुः।
।।१३।।

अन्वयार्थ :- जो (**सकलं चराचरं**) समस्त चर-अचर विश्व को (**प्रसह्य**) बलपूर्वक (**पीत्वा**) पीकर - अपने ज्ञान में निमग्न कर (**अकर्तृसंवेदनधाम्नि**) कर्तृत्व के विकल्प से रहित ज्ञानरूप धाम में (**सुस्थितः**) अच्छी तरह स्थित है ऐसे (**त्वमेव**) आप ही (**स्वधातुपोषोचितं**) अनंत शुभ सूक्ष्म आहारवर्गणाओं के द्वारा पोषण को प्राप्त हुए (**निजं वपुः**) अपने परमौदारिक शरीर को (**अनिशं**) निरंतर (**निरुत्सुकः**) उत्सुकतारहित होते हुए (**पश्यसि**) देखते हैं।

भावार्थ :- यह जीवन्मुक्त सकल परमात्मा की स्तुति है। सकल परमात्मा केवलज्ञान से विभूषित होते हैं और उनके उस केवलज्ञान में समस्त चराचर विश्व दर्पण की तरह झलकता है। राग-द्वेष के नष्ट हो जानेसे जिसका कर्तृत्व भाव नष्ट हो जाता है ऐसे ज्ञान में वे लीन होते हैं। यद्यपि उनके कवलाहार नष्ट हो जाता है तथापि लाभान्तरराय का क्षय हो जानेसे प्रत्येक समय आहारवर्गणा के शुभ सूक्ष्म पुद्गल परमाणु उनके शरीर के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते रहते हैं जिससे उनका परमौदारिक

शरीर देशोन कोटि वर्षतक स्थिर रहता है। उस परमौदारिक शरीर के प्रति उनकी रञ्चमात्र भी उत्सुकता नहीं रहती है - वे उसे सदा निरुत्सुक भाव से देखते हैं। आयुकर्म का उदय उन्हें उस शरीर में रोके हुए है, परंतु उसके प्रति ममताभाव नहीं है।।१३।।

तवार्हतोऽत्यन्तमहिम्नि संस्थितिं स्वसीमलग्नाखिलविश्वसम्पदः।
सदा निरुच्छवासधृतास्स्वशक्तयः स्वभावसीमानमिमा न भिन्दते।
।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**अत्यन्तमहिम्नि संस्थितिम् अर्हतः**) जो अनंत महिमा में सम्यक् प्रकार से स्थिति को प्राप्त हैं तथा (**स्वसीमलग्नाखिलविश्वसम्पदः**) संसार की समस्त सम्पदाएं जिनकी स्वकीय सीमा में संलग्न हैं ऐसे (**तव**) आपकी (**निरुच्वासधृता**) संघटितरूप से धारण की हुई (**इमाः स्वशक्तयः**) ये निज की शक्तियाँ (**स्वभावसीमानम्**) स्वभाव की सीमा को (**न भिदन्ते**) नहीं भेदती हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपकी महिमा अनंत है तथा लोक की समस्त विभूतियां आपके सन्निहित हैं। आपकी आत्मा में इतनी अनंत शक्तियां विद्यमान हैं कि वे मानो बड़ी संकीर्णता से रह रही हों, परंतु फिर भी वे अपनी स्वाभाविक सीमा को छोड़ती नहीं हैं - जिस शक्ति का जो स्वभाव है वह उसी स्वभाव में स्थिर रहती है।।१४।।

तवेदमुच्चावचमीश मज्जयज्जयत्यनन्ताद्भुतसत्यवैभवम्।
स्वतत्व एव स्फुरदात्मयन्त्रितं चिदुद्गमोद्गारतरङ्गितं महः।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! जो (**उच्चावचम्**) छोटे-बड़े समस्त पदार्थों को (**मज्जयत्**) अपने आपमें निमग्न कर रहा है, (**अनंताद्भुतसत्यवैभवम्**) जिसका वैभव अनंत, आश्चर्यकारी और परमार्थभूत है, जो (**स्वतत्त्व एव स्फुरत्**) जो आत्मतत्त्व में ही स्फुरायमान है, (**आत्मयन्त्रितं**) जो आत्मा से नियन्त्रित है - आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में अविद्यमान है तथा (**चिदुद्गमोद्गारतरङ्गितं**) जो चैतन्यानुविधायी उपयोग के प्रादुर्भाव से तरङ्गित है - लब्धि रूप न रहकर सदा उपयोगरूप रहता है ऐसा (**इदम्**) यह

(**तव**) आपका (**महः**) केवलज्ञानरूप तेज (**जयति**) जयवंत है - सबसे उत्कृष्ट है।

भावार्थ :- यहाँ भगवान् के केवलज्ञानरूप तेज की महिमा कहते हुए उसका जयकार किया गया है। केवलज्ञान इतना विशद ज्ञान है कि उसमें छोटेसे छोटा और बड़े से बड़ा पदार्थ स्वयमेव प्रतिबिम्बित हो जाता है। उसका वैभव अंतरहित, आश्चर्यकारी और सत्यरूप होता है अर्थात् वह होकर कभी नष्ट नहीं होता है। वह यद्यपि लोक-अलोकवर्ती ज्ञेयों को जानने के कारण समस्त लोक-अलोक में व्याप्त है तथापि उसका नियंत्रण आत्मा से ही होता है, अथवा वह ज्ञान आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता है। क्षायोपशमिक ज्ञान लब्धि और उपयोग के भेद से दो प्रकार का होता है, परंतु केवलज्ञान क्षायिक होनेसे सदा उपयोगरूप ही रहता है, इसीलिये उसे चैतन्यानुविधायी उपयोग से तरङ्गित कहा गया है।।१५।।

स्पृशन्नपि स्वांशुभरेण भूयसा समुच्छ्वसद्विश्वमिदं स्वसीमनि।
परेण सर्वत्र सदाप्यलङ्घितस्वभावसीमा जिन नाभिभूयसे।।१६।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! यद्यपि आप (**स्वसीमनि**) अपनी सीमा के भीतर (**समुच्छ्वसद्**) विद्यमान रहनेवाले (**इदं विश्वं**) इस समस्त विश्व का (**भूयसा**) बहुत भारी (**स्वांशुभरेण**) स्वकीय ज्ञानरूप किरणों के समूह से (**स्पृशन्नपि**) स्पर्श कर रहे हैं तथापि (**सदापि**) सर्वदा (**अलङ्घितस्वभावसीमा**) जिनकी स्वाभाविक सीमा का उलङ्घन नहीं किया जा सकता ऐसे आप (**सर्वत्र**) सब जगह (**परेण**) दूसरे द्रव्य के द्वारा (**नाभिभूयसे**) अभिभूत नहीं होते हैं।

भावार्थ :- हे जिनेन्द्र ! संसार के समस्त पदार्थ अपनी अपनी स्वाभाविक सीमा में स्थिर हैं अर्थात् किसी पदार्थ का द्रव्य गुण पर्याय, अन्य पदार्थ के द्रव्य गुण पर्यायरूप परिणमन नहीं करता है। ऐसे पदार्थों को आप अपने ज्ञानरूप किरणों के समूह से जानते हैं अर्थात् वे पदार्थ ज्ञेयरूप होकर दर्पण में मयूरादि के प्रतिबिम्ब के समान आपके ज्ञान में यद्यपि झलकते हैं तथापि आपका ज्ञान अपनी स्वाभाविक सीमा का कभी उलङ्घन नहीं करता अर्थात् परमार्थ से आपका ज्ञान ज्ञान ही रहता है और ज्ञेय ज्ञेय ही रहता है, झलकनेमात्र से ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता है। यही कारण है कि आप कभी भी परके द्वारा अभिभूत नहीं होते हैं।।१६।।

स्वभावसीमानमनन्यवाधितां स्पृशन्ति भावाः स्वयमेव शाश्वतीम्।
परः परस्यास्ति कृतोऽपि तेन न क्रियेति शान्ता त्वयि शुद्धबोद्धरि।
।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**भावाः**) संसार के समस्त पदार्थ, (**अनन्यवाधितां**) दूसरे के द्वारा अवाधित तथा (**शाश्वतीं**) निरंतर स्थिर रहनेवाली (**स्वभावसीमानम्**) स्वभावसम्बन्धी सीमा का (**स्वयमेव**) अपने आप (**स्पृशन्ति**) स्पर्श करते हैं अर्थात् सब पदार्थ अपने अपने स्वभाव में स्थिर रहते हैं (**तेन**) इसलिये (**कृतः अपि परस्य परः न अस्ति**) यद्यपि व्यवहारनयये पर पदार्थ, पर का कर्ता भले ही हो परंतु परमार्थ से पर, पर पदार्थ का कर्म नहीं है अर्थात् एक पदार्थ दूसरे का कर्म नहीं है। (**इति**) इस प्रकार (**शुद्धबोद्धरि**) मात्र ज्ञाता रहनेवाले (**त्वयि**) आपमें (**क्रिया**) कर्तृत्व की भावना (**शांता**) शांत है अर्थात् आप मात्र ज्ञाता हैं।

भावार्थ :- `जिस पदार्थ का जो स्वभाव होता है वह दूसरे के द्वारा अबाधित और शाश्वतिक - नित्य होता है' इस सिद्धांत के अनुसार संसार के सभी पदार्थ अपने अपने स्वभाव में स्थिर रहते हैं। कोई किसीका कर्ता बनकर उसे उसके स्वभाव से च्युत नहीं कर सकता। यही कारण है कि अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं है। निश्चयनय से कर्तृकर्मभाव एक ही द्रव्य में बनता है दो द्रव्यों में नहीं, क्योंकि व्याप्यव्यापकभाव एक ही द्रव्य में हो सकता है, इसलिये व्यवहारनय की अपेक्षा कोई किसीका कर्ता भले ही कहा जाय परंतु जब परमार्थ - निश्चय से विचार किया जाता है तब अन्य, अन्य का कर्ता नहीं होता है। यद्यपि जीव परमार्थ से पर का कर्ता नहीं है तथापि मोहजन्य अज्ञानभाव से वह अपने को पर का कर्ता मानता है और कर्तृत्वजन्य इष्ट अनिष्ट वृद्धि का पात्र होता हुआ व्यर्थ ही अहंकार तथा ममकार करता है, परंतु आप शुद्धबोद्धा हो - मात्र ज्ञाता दृष्टा हो अतः आपमें क्रिया स्वयमेव शांत हो गई है। मोह के निकल जानेसे आप कर्तृत्व की भावना से निवृत्त हो गये।।१७।।

अकर्तृ विज्ञातृ तवेदमद्भुतस्फुटप्रकाशं सततोदितं महः।
न जात्वपि प्रस्खलति स्वशक्तिभिर्भरेण संधारितमात्मनात्मनि।।१८।।

अन्वयार्थ :- (**अकर्तृ विज्ञातृ**) जो कर्ता नहीं है मात्र ज्ञाता है (**असद्भुतस्फुटप्रकाशं**) जिसका प्रकाश आश्चर्यकारक तथा स्पष्टरूप से प्रकट है, जो (**सततोदितं**) निरंतर उदित रहता है तथा जो (**स्वशक्तिभिः**) अपनी शक्तियों के द्वारा (**भरेण**) अत्यंतरूप से (**आत्मना**) अपने आपके द्वारा (**आत्मनि**) अपने आपमें (**संधारितं**) धारण किया गया है ऐसा (**तव**) आपका (**इदम्**) यह (**महः**) केवलज्ञानरूप तेज (**जात्वपि**) कभी भी (**न प्रस्खलति**) स्खलित नहीं होता है - नष्ट नहीं होता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपका केवलज्ञान संसार के किसी पदार्थ का कर्ता नहीं है मात्र विज्ञाता है - उसे विशिष्टरूप से जानता है। उसका प्रकाश त्रिभुवन को आश्चर्य में डालनेवाला है तथा लोकालोक को अंधकार रहित करने के कारण अत्यंत स्पष्टरूप से प्रकट है। केवलज्ञान सदा उदित रहता है, क्षायपोशमिक ज्ञान के समान बीच-बीच में तिरोहित नहीं होना है तथा वह केवलज्ञान अपनी शक्तियों के समूह से अपने आपमें अपने आपके द्वारा धारण किया गया है। ऐसा केवलज्ञान कभी भी स्खलित नहीं होता है अर्थात् किसी पदार्थ को जानने से विमुख नहीं रहता।।१८।।

तवेति विस्पष्टविकासमुल्लसद्विलीनदिक्कालविभागमेककम्।
त्रुड(ट)त्क्रियाकारकचक्रमक्रमात् स्वभावमात्रं परितोऽपि वल्गति।
।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**विस्पष्टविकाशम्**) जिसका विकाश अन्यन्त स्पष्ट है, (**उल्लसद्**) जो अत्यंत सुशोभित है (**विलीनदिक्कालविभागम्**) जिसके दिशा और काल का विभाग विलीन हो चुका है (**एककम्**) जो अकेला रहता है (**त्रुटत्क्रियाकारकचक्रम्**) जिसमें किया और कारकों का समूह टूट चुका है और जो (**स्वभावमात्रं**) स्वभावमात्र है (**इति**) इस प्रकार ऐसा (**तव**) आपका केवलज्ञानरूप तेज (**अक्रमात्**) एक साथ (**परितोऽपि**) सभी ओर (**वल्गति**) चलता है सब ओरके पदार्थों को जानता है।

भावार्थ :- यहाँ केवलज्ञान के माध्यम से भगवान् का स्तवन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आपका केवलज्ञान अत्यंत स्पष्ट है, सदा उल्लसित रहता है, क्षायोपशमिक ज्ञान के समान बीच-बीच में हीनाधिक नहीं होता है, दिशाओं और कालों के विभाग से रहित है - वह सब दिशाओं और सब कालों की बात को

जानता है, अकेला है, क्षायोपशमिक ज्ञान तो एक साथ दो से लेकर चार तक स्थित रह सकते हैं, परंतु केवलज्ञान सदा अकेला ही रहता है, क्षायोपशमिक ज्ञान क्रिया तथा कर्ता-कर्म आदि कारकों के चक्र में उलझा रहता है, परंतु केवलज्ञान, वीतराग-विज्ञान होनेके कारण इस चक्र से बहिर्भूत रहता है। क्षायोपशमिक ज्ञान विभावरूप होता है, परंतु केवलज्ञान स्वभावरूप होता है, क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमवर्ती होता है, परंतु केवलज्ञान अक्रमवर्ती है - एक साथ पदार्थों को जानता है तथा क्षायोपशमिक ज्ञान अपने विषयक्षेत्र में स्थित पदार्थ को ही जानता है परंतु केवलज्ञान सब ओरकी बातों को जानता है।।१९।।

प्रवर्तते नैव न चातिवर्तते स्वभाव एवोदयते निराकुलम्।
अपेल[1]वोल्लासविलात्म(स) मांसलस्वशक्तिसम्भारभृतं भवन्महः।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**अपेलवोल्लासविलासमांसलस्वशाक्तिसम्भारभूतं**) अविरल उल्लास - अनंत सुख के विलास से परिपुष्ट स्वकीय शक्तियों के समूह से अथवा आत्मवीर्य के समूह से धारण किया हुआ (**भवन्महः**) आपका तेज - केवलज्ञानरूप प्रताप (**नैव प्रवर्तते**) न प्रवृत्त होता है (**च**) और (**न अतिवर्तते**) न अतिवर्तन करता है, किन्तु (**निराकुलं `यथा स्यात्तथा'**) निराकुल रूप से (**स्वभाव एव**) स्वभाव में ही (**उदयते**) उदित होता है - प्रकट होता है - वह आपका स्वभाव ही है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपका जो केवलज्ञानरूप तेज है वह क्रम क्रम से पदार्थों को न जानने के कारण प्रवर्तन नहीं करता और एक साथ सबको जान लेनेसे उससे अतिरिक्त पदार्थों को जानने का विकल्प ही नहीं रहता। यह अकेला ही प्रकट नहीं होता किन्तु अनंत सुख से परिपुष्ट अनंत शक्तियों के समूह के साथ प्रकट होता है। अथवा आत्मशक्ति - आत्मवीर्य के साथ प्रकट होता है। केवलदर्शन, केवलज्ञान का सहभावी है ही। इस प्रकार आपका अनंत चतुष्टयरूप तेज स्वभावरूप में ही उदित होता है तथा मोह का क्षय हो जानेसे वह निराकुलरूप में उदित होता है।।२०।

भृतोऽपि भूयो भ्रियसे स्वधामभिः स्वतः प्रतृप्तोऽपि पुनः प्रतृप्यसि।
असीमवृद्धोऽपि पुनर्विवर्द्धसे महिम्नि सीमैव न वा भवादृशाम।।२१।।

१. `पलवं विरलं तनु' इत्यमरः न पेलवः अपेलवः अविरल इत्यर्थः।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! आप (**स्वजामभिः**) आत्मतेज से (**भृतोऽपि सन्**) परिपूर्ण होकर भी (**भूयः**) पुनः (**भ्रियसे**) परिपूर्ण हो रहे हैं, (**स्वतः**) स्वयं (**प्रतृप्तोऽपि `सन्'**) अत्यंत तृप्त होकर भी (**पुनः**) फिर से (**प्रतृप्यसि**) अत्यंत तृप्त हो रहे हैं और (**असीमवृद्धोपि `सन्'**) अत्यंत वृद्धि को प्राप्त होकर भी (**पुनः**) फिरसे (**विवर्द्धसे**) अत्यंत दृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं (**वा**) अथवा ठीक ही है क्योंकि (**भवादृशाम्**) आप जैसे महानुभावों की (**महिम्नि**) महिमा में (**सीमा एव न**) सीमा ही नहीं रहती।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप जिन ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि गुणों से परिपूर्ण हो रहे हैं उनसे आप सदासे ही परिपूर्ण हैं, क्योंकि कोई गुण न नवीन उत्पन्न होता है और न विनाश को प्राप्त है, परंतु जिस प्रकार द्रव्य की पर्याय उपजती और विनशती हैं उसी प्रकार गुण की भी पर्याय उपजती और विनशती है। एतावना आपके जो ज्ञान दर्शन आदि गुण पहले क्षायोपशमिक पर्याय में थे अब उनकी क्षायिक पर्याय प्रकट हुई है। क्षायोपशमिक पर्याय में वे गुण अल्परूप में विकसित थे अब क्षायिक पर्याय में परिपूर्णरूप से प्रकट हुए हैं। इसी अभिप्राय को लेकर यहाँ कहा गया है कि आप अपने तेज से यद्यपि परिपूर्ण थे फिर भी इस समय अधिक परिपूर्ण हो रहे हैं, स्वयं ही सुखी थे फिर भी इस समय अधिक सुखी हो रहे हैं और पहले से ही असीम वृद्धि से सहित थे फिर भी इस समय विशेषरूप से वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं। परमार्थ यह है कि आपकी महिमा की कोई सीमा ही नहीं है, वह सर्वथा सीमा से रहित है।।२१।।

त्वमात्ममाहात्म्यनिराकुलोऽपि सन्न तीक्ष्णतां मुञ्चसि देव जातुचित्।
सदैव यत्तैक्ष्ण्यमुदेति दारुणं तदेव माहात्म्यमुशन्ति संविदः।।२२।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे भगवन् ! (**त्वम्**) आप (**आत्ममाहात्म्यनिराकुलः अपि सन्**) आत्मा की महिमा से निराकुल होते हुए भी (**जातुचित्**) कभी (**तीक्ष्णतां**) तीक्ष्णता अर्थात् सब पदार्थों को जानने की शक्ति को (**न मुञ्चसि**) नहीं छोड़ते हैं। सो ठीक ही है, क्योंकि (**यत्**) जो (**सदैव**) सदा ही (**दारुणं**) कठिन (**तैक्ष्ण्यम्**) तीक्ष्णता (**उदेति**) उदित होती है - प्रकट रहती है (**तदेव**) उसीको ज्ञानी जन (**संविदः**) सम्यग्ज्ञान का (**माहात्म्यं**) माहात्म्य (**उशन्ति**) चाहते हैं या कहते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! संसारी जीव का क्षायोपशमिक ज्ञान मोह से युक्त होनेके

कारण आकुलता से परिपूर्ण रहता है, क्योंकि मोह के उदय में अज्ञात वस्तु को जानने की इच्छा रहती है और पदार्थों को जानने की क्षमता नहीं रखता है। इस प्रकार उसका आकुलता के साथ सदा सम्बन्ध रहता है। साथ ही मोहसहित अवस्था में ज्ञान गुण का चरण विकास होता भी नहीं है। ज्ञान गुण में जो तीक्ष्णता है - समस्त पदार्थों को एक साथ जानने की जो शक्ति है वह मोहरहित केवलज्ञान में ही विकसित होती है, अन्य ज्ञानों में नहीं। इस समय आपका ज्ञान गुण केवलज्ञानरूप में चरम विकासको प्राप्त हुआ है, अतः उसमें अत्यधिक तीक्ष्णता सर्वग्राहिता स्वयं प्रकट हुई है। यह सर्व ग्राहिता ही केवलज्ञान की अपूर्व महिमा है। यतः आप इस केवलज्ञान से युक्त हैं अतः निराकुल हैं।।२२।।

अनारतोत्तेजितशान्ततेजसि त्वयि स्वयं स्फूर्जति पुष्कलौजसि।
समक्षसंवेदनपूतचेतसां कुतस्तमःकाण्डकथैव मादृशाम्।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**अनारतोत्तेजितशान्ततेजसि**) जिनका शान्त तेज निरंतर उत्तेजित है - प्रकाशित है तथा (**पुष्कलौजसि**) जिनका ओज पुष्कल - परिपूर्ण है ऐसे (**त्वयि**) आपके (स्वयं) अपने आप (**स्फूर्जति सति**) प्रकाशमान रहते हुए (**समक्षसंवेदनपूतचेतसाम्**) प्रत्यक्ष स्वसंवेदनज्ञान से पवित्र चित्तवाले (**मादृशाम्**) मुझ जैसे लोगों के (**तमःकाण्डकथा एव**) अंधकार-अज्ञानतिमिररूप परदाकी कथा ही (**कुतः**) कैसे हो सकती है ?

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपका तेज अत्यंत शांत है, आपके सान्निध्य में जन्मविरोधी जीव भी अपना वैरभाव छोड़कर शांति से रहते हैं, आपका यह शांत तेज निरंतर वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। साथ ही आपका प्रताप भी लोकोत्तर है जिससे शत इन्द्र निरंतर आपको वंदना करते हैं। आपकी यह प्रभुता आपमें स्वयं प्रगट हुई है - आत्मपुरुषार्थ से ही आप इस उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हुए हैं। अतः आपके विद्यमान रहते हुए मुझ जैसे लोगों को हृदय में अज्ञानरूपी परदाकी कथा ही समाप्त हो गयी है, क्योंकि हमारा हृदय स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से पवित्र हो चुका है -आत्मानुभूति से समलंकृत हो चुका है, उसपर अब अज्ञानरूप परदा नहीं पड़ सकता है। जिस प्रकार तेजःपुञ्ज से समुद्भासित सूर्य के रहते हुए अंधकार की संभावना नहीं रहती उसी प्रकार प्रशांत तेज से सुशोभित और लोकोत्तर प्रभाव से परिपूर्ण आपके विद्यमान रहते हुए अज्ञानरूप अंधकार की संभावना नहीं है।

हठस्फुटच्चित्कलिकोच्छलन्महोमहिम्नि विश्वस्पृशि साम्प्रतं मम।
अखण्डदिङ्मण्डलपिण्डितत्विषस्तमो दिगन्तेष्वपि नावतिष्ठते।।२४।।

अन्वयार्थ :- (**अखण्डदिङ्मण्डलपिण्डितत्विषः**) जिनकी कान्ति समस्त दिशाओं के समूह में व्याप्त हो रही है ऐसे आपकी (**हठस्फुटच्चित्कलिकोच्छलन्महोमहिम्नि**) हठपूर्वक प्रकट होनेवाली चैतन्यरूप कालिकाओं से युक्त तेज की महिमा जब (**साम्प्रतं**) इस समय (**विश्वस्पृशि**) समस्त विश्व का स्पर्श कर रही है - समस्त लोकालोक को जान रही है तब (**मम**) मेरी आत्मा की बात तो दूर रही (**दिगन्तेष्वपि**) दिशाओं के अंत में भी (**तमः**) अंधकार (**न अवतिष्ठते**) अवस्थित नहीं है - शेष नहीं रहा है।

भावार्थ :- जिसका प्रचण्ड तेज समस्त दिशाओं में व्याप्त हो रहा है ऐसे सूर्य के विद्यमान रहते हुए जिसप्रकार दिग्दिगन्त में अंधकार शेष नहीं रहता उसी प्रकार जिनके केवलज्ञान की ज्योति समस्त दिशाओं में व्याप्त हो रही है ऐसे चैतन्य तेज की महिमा से सुशोभित आप विश्वदर्शी के विद्यमान रहते हुए न मेरी आत्मा में अज्ञानान्धकार शेष रहा है और न समस्त दिशाओं में भी बाकी रहा है। तात्पर्य यह है कि आपके सान्निध्य में जिस प्रकार मेरा स्वविषयक अज्ञान दूर हो गया है उसी प्रकार पर विषयक अज्ञान भी दूर हो गया है। प्रभो ! आपके प्रताप से मुझे स्वपर का यथार्थ ज्ञान हो गया है।।२४।।

समन्ततश्चिद्भरनिर्भरो भवान् जगद्वराकं स्खलदेकचित्कणम्।
तवानुभूतिर्भवतैव योऽथवा भवेत्तवानुग्रहबृंहितोदयः।।२५।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**भवान्**) आप (**समन्ततः**) सब ओरसे (**चिद्भरनिर्भरः**) चैतन्य के भार से परिपूर्ण है और (**वराकं जगत्**) वेचारा संसार अर्थात् संसार का शक्तिहीन प्राणी (**स्खलदेकचित्कणम्**) स्खलित होनेवाले एक चैतन्य के कण से युक्त है - अत्यंत अज्ञानी है, अतः (**तव अनुभूतिः**) आपका अनुभव आपकी महिमा का आकलन (**भवतैव**) आपके द्वारा ही किया जा सकता है (**अथवा**) अथवा (**यः**) जो (**तव**) आपके (**अनुग्रहबृंहितोदयः भवेत्**) अनुग्रह से बृंहितोदय हो - बढ़े हुए अभ्युदय से सहित हो (**तेन**) उसके द्वारा किया जा सकता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप विश्वदर्शी हैं, सर्वज्ञ हैं और संसार के प्राणी अत्यंत अल्प क्षायोपशमिक ज्ञान के धारक हैं, उनमें इतनी क्षमता कहां है कि वे आपकी अनुभूति कर सकें - आपके सर्वज्ञ स्वभाव को अपनी बुद्धि में अंकित कर सकें, अतः आपकी पूर्ण प्रभुता का अनुभव आपके ही द्वारा किया जा सकता है, दूसरे के द्वारा नहीं। अथवा आपके अनुग्रह से - आपकी ध्यानाराधना से जिसका अभ्युदय वृद्धि को प्राप्त हुआ है जिसने स्वयं सर्वज्ञ दशा प्राप्त कर ली है उसके द्वारा किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि हे प्रभो ! मुझ अल्पज्ञानी के द्वारा आपकी स्तुति का होना संभव नहीं है।।२५।।

ॐ

(८)

उपजातिवृत्तम्

अनादिरक्तस्य तवायमासीत् य एव संकीर्णरसः स्वभावः।
मार्गावतारे हठमार्जितश्रीस्त्वया कृतः शान्तरसः स एव।।१।।

अन्वयार्थ :- (**अनादिरक्तस्य**) अनादि काल से रागी अवस्था को प्राप्त हुए (**तव**) आपका (**य एव अयम्**) जो यह (**संकीर्णरसः**) नानारसों से संकीर्ण (**स्वभावः**) स्वभाव (**आसीत्**) था (**स एव**) वही (**मार्गावतारे`सति'**) मोक्षमार्ग में उतरनेपर (**त्वया**) आपके द्वारा (**हठम्**) हठपूर्वक (**आर्जितश्रीः**) आभ्यंतर लक्ष्मी से युक्त (**शांतरसः कृतः**) शांतरस कर दिया गया।

भावार्थ :- जैन सिद्धांत, अनादि सिद्ध ईश्वर की सत्ता को स्वीकृत नहीं करता है। उसकी मान्यता है कि जो अनादि काल से कर्ममल के द्वारा आच्छादित चला आ रहा है वही अपनी साधना से कर्ममल को दूर कर वीतराग अवस्था को प्राप्त करता है। जब वह वीतराग बन जाता है तब अंतर्मुहूर्त के भीतर नियम से सर्वज्ञ बन जाता है। हे भगवन् ! जब आप सराग अवस्था में थे तब आपका स्वभाव श्रृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्‌भुत इन आठ रसों से संकीर्ण था। जब कभी कषायों में मंदता होती थी तब कुछ समय के लिये शांतरस से भी युक्त हो जाता था। परंतु जबसे आपने मोक्षमार्ग में अवतरण किया तबसे उस स्वभाव को एक शांत रसरूप कर लिया। पहले की तरह अब यह शांतरस क्षणस्थायी और हीन नहीं है, किन्तु त्रिकालस्थायी और सब ओरसे श्रीसम्पन्न है।।१।।

अबाधितस्तत्त्वविदा विमुक्तेरेकः कषायक्षय एव हेतुः।
अयं कषायोपचयस्य बन्धहेतोर्विपर्यस्ततया त्वयेष्टः।।२।।

अन्वयार्थ :- (**तत्त्वविदा त्वया**) आप तत्त्वज्ञ के द्वारा (**बन्धहेतोः कषायोपचयस्य**) बन्ध के कारण कषायसमूह के (**विपर्यस्ततया**) विपरीत होनेसे (**अयम् एकः कषायक्षय एव**) यह एक कषाय का क्षय ही (**विमुक्तेः**) मुक्तिका (**अबाधितः**) निर्बाध (**हेतुः**) कारण (**इष्टः**) स्वीकृत किया गया है।

भावार्थ :- ह भगवन् ! आप वस्तुस्वरूप के यथार्थ ज्ञाता हैं, अतः आपने कषायक्षय को ही मोक्ष का कारण माना है और कषाय संचय को बंध का कारण स्वीकृत किया है।

एकः कषायानभिषेणयंस्त्वं नित्योपयुक्तश्चतुरङ्गकर्षी।
सर्वाभियोगेन समं व्यवस्यन्नेकोऽप्यनेकः कलितः कषायैः।।३।।

अन्वयार्थ :- (**कषायान् अभिषेणयन् त्वम् एकः**) कषायों पर विशुद्ध परिणामरूप सेना द्वारा आक्रमण करते हुए आप यद्यपि एक थे तथापि (**नित्योपयुक्तः**) आप उनसे निरंतर जुझते रहे, (**चतुरङ्गकर्षी**) चारों ओरसे उन्हें खींचते रहे और (**सर्वाभियोगेन**) पूर्णशक्ति के (**समं**) साथ (**व्यवस्यन्**) उन्हें नष्ट करनेका उद्यम करते रहे अतः (**एकोऽपि**) एक होनेपर भी (**कषायैः**) कषायोंने आपको (**अनेकः**) अनेक (**कलितः**) समझा।

भावार्थ :- जिस प्रकार चारों ओर प्रबल प्रहार कनरेवाला सुभट एक होनेपर भी शत्रुओं के द्वारा अनेक समझा जाता है उसी प्रकार चारों ओरसे कषाय शत्रुओं पर प्रहार करनेवाले आपको कषायोंने समझा था कि यह एक नहीं, किन्तु अनेक हैं। कषाय के चार भेद हैं - अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोध मान माया लोभ। इनमें से मिथ्यात्व के साथ अनंतानुबंधी को नष्टकर आपने चतुर्थ गुणस्थान में प्रवेश किया था। पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण को नष्टकर संयम धारण करते हुए सातवें और छठवें गुणस्थान में पदार्पण किया। तदनन्तर संज्वलन की चौकड़ी को नष्ट करनेके लिये उसपर क्षपकश्रेणी द्वारा एक साथ आक्रमण कर दिया जिससे नवम गुणस्थान में आपने संज्वलन क्रोध, मान और माया को नष्ट किया। पश्चात् शेष रहे संज्वलनसम्बन्धी लोभ को दशम गुणस्थान में नष्ट कर बारहवें गुणस्थान में पदार्पण किया। आपने कषायों को नष्ट करनेके लिये जो अभियान किया था उसमें अपनी पूर्ण शक्ति लगा दी थी। निरंतर उसी ओर आपका उपयोग रहता था। इस क्रिया में यद्यपि आप एक थे तथापि मानो कषायें

समझती थीं कि एक व्यक्ति इतनी क्षमता नहीं रख सकता, अतः यह अनेक है।।३।।

मुहुर्मुहुर्वञ्चितचित्प्रहारैः पलायितव्याघुटितैर्मिलद्भिः।
तवाप्रकम्प्योऽपि दृढैः कषायैः स्वशक्तिसारस्तुलितः प्रघृष्य।।४।।

अन्वयार्थ :- (**मुहुर्मुहुः वञ्चितचित्प्रहारैः**) जिन्होंने बार-बार चैतन्य के प्रहार को वञ्चित किया है - व्यर्थ सिद्ध किया है, तथा जो (**पलायितव्याघुटितैः मिलितैः**) भागकर पुनः वापिस लौटकर मिले हैं - एकत्रित हुए हैं ऐसे (**दृढैः कषायैः**) अत्यंत बलिष्ठ कषायोंने (**तव**) आपके (**अप्रकम्प्योऽपि**) कम्पन रहित - सुदृढ (**स्वशक्तिसारः**) स्वकीय शक्ति के सार को (**प्रघृष्य**) घिस घिस कर (**तुलितः**) तोला है।।४।।

भावार्थ :- हे भगवन् ! उपशम श्रेणि में प्रवेशकर आपने अपने चैतन्यशस्त्र से कषायरूपी शत्रुओं पर प्रहार किया तो नहीं, परंतु वे अंतर्मुहूर्तवाद फिरसे सचेत हो गये। इस प्रकार कितनी ही बार वे भागे और लौटकर पुनः वापिस मिले। उन कषायोंने आपकी अकम्प्य शक्ति को जीतने का पुरजोर प्रयत्न किया।

प्रतिक्षणं संस्पृशता स्ववीर्यं लब्ध्वान्तरं सम्यगविक्लवेन।
त्वयाथ तेषां विहितः प्रहारः प्रसह्य सर्वंकष एक एव।।५।।

अन्वयार्थ :- (**अथ**) इसके वाद (**प्रतिक्षणं स्ववीर्यं संस्पृशता**) जो प्रत्येक क्षण अपने बल का स्पर्श कर रहे थे - आत्मशक्ति की ओर जिनकी दृष्टि थी तथा जो (**अविक्लवेन**) अत्यंत निर्भीक थे ऐसे (**त्वया**) आपने (**सम्यक्**) अच्छी तरह (**अंतरं लब्धता**) अवकाश पाकर (**तेषां**) उन कषायो के ऊपर (**प्रसह्य**) बलपूर्वक (**सर्वंकषः**) समूल नाश करनेवाला (**एक एव प्रहारः विहितः**) एक ही प्रहार किया।

भावार्थ :- हे भगवन् ! उपशमश्रेणी में कषायरूपी शत्रुओं से पराजय प्राप्तकर आपने अपने अनंत बल की ओर ध्यान देते हुए विचार किया कि मैं अनंत बल का स्वामी होकर भी इनसे परास्त कैसे हो गया ? ज्योंही आपने अनंत बल की ओर लक्ष्य किया त्योंही आपका सब भय दूर हो गया और आपने अच्छी तरह अवसर पाकर उन कषायों पर एक ही ऐसा प्रहार किया कि उनका समूल नाश हो गया।

क्षपकश्रेणी की महिमा ही अद्वितीय है।।५।।

साक्षात् कषायक्षपणक्षणेऽपि त्वमुद्वहन् केवलबोधलक्ष्मीम्।
विश्वैकभोक्ता जिनपौरुषस्य प्रभावमाविष्कृतवान् परेषाम्।।६।।

अन्वयार्थ :- (**कषायक्षपक्षणेऽपि**) कषायों का क्षय करते ही जिन्होंने (**साक्षात्**) प्रत्यक्षरूप से (**केवललक्ष्मी**) केवललक्ष्मी के साथ (**उद्वहन्**) विवाह किया था - जो केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी से युक्त हुए थे तथा जो (**विश्वैकभोक्ता**) समस्त पदार्थों के अद्वितीय भोक्ता - ज्ञाता थे ऐसे (**त्वम्**) आपने (**परेषाम्**) अन्य लोगों के सामने (**जिनपौरुषस्य**) अरहन्त के पुरुषार्थ का (**प्रभावं**) प्रभाव (**आविष्कृतवान्**) प्रकट किया था।

भावार्थ :- सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशम गुणस्थान के अंत में कषायों का समूल क्षय होते ही यह जीव क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है और वहाँ शुक्लध्यान के द्वितीय भेद के प्रभाव से शेष तीन घातिया कर्मो का क्षयकर तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है। वहाँ लोकालोकावभासी केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी उसे प्राप्त होती है। वह नव केवल लब्धियों का स्वामी हो जाता है और समस्त तत्त्वों का ज्ञाता होनेसे विश्व का एक - अद्वितीय भोक्ता कहलाने लगता है। इस प्रकार हे भगवन् ! संसार के अन्य तापसियों के सामने आपने अरहंत के पौरुष का प्रभाव प्रकट किया था - उन्हें बताया कि अरहंत के आत्मापौरुष का यह फल है।।६।।

आयुःस्थितिं स्वामवशोपभोग्यां ज्ञानैकपुञ्जोऽप्यनुवर्तमानः।
प्रदर्शयन् वर्त्म शिवस्य साक्षाद्धिताय विश्वस्य चकर्थ तीर्थम्।।७।।

अन्वयार्थ :- (**ज्ञानैकपुञ्ज़ः अपि `सन्'**) ज्ञान के अद्वितीय पुञ्ज होते हुए भी जो (**अवशोपभोग्यां**) परवश भोगनेयोग्य (**स्वाम्**) अपनी (**आयुःस्थितिं**) आयु की स्थिति का (**अनुवर्तमानः**) अनुवर्तन कर रहे थे - उसकी समाप्ति की प्रतीक्षा कर रहे थे तथा (**विश्वस्य**) संसार के (**हिताय**) हित के लिये (**शिवस्य**) मोक्ष का (**साक्षात् वर्त्म**) साक्षात् मार्ग (**प्रदर्शयन्**) दिखला रहे थे ऐसे आपने (**तीर्थ चकर्थ**) धर्मतीर्थ को प्रवृत्त किया था।

भावार्थ :- तेरहवें गुणस्थान में अरहन्त भगवान् यद्यपि ज्ञान के पुञ्ज हो जाते हैं और जीवन्मुक्त कहलाने लगते हैं तथापि आयु कर्म की स्थिति के पूर्ण होनेकी प्रतीक्षा करते हैं। संसार में रहना यद्यपि उन्हें इष्ट नहीं है तथापि आयुकर्म को पराधीनता से उन्हें रहना पड़ता है। तेरहवें गुणस्थान का काल एक अंतर्मुहूर्त से लेकर देशोन पूर्वकोटि वर्षप्रमाण है उतने समय तक उन्हें परवश होकर इसी मनुष्य पर्याय में रहना पड़ता है। इस समय वे संसारस्थ जीवों के हित के लिये मोक्ष का साक्षात् मार्ग - भेदाभेद रत्नत्रय दिखलाते हुए धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करते हैं। इसी कारण तीर्थंकर कहलाते हैं।।७।।

तीर्थाद्भवन्तः किल तद् भवद्भ्यो मिथो द्वयेषामिति हेतुभावः।
अनादिसन्तानकृतावतारश्चकास्ति बीजाङ्कुरवत्किलायम्।।८।।

अन्वयार्थ :- (**किल**) निश्चय से (**भवन्तः**) आप (**तीर्थात्**) तीर्थ से और (**तत्**) वह तीर्थ (**भवद्भयः**) आपसे उत्पन्न होता है। (**इसी**) इस प्रकार (**द्वयेषां**) दोनों का (**मिथः**) परस्पर में (**हेतुभावः**) कारणकार्य-भाव है और (**किल**) वास्तव में (**अयम्**) यह (**बीजाङ्कुरवत्**) बीज और अंकुर के समान (**अनादिसन्तानकृतावतारः**) अनादि सन्तति से अवतरण करता हुआ (**चकास्ति**) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ :- `तरति संसारसागरं भव्यो येन तत्तीर्थं' जिसके द्वारा भव्य जीव संसार सागर को पार कर ले उसे तीर्थ कहते हैं। यह तीर्थ भेदाभेद रत्नत्रयरूप है, क्योंकि उसीके द्वारा भव्य जीव संसारसागर से पार होते हैं। इस भेदाभेद रत्नत्रयरूप तीर्थ के प्रभाव से ही यह जीव तीर्थंकर बनता है और तीर्थंकर से ही तीर्थ की प्रवृत्ति होती है इस प्रकार दोनों में बीज और अंकुर के समान अनादिकाल से परस्पर कार्य-कारणभाव चला आ रहा है।।८।।

समस्तमन्तः स्पृशतापि विश्वं वक्तुं समस्तं वचसामशक्तेः।
प्रत्यक्षद्रष्ट्राऽखिलभावपुञ्जादनन्तभागो गदितस्त्वयैकः।।९।।

अन्वयार्थ :- (**समस्तं विश्वं अंतः स्पृशतापि**) जो समस्त विश्व का अंतरात्मा में स्पर्श कर रहे हैं अर्थात् जिनकी अंतरात्मा में समस्त विश्व प्रतिभासित हो रहा है

और जो (**प्रत्यक्षदृष्ट्रा**) समस्त विश्व को प्रत्यक्ष देखनेवाले हैं ऐसे होनेपर भी (**त्वया**) आपके द्वारा (**समस्तं विश्वं वक्तुं वचसामशक्तेः**) समस्त विश्व को कहनेके लिये वचनों की शक्ति न होनेके कारण (**अखिलभावपुञ्जात्**) समस्त पदार्थों के समूहमें से (**एकः अनंतभागः**) एक अनंतवां भाग (**गदितः**) कहा गया है।

भावार्थ :- संसार में पदार्थ अनंत हैं, परंतु शब्द संख्यात ही हैं। केवलज्ञान में अनंत पदार्थ प्रतिभासित तो होते हैं, परंतु शब्दों की संख्या सीमित होनेसे वे शब्दों के द्वारा कहे नहीं जा सकते। यही करण है कि हे भगवन् ! आप समस्त पदार्थों के प्रत्यक्ष दृष्टा होकर भी शब्दों की अशक्ति के कारण वे कहे नहीं जा सकते, इसलिये आपने समस्त पदार्थों का अनंतवां भाग ही कहा है।।९।।

भिन्दंस्तमोऽनादिदृढप्ररूढं महाद्भुतस्तम्भिततुङ्गचितैः।
तवैव वक्त्रादवधारितोऽयं सुरासुरैद्वर्यात्मकवस्तुवादः।।१०।।

अन्वयार्थ :- (**महाद्भुतस्तम्भिततुङ्गचित्तैः**) महान् आश्चर्यकारक अतिशयों से जिनके उन्नत चित्त चकित हो गये हैं ऐसे (**सुरासुरैः**) देव और दानवों ने (**अनादिदृढप्ररूढं**) अनादि काल से मजबूत जमे हुए (**तमो भिन्दन्**) अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाला (**अयं**) यह (**द्व्यात्मकवस्तुवादः**) विधि-निषेधात्मक वस्तुवाद - पदार्थ के अस्ति-नास्ति धर्म को निरूपण करनेवाला स्याद्वाद (**तवैव**) आपके ही (**वक्त्रात्**) मुख से (**अवधारितः**) निश्चित किया है।

भावार्थ :- संसार का प्रत्येक पदार्थ विधि और निषेध इन दो धर्मों से सहित है इसीलिये उसमें नित्य अनित्य, एक अनेक, अस्ति नास्ति, भेद अभेद, तत् अतत् आदि अनेक धर्मों का समावेश है। इन परस्पर विरोधी धर्मों का समावेश स्याद्वाद से ही होता है। यह स्याद्वाद, इस जीव के अनादिकाल से जमे हुए अज्ञानतिमिर को नष्ट कर देता है। हे भगवन् ! इस स्याद्वाद का उपदेश आपके ही मुखारबिन्द से हुआ है। और मनुष्यों की तो बात ही क्या है देव दानवों ने भी उसे निर्णीत कर हृदय में धारण किया है।।१०।।

वाग्विप्रुषस्ते कृतचित्रमार्गाः प्रत्येकतीर्थप्रतिपत्तिकर्त्रीः।
श्रुत्वापि कैश्चित् समुदायबोधशुद्धाशयैरेव धृतस्तदर्थः।।११।।

अन्वयार्थ :- (**कृतचित्रमार्गः**) नाना नयों की अपेक्षा जिन्होंने वस्तुनिरूपणकी विविध पद्धतियों को प्रकट किया है और जो (**प्रत्येकतीर्थप्रतिपत्तिकर्त्रीः**) प्रत्येक तीर्थ - एक एक धर्म का ज्ञान करानेवाली हैं ऐसी (**ते**) आपको (**वाग्विप्रुषः**) वाणीरूप बूंदों - अंशों को (**श्रुत्वापि**) सुनकर भी सब लोग उसके अर्थ को धारण नहीं कर पाते, किन्तु (**समुदायबोधशुद्धाशयैः**) परस्पर विरोधी धर्मसमूह के ज्ञान से जिनका आशय शुद्ध हो गया है ऐसे (**केश्चिद एव**) कुछ लोगों के द्वारा ही (**तदर्थः**) उसका अर्थ (**धृतः**) धारण किया गया है।

भावार्थ :- ऊपर कहा गया था कि हे भगवन् ! आपने जितने पदार्थों को जाना है उनका अनंतवा भाग ही शब्दों के द्वारा कहा जाता है, क्योंकि शब्दों में समस्त पदार्थों के कहने की सामर्थ्य नहीं है। यहाँ यह कहा जा रहा है, कि हे भगवन् ! आपने जितना कुछ कहा था उसकी धारणा सब लोग नहीं कर सके, किन्तु परस्पर विरोधी धर्मसमूह के ज्ञान से जिनका हृदय शुद्ध है - एकांतवाद के विषसे दूषित नहीं है ऐसे कुछ ही लोग उसे ग्रहण कर सके हैं।।११।।

विपक्षसापेक्षतयैव शब्दाः स्पृशन्ति ते वस्तु विरुद्धधर्म।
तदेकदेशेऽपि विशीर्णसाराः स्याद्वादमुद्राविकलाः स्खलन्ति।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**विपक्षसापेक्षतया**) विरोधी धर्म से सापेक्ष होनेके कारण ही (**ते शब्दः**) आपके शब्द (**विरुद्धधर्म**) विरुद्ध धर्मों से युक्त (**वस्तु**) वस्तु का (**स्पृशन्ति**) स्पर्श करते हैं, क्योंकि (**स्याद्वादमुद्राविकलाः**) स्याद्वाद की मुद्रा से रहित (**शब्दाः**) शब्द (**तदेकदेशेऽपि**) वस्तु के एक देश में ही (**विशीर्णसाराः `सन्तः'**) शक्ति के विखर जानेसे (**स्खलन्ति**) स्खलित हो जाते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! संसार के प्रत्येक पदार्थ परस्परविरोधी सत् असत्, तत् अतत् आदि धर्मों से युक्त हैं। उन्हें वे ही शब्द कह सकते हैं जो कि परस्पर विरोधी धर्म से सापेक्ष होते हैं अर्थात् द्रव्यर्थिकनय की अपेक्षा वस्तु के सत् और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा असत् कहते हैं। यह विशेषता आपके ही शब्दों में है, क्योंकि वे ही स्याद्वाद मुद्रा में चिह्नित हैं। इसके विपरीत जो एकांतवाद से दूषित हैं वे वस्तु के एक देश का निरूपण करने में ही अपनी सारी शक्ति समाप्त कर देते हैं, अतः वस्तु के द्वितीय देश - अन्य धर्म को कहनेके लिये स्खलित हो जाते हैं - समर्थ नहीं हो पाते

है।।१२।।

इयं सदित्युक्तिरपेक्षते सद्व्यावृत्तिसीमन्तितसत्प्रवृत्तीः।
जगत्समक्षां सहसैव जहुः स्वभावसीमानमथान्यथार्थाः।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**`सत्' इति इयं उक्तिः**) `सत्' इस प्रकार का जो यह कथन है वह (**सद्व्यावृत्तिसीमन्तितसत्प्रवृत्तीः**) असत् से युक्त सत्प्रवृत्तियों की (**अपेक्षते**) अपेक्षा रखता है अर्थात् किसी पदार्थ को सत्रूप कहना उसके असत्रूप कहनेकी अपेक्षा रखता है। (**अथ**) यदि (**अन्यथा**) इसके विपरीत माना जावे तो (**अर्थः**) संसार के पदार्थ (**जगत्समक्षां**) समस्त संसार जिसका प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा है ऐसी (**स्वभावसीमानम्**) अपने स्वभाव की सीमा को (**सहसैव**) शीघ्र ही (**जहुः**) छोड़ दें।

भावार्थ :- `पदार्थ सत् है' यह कथन `पदार्थ असत् है' इस विरोधी कथन की अपेक्षा रखता है अर्थात् एक ही पदार्थ स्वचतुष्टय की अपेक्षा सत्रूप है और पर चतुष्टय की अपेक्षा असत्रूप है। संसार के पदार्थों का ऐसा ही स्वभाव जगत् के प्रत्यक्ष हो रहा है - सबके अनुभव में आ रहा है। यदि इसके विपरीत पदार्थ को सत् अथवा असत्में से एकरूप ही माना जावे तो सब पदार्थ अपने स्वभाव की सीमा को छोड़ देंगे और स्वभावसीमा के छूटनेसे स्वभाववान् पदार्थ का नाश भी स्वयं सिद्ध हो जावेगा।।१३।।

सर्वे सदित्यैक्यमुदाहरन्ती कृत्वापि सद् भेदमसंहरन्ती।
न सत्तया पीयत एव विश्वं पीयेत सत्तैव यदीश तेन।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**सर्व सद्**) `समस्त पदार्थ सत्रूप है' इस प्रकार सबको (**सत् कृत्वापि**) सत्रूप करके भी (**ऐक्यं उदाहरन्ती**) एकत्व का निरूपण करनेवाली उक्ति (**भेदं असंहरन्ती**) भेद का निराकरण नहीं करती है। अर्थात् जो उक्ति `सत् है' इस प्रकार कह कर समस्त पदार्थों में एकता स्थापित करती है, वह भेद का निराकरण नहीं करती है। किसी अपेक्षा भेद को भी स्वीकृत करती है। (**यत्**) क्योंकि (**ईश**) हे स्वामिन् ! (**विश्वं नैव पीयते**) समस्त विश्व नहीं पिया जाता, किन्तु (**तेन**) विश्व के द्वारा (**सत्तैव**) सत्ता ही (**पीयेत**) पियी जाती है।

भावार्थ :- सत्ता गुण है और विश्व गुणी है। सत्ता एक गुणरूप है, परंतु विश्व अनेक गुणों का समूह है, अतः जब सत्ता गुण की अपेक्षा विचार किया जाता है तब एकरूपता का अनुभव होता है, परंतु जब विश्व की अपेक्षा विचार होता है तब अनेकरूपता का बोध होता है। तात्पर्य यह है कि एकत्व और अनेकत्व - दोनों ही परस्पर सापेक्ष है।।१४।।

सत्प्रत्ययः संस्पृशतीश विश्वं तथापि तत्रैकतमः स आत्मा।
असन् स सन्नन्यतयामिधत्ते द्वैतस्य नित्यप्रविजृम्भितत्वम्।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे भगवन् ! (**सत्प्रययः**) `यह सत् है' इस प्रकार का प्रत्यय यद्यपि (**विश्वं**) विश्व का (**संस्पृशति**) सम्यक् प्रकार से स्पर्श करता है - उसका बोध कराता है (**तथापि**) तो भी (**तत्र**) उस विश्व में (**स आत्मा**) वह आत्मा (**एकतमः**) एक ही है अर्थात् आत्मा समस्त विश्व का एक अंश ही है। इस प्रकार (**असन्**) असद्रूप और (**सन्**) सद्रूप वह आत्मा (**अन्यतया**) अन्यरूपता के कारण (**द्वैतस्य**) द्वैतके (**नित्यविजृम्भितत्वं**) नित्यविस्तार को (**अभिधत्ते**) कहता है।

भावार्थ :- सत्सामान्य की अपेक्षा यद्यपि विश्व को एक कहा जाता है, तथापि जो विश्व है वही आत्मा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लोक अलोक के समुदायरूप विश्व में आत्मा एक अंशरूप ही है अर्थात् आत्मा है पर वह विश्व नहीं है। यदि आत्मा को ही विश्व मान लिया जाता है तो उसमें रहनेवाले पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल का अभाव सिद्ध होता है जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध होनेके कारण ग्राह्य नहीं हो सकता। फलस्वरूप आत्मा स्वरूप की अपेक्षा `सत्' - सद्रूप है और विश्व की अपेक्षा `असत्' असद्रूप है। इस प्रकार सत् और असत् इन दो विरोधी धर्मों से युक्त होनेके कारण आत्मा, यह सूचित करता है कि विश्व में एकरूपता ही नहीं है साथ में अनेकरूपता भी है।।१५।।

पिवन्नपि व्याप्य हठेन विश्वं स्खलन् किलायं स्वपरात्मसीम्नि।
विश्वस्य नानात्वमनादिसिद्धं कथं भुवि ज्ञानघनः प्रमार्ष्टि।।१६।।

अन्वयार्थ :- (**किल**) निश्चय से (**हठेन**) हठपूर्वक (**विश्वं पिवन्नपि**) समस्त विश्व को

जानता हुआ भी (**स्वपरात्मसीम्नि**) निज और पर की सीमा में (**स्खलन्**) स्खलित विभक्त होनेवाला (**अयं**) यह (**ज्ञानघनः**) ज्ञान से परिपूर्ण आत्मा (**विश्वस्य**) विश्व के (**अनादिसिद्धं**) अनादिसिद्ध (**नानात्वं**) नानापन को (**कथं**) किस प्रकार (**प्रमार्ष्टि**) साफ कर सकता है - नष्ट कर सकता है।

भावार्थ :- ज्ञानघन आत्मा, अपनी स्वच्छता से जिस विश्व को जानता है वह उसके लिये पर ज्ञेय है। स्वपरावभासी ज्ञान से युक्त होनेके कारण आत्मा जिस प्रकार परज्ञेयरूप विश्व को जानता है उसी प्रकार पर से भिन्न स्व को भी जानता है। इस तरह आत्मा विश्व को स्व और पर के भेद से नानारूप सिद्ध करता है। विश्व की यह नानारूपता आज ही हो गई हो सो बात नहीं है, किन्तु अनादि से सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि एक और अनेक ये दो विरोधी धर्म परस्पर की सापेक्षता से ही सिद्ध होते हैं, निरपेक्षता से नहीं।।१६।।

सर्वं विदित्वैक्यमपि प्रमार्ष्टुं न चेतनाचेतनतां क्षमेत।
न संस्कृतस्यापि चिताजडस्य चित्त्वं प्रतीयेत कथञ्चनापि।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**सर्वम् ऐक्यं विदित्वापि**) सबको एकरूप जानकर भी (**चेतनाचेतनतां**) चेतन तथा अचेतनरूपता को (**प्रमाष्टुं**) नष्ट करने के लिये कोई (**न क्षमेत**) समर्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि (**संस्कृतस्यापि**) अच्छी तरह संस्कार - साज सजावट किये जाने पर भी (**चिताजडरूप**) चितापर पड़े हुए अचेतन शव में (**कथंचन**) किसी भी प्रकार (**चित्त्वं**) चैतन्य (**न प्रतीयेत**) प्रतीति में नहीं आ सकता।

भावार्थ :- माना कि एकत्वधर्म सबको विषय करता है पर इतने मात्र से संसार में जो चेतन और अचेतन की नानारूपता चली आ रही है वह क्या नष्ट हो जावेगी? यदि संसार के सब पदार्थ, ऐक्य के विषय होनेमात्र से चेतन हो जाते हैं तो चितापर पड़े हुए सुसंस्कृत शव में चैतन्य सिद्ध किया जाना चाहिये। तात्पर्य यह है कि यद्यपि सामान्यरूप से सब पदार्थों को एकरूप कहा जाता है तथापि उनमें चेतन और अचेतन के भेद से अनेकरूपता भी रहती है। एक और अनेक ये दोनों विरुद्ध धर्म परस्पर सापेक्ष ही हैं, निरपेक्ष नहीं।।१७।।

प्रत्यक्षमुत्तिष्ठति निष्ठुरेयं स्याद्वादमुद्रा हठकारतस्ते।
अनेकशः शब्दपथोपनीतं संस्कृत्य विश्वं समस्तस्खलन्ती।।१८।।

अन्वयार्थ :- जो (**अनेकशः**) अनेकों बार (**विश्वं**) विश्व को (**शब्दपथोपनीतं संस्कृत्य**) अच्छी तरह शब्द मार्ग का विषय बनाकर (**समम्**) एक साथ कथन करने में (**अस्खलन्ती**) नहीं चूकती है ऐसी (**ते**) आपकी (**इयम्**) यह (निष्ठुरा) कठोर (**स्याद्वादमुद्रा**) स्याद्वादरूप मुद्रा (**हठकारतः**) हठपूर्वक (**प्रत्यक्षं**) सामने (**उत्तिष्ठति**) उठकर खड़ी होती है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपकी स्याद्वादमुद्रा यद्यपि कठोर है तथापि प्रत्येक विचार के सामने वह आकर खड़ी होती है और प्रत्येक विचारक उसे नतमस्तक होकर स्वीकृत करता है। संसार के समस्त पदार्थ परस्पर विरोधी दो धर्मों से युक्त हैं, इनमें से निरपेक्ष होकर एक धर्म को ग्रहण करने से दूसरे धर्म का अभाव सिद्ध होता है। परंतु जो धर्म उस पदार्थ में विद्यमान है उसका अभाव कैसे स्वीकृत किया जा सकता है ? ऊपर एकरूपता और अनेकरूपता के कई दृष्टान्त देकर पदार्थ में दोनों विरोधी धर्मों को सिद्ध किया गया है। स्याद्वाद की पद्धति सापेक्षवाद के सिद्धांत से एक ही पदार्थ में उन विरोधी धर्मों को सिद्ध करती चलती है, इस दिशा में वह कहीं स्खलित नहीं होती है।।१८।।

अवस्थितिः सा तव देव दृष्टेर्विरुद्धधर्मेष्वनवस्थितिर्या।
स्खलन्ति यद्यत्र गिरः स्खलन्तु जातं हि तावन्महदन्तरालम्।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे प्रभो ! (**विरुद्धधर्मेषु**) विरुद्ध धर्मों में (**या**) जो (**अनवस्थितिः**) एकके होकर नहीं रहना है (**सा**) वह (**तव**) आपकी (**दृष्टेः**) दृष्टि की (**अवस्थितिः**) स्थिरता है - आपकी सिद्धांत की स्थिरता है (**यदि अत्र**) यदि इस विषय में (**गिरः स्खलन्ति**) वचन स्खलित होते हैं तो (**स्खलन्तु**) स्खलित हों, (**हि**) क्योंकि दोनो - आप तथा अन्य की दृष्टि में (**महान् अंतरालं**) बहुत भारी अंतर - भेद (**तावत्**) सम्पूर्णरूप से (**जातं**) सिद्ध हो गया।

भावार्थ :- हे भगवन् ! वस्तु में रहनेवाले नित्य अनित्य, एक अनेक आदि विरोधी धर्मोंमें से एक पर स्थिर हो जाना - एकांतरूप से एक ही धर्म को स्वीकृत करना और दूसरे धर्म का निषेध करना यह आपको इष्ट नहीं है, क्योंकि विवक्षावश आप

दोनों धर्मों को स्वीकृत करते हैं। यही आपके स्याद्वाद सिद्धांत की विशेषता है। एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्मों को कहनेके लिये यदि शब्दों की सामर्थ्य नहीं है तो न रहे पर इतने मात्र से वस्तु का वस्तुत्व नष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तु अवक्तव्य भी है। तात्पर्य यह है कि आपके स्याद्वाद और अन्य लोगों के एकांतवाद में महान् अंतर है।।१९।।

गिरां बलाधानविधानहेतोः स्याद्वादमुद्रामसृजस्त्वमेव।
तदङ्किकतास्ते तदतत्स्वभावं वदन्ति वस्तु स्वयमस्खलन्तः।।२०।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**गिरां बलाधानविधानहेतोः**) शब्दों में दृढता स्थापित करने के लिये (**त्वमेव**) आपने ही (**स्याद्वादमुद्राम्**) स्याद्वादमुद्रा को (**असृजः**) रचा है - इस सिद्धांत का आविर्भाव किया है। इसलिये उस स्याद्वादमुद्रा से चिह्नित (**ते**) वे शब्द (**अस्खलन्तः**) अस्खलित न होते हुए (**स्वयं**) अपने आप (**वस्तु**) वस्तु को (**तदतत्स्वभावं**) तत् अतत् स्वभाव से युक्त (**वदन्ति**) कहते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! हुण्डावसर्पिणी के दोष से इस समय जो अनेक दर्शन - मत-मतान्तर प्रचलित हैं उनमें स्याद्वाद सिद्धांत को आपने ही आविष्कृत किया है। स्याद्वाद सिद्धांत को स्वीकृत कर वक्ता के जो वचन निकलते हैं वे अत्यंत सबल - युक्तियुक्त होते हैं तथा अजेय रहते हैं। उस स्याद्वादसिद्धांत से युक्त वचन ही वस्तु को तत् असत्, विधि निषेधरूप निरूपित करते हैं।।२०।।

परात्मनोस्तुल्यमनादिदुःखप्रबन्धनिर्भेदफलप्रयासः।
आयासयन्नप्यपरान् परेषाभूपासनीयस्त्वमिहैक आसीः।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**तुल्यम्**) सामान्यरूप से (**परात्मनोः**) निज और पर के (**अनादिदुःखप्रबन्धनिर्भेदफलप्रयासः**) अनादिकालीन दुःख की सन्तति का भेदन करना ही जिनके प्रयास का फल था ऐसे (**एकः त्वम्**) एक आप ही (**इह**) जगत् में (**अपरान्**) अन्य दार्शनिकों को (**आयासयन् अपि**) आयासखेद युक्त करते हुए भी (**परेषां**) दूसरों के (**उपासनीयः**) उपासना करने के योग्य (**आसीः**) रहे हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपका जितना भी प्रयास रहा है वह समानरूप से स्वपर

के दुःख को दूर करने के लिये रहा है। आपका निरंतर यही अभिप्राय रहा है कि संसार के भीतर लोग अज्ञानान्धकार से आच्छादित होकर दुःखनिवृत्ति के मार्ग को नहीं पा रहे हैं मैं इन्हें किस प्रकार मार्गदर्शन करूँ। इसी अभिप्राय से प्रेरित हो आपने अपायविचय नामक धर्मध्यान में लीन हो तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया था और उसीके उदय काल में आपने दिव्यध्वनि के द्वारा अज्ञानीजनों को दुःखनिवृत्ति - दुःख से दूर होनेका मार्ग बतलाया है। इस प्रयास में आपको अन्य एकांतवादियों की मान्यता का निरसन करना पड़ता है और इससे उन्हें दुःख भी हो सकता है, परंतु आपका अभिप्राय उन्हें सन्मार्ग दिखानेका ही रहा है। आप सामान्यरूप स्वपर का दुःख दूर करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहे हैं। इस कारण एक आपही ऐसे व्यक्ति हैं जो दूसरों के द्वारा उपासनीय हैं।।२१।।

व्यापारयद् दुःखविनोदनार्थमारोपयद् दुःखभरं प्रसह्य।
परैरधृष्यं जिन शासनं ते दुःखस्य मूलान्यपि कृन्ततीह।।२२।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! जो (**दुःखविनोदनार्थं**) दुःख को दूर करने के लिये (**व्यापारयत्**) चेष्टा करता है और (**प्रसह्य**) हठपूर्वक (**दुःखभरं**) दुःख के भार को (**आरोपयत्**) प्राप्त कराता है अर्थात् तपश्चरणादि कष्ट सहन करने का उपदेश देता है ऐसा (**परैः अधृष्यं**) दूसरों के द्वारा (**अधृष्यं**) अधर्षणीय - अजेय (**ते**) आपका (शासनं) शासन - धर्म (**इह**) इस जगत् में (**दुःखस्य**) दुःख के (**मूलानि अपि**) मूल कारणों को भी अथवा जड़ों को भी (**कृन्तति**) छेदता है - नष्ट करता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपके शासन में तपश्चरण तथा परीषह सहन करने आदि का उपदेश दिया गया है और इस सबके करने से तत्काल दुःख का अनुभव भी देखने में आता है, परंतु परमार्थ से आपका शासन दुःख दूर करने के लिये ही निरंतर प्रयत्न करता है, वह संसार के क्षणिक सुखों से दूरकर जीवों को स्थायी आत्मसुख प्राप्त करने का उपदेश देता है। दार्शनिका दृष्टि से भी आपका शासन, दूसरे दर्शनकारों के द्वारा अधर्षणीय है - अखण्डनीय है। इस प्रकार आपका शासन दुःख की जड़ोंपर प्रहार करता है। दुःख की जड़ें मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं। आपके दर्शन में सर्वप्रथम इन्हें ही नष्ट करनेका उपदेज्ञ दिया गया है।।२२।।

समामृतस्वादविदां मुनीनामुद्यन्महादुःखभरोऽपि सौख्यम्।
पयोरसज्ञस्य यथा वृषारेर्हठाग्नितप्तं पिबतः पयोऽत्र।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**उद्यन्**) प्रकट होता हुआ (**महादुःखभरोऽपि**) बहुत भारी दुःख का समूह भी (**समामृतस्वादविदां**) समतारूप अमृत के स्वाद को जाननेवाले (**मुनीनां**) मुनियों के लिये (**सौखयम्**) सुखरूप होता है। (**यथा**) जिस प्रकार (**अत्र**) इस लोक में (**हठाग्नितप्तं**) हठपूर्वक अग्नि से संतप्त (**पयः**) दूध को (**पिवतः**) पीनेवाले (**पयोरसज्ञस्य**) दूध के रस के ज्ञाता (**वृषारेः**) मार्जारको महादुःख का भार भी सुखरूप मालूम होता है।

भावार्थ :- जिस प्रकार इस जगत् में दुग्धरस के ज्ञाता बिलाव को अग्नि से संतप्त दूध को पीते समय उष्णताजनित दुःख होता है, परंतु वह दुग्धरस के स्वाद के सामने उस दुःख को नगण्य समझता है। इसी प्रकार बाह्य तपश्चरण करते हुए मुनियों को जो शारीरिक कष्ट होता है उसे वे समतासुधा के स्वाद के सामने नगण्य समझते हैं।।२३।।

अमन्दसंवेदनसान्द्रमूर्तिः समग्रवीर्यातिशयोपपन्नः।
निःशेषिताशेषकलङ्कपङ्कः कोऽन्यो भवेदाप्ततरो भवत्तः।।२४।।

अन्वयार्थ :- (**अमन्दसंवेदनसान्द्रमूर्तिः**) जिनकी मूर्ति - आत्मा विशाल केवलज्ञान से सघन - परिपूर्ण है, जो (**समग्रवीर्यातिशयोपपन्नः**) सम्पूर्ण वीर्य के अतिशय से सहित हैं तथा जिन्होंने (**निःशेषिताशेषकलङ्कपङ्कः**) समस्त कलङ्करूपी कर्दम को नष्ट कर दिया है ऐसा (**भवत्तः**) आपसे (**अन्यः**) भिन्न-दूसरा (**आप्ततरः**) श्रेष्ठ आप्त (**को भवेत्**) कौन हो सकता है ?

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप अनंत ज्ञान से परिपूर्ण हैं, अनंत वीर्य से सम्पन्न हैं और द्रव्यकर्म तथा भावकर्मरूप समस्त कलङ्क को आपने बिलकुल समाप्त कर दिया है, अतः आप ही सबसे श्रेष्ठ आप्त हैं, आपसे बढ़कर दूसरा कौन आप्त हो सकता है ?।।२४।।

यतस्तवेदं प्रतिभाति शब्दब्रह्मैकचिन्मण्डपकोणचुम्बि।
ततः परं ब्रह्म भावनिहैको यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्।।२५।।

अन्वयार्थ :- (**यतः**) जिस कारण (**इदं**) यह (**शब्दब्रह्म**) शब्दरूप ब्रह्म (**तव**) आपके (**एकचिन्मण्डपकोणचुमि**) अद्वितीय केवलज्ञानरूप मण्डपके एक कोनेका चुम्बन करता हुआ (**प्रतिभाति**) जान पड़ता है (**ततः**) उस कारण (**इह**) इस लोक में (**एकः**) एक (**भवान्**) आप ही वह (**परंब्रह्म**) परम ब्रह्म हैं, (**यस्मात्**) जिससे बड़ा बढ़कर (**अपरं किञ्चित्**) दूसरा कोई (**परं**) बड़ा (**न अस्ति**) नहीं है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! लोक में जिस शब्द ब्रह्म को सर्वज्ञ व्यापक कहा जाता है वह शब्द ब्रह्म आपके केवलज्ञानरूपी मण्डपके एक कोनेमें निलीन है अर्थात् अनंत केवलज्ञान की अपेक्षा शब्दब्रह्म का विषय अत्यंत अल्प है। इससे यह सिद्ध होता है कि संसार में एक आप ही परं ब्रह्म हैं, क्योंकि ज्ञान की अपेक्षा आप ही लोक अलोक में व्याप्त हैं। आपसे बढ़कर कोई दूसरा बड़ा नहीं।।२५।।

---

१. वृषस्य मूषकस्यारिर्वृषारिः मार्जार इत्यर्थः `वृषो मूषकधर्मयोः' इति विश्वलोचनः।

ॐ

(९)

उपजातिवृत्तम्

मार्गावतारे शमसंभृतात्मा स्वयं प्रकाशं स्वमितः परैस्त्वम्।
सुनिष्ठुरष्ठ्यूतकुतर्कवाक्यैः क्षिप्तोऽपि नासीः प्रतिपत्तिमन्दः।।१।।

अन्वयार्थ :- (**मार्गावतारे**) मोक्षमार्ग में अवतीर्ण होते ही (**शमसंभृतात्मा**) जिनकी आत्मा शम-शांतिभाव से परिपूर्ण भी तथा जो (**स्वयं**) अपने आप (**स्वं प्रकाशं**) आत्मप्रकाश को (**इतः**) प्राप्त थे ऐसे (**त्वम्**) आप (**सुनिष्ठुरष्ठ्यूतकुतर्कवाक्यैः**) अत्यंत कर्कशभाव से कुतर्कपूर्ण वाक्यों को प्रकट करनेवाले (**परैः**) अन्यमतावलम्बियों के द्वारा (**क्षिप्तोऽपि**) निन्दित होनेपर भी (**प्रतिपत्तिमन्दः**) स्वरूपसाधना अथवा यथार्थ बोध में शिथिल (**न आसीः**) नहीं हुए थे।

भावार्थ :- हे भगवन् ! मोक्षमार्ग में प्रवेश करते ही आपकी आत्मा शांतिभाव से परिपूर्ण हो गई थी तथा पर की प्रेरणा के बिना आप स्वतः स्वभाव से आत्मप्रकाश को प्राप्त हो गये थे। उसीका यह फल था कि कुतर्कपूर्ण कर्कश वचन बोलनेवाले अन्य प्रवादी यद्यपि आपकी निन्दा भी करते थे तथापि आप स्वरूप साधना अथवा यथार्थ बोध में शिथिल नहीं हुए थे।।१।।

अवाप्तभूतार्थविचारसारो निष्कम्पमेकत्वकृतप्रतिज्ञः।
निःशेषितान्तर्बहिरङ्गसङ्गो दीनानुकम्पाविषयस्त्वमाशीः (सीः)।।२।।

अन्वयार्थ :- (**अवाप्तभूतार्तविचारसारः**) जिन्होंने परमार्थ का श्रेष्ठ विचार प्राप्त किया था (**निष्कम्पम् एकत्वकृतप्रतिज्ञः**) जिन्होंने निर्भयरूप से एकाकी रहनेकी प्रतिज्ञा की थी तथा (**निःशेषितान्तर्बहिरङ्गसङ्गः**) समस्त अंतरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रह का जिन्होंने

त्याग किया था ऐसे (**त्यम्**) आप (**दीनाकुम्पाविषयः**) दीनजनों पर दया करनेवाले (**आसीः**) हुए थे।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपने दीक्षा ग्रहण करने का विचार करते ही समस्त अंतरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रह का त्याग कर दिया, आप अपने विचारों में निष्कमप रहे तथा दीन दुःखी जीवों के ऊपर आपके हृदय में करुणा का भाव उमड़ पड़ा। अर्थात् उन्मार्गगामी लोगों को सद्धर्म का उपदेश देकर सन्मार्ग पर लगाया।।२।।

संरक्षतस्तेऽस्खलितार्थदृष्टेः सूत्रेण पद्जीवनिकां निकामम्।
अपक्षपातस्य बलादिवासीत् समस्तभूतेष्वपि पक्षपातः।।३।।

अन्वयार्थ :- (**सूत्रेण**) आगम के अनुसार (**अस्खलितार्थदृष्टेः**) जिनकी अर्थदृष्टि - पदार्थों का स्वरूप विचार करने की बुद्धि स्खलित नहीं हुई थी, जो (**षड्जीवनिकां**) छहकाय के जीवों की (**निकामं**) अत्यंत (**संरक्षतः**) सुरक्षा करते थे तथा (**अपक्षपातस्य**) जो रागद्वेष के वशीभूत होकर किसी प्राकर का पक्षपात नहीं करते थे ऐसे (**ते**) आपका (बलादिव) बलपूर्वक ही मानों (समस्तभूतेष्वपि) समस्त प्राणियों पर (पक्षपातः) पक्षपात (**आसीत्**) हुआ था।

भावार्थ :- हे भगवन् ! सनातन आगम में पदार्थस्वरूप का विचार करने की जो दृष्टि निरूपित की गई है उसपर आप सदा आरूढ रहते थे - उससे रञ्चमात्र भी विचलित नहीं होते थे। पृथिवी जल तेज वायु वनस्पति ये पाँच स्थावर तथा त्रस इन छह काय की जीवों के आप सदा रक्षा करते थे। रागद्वेष के नष्ट हो जानेसे आप यद्यपि किसीका पक्षपात नहीं करते थे तो भी सभी जीवों पर आपका जो करुणाभाव था उससे ऐसा जान पड़ता था मानों आप उनपर पक्षपात करते थे। तात्पर्य यह है कि आपकी करुणावृत्ति नैसर्गिक थी, रागजन्य नहीं।।३।।

सूर्यांशुजाः पावकविप्रुषस्ते विनिर्दहन्त्यः परितोऽपि गात्रम्।
अभीप्सतः कर्मफलैकपाकमासन् सुधासीकरनिर्विशेषाः।।४।।

अन्वयार्थ :- (**सूर्यांशुजाः**) सूर्य की किरणों से उत्पन्न होनेवाले जो (**पावकविपुषः**) अग्निकण (**परितोऽपि**) सभी ओरसे (**ते**) आपके (**गात्रं**) शरीर को (**विनिर्दहन्त्यः**) जलाया

करते थे वे (**कर्मफलैकपाकं**) कर्मफल के परिपाक की (**अभीप्सतः**) इच्छा करनेवाले (**ते**) आपके लिये (**सुधाशीकरनिर्विशेषाः**) अमृतकणों के समान (**आसन्**) हुए थे।

भावार्थ :- आतापन योग के समय सूर्य रश्मियों का सम्पर्क पाकर सूर्यकान्त शिलाओं से जो अग्नि के तिलगे निकल कर सब ओरसे आपके शरीर को जलाते थे उनसे आपको कोई कष्ट नहीं होता था, उन्हें आप अमृतकणों के समान सुखदायक मानते थे। इसका कारण यह था कि आप पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा चाहते थे। सदा आपका यही अभिप्राय रहता था कि किसी प्रकार कर्म अपना फल देकर निर्जीर्ण हो जावें।।४।।

मन्दः समस्वादभरेण नक्तं गृहीतयोगः शववद्विचेष्टः।
परेतभूमौ परिशुष्कमूर्तिर्विघट्टितस्त्वं दशनैः शिवाभिः।।५।।

अन्वयार्थ :- जो (**समस्वादभरेण**) समतारस के स्वाद के भार से (**मन्दः**) शिथिल हो रहे थे, (**नक्तं**) रात्रि के समय (**गृहीतयोगः**) योग धारण कर जो (**परेतभूमौ**) श्मशान में (**शववत्**) मृतकसमान (**विचेष्टः**) निश्चेष्ट पड़े थे तथा (**परिशुष्कमूर्तिः**) जिनका शरीर अच्छी तरह सूख गया था ऐसे (**त्वम्**) आप (**शिवाभिः**) श्रृंगालियों के द्वारा (**दशनैः**) (**विघट्टितः**) विघट्टित हुए थे।

भावार्थ :- हे भगवन् ! रात्रि के समय श्मशान में जब आप प्रतिभायोग धारण करते थे तब मृतक के समान निश्चेष्ट हो जाते थे और श्रृंगालियाँ आपके शरीर को दाँतों से विघट्टित करती थी फिर भी आप अपने योग से विचलित नहीं होते थे।।५।।

विदग्धरोगीव बलाविरोधान्मासार्द्धमासक्षपणानि कुर्वन्।
अनादिरागज्वरवेगमुग्रं क्रमेण निःशेषितवानलोलः।।६।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**विदग्धरोगीव**) विवेकशील रोगी के समान (**बलाविरोधात्**) शक्त्यनुसार (**मासार्धमासक्षपणानि कुर्वन्**) एक माह तथा अर्धमाह के उपवास करते हुए (**अलोलः**) तृष्णारहित आपने (**क्रमेण**) क्रम से (**उग्रं**) तीव्र (**अनादिरागज्वरवेगं**) अनादिकालीन रागरूपी ज्वर के वेग को (**निःशेषितवान्**) नष्ट किया था।

भावार्थ :- जिस प्रकार विवेकी रोगी अपथ्य सेवन की तृष्णा से रहित हो शक्त्यनुसार एक माह तथा अर्धमास का उपवास करता हुआ अपने पुराने ज्वर के वेग को नष्ट कर देता है उसी प्रकार आपने विषयतृष्णा से निवृत्त हो शक्त्यनुसार एक मास तथा अर्धमास का उपवास करते हुए क्रम-क्रम से अनादि कालीन रागरूपी ज्वर के तीव्र वेग को नष्ट किया था। तात्पर्य यह है कि आपने अनशनादि तपों के द्वारा रागरूपी शत्रुओं पर विज प्राप्त की थी।।६।।

ततः कथञ्चित् सकलात्मवीर्यव्यापारपर्यागतसंयमस्त्वम्।
जातः कषायक्षयतोऽक्षरात्मा ज्ञानैकपुञ्जः स्वयमेव साक्षात्।।७।।

अन्वयार्थ :- (**ततः**) रागरूपी ज्वर का वेग नष्ट होनेके अनंतर (**कथञ्चित्**) किसी प्रकार (**सकलात्मवीर्यव्यापारपर्यागसंयमः**) सम्पूर्ण आत्मबल के प्रयास से जिन्हें संयम प्राप्त हुआ है ऐसे (**त्वम्**) आप (**कषायक्षयतः**) कषायों का क्षय होनेसे (**स्वयमेव**) अपने आप (**अक्षरात्मा**) अविनाशी और (**साक्षात्**) प्रत्यक्ष (**ज्ञानैकपुञ्जः**) ज्ञान के अद्वितीय पुञ्ज (**जातः**) हो गये।

भावार्थ :- हे प्रभो ! प्रत्याख्यानावरण के उदय में होनेवाले रोग को दूरकर आपने सकल संयम धारण किया और क्रम क्रम से समस्त कषायों का क्षय कर आप अविनाशी सर्वज्ञ हो गये। आपकी यह सर्वज्ञता आत्मा की योग्यता से स्वयमेव प्रकट हुई, किसी अन्य पुरुष के द्वारा प्रदत्त नहीं है।।७।।

ततस्त्वया व्याप्तपरापरेण स्वायुःस्थितिप्राप्तिनियन्त्रितेन।
स्वकर्मशेषस्य तथा विपाकमुत्पश्यतादेशि शिवस्य पन्थाः।।८।।

अन्वयार्थ :- (**ततः**) सर्वज्ञदशा प्राप्त करनेके बाद (**व्याप्तपरापरेण**) जिन्होंने स्व और पर को व्याप्त-ज्ञात किया है (**स्वायुःस्थितिप्राप्तिनियन्त्रितेन**) अपनी आयु की स्थिति की प्राप्ति से जो नियन्त्रित हैं - मनुष्यायु कर्म का उदय रहनेसे जो अपनी आयु पर्यन्त इसी मनुष्य शरीर में स्थित रहते हैं जो अपने शेष कर्मों के (विपाकं) उदय का (**तदा उत्पश्यता**) अनुभव कर रहे थे ऐसे (**त्वया**) आपके द्वारा (शिवस्य) मोक्ष का (**पन्थाः**) मार्ग (**आदेशि**) बनाया गया।

भावार्थ :- हे भगवन् ! केवल ज्ञान उत्पन्न होनेपर जिन्होंने ज्ञान की दृष्टि से समस्त स्वपर पदार्थों को व्याप्तकर रक्खा था, जो यद्यपि शरीररूपी कारावास से मुक्त होने चाहते थे तो भी आयुकी स्थिति पर्यन्त उसीमें नियन्त्रित थे और अपने शेष कर्मों के विपाक का अनुभव कर रहे थे ऐसे आपने सबके लिये मोक्ष का मार्ग दिखलाया। हे भगवन् ! आपने अरहन्त अवस्था में सर्वहितकारी मोक्ष पथ का उपदेश दिया।।८।।

अन्तःकषायक्षपणः प्रसह्य बहिर्यथाशक्तिचारित्रपाकः।
सूत्रार्थसंक्षेपतया त्वयायं प्रदर्शितो नाथ शिवस्य पन्थाः।।९।।

अन्वयार्थ :- (**नाथ**) हे स्वामिन् ! जहाँ (**प्रसह्य**) पुरुषार्थपूर्वक (**अन्तःकषायक्षपणः**) अन्तरङ्‌ग में तो कषायों का क्षय किया जाता है और (**बहिः**) बहिरङ्‌ग में (**यथाशक्तिचारित्रपाकः**) शक्ति अनुसार चारित्र धारण किया जाता है (**अयं**) यह (**शिवस्य**) मोक्ष का (**पन्थाः**) मार्ग (**सूत्रार्थसंक्षेपतया**) आगम के अर्थ का संक्षेप करते हुए (**त्वया**) आपके द्वारा (**प्रदर्शितः**) दिखलाया गया है।

भावार्थ :- यहाँ मोक्षमार्ग के अंतरङ्‌ग और बहिरङ्‌ग कारणों का निर्देश करते हुए भगवान् का स्तवन किया गया है। अंतरङ्‌ग कारण कषायों का क्षय करना है तथा बहिरङ्‌ग कारण शक्ति के अनुसार चारित्र का पालन करना है। कषायक्षयरूप अंतरङ्‌ग कारण के बिना यथार्थ चारित्र का पालन नहीं हो सकता और पूर्ण शक्ति से चारित्र का पालन किये बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। जिस[१] प्रकार बंधन में पड़ा व्यक्ति बंधन का चिंतन करता रहता है परंतु छैनी और हथोड़ा लेकर उसे काटने का प्रयत्न नहीं करता है तो वह बंधन से मुक्त नहीं हो सकता इसी प्रकार जो कर्मबंधन का चिंतन तो करता है परंतु चारित्र धारण कर उस कर्मबंधन को नष्ट करने का पुरुषार्थ नहीं करता है तो वह कर्मबंधन से मुक्त नहीं हो सकता है। मात्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर तो यह जीव सागरों पर्यंत इसी संसार में पड़ा रहता है, परंतु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र धारण कर अंतर्मुहूर्त के भीतर भी संसारसागर से पार हो जाता है। हे भगवन् ! आगम का सार बतलाते हुए आपने संक्षेप में यही मोक्षमार्ग दिखाया है कि अंतरङ्‌ग में कषायों

१. समयसार गाथा - २९१, २९२.

का क्षय करो और बहिरङ्ग में यथाशक्ति चारित्र धारण करो।।९।।

बोधप्रधानः किल संयमस्ते ततः कषायक्षयजा शिवाप्तिः।
शिवाप्तिहेतोरपि हेतुहेतुरहेतुवन्निश्चरणस्य बोधः।।१०।।

अन्वयार्थ :- (**किल**) निश्चय से (**ते**) आपका (**संयमः**) चारित्र (**बोधप्रधान**) ज्ञानप्रधान है अर्थात् ज्ञान के होने पर चारित्र होता है और (**ततः**) चारित्र से (**कषायक्षयजा**) कषायक्षयपूर्वक होनेवाली (**शिवाप्तिः**) मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसप्रकार (**बोधः**) ज्ञान यद्यपि (**शिवाप्तिहेतोः हेतुहेतुः अपि**) मोक्ष प्राप्ति के हेतु कषायक्षय के हेतु संयम का हेतु है तथापि वह (**निश्चरणस्य**) चारित्ररहित जीव के (**अहेतुवत्**) अहेतु के समान है।

भावार्थ :- सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का प्राप्त होना मोक्षमार्ग है। इन तीनों में सम्यग्ज्ञान को बीच में रखने का प्रयोजन यह है कि वह सम्यग्दर्शन का कार्य है और सम्यक्चारित्र का कारण है। तात्पर्य यह है कि सम्यक्चारित्र की साधना में सम्यग्ज्ञान का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि आपने संयम धारण करते समय सम्यग्ज्ञान का भी ध्यान रक्खा है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान से संयम-सम्यक्चारित्र होता है, सम्यक्चारित्र से कषायों का क्षय होता है और कषायों का क्षय होनेसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसप्रकार मोक्षप्राप्ति का कारण कषायक्षय, कषायक्षय का कारण संयम और संयम का कारण सम्यग्ज्ञान है। एतावता यद्यपि सम्यग्ज्ञान मोक्षप्राप्ति के कारण के कारण का कारण है तो भी चारित्रहीन मनुष्य का ज्ञान अहेतु-अकारण के समान है। इसी उद्देश्यसे नीतिकारोंने कहा है `ज्ञानं भारः क्रियां विना' क्रिया के विना ज्ञान भाररूप है।।१०।।

समस्तनिस्तीर्णचरित्रभारः स्वायुःस्थितिज्ञः स विशीर्णबन्धः।
शिखेव बह्नेः सहजोद्र्ध्वगत्या तत्सिद्धिधामाऽध्यगमस्त्वमन्ते।।११।।

अन्वयार्थ :- (**समस्तनिस्तीर्णचरित्रभारः**) जिन्होंने परम यथाख्यातचारित्ररूप संयम के पूर्ण भार को वहन किया है, (**स्वायुःस्थितिज्ञः**) जो अपने आयुकर्म की स्थिति को जानते हैं अर्थात् जिनकी मनुष्यायु का अंतिम क्षण बीत रहा है और (**विशीर्णबन्धः**) जिनका बंध विखर चुका है - कषाय और योगों का अभाव होनेके कारण जिनका

नवीन बंधन छूट गया है और सातिशय निर्जरा होनेके कारण जिनका पूर्वबंध निजीर्ण हो गया है ऐसे (**स त्वम्**) उन आपने (**अंते**) अंत समय में (**बह्नेः शिखेव**) अग्नि की शिखा के समान (**सहजोर्द्धगत्या**) स्वाभाविक ऊर्ध्वगति के द्वारा (**तत्**) उस प्रसिद्ध (**सिद्धिधाम**) मोक्षस्थान को (**अध्यगमः**) प्राप्त किया।

भावार्थ :- शील के चौरासी हजार भेद तथा चौरासी लाख उत्तर गुणों की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। इनकी पूर्णता होने पर ही परम याथाख्यात चारित्र होता है, इस प्रकार परम यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति होने पर इस जीव का कर्म बंधन खुल जाता है उसी समय मनुष्यायु की समाप्ति होती है और अग्नि की शिखा के समान स्वाभाविक ऊर्ध्वगति के द्वारा यह जीव लोकांत में १५७५ धनुषप्रमाण तनुवातवलय के अन्तिम ५२५ धनुषप्रमाण क्षेत्र में जो सिद्धिधाम है वहाँ पहुँच जाता है। मध्यलोक से वहाँ तक पहुँचने में इस जीव को मात्र एक समय लगता है।।११।।

तस्मिन् भवानप्रचलप्रदेशः पिबन् दृशा विश्वमशेषमेव।
समक्षसंवेदनमूर्तिरास्ते स्वगुप्तवीर्यातिशयः सुखेन।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**अप्रचलप्रदेशः**) जिनके प्रदेश अत्यंत निश्चल हैं, (**दृशा**) अनंत दर्शन के द्वारा (**अशेषमेव विश्वं पिबन्**) जो समस्त विश्व को ग्रहण कर रहें हैं, (**समक्षसंवेदनमूर्तिः**) जो प्रत्यक्षज्ञान-केवलज्ञान की मूर्तिस्वरूप हैं तथा (**स्वगुप्तवीर्यातिशयः**) जिनका अनंत बल अपने आपमें सुरक्षित है ऐसे (**भवान्**) आप (**तस्मिन्**) उस सिद्धिधाम में (**सुखेन आस्ते**) सुख से विराजमान है।

भावार्थ :- सिद्धालय में पहुँचने पर आत्मा के प्रदेश सदा के लिये निश्चल हो जाते हैं। वे अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य और अनंत सुख से सम्पन्न होते हैं। हे भगवन् ! आप भी सिद्धालय में पहुँच कर अनंत चतुष्टय से सुशोभित हैं।।१२।।

दृग्बोधयोस्तैंक्ष्ण्यविधायि वीर्यं दृग्बोधतैक्ष्ण्येषु निराकुलत्वम्।
निराकुलत्वं तव देव सौख्यं गाढोपयुक्तोऽसि सुखं(सुखे)त्वमेव।।१३।

अन्वयार्थ :- (**वीर्यं**) वीर्य-आत्मबल (**दृग्बोधयोः**) दर्शन और ज्ञान की (**तैक्ष्ण्यविधायि**) प्रखरता - अनंतता को करनेवाला है, (**दृग्बोधतैक्ष्ण्येषु**) दर्शन और ज्ञान की तीक्ष्णता के होने पर (**निराकुलत्वं**) निराकुलता होती है और (**निराकुलत्वं**) निराकुलता ही (**तव**) आपका (**सौख्यं**) सुख है। (**देव**) हे देव (**सुखे**) उस निराकुलतारूप सुख में (**त्वमेव**) आपही (**गाढोपयुक्तः असि**) प्रगाढ़रूप से तन्मयता को प्राप्ति हैं।

भावार्थ :- आत्मा में जो वीर्य नाम का गुण है वह दर्शन और ज्ञान गुण के चरण विकास में कारण है। जब दर्शन और ज्ञान अपनी चरम सीमा को पहुँच जाते हैं तब निराकुलता होती है और जो निराकुलता है वही सुख कहलाता है। हे भगवन् ! इस निराकुलतारूप सुख में एक आप ही निरंतर निमग्न रहते हैं। संसार के भीतर जन्म मरण करनेवाले अन्य जीवों को इसकी उपलब्धि कैसे हो सकती है ?।।१३।

वितृष्णता ज्ञानमनन्तरायं दृग्वीर्यसारोऽस्खलितः समन्तात्।
अयं समस्तः सुखहेतुपुञ्जस्तवाभवन्नित्यनिराकुलस्य।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**वितृष्णता**) तृष्णा का अभाव, (**अनंतरायं**) बाधारहित (**ज्ञानं**) ज्ञान और (**समन्तात्**) सब ओर (**अस्खलितः**) स्खलित नहीं होनेवाला (**दृग्वीर्यसारः**) श्रेष्ठ दर्शन और वीर्य (**अयं समस्तः**) यह सब (**नित्यनिराकुलस्य**) निरंतर निराकुल रहनेवाले (**तव**) आपके (**सुखहेतुपुञ्जः**) सुख के कारण का समूह (**अभवत्**) हुआ।

भावार्थ :- संसार का प्राणी तृष्णा के कारण दुखी होता है, ज्ञान की अल्पता होनेसे अज्ञात वस्तु को न जान सकने और ज्ञात वस्तु के विस्मृत हो जानेके कारण दुःखी रहता है तथा इष्ट पदार्थों में स्खलित हो जानेवाले अल्प दर्शन और तुच्छ बल के कारण भी दुःखी होता है, परंतु हे भगवन् ! आपको किसी प्रकार की तृष्णा नहीं है, केवलज्ञान के द्वारा आप चराचर विश्व को एक साथ जानते हैं तथा आपमें ऐसा अनंत दर्शन और अनंत बल प्रकट हुआ है जो कहीं भी स्खलित नहीं होता। इस प्रकार सुख के समस्त साधन आपमें स्वयमेव संघटित हुए हैं और उनके संघटित होनेके कारण आप निराकुल हैं।।१४।।

अनादिसंसारपथादपेतमनन्तसिद्धत्वकृतव्यवस्थम्।
त्रिकालमालायतमात्मतत्त्वं साक्षात् समं पश्यसि बुध्यसे च।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**अनादिसंसारपथात् अपेतं**) जो अनादि संसार के मार्ग से रहित है, तथा (**अनंत सिद्धात्वकृतव्यवस्थं**) अनंत सिद्धत्व के पद में स्थित है तथा (**त्रिकालमालायतं**) तीनों काल की माला में विस्तीर्ण है ऐसे (**आत्मतत्वं**) आत्मातत्व को आप (**समं**) एक साथ (**साक्षात्**) प्रत्यक्ष (**पश्यसि**) देखते (**च**) और (**बुध्यसे**) जानते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपकी जो आत्मा अनादिकालीन संसार के मार्ग से दूर होकर अनंत - कभी नष्ट नहीं होनेवाली सिद्ध पर्याय को प्राप्त हुई है उसे आप अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव के कारण सदा प्रत्यक्ष देखते और जानते हैं।।१५।

दृग्बोधवीर्योपचितात्मशक्तिः समन्ततो नित्यमखण्ड्यमानः।
अत्यन्ततैक्ष्ण्यादविभागखण्डैरनन्तशः खण्डयसीश विश्वम्।।१६।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! (**समन्ततः**) सब ओरसे (**नित्यं**) निरंतर (**दृग्बोधवीर्योपचितात्मशक्तिः**) जिनकी आत्मशक्ति दर्शन ज्ञान और वीर्य से वृद्धिगत है, इसलिए जो (**अखण्ड्यमानः**) अविभाज्य हैं - जिनके आत्म प्रदेशों में पुद्गलप्रदेशों के समान खण्डपना नहीं है ऐसे आप (**अत्यंततैक्ष्ण्यात्**) ज्ञान दर्शन गुण की तीक्ष्णता के कारण (**विश्वं**) समस्त लोक-अलोक को (**अनन्तशः**) अनंतों बार (**अविभागखण्डैः**) प्रदेशों के द्वारा तथा अविभागी प्रतिच्छेदों से (**खण्डयसि**) खंड-खंड करते हैं अर्थात् समस्त विश्व के अविभागी प्रतिच्छेदों तक को जानते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपके ज्ञान दर्शन की इतनी तीक्ष्णता - सूक्ष्मग्राहिता है कि उसके द्वारा स्थूल पदार्थों को जानना तो दूर रहा, आप समस्त विश्व के अर्थात् एक एक अविभागप्रतिच्छेदों तक को जानते हैं।।१६।।

दृढोपयुक्तस्य तव स्फुटन्त्यः स्वशक्तयो विश्वसभावभासाः।
विभो न भिन्दन्ति सदा स्वभावं चिदेकसामान्यकृतावताराः।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे प्रभो ! (**दृढोपयुक्तस्य**) स्वरूप में दृढता से उपयुक्त रहनेवाले (तव) आपकी (**स्फुटन्त्यः**) जो प्रकट अनुभव में आ रही हैं (**विश्वसभावभासाः**) समस्त विश्व के समान जिनका प्रकाश है तथा (**चिदेकसामान्यकृतावताराः**) आपके एक चैतन्य स्वभाव में जिन्होंने अवतरण किया है ऐसी (**स्वशक्तयः**) आत्मशक्तियां (**सदा**) सर्वदा -

कभी भी (**स्वभावं**) आपके स्वभाव को (**न भिन्दन्ति**) भेदती नहीं हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप अपने स्वरूप में सदा दृढ़ हैं तथा आपकी समस्त शक्तियां भी, ऐसी शक्तियां जो अत्यंत प्रकट अनुभव में आ रही हैं, तथा सामान्यरूप से एक चैतन्य स्वभाव में गर्भित हैं, सदा स्वरूपस्थ रहती हैं, कभी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ती हैं।।१७।।

प्रमातृरूपेण तव स्थितस्य प्रमेयरूपेण विवर्तमानाः।
श्लिष्टावभासा अपि नैकभावं त्वया समं यान्ति पदार्थमालाः।।१८।।

अन्वयार्थ :- (**प्रमातृरूपेण स्थितस्य**) प्रमाता-ज्ञायक के रूप में स्थित (**तव**) आपके (**प्रमेयरूपेण**) प्रमेय-ज्ञेयरूप से (**विवर्तमानाः**) विद्यमान (**पदार्थमालाः**) पदार्थों के समूह (**श्लिष्टावभासा अपि**) अत्यंत तन्मयभाव को प्राप्त होकर भी (**त्वया समं**) आपके साथ (**एकभावं**) एकत्व को (**न यान्ति**) नहीं प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप ज्ञायकमात्र हैं - पदार्थों को जाननेवाले हैं और संसार के समस्त पदार्थ आपके ज्ञेय हैं। अंतर्ज्ञेय की अपेक्षा वे सब पदार्थ आपके ज्ञान में जब प्रतिबिम्बित होते हैं तब ऐसे जान पड़ते हैं मानों आपके ज्ञान के साथ उनका तादात्म्य हो, परंतु वास्तव में वे आपके ज्ञानसे पृथक् हैं। इस तरह आपके साथ उनका एकीभाव नहीं है। तात्पर्य यह है कि ज्ञाता सदा ज्ञाता रहता है और ज्ञेय सदा ज्ञेय रहता है। ज्ञाता, ज्ञेय नहीं और ज्ञेय, ज्ञान नहीं होता। दोनों में ज्ञातृ-ज्ञेयसम्बन्ध ही है, तादात्म्य सम्बन्ध नहीं।।१८।।

परप्रदेशैर्न परः प्रदेशी प्रदेशशून्यं न हि वस्तु किञ्चित्।
आलानयन् दर्शनबोधवीर्यं जिन प्रदेशेषु सदैव भासि।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**परप्रदेशैः**) अन्य द्रव्य के प्रदेशों से (**परः**) अन्य द्रव्य (**प्रदेशी**) प्रदेशवान् (**न**) नहीं होता है और (**हि**) निश्चय से (**किञ्चित्**) कोई (**वस्तु**) द्रव्य (**प्रदेशशून्यं**) प्रदेशों से शून्य (**न**) नहीं है। आप (**दर्शनबोधवीर्यं**) दर्शन ज्ञान और वीर्य को (**प्रदेशेषु**) अपने प्रदेशों में (**आलानयन्**) बद्ध करते हुए (**सदैव**) सदा ही (**भासि**) सुशोभित होते हैं।

भावार्थ :- आत्मा गुण है और दर्शन ज्ञान तथा वीर्य उसके गुण हैं। गुणों के प्रदेश गुणी से पृथक् नहीं होते हैं, ऐसा सिद्धांत है परंतु न्याय दर्शन गुण और गुणी को पृथक् पृथक् स्वीकृत करता हुआ गुण के समवाय से किसी अन्य पदार्थ को गुणी मानता है। इस न्याय दर्शन का निरसन करते हुए यहाँ कहा गया है कि हे जिनेन्द्र ! आपमें जो दर्शन ज्ञान और वीर्य गुण हैं उन्हें आप अपने प्रदेशों में ही बद्ध किये हुए सुशोभित होते हैं, क्योंकि ऐसा नियम है कि सब पदार्थों के प्रदेश अपन अपने में ही रहते हैं किसी अन्य के प्रदेशों से कोई अन्य प्रदेशवान् नहीं होता है। तथा ऐसा भी कोई पदार्थ नहीं है जो प्रदेश रहित हो और उसे प्रदेशवान् बनने के लिये दूसरे पदार्थ के प्रदेशों का आश्रय लेना पड़े।।१९।।

आलम्ब्य विश्वं किल पुष्कलेयं दृग्बोधवैचित्र्यमयी विभूतिः।
तव स्वभावाद् दृशिबोधमूर्तेरेतावदेवोपकृतं परेभ्यः।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**स्वभावात्**) स्वभाव से ही जो (**दृशिबोधमूर्तेः**) दर्शन और ज्ञान की मूर्तिस्वरूप हैं ऐसे (**तव**) आपकी (**इयं**) यह (**पुष्कला**) समस्त समस्त (**दृग्बोधवैचित्र्यमयी**) दर्शन और ज्ञान की विचित्रता से युक्त (**विभूतिः**) संपदा (**किल**) निश्चय से (**विश्वं**) समस्त लोका-अलोक का (**आलम्ब्य**) आलम्बन लेकर प्रकट हुई है (**एतावत् एव**) इतना ही आपका (**परेभ्यः**) अन्य पदार्थों से (**उपकृतं**) उपकार हुआ है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! दर्शन ज्ञान की मूर्ति आप स्वभाव से ही हैं, किन्हीं पदार्थों ने आपमें दर्शन ज्ञान को उत्पन्न कर दिया हो, ऐसी बात नहीं है। इतना अवश्य है कि यह विश्व आपके दर्शन ज्ञान का आलम्बन है अर्थात् दर्शन और ज्ञान इन्हें अपना दृश्य और ज्ञेय बनाते हैं। इतना ही परद्रव्यों से आपका उपकार हुआ है।।२०।।

अनंतधर्मप्रचितैः प्रदेशैर्दृग्बोधयोराश्रयमात्रभूतः।
दृग्बोधवैचित्र्यमुखेन साक्षाद्विभो विभास्येव हि विश्वरूपः।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे भगवन् ! (**अनंतधर्मप्रचितैः**) अनंत धर्मों से व्याप्त (**प्रदेशैः**) प्रदेशों के द्वारा आप (**दृग्बोधयोः**) दर्शन और ज्ञान के (**आश्रयमात्रभूतः**) आधारमात्र

हैं। (**हि**) निश्चय से आप (**दृग्बोधवैचित्र्यमुखेन**) दर्शन और ज्ञान की विचित्रता के माध्यम से (**साक्षात्**) प्रत्यक्ष में (**विश्वरूपः**) विश्वरूप (**एव**) **ही** (**विभासि**) सुशोभित प्रतीत हो रहे हैं।

भावार्थ :- हे प्रभो ! ऐसा नहीं है कि आपमें मात्र दर्शन और ज्ञान ही हों किन्तु आपके प्रदेश अनंत धर्मों से व्याप्त हैं। उन अनंत धर्मों से व्याप्त प्रदेशों के द्वारा आप दर्शन और ज्ञान को धारण कर रहे हैं। आपके दर्शन और ज्ञान भी साधारण नहीं है। उनकी अपनी एक विशेषता है - वह यह कि उनमें समस्त ज्ञेय प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, अतः आप ज्ञेयाकीर्ण ज्ञान की अपेक्षा विश्वरूप है।।२१।।

अभावभावोमयरूपमेकं स्ववस्तु साक्षात् स्वयमेव पश्यन्।
न सज्जसे क्वापि सदाऽप्रकम्पः स्वभावसीमाङ्किततत्त्वमग्नः।।२२।।

अन्वयार्थ :- (**अभावभावोभयरूपं**) अभाव, भाव और उभयरूप (**एकं**) एक (**स्ववस्तु**) आत्मवस्तु को (**स्वयमेव**) अपने आप (**साक्षात्**) प्रत्यक्ष (**पश्यन्**) देखते हुए आप (**क्वापि**) किसी अन्य पदार्थ में (**न सज्जसे**) संलग्न नहीं होते हैं, किन्तु (**सदा**) सर्वदा (**अकम्पः**) निश्चल हो (**स्वभावसीमाङ्किततत्त्वमग्नः**) स्वयं के स्वभाव की सीमा से युक्त आत्म तत्त्व में ही मग्न रहते हैं।

भावार्थ :- संसार का प्रत्येक पदार्थ क्रमार्पित दृष्टि में परचतुष्टय की अपेक्षा अभावरूप, स्वचतुष्टय की अपेक्षा भावरूप और क्रमार्पित उभय दृष्टि में उभयरूप होता है। आपका आत्मद्रव्य भी अभाव, भाव और उभयरूप है। यद्यपि स्वभाव से एकरूप ही है, परंतु उपर्युक्त विवक्षा से तीनरूप प्रतीत होता है। सबको जानते हुए भी आप अपने स्वरूप में ही निमग्न रहते हैं।।२२।।

भूतं भवद्भावि समस्तविश्वमालम्बमानः सममेव साक्षात्।
अनंतविश्वात्मकदिव्यदीप्तिस्तवोपयोगो जिन नास्तमेति।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! जो (**भूतं भवत् भावि समस्तविश्वं**) भूत वर्तमान और भावी - समस्त विश्व का (**सममेव**) एक ही साथ (**साक्षात्**) साक्षात् (**आलम्बमानः**) आलम्बन कर रहा है - उसे जान रहा है तथा (**अनंतविश्वात्मकदिव्यदीप्तिः**) जिसकी

दिव्य दीप्तिः - अलौकिक प्रकाश अनंत विश्वात्मक है - ऐसे ऐसे अनंत लोकों को जानने की क्षमता रखता है ऐसा (**तव**) आपका (**उपयोगः**) केवलज्ञानरूपी उपयोग (**अस्तं न एति**) अस्त को प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ :- जो भूत भविष्यत् और वर्तमानसम्बन्धी विश्व को एक साथ प्रत्यक्ष देखता है तथा ऐसे ऐसे अनंत विश्वों को जानने की क्षमता रखता है ऐसा आपका केवलज्ञानरूप उपयोग कभी नष्ट नहीं होता है।।२३।।

समन्ततो दृष्टिरबारितेयं सर्वत्र बोधोऽयमवरुद्धशक्तिः।
अनंतवीर्यातिशयेन गाढं सुदुर्द्धरं धारयसि स्वमीश।।२४।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! आपकी (**इयं**) यह (**दृष्टि**) दर्शन (**समन्ततः**) सब ओर (**अवारिता**) अप्रतिहत है - इसकी गति को कोई रोक नहीं सकता है और (**अयं**) यह (**बोधः**) ज्ञान (**सर्वत्र**) सब स्थानों पर (**अवरुद्धशक्तिः**) अप्रतिहत शक्तिवाला है - इसकी सामर्थ्य को कोई नहीं रोकनेवाला नहीं है। इस प्रकार आप (**अनंतवीर्यातिशयेन**) अनंत वीर्य के अतिशय से (**गाढं सुदुर्द्धरं**) अत्यंत परिपूर्ण (**स्वं**) अपने आपको (**धारयसि**) धारण करते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपकी आत्मा अनंत दर्शन अनंत ज्ञान और अनंत बल से परिपूर्ण है। छद्मस्थ जीव के ज्ञान दर्शन और वीर्य इन्द्रियाधीन होते हैं। इन्द्रियां प्रकाश आदि बाह्य निमित्तों की अपेक्षा रखती हैं, इसलिये वे सर्वत्र निर्बाध नहीं होते हैं। परंतु वीतराग जिनेन्द्र के ज्ञान दर्शन और वीर्य तत् तत् आवरण कर्मों के क्षय से प्रकट होते हैं, अतः उन्हें इन्द्रिय तथा बाह्य निमित्तों की आवश्यकता नहीं होती। निमित्त निरपेक्ष होनेके कारण वे सर्वत्र अप्रतिहत रहते हैं।।२४।।

भ्रान्त्वा समग्रं जगदेव दीनं खिन्नात्मना प्राणपणं विधाय।
वन्दीकृतोऽस्यद्यमयातिलोभात् सर्वस्त्वमेवाप्य(च)किं विवादैः।।२५।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**दीनं यथा स्यात्तथा**) दीनतापूर्वक (**समग्रमेव जगत् भ्रान्त्वा**) समस्त संसार में भ्रमण कर (**खिन्नात्मना**) जिसकी आत्मा खिन्न हो चुकी है ऐसे (**मया**) मैंने (**प्राणपणं विधाय**) प्राणपण कर - पूरी शक्ति लगा कर (**अतिलोभात्**) अत्यंत लोभ

से (**अद्य**) आज (**त्वम्**) आपको (**वंदीकृतः असि**) अपने आपमें निरुद्ध किया है - मैं आपकी शरण में आया हूँ। (**त्वमेव**) आप ही (**मे**) मेरे (**सर्वः**) सब कुछ हो (**आप्य च**) आपको प्राप्त कर मुझे (**विवादै**) विवादों से (**किं**) क्या प्रयोजन है आपकी शरण में आते ही सब विवाद नष्ट हो चुके हैं।

भावार्थ :- हे नाथ ! मिथ्यात्व के कारण चतुर्गतिरूप संसार में दीनतापूर्वक भ्रमण करते मेरी आत्मा खिन्न हो चुकी है। अब मैं पूरी शक्ति लगाकर आपकी शरण में आया हूँ। रागी द्वेषी देवों की आराधना का कुफल भोग कर अब मैं वीतराग जिनेन्द्र की शरण को प्राप्त हुआ हूँ। पूरी दृढ़ता के साथ मैंने आपको अपने हृदय में निरुद्ध किया है आप मेरे सब कुछ हो, आपको पाकर अब मुझे विवादों से क्या प्रयोजन है।।२५।।

ॐ

(१०)

उपजातिवृत्तम

अन्तर्निमग्नान्यनयस्वभावं स्वभावलीलोच्छलनार्थमेव।
विशुद्धविज्ञानघनं समन्तात् स्तोष्ये जिनं शुद्धनयैकदष्ट्या।।१।।

अन्वयार्थ :- (**अन्तर्निमग्नान्यनयस्वभावं**) अन्य नयों का स्वभाव जिनके भीतर निमग्न हो गया है (**स्वभावलीलोच्छलनार्थमेव**) स्वभाव की लीला को प्रकट करना ही जिनका एक प्रयोजन है और जो (**समन्तात्**) सब ओरसे (**विशुद्धविज्ञानघनं**) वीतराग विज्ञान से परिपूर्ण हैं ऐसे (**जिनं**) जिनेन्द्रदेव की मैं (**शुद्ध नयैकदृष्ट्या**) एकमात्र शुद्धनय की दृष्टि में (**स्तोष्ये**) स्तुति करूँगा।

भावार्थ :- पर संयोग से रहित आत्मा के शुद्धतत्त्व को ग्रहण करनेवाला नय शुद्धनय[१] कहलाता है। इसे ही परमार्थनय अथवा निश्चयनय कहते हैं। जब इस शुद्धनय की दृष्टि से पदार्थ का कथन होता है तब उसकी परनिरपेक्ष किन्तु स्वसापेक्ष विशेषताओं का वर्णन किया जाता है। और जिसमें पर की सापेक्षता रहती है वह अशुद्धनय कहलाता है। इसीको अभूतार्थ या व्यवहारनय कहते हैं। जैसे आत्मा कर्मों से अबद्ध अस्पृष्ट और ज्ञान-दर्शन से पूर्ण है ऐसा कथन करना शुद्धनय है तथा आत्मा कर्मों से बद्ध है स्पृष्ट है तथा रूपादिमान् है, यह कथन करना अशुद्धनय है। भगवन् ! अब मैं शुद्धनय का आश्रय लेकर आपकी स्तुति करूँगा। इस शुद्धनय के स्तवन में अन्य नयों का निषेध तो नहीं होता परंतु वे इसी शुद्धनय में अंतर्निमग्न हो जाते हैं तथा शुद्धनय से स्तवन करनेका प्रयोजन यही एक है कि इसके द्वारा स्वभाव की लीला उभरकर सामने आ जाती है और विभाव की लीला तिरोहित हो जाती

---

१. जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि।।१४।। - समयप्राभृत

है। स्व में पर की सहायता के बिना जो प्रकट है तथा अनादि अनंतरूप से त्रिकाल में विद्यमान रहता है उसे स्वभाव कहते हैं और स्व में पर के निमित्त से जो प्रकट होता है उसे विभाव कहते हैं जैसे ज्ञानदर्शन आत्मा के स्वभाव हैं, क्योंकि ये किसी बाह्य कारण से आत्मा में उत्पन्न नहीं हुए हैं, किन्तु रागद्वेषादिक विभाव हैं, क्योंकि ये द्रव्यक्रम की उदयावस्था का निमित्त पाकर आत्मा में उत्पन्न होते हैं। इनका सद्भाव द्रव्यकर्म की उदयावस्था के साथ अन्वय व्यतिरेक रखता है, अतः उसके नष्ट हो जानेपर नष्ट हो जाते हैं। स्वभाव दृष्टि से भगवान् वीतराग विज्ञानसे घन है - सान्द्र है और रागादि विभाव भावों से रहित है। एक शुद्धनय की दृष्टि से भगवान् की स्तुति करनेसे मेरा लक्ष्य अपने स्वभाव की ओर जावेगा और विभाव की ओरसे मेरा ममत्वभाव दूर होगा।।१।।

निरर्गलोच्छालविशालधाम्नो यदेव चैतन्यचमत्कृतं ते।
उदारवैशद्यमुदेत्यभेदं तदेव रूपं तव मार्जितश्रि।।२।।

अन्वयार्थ :- (**निरर्गलोच्छालविशालधाम्नः**) निर्बाध उन्नति से विशाल तेजसे युक्त (**ते**) आपका (**उदारवैशद्यं**) अवाधरूप से महान् वैशद्य को लिये हुए तथा (**अभेदं**) भेद से रहित (**यदेव**) जो भी (**चैतन्यचमत्कृतं**) चैतन्य चमत्कार (**उदेति**) प्रकट होता है (**तदेव**) वही (**मार्जितश्रि**) अनंतचतुष्टयरूप निर्मल लक्ष्मी से युक्त (**तव**) आपका स्वच्छ (**रूपं**) स्वरूप है।

भावार्थ :- शुद्धनय गुण और गुणो में भेद को स्वीकृत नहीं करता है, उसके सामने गुण और गुणी इस प्रकार के दो पदार्थ हैं भी नहीं। वह मात्र एक ज्ञायकस्वभाव को ग्रहण करता है। इसी अभिप्राय से कहा गया है कि हे भगवन् ! आपका जो संपूर्ण चैतन्य चमत्कार है वही आपका स्वरूप है। जिस प्रकार विजलीका स्वरूप उसका कोंदना ही है उसी प्रकार आपका स्वरूप चैतन्यचमत्कार ही है। आपका यह चैतन्य चमत्कार अत्यंत उत्कृष्ट निर्मलता से सहित है अर्थात् वीतराग विज्ञानरूप है। आपका यह रूप तब प्रकट होता है जब आपका विशाल तेज निर्बाध रूप से उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो जाता है एवं यह रूप अनंत चतुष्टयरूप निर्मल लक्ष्मोसे युक्त होता है। हे भगवन् ! यद्यपि आप ज्ञान-दर्शन सुख वीर्य सूक्ष्मत्व अव्याबाधत्व अगुरुलघुत्व और अवगाहतत्व आदि अनेक गुणों से युक्त हैं तथापि उनमें एक चैतन्यचमत्कार

ही प्रधान है, अतः उसी पर दृष्टि संलग्न हो रही है। जिस प्रकार मिश्री मधुर है उसी प्रकार क्या सफेद, कड़ी और सुगंधित भी नहीं है ? अवश्य है, परंतु स्वाद लेनेवाले की दृष्टि उसके मात्र मधुर रस की ओर रहती है। मिश्री कैसी है ? ऐसा पूछने पर उसके मुख से यही उत्तर निकलता है कि मधुर है। इसी प्रकार आत्मा में सुख वीर्य आदि अनेक गुण क्या नहीं हैं ? अवश्य हैं, परंतु शुद्धनय की दृष्टि उसके चैतन्यचमत्कार पर ही संलग्न होती है।।२।।

चिदेकरूपप्रसरस्तवायं निरुध्यते येन स एव नास्ति।
स्वभावगम्भीरमहिम्नि लग्नो विभो विभास्येकरसप्रवाहः।।३।।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे स्वामिन् ! (**तव**) आपका (**अयं**) यह (**चिदेकरूपप्रसरः**) चैतन्य का अद्वितीय प्रसार (**येन**) जिसके द्वारा (**निरुध्यते**) रोका जाता है (**स नास्ति एव**) वह है ही नहीं - ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो चैतन्य ज्योति के प्रसार को रोक सके। अतः (**स्वभावगम्भीरमहिम्नि**) जो स्वभाव की गंभीर महिमा में (**लग्नः**) लीन है (**एकरसप्रवाहः**) ऐसे चैतन्यरस के एक प्रवाहस्वरूप आप (**विभासि**) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- जिस पदार्थ का जो स्वभाव होता है वह किसी के द्वारा न नष्ट किया जा सकता है और न परिवर्तित हो सकता है। हे भगवन् ! सामान्य चैतन्य - ज्ञान-दर्शन आपका स्वभाव है। वह किसीके द्वारा रोका नहीं जा सकता। अथवा आपके ज्ञान-दर्शन गुण का जो केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप से प्रसार हो रहा है उसे रोकने की क्षमता संसार के किसी अन्य द्रव्य में नहीं है। आप अपने स्वभाव की गम्भीर महिमा - राग-द्वेष से रहित आत्मीय परिणति में सदा लीन रहते हुए सुशोभित हो रहे हैं।।३।।

उपर्युपर्युच्छलदच्छधामा प्रकाशमानस्त्वमभिन्नधारः।
चिदेकतासङ्कलितात्मभासा समग्रमुच्चावचमस्यसीश।।४।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे भगवन् ! (**उपर्युपर्युच्छलदच्छधामा**) जिनका निर्मल तेज उत्तरोत्तर उछल रहा है - वृद्धि को प्राप्त हो रहा है तथा (**अभिन्नधारः**) जिनकी

ज्ञान की धारा सदा अखण्ड रहती है, ऐसे (**त्वम्**) आप (**प्रकाशमानः**) प्रकाशमान हो रहे हैं। तथा आप (**चिदेकतासङ्कलितात्मभासा**) चित्स्वभाव के एकत्व से युक्त आत्मदीप्ति के द्वारा (**समग्रं**) सम्पूर्ण (**उच्चावचं**) उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट के भेद को (**अस्यास**) दूर कर रहे हैं।

भावार्थ :- रागधारा और ज्ञानधारा ये दो धाराएं हैं। मोहकर्म के उदय से जो मोह तथा रागद्वेषरूप परिणति होती है वह रागधारा कहलाती हैं। इसीको अध्यात्म में विभाव परिणति कहते हैं और पदार्थ का ज्ञाता-दृष्टा होना यह ज्ञानधारा कहलाती है। इसीको अध्यात्म में स्वभाव परिणति कहते हैं। इस जीव की अनादिकाल से रागधारा में परिणति हो रही है अर्थात् मिथ्यादृष्टि अवस्था में जीव यह नहीं समझ पाता है कि मोह तथा राग-द्वेष से भिन्न भी कोई धारा होती है। परंतु जब मिथ्यादृष्टि अवस्था को पारकर जीव सम्यग्दृष्टि अवस्था में आता है तब वह यह समझने लगता है कि रागधारा मेरा स्वभाव नहीं है, इसके विपरीत ज्ञानधारा ही मेरा स्वभाव है। इस प्रकार श्रद्धा की दृष्टि से ज्ञानधारा की ओर इसका लक्ष्य होने तो लगता है, परंतु चारित्रमोह का उदय रहनेके कारण स्थायी रूप से उसपर आरूढ़ नहीं रह पाता। यह अवस्था मिथ्यात्व के अनंतर दशम गुणस्थानतक चलती है। इसके अनंतर जब मोह का सर्वथा क्षय हो जानेसे आत्मा में पूर्ण वीतरागता प्रकट होती है तब राग की धारा सूख जाती है मात्र एक ज्ञान की धारा प्रवाहित रहती है। हे भगवन् ! इस अरहन्त अवस्था में आपकी रागधारा का सर्वथा अभाव हो चुका है, मात्र एक ज्ञानधारा प्रवाहित हो रही है अर्थात् आप संसार के इष्ट-अनिष्ट पदार्थों को जानते तो हैं, परंतु उनमें इष्ट अनिष्ट की कल्पना नहीं करते। उस ज्ञानधारा में जब मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञान का विकल्प रहता है तब उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट का भेद आता है। केवलज्ञान उत्कृष्ट है और उसके पूर्व मतिज्ञानादि अनुत्कृष्ट हैं। परंतु जब सामान्य चित्स्वरूप - एक सामान्य ज्ञानगुण की ओर दृष्टि जाती है तब ज्ञान के भीतर होनेवाले मतिज्ञानादि भेद स्वयं समाप्त हो जाते हैं, एक ज्ञान सामान्य ही अनुभव में आता है। इस दशा में उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट का विकल्प स्वयमेव समाप्त हो जाता है। शुद्धनय, विशेष को ग्रहण न कर सामान्य को ग्रहण करता है, अतः उसकी दृष्टि में उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट का भेद स्वयं ही चला जाता है।।४।।

समुच्छलत्यत्र तदाद्वितीये महौजसश्चिन्महसो महिम्नि।
जलप्लवप्लावितचित्रनीत्या विभाव्यते विश्वमपि प्रमृष्टम्।।५।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**अत्र**) इस लोक में (**तदा**) उस शुद्धनय की दशा में (**महौजसः**) अतिशय तेजस्वी (**चिन्महसः**) ज्ञान-दर्शनचैतन्यरूप तेज की (**अद्वितीय**) अनुपम (**महिम्नि**) महिमा के (**समुच्छलति `सति'**) वृद्धिगत होनेपर (**विश्वमपि**) समस्त विश्व भी (**जलप्लवप्लावितचित्रनीत्या**) जल के प्रवाह से प्लावित चित्र के समान (**प्रमृष्टं**) परिमार्जित (**विभाव्यते**) जान पड़ता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! इस अरहंत अवस्था में आपका तेज अत्यंत विशाल है, इसीलिये तो सौ इन्द्र निरंतर आपको नमस्कार करते हैं। इस समय आपके चैतन्य ज्ञानदर्शन की अद्वितीय महिमा सर्वत्र उच्छलित हो रही है - सबसे अधिक प्रतीति में आ रही है, इसलिये आपका शेष संसार जल के पूरसे धुले हुए चित्र के समान पुछ गया है - निष्प्रभ हो गया है। यद्यपि आप अभी अंतिम मनुष्य पर्याय में हैं तथापि जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं - जीवित रहते हुए भी मुक्त के समान हो गये हैं। अथवा आपके चैतन्यस्वभाव की महिमा बढ़नेपर आपके सुख वीर्य अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व और सूक्ष्मत्व आदि गुण तिरोहित के समान हो गये हैं, उन सब गुणों में प्रमुखरूप से एक चैतन्यस्वभावज्ञान-दर्शन गुण ही प्रकट हो रहा है। चैतन्य स्वभाव की महिमा ही इस प्रकार की है कि उनके प्रकट होनेपर अन्य सब गुण उसीके अंतर्गत हो जाते हैं।।५।।

विशुद्धबोधप्रतिबद्धधाम्नः स्वरूपगुप्तस्य चकासतस्ते।
अयं स्फुटः स्वानुभवेन काममुदीर्यते भिन्नरसः स्वभावः।।६।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**विशुद्धबोधप्रतिबद्धधाम्नः**) जिनका तेज वीतराग विज्ञान - केवलज्ञान से सम्बद्ध है तथा जो (**स्वरूपगुप्तस्य चकासतः**) आत्मस्वरूप से सुरक्षित होकर सुशोभित हो रहे हैं ऐसे (**ते**) आपका (**स्वानुभवेन**) स्वानुभव से (**स्फुटः**) स्पष्ट प्रकट हुआ (**भिन्नरसः**) विभावपरिणति से भिन्न रसवाला (**अयं**) यह (**स्वभावः**) स्वभाव (**कामं `यथा स्यात्तथा'**) अच्छी तरह (**उदीर्यते**) प्रकट हो रहा है - स्पष्टरूप से अनुभव में आ रहा है।

भावार्थ :- ज्ञान-दर्शन आत्मा का स्वभाव है और राग-द्वेषादिक विभाव हैं। संसारी जीव का स्वभाव, राग-द्वेषरूप विभावपरिणामों से संयुक्त होनेके कारण एक वीतराग विज्ञान से ही संबद्ध नहीं रह पाता है, उसमें राग-द्वेष की लहर उठने से स्वरूप

निमग्नता नहीं रह पाती है। परंतु अरहंत अवस्था में राग-द्वेष की लहरका सर्वथा अभाव हो जानेसे अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव में ही लीनता रहती है। हे भगवन् ! जिस प्रकार वायुरहित स्थान में रखे हुए दीपक की ज्योति अपने आपमें स्थिर - निमग्न रहती है उसी प्रकार आप भी अपने स्वरूप में स्थिर - निमग्न हैं। विभाव परिणति के नष्ट हो जानेसे आपकी यह स्वरूप निमग्नता स्वयं सुशोभित हो रही है। इस दशा में आपका यह ज्ञान-दर्शनस्वभाव पूर्ववर्ती विभाव परिणति से भिन्न स्वादवाला हो गया है, क्योंकि सराग ज्ञान की अपेक्षा वीतराग विज्ञान की अनुभूति भिन्न प्रकार की होती है। सराग ज्ञान, पदार्थ को जानते समय उसमें इष्ट-अनिष्ट की अनुभूति भी करता है, परंतु वीतराग विज्ञान पदार्थ को जानते समय इष्ट-अनिष्ट की अनुभूति से सर्वथा रहित हो जाता है। आपका यह स्वभाव, स्वानुभव से अच्छी तरह प्रकट हो रहा है।।६।।

अभावभावादिविकल्पजालं समस्तमप्यस्तमयं नयन्नः।
समुच्छलद्बोधसुधाप्लवोऽयं स्वभाव एवोल्लसति स्फुटस्ते।।७।।

अन्वयार्थ :- (**नः**) हमारे (**समस्तम् अपि**) सभी प्रकार के (**अभावभावादिविकल्पजालं**) अभाव तथा भाव आदि विकल्पों के समूह को (**अस्तमयं नयन्**) अस्तभाव को प्राप्त कराता हुआ (**समुच्छलद्बोधसुधाप्लवः**) सब ओर उच्छलित होनेवाले ज्ञानरूप अमृत के प्रवाह से सहित (**ते**) आपका (**अयं**) यह (**स्फुटः**) स्पष्ट (**स्वभाव एव**) स्वभाव ही (**उल्लसति**) उल्लसित हो रहा है - प्रतीति में आ रहा है।

भावार्थ :- नयात्मक श्रुतज्ञान की अपेक्षा विचार करनेपर पदार्थ पर चतुष्टय पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव से अभावरूप होता है और स्वचतुष्टय से भावरूप रहता है। द्रव्यदृष्टि से पदार्थ नित्य रहता है और पर्यायदृष्टि से अनित्य रहता है। सामान्य से एक है और विशेष से अनेक है। इस प्रकार नाना प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं। परंतु केवलज्ञान इन सब विकल्पों को समाप्त कर देता है। उसके होने पर ये सब विकल्प स्वयमेव विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। हे भगवन् ! जिसमें वीतरागविज्ञानरूप अमृत का पूर उच्छलित होता रहता है ऐसा आपका स्वभाव ही इस अरहंत अवस्था में प्रकट हो रहा है, रागादिविभाव समूल नष्ट हो चुका है।।७।।

स्वभावबद्धाचलितैकदृष्टेः स्फुटप्रकाशस्य तवोज्जिहासोः।
समन्ततः सम्भृतबोधसारः प्रकाशपुञ्जः परितश्चकास्ति।।८।।

अन्वयार्थ :- (**स्वभावबद्धाचलितैदृष्टेः**) जिनकी दृष्टि स्वभाव में बद्ध होकर अचल-स्थिर हो चुकी है (**स्फुटप्रकाशस्यं**) जिनका ज्ञानरूप प्रकाश अत्यंत स्पष्ट है तथा (**उज्जहासोः**) जो ऊर्ध्वगतिस्वभाव से लोकांत में विद्यमान सिद्धालय को प्राप्त करना चाहते हैं ऐसे (**तव**) आपका (**समन्ततः सम्भृतबोधसारः**) सब ओरसे श्रेष्ठ ज्ञान से परिपूर्ण (**प्रकाशपुञ्जः**) आत्मप्रकाश का समूह (**परितः**) सभी ओर (**चकास्ति**) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! चारित्रमोहजन्य चञ्चलता के नष्ट हो जानेसे आपकी दृष्टि, स्वभाव में बद्ध और अचल हो गई है। यद्यपि दर्शनमोह के नष्ट हो जानेसे वह स्वरूप में बद्ध तो पहले ही हो चुकी थी, तथापि चारित्रमोहजन्य चञ्चलता के कारण उसमें अचलित नहीं हो पाती थी। यतश्च अब वह चञ्चलता नष्ट हो चुकी है, इसलिये वह स्वभाव में बद्ध और अचल हो चुकी है। आपकी अंतरात्मा अंतःप्रकाश से प्रकाशित है तथा आप नियम से उज्जिहासु-ऊर्ध्वगमन करनेवाले हैं। चौदहवें गुणस्थान के अंत में सत्तास्थित पचासी कर्म प्रकृतियों का क्षय कर एक समय मात्र में लोक के शिखर पर विराजमान होनेवाले हैं। लोकालोकावभासी होनेसे केवलज्ञान, समस्त ज्ञानों में सारभूत है। इस केवलज्ञान को आपने समस्त आत्मप्रदेशों में धारण किया है। इस प्रकार आपका यह आभ्यन्तर प्रकाश का समूह सब ओर सुशोभित हो रहा है तथा शरीर की दीप्तिरूप बाह्य प्रकाश भी चारों ओर विस्तृत हो रहा है।।८।

अनादिमध्यान्तचिदेकभासि प्रकाशमाने त्वयि सर्वतोऽपि।
एकाखिलक्षालितकश्मलेयं विलासमायात्यनुभूतिरेव।।९।।

अन्वयार्थ :- (**अनादिमध्यान्तचिदेकभासि**) जिनके चैतन्य की अद्वितीव दीप्ति आदि मध्य और अंत से रहित है ऐसे (**त्वयि**) आपके (**सर्वतोऽपि**) सभी ओर (**प्रकाशमाने 'सति'**) प्रकाशमान होनेपर (**अखिलक्षालितकश्मला**) जिसने सम्पूर्णरूप से पापों को नष्ट कर दिया है (**इयं**) यह ऐसी (**एका**) एक (**अनुभूतिः एव**) अनुभूति ही (**विलासं**) शोभा को (**आयाति**) प्राप्त होती है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपका जो चैतन्यस्वभाव है वह आदि मध्य और अंत से रहित है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव त्रैकालिक होता है। ऐसे अद्वितीय चैतन्यस्वभाव से सहित आप जब प्रकाशमान होने लगते हैं अर्थात् मेरी दृष्टि जब एक आपके ही ऊपर केन्द्रित हो जाती है तब मुझे नियम से आत्मानुभूति होने लगती है। आपके जाननेमात्र से मेरा लक्ष्य अपने शुद्धस्वरूप की ओर जाने लगता है और उस स्थिति में मेरे सब पाप नियम से विलीन हो जाते हैं। अन्यत्र भी कहा है - जो द्रव्य गुण और पर्याय की अपेक्षा अरहंत को जानता है वह अपने को जानता है और अपने आपको जाननेवाले का मोह नियम से विलीन हो जाता है[१]।

तवात्र तेजस्यनुभूतिमात्रे चकासति व्यापिनि नित्यपूर्णे।
न खण्डनं कोऽपि विधातुमीशः समन्ततो मे निरुपप्लवस्य।।१०।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**अत्र**) इस लोक में (**अनुभूतिमात्र**) एक अनुभूतिरूप (**व्यापिनि**) व्यापक तथा (**नित्यपूर्ण**) निरंतर पूर्ण रहनेवाले (**तव**) आपके (**तेजसि**) तेज के (**चकासित `सति'**) सुशोभित होते हुए (**समन्ततः**) सब ओरसे (**निरुपप्लवस्य**) उपद्रवरहित (मे) मेरा (**खण्डनं विधातुं**) खण्डन करनेके लिये (**कोऽपि न ईशः**) कोई भी समर्थ नहीं है।

भावार्थ :- हे प्रभो ! केवलज्ञानरूप जो आपका तेज है उसका अनुभव तो किया जा सकता हैं, परंतु शब्दों के द्वारा उसका निरूपण नहीं किया जा सकता। वह सर्वत्र व्यापक है अर्थात् लोक-अलोक में समस्त पदार्थों को जानने के कारण सर्वत्र व्याप्त कहलाता है। और नित्यपूर्ण है - निरंतर पूर्णता को प्राप्त है। क्षायोपशमिक ज्ञान तो चंद्रमा की कलाओं के समान हीनाधिकरूप से विद्यमान रहता है, परंतु क्षायिक ज्ञान केवलज्ञान, सूर्य विम्ब के समान सदा पूर्ण ही प्रकट होता है। इस प्रकार का केवलज्ञानरूप अद्वितीय तेज जब प्रकाशमान हो रहा है तब मैं सभी ओरसे निरुपद्रव हूँ। - आपके सर्वज्ञ स्वभाव की श्रद्धा होनेसे मैं अपने आपमें निर्बाध हो गया हूँ। मेरा विश्वास हो गया है कि जैसा सर्वज्ञस्वभाव आपका है वैसा ही मेरा है। मेरी इस श्रद्धा को अन्यथा करने की सामर्थ्य अब किसीमें नहीं है। लौकिक दृष्टि से

१. जो जणादि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयतेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जाइ तस्स लयं।।८०।। - प्रवचनसार

भी रात्रि के सघन अंधकार में ही किसीको अन्य शत्रुओं से मारे जानेका भय रहता है, परंतु जब सूर्य का प्रकाश चारों ओर फैल रहा हो तब किसी को किसी ओरसे मारे जानेका भय नहीं रहता। इसके सिवाय केवलज्ञान का यह एक अतिशय भी है कि जहाँ केवली भगवन् विद्यमान रहते हैं वहाँ अदया और उपसर्ग का वातावरण स्वयं नष्ट हो जाता है।।१०।।

चित्तेजसा साकमनादिमग्नचित्तेजसोन्मज्जसि साकमेव।
न जातुचिन्मुञ्चसि चण्डरोचिः स्फुरत्तडित्पुञ्ज इवात्मधाम।।११।।

अन्वयार्थ :- (चित्तेजसा) चैतन्यरूप तेज के (साकं) साथ (अनादिमग्न) अनादि काल से मग्न रहनेवाले आप (चित्तेजसा) चैतन्यरूप तेज के (साकमेव) साथ ही (उन्मज्जसि) उन्मग्न-प्रकट होते हैं (चण्डरोचिः स्फुरत्तडित्पुञ्ज इव) तीक्ष्ण कान्ति देदीप्यमान बिजलियों के समूह के समान (जातुचित्) कभी भी (आत्मधाम) आत्मतेज को (न मुञ्चसि) नहीं छोड़ते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! केवलज्ञानरूप तेज, यद्यपि आपकी आत्मा का अद्वितीय गुण है तथापि वह कर्माच्छादित होनेके कारण अनादि काल से अप्रकट रहा है, परंतु अब कर्मपटल के विघटित होनेसे वह पूर्णरूप से प्रकट हुआ है। अब वह सदा देदीप्यमान रहेगा और एक साथ कौंदती हुई बिजलियों के समूह के समान प्रकाश से परिपूर्ण होगा। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान, ज्ञानगुण का सादि और अनंत पर्याय है। जिस प्रकार अन्य दर्शन, अपने ईश्वर को अनादि सिद्ध और अनादि सर्वज्ञ स्वीकृत करते हैं उस प्रकार जैन दर्शन उसे अनादि सिद्ध और अनादि सर्वज्ञ स्वीकृत नहीं करता। उसकी मान्यता है जो जीव अनादि काल से कर्मपटल से आच्छादित तथा अज्ञानी रहा है वही अपनी साधनाओं से कर्मपटल को विघटित कर वीतराग और सर्वज्ञ होता है।।११।।

समन्ततः सौरभमातनोति तवैष चिच्छक्तिविकासहासः।
कस्याप्यमुञ्चिन्मकरन्दपानलौल्येन धन्यस्य दृशो विशन्ति।।१२।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**तव**) आपका (**एषः**) यह (**चिच्छक्तिविकासहासः**) चैतन्यशक्ति

का विकासरूप हास्य (**समन्ततः**) सब ओर (**सौरभं**) सुगंध को (**आतनोति**) विस्तृत कर रहा है। सो (**कस्यापि धन्यस्य दृशः**) किसी भाग्यशाली मनुष्य की दृष्टि ही (**चिन्मकरन्दपानलौल्येन**) चैतन्यरूप मकरन्द के पान की तृष्णा से (**अमु**) इस सुगंध को (**विंशन्तिं**) प्राप्त होती है - उसको उपभोग करती है, सबकी नहीं।

भावार्थ :- जिस प्रकार सब ओर फैलनेवाली पुष्पसमूह की सुगंध का उपभोग कोई भाग्यशाली मनुष्य ही कर सकते हैं सब नहीं, उसी प्रकार सब ओर अपना प्रभाव स्थापित करनेवाले आपके चैतन्यस्वभाव की महिमा को कोई निकट भव्य जीव ही श्रद्धा का विषय बना सकते हैं, सब नहीं। तात्पर्य यह है कि वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र की श्रद्धा उन्हीं निकट भव्य जीवों को होती है जिनके हृदय में चैतन्य स्वभाव के रसास्वादन की सदा आकांक्षा रहती है।।१२।।

त्वमेक एवैकरसस्वभावः सुनिर्भरः स्वानुभवेन कामम्।
अखण्डचित्पिण्डविपिण्डितश्रीर्विगाहसे सैन्धवखिल्यलीलाम्।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**एकरसस्वभावः**) जो एक ज्ञायक स्वभाव से सहित है, (**स्वानुभवेन कामं सुनिर्भरः**) जो स्वानुभव से यथेच्छ परिपूर्ण है और (**अखण्डचित्पिण्डविपिण्डितश्रीः**) जिनकी आभ्यंतर लक्ष्मी अखण्ड चैतन्य के पिण्ड के सहित है ऐसे (**एकः**) एक (**त्वमेव**) आप ही (**सैन्धवखिल्यलीलाम्**) नमक की डलीकी लीलाको (**विगाह से**) प्राप्त हो रहे हैं।

भावार्थ :- जिस प्रकार नमक की डलीका एक एक कण क्षाररस से व्याप्त है उसी प्रकार हे भगवन् ! आपका एक एक प्रदेश ज्ञायक स्वभाव से परिपूर्ण है। जब क्षायोपशमिक ज्ञान, चारित्रमोहजनित राग से सहित होता है तब वह नाना ज्ञेयों में संलग्न रहता है, परंतु जब वह राग से सर्वथा रहित हो जाता है तब स्वरूप में स्थिर होने लगता है। क्षायिक ज्ञान राग से रहित ही होता है, क्योंकि पूर्ण वीतरागदशा होनेपर ही उसकी उत्पत्ति होती है, अतः क्षायिक ज्ञान स्वरूप में स्थिर रहता है इसी अभिप्राय से आपको स्वानुभव से यथेच्छ परिपूर्ण कहा है।।१३।।

१. अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहिर्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम्।।१४।
- समयसारकलश

विशुद्धचित्पूरपरिप्लुतस्त्वमार्द्रार्द्र एव स्वरसेन भासि।
प्रालेयपिण्डः परितो विभाति सदार्द्र एवाद्रवतायुतोऽपि।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**विशुद्धचित्पूरपरिप्लुतः**) विशुद्ध चैतन्य के पूर में सब ओरसे डूबे हुए (**त्वम्**) आप (**स्वरसेन**) आत्मरस से (**आर्द्रार्द्रः एव**) अत्यंत आर्द्र ही (**भासि**) सुशोभित हो रहे हैं, क्योंकि (**प्रालेयपिण्डः**) बर्फ का पिण्ड (अद्रवतायुतोऽपि) घनरूपता से युक्त होने पर भी (**सदा**) सर्वदा (**परितः**) सब ओरसे (**आर्द एव**) आर्द ही (**विभाति**) प्रतीत होता है।

भावार्थ :- जिस प्रकार बर्फ का पिंड यद्यपि द्रवता - तरलता से युक्त नहीं है, किन्तु जमकर शिला के समान अद्रवरूप हो गया है। तथापि वह सदा आर्द्र ही रहता है, उसमें से पानी झरता हुआ मालूम होता है उसी प्रकार विशुद्ध चैतन्य के पूर से परिप्लुत रहनेवाले आप स्वरस - एक ज्ञायकस्वभाव से युक्त ही प्रतीत होते हैं।।१४।।

अपारबोधामृतसागरोऽपि स्वपारदर्शी स्वयमेव भासि।
त्वमन्यथा स्वानुभवेन शून्यो जहासि चिद्वस्तुमहिम्नि नेच्छामू।।१५।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! आप (**अपारबोधामृतसागरोऽपि `सन्'**) अपार ज्ञानरूप अमृत के सागर होकर भी (**स्वयमेव**) अपने आप ही (**स्वपारदर्शी**) एक आत्मा के पारदर्शी (**भासि**) मालूम हो रहे हैं। (**अन्यथा**) यदि ऐसा नहीं होता तो (**त्वं**) आप (**स्वानुभवेन**) स्वानुभाव से (**शून्यः**) रहित होते तथा (**चिद्वस्तुमहिम्नि**) चैतन्यरूप वस्तु की महिमा में (**इच्छाम्**) इच्छा को (**न जहासि**) नहीं छोड़ते।

भावार्थ :- हे भगवन् ! यद्यपि आप अनंत ज्ञान के सागर हो - लोक-अलोक के ज्ञाता हो तथापि निश्चय नय से मात्र आत्मदर्शी हो। यदि ऐसा न होता तो आप स्वानुभव से शून्य होते और चिद्वस्तु की महिमा की इच्छा से रहित नहीं होते। यतश्च आप तद्विषयक इच्छा से रहित हो चुके हैं, अतः सिद्ध है कि आप आत्मदर्शी हैं। ।१५।।

अखण्डितः स्वानुभवस्तवायं समग्रपिण्डीकृतबोधसारः।
ददाति नैवान्तरमुद्धतायाः समन्ततो ज्ञानपरम्परायाः।।१६।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! आप (**अपारबोधामृतसागरोऽपि `सन्'**) अपार ज्ञानरूप अमृत के सागर होकर भी (**स्वयमेव**) अपने आप ही (**स्वपारदर्शी**) एक आत्मा के पारदर्शी (**भासि**) मालूम हो रहे हैं। (**अन्यथा**) यदि ऐसा नहीं होता तो (**त्वं**) आप (**स्वानुभवेन**) स्वानुभाव से (**शून्यः**) रहित होते तथा (**चिद्वस्तुमहिम्नि**) चैतन्यरूप वस्तु की महिमा में (**इच्छाम्**) इच्छा को (**न जहासि**) नहीं छोड़ते।

भावार्थ :- ज्ञान का फल स्वानुभूति है, इसके प्रकट होते ही विकल्पात्मक ज्ञान की परम्परा स्वयं समाप्त हो जाती है। हे भगवन् ! आपने स्वानुभव की उस अपूर्व अवस्था को प्राप्त कर लिया है जहाँ ज्ञान और ज्ञेय का विकल्प समाप्त हो जाता है।।१६।।

निषीदतस्ते स्वमहिम्न्यनन्ते निरन्तरप्रस्फुरितानुभूतिः।
स्फुटः सदोदेत्ययमेक एव विश्रान्तविश्वोर्मिभरः स्वभावः।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**अनंते**) अंत रहित (**स्वमहिम्नि**) स्वकीय आत्मा की महिमा में (**निषीदतः**) स्थित रहनेवाले (**ते**) आपका (**अयं एकः एव**) यह एक ही (**स्वभावः**) स्वभाव (**सदा**) सदा (**उदेति**) उदित रहता है जो (**निरन्तरप्रस्फुरितानुभूतिः**) निरंतर प्रकट हुई स्वानुभूति से सहित है, (**स्फुटः**) स्पष्ट है और (**वश्रान्तविश्वोर्मिभरः**) जिसमें समस्त तरङ्गों का समूह - ज्ञानसन्ततियाँ विकल्पों का जाल विश्रांत हो जाता है - शांत हो जाता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप स्वरूपरमण की उस उत्कृष्ट दशा को प्राप्त हो चुके हैं जहाँ निरंतर स्व की अनुभूति होती हैं और परज्ञेय का विकल्प दूर हो जाता है।।१७।।

सर्वा क्रिया कारककश्मलैव कर्त्रादिमूला किल तत्प्रवृत्तिः।
शुद्धः क्रियाचक्रपराङ्मुखस्त्वं भामात्रमेव प्रतिभासि भावः।।१८।।

अन्वयार्थ :- (**सर्वा क्रिया**) जो भी क्रिया होती है वह सब (**कारककश्मला एव**) कारकों से युक्त ही होती है, क्योंकि (**किल**) निश्चय से (**तत्प्रवृत्तिः**) उस क्रिया की प्रवृत्ति (**कर्त्रादिमूला**) कर्ता आदि कारकों के निमित्त से होती है। हे भगवन् ! आपका (**शुद्धः भावः**) शुद्धभाव (**क्रियाचक्रपराङ्मुखः**) क्रियाकलापसे पराङ्मुख हो चुका है, अतः (**त्वम्**) आप (**भामात्रमेव**) एक अंतर्दीप्तिरूप ही (**भासि**) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- जहाँ क्रिया का विकल्प होता है वहाँ कर्ता कर्म करण संप्रदान अपादान और अधिकरण इन छह कारकों का विकल्प नियम से आता हैं। प्रारंभ में भिन्न कारकचक्र का विकल्प रहता हैं पश्चात् धीरे धीरे परकारक चक्र का विकल्प समाप्त होकर अभिन्नकारक चक्र का विकल्प आता हैं और अंत में वह विकल्प भी समाप्त होता है। यह दशा तब प्रकट होती है जब आत्मा क्रियाचक्र से पराङ्मुख होता हैं और क्रियाचक्र से पराङ्मुख तब होता है जब पूर्ण कृतकृत्य अवस्था को प्राप्त होता है। हे भगवन् ! आप पूर्ण कृतकृत्य अवस्था को प्राप्त हुए हैं अतः क्रियाचक्र से पराङ्मुख हैं और यतः क्रियाचक्र से पराङ्मुख हैं अतः कारकचक्र की प्रक्रिया से भी उत्तीर्ण हैं। अब तो आप ज्ञानमात्र हैं। कौन जाननेवाला हैं और किसको जानता है यह सब विकल्प स्वतः समाप्त हो गया हैं।।१८।।

स्वस्मै स्वतः स्वः स्वमिहैकभावं स्वस्मिन् स्वयं पश्यसि सुप्रसन्नः।
अभिन्नदृग्दृश्यतया स्थितोऽस्मान्न कारकाणीश दृगेव भासि।।१९।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**इह**) यहाँ (**सुप्रसन्नः**) अत्यंत निर्मलता को प्राप्त हुए (**स्वः**) आप (**स्वस्मिन्**) अपने आपमें (**स्वस्मै**) अपने आपके लिये (**स्वतः**) अपने आपसे (**स्वं एकभावं**) एक अपने आपको (**स्वयं**) अपने आपके द्वारा (**पश्यसि**) देख रहे हैं - निर्विकल्परूप से जान रहे हैं। इस प्रकार (**ईश**) हे नाथ ! आप (**अभिन्नदृग्दृश्यतया स्थितः**) दृष्टा और दृश्य के अभेद से स्थित हैं, (**अस्मात्**) इसलिये (**न कारकाणि**) दृष्टि क्रिया के कारक नहीं हैं, आप (**दृगेव**) दर्शनरूप ही (**भासि**) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- पूर्व श्लोक में जिस प्रकार ज्ञप्तिक्रियासम्बन्धी कारकचक्र से उत्तीर्ण कर भगवान् को ज्ञानमात्र कहा था उसे प्रकार यहाँ दृष्टिक्रियासम्बन्धी कारकचक्र से उत्तीर्ण कर दर्शनमात्र सिद्ध किया है। हे भगवन् ! आप इस उत्कृष्ट भूमिका

में विद्यमान हैं जहँ दृष्टा-देखनेवाला और दृश्य-देखने योग्य पदार्थ का विकल्प समाप्त हो जाता हैं।।१९।।

एकोऽप्यनेकत्वमुपैति कामं पूर्वापरिभाविभक्तभावः।
नित्योदितैकाग्रदृगेकभावो न भाससे कालकलङ्कितश्रीः।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**पूर्वापरीभावविभक्तभावः**) जिसमें पूर्वभाव और परभाव का भेद विभक्त रहता है ऐसा पदार्थ (**एकोऽपि**) एक होता हुआ भी (**कामं**) अच्छीतरह (**अनेकत्वं**) अनेकपने का (**उपैति**) प्राप्त होता है, परंतु हे भगवन् ! आप (**नित्योदितैकाग्रदृगेकभावः**) निरंतर उदित हुआ एकाग्र दर्शन सामान्य दर्शन गुण के कारण एकत्वभाव को प्राप्त हैं अतः (**कालकलङ्कितश्रीः न भाससे**) काल से कलङ्कित लक्ष्मी से युक्त प्रतीत नहीं होते हैं।

भावार्थ :- एक अखण्ड द्रव्य का जब कालक्रम से होनेवाली पर्यायों की अपेक्षा विचार होता हैं तब उसमें `यह पहले और यह पीछे' इस प्रकार का भेद अनुभव में आता है और उस अनुभव के आधारपर वह एक होनेपर भी अनेकरूप प्रतीत होता हैं। हे भगवन् ! आपका सामान्य दर्शन गुण सदासे उदित है, अतः उसमें कालक्रम से होनेवाले चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शनरूप अनेक भेद नहीं है। इतना ही कहा जाता है कि आप एक दर्शनरूप हैं।।२०।।

आद्यन्तमध्यादिविभागकल्पः समुच्छलन् खण्डयति स्वभावम्।
अखण्डदृग्मण्डलपिण्डितश्रीरेको भवान् सर्वसर (रस) श्चकास्ति।
।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**समुच्छलन्**) प्रकट होता हुआ (**आद्यन्तमध्यादिविभागकल्पः**) आदि अंत और मध्य आदि विभागों का विकल्प (**स्वभावम्**) स्वभाव को (**खण्डयति**) खण्डित कर देता हैं - अनेक भेदों में विभक्त कर देता है, परंतु हे भगवन् ! (**भवान्**) आप (**सर्वरसः**) अनेकरूप होते हुए भी (**अखण्डदृग्मण्डलपिण्डितश्रीः**) अखण्ड-एक सामान्य दर्शनगुण से संयुक्त होनेके कारण (**एकः चकास्ति**) एक ही सुशोभित होते हैं।

भावार्थ :- एक ही गुण में जब आदि मध्य और अंत का विकल्प होता है तब

वह एक होने पर अनेकरूप प्रतीत होने लगता है, परंतु जब उसमें देश क्रम से होनेवाले विभागक्रम को गौण कर दिया जाता है तब वह एकरूप ही अनुभव में आता है। यतः शुद्धनय, देशक्रम से होनेवाले विभागक्रम को गौण कर एक सामान्य - त्रिकालवर्ती भावको ग्रहण करता है अतः उसकी अपेक्षा आपका दर्शनगुण आदि मध्य और अंत के विकल्प से रहित होनेसे एक हैं और उससे तन्मय होनेके कारण आप भी एक ही हैं।।२१।।

भामात्रमित्युत्कलितप्रवृत्तिर्मग्न-क्रिया-कारक-काल-देशः।
शुद्धस्वभावैकज्वलज्जवल (जलोज्जल) स्त्वं पूर्णो भवन्नासि निराकुलश्रीः।
।।२२।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**त्वं**) आप (**`भामात्रम्' इत्युत्कलितप्रवृत्तिः**) जिनके विषय में `ज्ञानमात्र' ऐसा व्यवहार होता है, (**मग्नक्रियाकारककालदेशः**) जिनमें क्रिया कारक काल और देश का विभाग समाप्त हो गया है, (**शुद्धस्वभाववैकजलोज्जवलः**) जो शुद्ध स्वभावरूप एक जलस उज्जवल हैं, (**पूर्णः**) पूर्णता को प्राप्त हैं और (**निराकुलश्रीः**) निराकुल लक्ष्मी से युक्त हैं ऐसे (**ना असि**) आत्मा हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप क्रिया कारक देश काल आदि के विकल्प से रहित, शुद्धस्वभाव के धारक, पूर्णता को प्राप्त और निराकुललक्ष्मी से सहित हैं।।२२।।

एकाग्रपूर्णस्तिमिताविभागभामात्रभावास्खलितैकवृत्त्या।
चकासतः केवलनिर्भरस्य न सङ्करस्तेऽस्ति न तुच्छतापि।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**एकाग्रपूर्णस्तिमिताविभागभामात्रभावास्खलितैकवृत्या**) जो एकाग्र - एक आत्मस्वरूप में स्थिर, पूर्ण, निश्चल और विभागहीन ज्ञानमात्र भाव से च्युत न होनेवाली वृत्ति से (**चकासतः**) सुशोभित हो रहे हैं तथा (**केवलनिर्भयस्य**) `मात्र' अनेक गुणों से परिपूर्ण हैं ऐसे (**ते**) आपके (**सङ्करः**) सङ्कर - अनेक पदार्थों का मिश्रण (**न**) नहीं हैं और (**तुच्छतापि**) शून्यता भी नहीं है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप जिस भामात्र ज्ञानमात्र - भाव से युक्त है वह एकाग्र है - एक आत्मस्वरूप में स्थिर है, पूर्ण है - अपने अनंतानंत अविभाग प्रतिकछेदों

से पूर्णता को प्राप्त है, अविनश्वर हैं और मतिज्ञान-श्रुतज्ञान आदि के विभाग से रहित है। उपर्युक्त शुद्ध स्वभाव में आप सदा स्थिर रहते हैं। आप यद्यपि अनेक गुणों से परिपूर्ण हैं अथवा केवलज्ञान से युक्त हैं और उसके कारण अनंत ज्ञेय आपके भीतर प्रतिफलित हैं तो भी आप सङ्कर नहीं हैं - उन ज्ञेयों के साथ तन्मयता को प्राप्त नहीं हैं। साथ ही आप तुच्छाभावरूप नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि आप पर द्रव्य गुण पर्यायों से रहित होनेके कारण असंकीर्ण हैं और स्वद्रव्य गुण पर्यायों से सहित होनेके कारण तुच्छाभावरूप नहीं है।।२३।।

भावो भवन् भासि हि भाव एव चिताभवंश्चिन्मय एव भासि।
भावो न वा भासि चिदेव भासि न वा विभो भास्यासि चिच्चिदेकः।
।।२४।।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे भगवन् ! (**हि**) निश्चय से आप (**भावो भवत् भाव एव भासि**) भावरूप होते हुए भाव ही प्रतिभासित होते हैं अर्थात् जब आप अंतर्ज्ञेय की अपेक्षा पदार्थाकार परिणमन करते हैं तब पदार्थ ही प्रतिभासित होते हैं और (**चिताभवन् चिन्मय एव भासि**) चेतनरूप होते हुए चेतनमय ही जान पड़ते हैं अर्थात् जब आप अन्य पदार्थों से निवृत्त हो अंतर्ज्ञेय की अपेक्षा एक चेतन द्रव्यरूप परिणमन करते हैं तब चेतन द्रव्य से तन्मय जान पड़ते हैं। (**वा**) अथवा (**भावो न भासि चिदेव जासि**) भावरूप - पदार्थरूप प्रतिभासित नहीं होते हैं, चेतनद्रव्य - आत्मद्रव्यरूप ही प्रतिभासित होते हैं, अथवा (**चित् न भासि**) चैतन्य से विशिष्ट चित् प्रतिभासित नहीं होते किन्तु (**एकः चिन् असि**) मात्र एक चैतन्यरूप प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ :- यहाँ भाव और भगवान् तथा गुण और गुणी में अभेद और भेद विवक्षा को दिखलाते हुए भगवान् का स्तवन किया गया है। भाव औ- भगवान् अथवा गुण और गुणी में प्रदेशभेद नहीं होता, अतः अभेद माना जाता है और संज्ञा संख्या लक्षण आदि की अपेक्षा भेद स्वीकृत किया जाता है। अभेद विवक्षा में कहा गया है कि आप भावरूप होते हुए भासित होते हैं अतः भाव ही हैं अर्थात् आपमें और आपके भाव में कोई प्रदेशभेद नहीं है। यही अभिप्राय चैतन्य और चेतन के विषय में जानना चाहिये। आगे कहा गया है कि आप भावरूप भासित नहीं हो रहे हैं किन्तु भाववान् ही सुशोभित हो रहे हैं। यहाँ भाव और भाववान् दोनों में भेद दिखाया गया

है।।२४।।

एकस्य शुद्धस्य निराकुलस्य भावस्य भाभारसुनिर्भरस्य।
सदाऽस्खलद्भावनयानयाहं भवामि योगीश्वर भाव एव।।२५।।

अन्वयार्थ :- (**योगीश्वर**) हे योगीन्द्र ! (**अहं**) मैं (**एकस्य**) एक (**शुद्धस्य**) शुद्धस्य शुद्ध (**निराकुलस्य**) आकुलतारहित और (**भाभारसुनिर्भरस्य**) दीप्ति के समूह से अत्यंत भरे हुए (**भावस्य**) चिद्‌भाव की (**सदा**) सर्वदा (**अनया**) इसे (**अस्खलद्भावनया**) अखण्डभावना के द्वारा (**भाव एव**) चिद्‌भावरूप ही (**भवामि**) होता हूँ।

भावार्थ :- 'जो निरंतर जिसकी भावना करता है वह उसीरूप हो जाता है' इस सिद्धांत के अनुसार शुद्ध भाव की अनवरत भावना करनेसे मैं भी उसीरूप होता हूँ।।२५।।

ॐ

(११)

अनुष्टुप् छन्दः

इयं द्राधीयसी सम्क्परिणाममभीप्सता।
भवतात्मवता देव क्षपिता मोहयामिनी।।१।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे नाथ ! (**सम्यक्परिणामम् अभीप्सता**) समीचीन परिणाम की इच्छा रखनेवाले (**आत्मवता भवता**) आप आत्मज्ञ के द्वारा (**इयं**) यह (**द्राधीयसी**) सुदीर्घ (**मोहयामिनी**) मिथ्यात्वरूपी रात्रि (**क्षपिता**) नष्ट की गई है।

भावार्थ :- यहाँ मिथ्यात्व को रात्रि की उपमा देते हुए आचार्य ने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि जिस प्रकार रात्रि के घनघोर अंधकार में कुछ दिखाई नहीं देता उसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय में भी जीव को कुछ सूझ नहीं पड़ता। जिस प्रकार पित्तज्वरवाले को मीठा दूध भी कडुआ लगता है उसी प्रकार मिथ्यात्व के रहते हुए इस जीव को सुगुरुओं का सदुपदेश भी अरुचिकर लगता है। यह मिथ्यात्वरूपी रात्रि बहुत बड़ी है अर्थात् अनादिकाल से साथ में लग रही है। हे भगवन् ! किसी अच्छे फल की इच्छा करते हुए आपने इस मोहरूपी दीर्घ रात्रि को नष्ट किया है। किन्तु कब नष्ट किया ? जब आप आत्मवान् हुए। ज्ञातादृष्टा स्वभाववाले आत्मा की ओर जब आपका लक्ष्य हुआ तभी आप इस मोहरूपी रात्रि को नष्ट कर सके हैं। तात्पर्य यह है कि इस मोहरूपी रात्रि को नष्ट करनेका श्रेष्ठ उपाय यही है कि परसे भिन्न और स्वकीय गुण पर्यायों से अभिन्न शुद्ध आत्मतत्त्व की प्रतीति की जाय। इसके बिना मिथ्यात्व का नष्ट होना और सम्यक्त्व का प्राप्त होना संभव नहीं है।।१।।

सुविशुद्धैश्चिदुद्गारैर्जीर्णमाख्यासि कश्मलम्।
अज्ञानादतिरागेण यद्विरुद्धं पुराहृतम्।।२।।

अन्वयार्थ :- (**अज्ञानात्**) अज्ञानवश (**अतिरागेण**) तीव्र राग के द्वारा इस जीवने (**पुरा**) पहले (**यत्**) जो (**विरुद्धं**) विरुद्ध-दुःखदायक (**कश्मलं**) पाप (**आहृतं**) संचित किया है वह (**सुविशुद्धैः**) अत्यंत निर्मल (**चिदुद्गारैः**) चैतन्य के उद्गारों से (**जीर्ण**) नष्ट हो जाता है ऐसा आप (**आख्यासि**) उपदेश देते हैं।

भावार्थ :- मिथ्यात्वदशा में अज्ञानवश बांधे हुए अशुभ कर्मों की अनुभाग शक्ति, सम्यक्त्व के होते ही क्षीण हो जाती है, शुभ कर्मों की अनुभाग शक्ति बढ़ जाती है और सत्ता में स्थित कर्मों की निर्जरा होने लगती है। ऐसा आपका उपदेश है।।२।।

दीप्रः प्रार्थयते विश्वं बोधाग्निरयमञ्जसा।
त्वं तु मात्राविशेषज्ञस्तावदेव प्रयच्छसि।।३।।

अन्वयार्थ :- (**दीप्रः**) अत्यंत तेज (**अयं**) यह (**अञ्जसा बोधाग्निः**) सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि (**विश्वं**) समस्त विश्व को (**प्रार्थयते**) चाहती है - उसे अपना ज्ञेय बनाना चाहती है (**तु**) परंतु (**त्वं**) आप (**मात्राविशेषज्ञः**) मात्रापरिणाम के विशेषज्ञ है अतः (**तावदेव**) उतना ही ज्ञेय उसे (**प्रयच्छसि**) प्रदान करते हैं जितने को वह निराकुलता से जान सकती है।

भावार्थ :- जिस प्रकार तीव्र जठराग्निवाला पुरुष बहुत खाना चाहता है, परंतु 'कितनी मात्रा में भोजन देना चाहिये' इस बात को समझनेवाला वैद्य उसे उसकी शक्ति के अनुसार ही भोजन देता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ जीव अपने ज्ञान के द्वारा यद्यपि समस्त विश्व को जानने की अभिलाषा रखना है, परंतु आप उसकी ज्ञानशक्ति के पारखी है अतः उसे उतना ही जानने का उपदेश देते हैं जितना कि वह निराकुलता से जान सकता है। जिनागम में बहुज्ञान की नहीं, किन्तु सम्यग्ज्ञान की प्रतिष्ठा की गई है। ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्वी का पाठी मिथ्यादृष्टि जीव, कबतक संसार में भ्रमण करेगा, इसका निर्णय नहीं, परंतु अष्टप्रवचनमातृता के जघन्य सम्यक् श्रुतज्ञान को धारण करनेवाला क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती जीव नियम से अंतर्मुहूर्त के भीतर

केवलज्ञानी बन जाता है और आयु के निषेक क्षीण हो चुके हैं तो उसी अंतर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

बोधाग्निन्धनीकुर्वन् विश्वं विश्वमयं तव।
स्वधातुपोषमेकं हि तनुते न तु विक्रियाम्।।४।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**विश्वं विश्वं**) समस्त लोक को (**इन्धनीकुर्वन्**) अपना ईधन बनाती हुई - जानती हुई (**तव**) आपकी (**अयं**) यह (**बोधाग्निः**) ज्ञानरूपी अग्नि (**हि**) निश्चय से (**एकं स्वधातुपोषं**) एकमात्र आत्मगुणों का पोषण, (**तनुते**) करती है (**न तु विक्रियां**) किन्तु विकार को नहीं करती।

भावार्थ :- जिस प्रकार जठराग्नि उचित भोजन ग्रहणकर उसके द्वारा रक्त-मांस आदि धातुओं का पोषण करती हुई शरीर की वृद्धि करती है उसी प्रकार हे भगवन् ! आपकी यह ज्ञानरूपी अग्नि समस्त संसार को जानकर उसके द्वारा आत्मगुणों का पोषण करती है। रागादि दोषों की वृद्धि नहीं करती है।।४।।

विश्वग्रासातिपुष्टेन शुद्धचैतन्यधातुना।
रममाणस्य ते नित्यं बलमालोक्यतेऽतुलम्।।५।।

अन्वयार्थ :- (**विश्वग्रासातिपुष्टेन**) समस्त वस्तुओं के ग्रहण करनेसे अत्यंत पुष्ट (**शुद्धचैतन्यधातुना**) वीतराग विज्ञान के साथ (**नित्यं**) निरंतर (**रममामणस्य**) रमण करनेवाले (**ते**) आपका (**अतुलम्**) उपमा रहित (**बलम्**) वीर्य (**आलोक्यते**) दिखाई देता है - अनुभव में आता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप अनंत ज्ञान के धारक हैं, अतः उससे आपके अनंत बल का अनुमान होता है, क्योंकि अनंत बल के बिना अनंत ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती।।५।।

अनन्तबलसन्नद्धं स्वभावं भावयन् विभुः।
अन्तर्जीर्णजगद्ग्रासस्त्वमेवैको विलोक्यसे।।६।।

अन्वयार्थ :- (**अनंतबलसन्नद्धं स्वभावं भावयन्**) जो अनंत बल से युक्त स्वभाव की भावना करता है (**विभुः**) सामर्थ्ययुक्त है तथा (**अंतर्जीर्णजगद्ग्रासः**) जिसने जगत्‌रूपी ग्रास को भीतर ही भीतर जीर्ण कर दिया है - उसे अंतर्ज्ञे बनाकर अपने आपमें विलीन कर लिया है ऐसे (**त्वमेव एकः**) आप ही एक (**विलोक्यसे**) दिखाई देते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप अनंत बल से युक्त आत्मस्वभाव को साक्षात् प्राप्त कर चुके हैं तथा समस्त विश्व को अपने ज्ञान का विषय बनाकर अपने आपमें विलीन कर चुके हैं ऐसी अद्‌भुत सामर्थ्यसे युक्त आप ही है।।६।।

विश्वग्रासादनाकाङ्क्षः प्रयातस्तृप्तिमक्षयाम् ।
अयं निरुत्सुको भाति स्वभावभर निर्भरः ।।७।।

अन्वयार्थ :- जो (**विश्वग्रासात्**) समस्त पदार्थों को ग्रहण करनेसे - उनके ज्ञाता होनेसे (**अनाकांक्षः**) अज्ञात पदार्थ के न रहनेके कारण उसे जानने की आकांक्षा से रहित हैं, (**अक्षयाम्**) अविनाशी (**तृप्तिं**) तृप्ति को प्राप्त हैं, (**निरुत्सुकः**) किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये उत्कण्ठित नहीं है तथा (**स्वभावभरनिर्भरः**) स्वभावभूत ज्ञानदर्शनादि गुणों के समूह से परिपूर्ण हैं ऐसे (**अयं**) यह आप (**भाति**) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- छद्मस्थ जीव का ज्ञान क्रमवर्ती है, अतः वह जब एक पदार्थ में प्रवृत्त होता है तब उसके दूसरे पदार्थ के जानने की आकांक्षा विद्यमान रहती है। लोभ कषाय से पीड़ित संसारी जीव, अनेक वस्तुओं के प्राप्त होनेपर भी तृप्ति का अनुभव नहीं करता है उसे निरंतर अलब्ध वस्तु को प्राप्त करने का लोभ सताता रहता है। लोभी मनुष्य किसी वस्तु को देख तत्काल उसे प्राप्त करने के लिये उत्सुक हो उठता है और स्वभाव की ओर लक्ष्य न देकर वह सदा विभावभावों में ही उलझा रहता है, परंतु हे भगवन् ! आपकी परिणति, उपर्युक्त परिणति से विपरीत है, अतः आप स्तुति के पात्र है।।७।।

अनन्तरूपैरुद्यद्भिरुपयोगचमत्कृतैः ।
वहस्येकोऽपि वैचित्र्यं स्वमहिम्ना स्फुटीभवन् ।।८।।

अन्वयार्थ :- (**स्वमहिम्ना स्फुटीभवन्**) जो आत्ममहिमा के द्वारा स्पष्ट अनुभव में

आ रहे हैं ऐसे आप (**एकोऽपि**) एकरूप होकर भी (**उद्यद्भिः**) उत्पन्न होनेवाले (**अनंतरूपैः**) अनंत प्रकार के (**उपयोगचकत्कृतैः**) उपयोगसम्बन्धी चमत्कारों से (**वैचित्र्यं**) विचित्रता - अनेकरूपता को (**वहसि**) धारण करते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! यद्यपि आप एक हैं तथापि क्षण में परिणमनशील उपयोग के अनंत चमत्कारों के कारण अनेकरूपता को धारण करते हैं।।८।।

एक एवोपयोगस्ते साकारेतरभेदतः।
ज्ञानदर्शनरूपेण द्वितयीं गाहते भुवम्।।९।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**ते**) आपका (**एक एव उपयोगः**) एक ही उपयोग (**साकारेतरभेदतः**) आकार और अनाकारके भेद से (**ज्ञानदर्शनरूपेण**) ज्ञान और दर्शन के रूपमें (**द्वितयीं भुवम्**) द्विरूपता को (**गाहते**) धारण करता है।

भावार्थ :- आत्मा के चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं। इसके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के रूप में दो भेद हैं। केवली भगवान् के दोनों उपयोग युगपत् होनेसे एक ही उपयोग साकार और अनाकारके भेद से ज्ञान तथा दर्शन के रूपमें द्विरूपता को प्राप्त है।

समस्तावरणोच्छेदान्नित्यमेव निरर्गले।
अपर्यायेण वर्तेते दृग्ज्ञप्ती विशदे त्वयि।।१०।।

अन्वयार्थ :- (**समस्तावरणोच्छेदात्**) समस्त ज्ञानावरण और दर्शनावरण का उच्छेद - सर्वथा नाश हो जानेसे जो (**नित्यमेव**) निरंतर ही (**निरर्गले**) निर्बाध रहते हैं ऐसे (**विशदे**) अत्यंत निर्मल (**दृग्ज्ञप्ती**) दर्शन और ज्ञान (**त्वयि**) आपमें (**अपर्यायेण**) एक साथ (**वर्तेते**) विद्यमान रहते हैं - प्रवर्तते हैं।

भावार्थ :- छद्मस्थ जीवों के पहले दर्शनपयोग होता है उसके पश्चात् ज्ञानोपयोग होता है, परंतु सर्वज्ञ भगवान् के दोनों उपयोग एक साथ प्रवृत्त होते हैं। बारहवें गुणस्थान के अंत में ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का सर्वथा क्षय हो जानेसे केवलदर्शन और केवलज्ञान एक साथ प्रकट हो जाते हैं। ये दोनों ही उपयोग अत्यंत निर्मल रहते हैं तथा बाधक कारणों का अभाव हो जानेसे निर्बाध होते हैं। हे भगवन् ! क्योंकि

आप सर्वज्ञ है, अतः आपके तथोक्त दर्शन-ज्ञानरूप उपयोग एक साथ प्रवृत्त रहते हैं। दर्शनोपयोग सामान्य अर्थात् आत्मा को ग्रहण करता है और ज्ञानोपयोग - विशेष अर्थात् बाह्य पदार्थों को ग्रहण करता है।।१०।।

दृग्ज्ञप्त्योः सहकारीदमनन्तं वीर्यमूर्जितम्।
सहतेऽनन्तरायं ते न मनागपि खण्डनम्।।११।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**दृग्ज्ञप्त्योः**) दर्शन और ज्ञान का (**सहकारि**) सहकार करनेवाला - उनके साथ-साथ प्रकट होनेवाला (**ऊर्जितं**) अत्यंत शक्तिसम्पन्न (**अनंतरायं**) निर्विघ्न (**इदं**) यह (**ते**) आपका (**अनंत वीर्य**) अनंत बल (**मनागपि**) किञ्चित् भी (**खण्डनं**) खण्डन को (**न सहते**) सहन नहीं करता है।

भावार्थ :- बारहवें गुणस्थान के अंत में जिस प्रकार ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का सर्वथा उच्छेद होता है उसी प्रकार अंतराय कर्म का भी सर्वथा उच्छेद होता है। उसका उच्छेद होनेसे आत्मा में क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपयोग और वीर्य ये पांच गुण प्रकट होते हैं। यहाँ प्रमुखरूप से वीर्यगुण का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का सहकार करनेवाला आपका अनंत वीर्य भी सर्वदा निर्बाध रहता है। यह अनंत वीर्य, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का सहकारी इसलिये होता है कि इसके बिना आत्मा उन उपयोगों को धारण करने में समर्थ नहीं होता है। यह क्षायिक ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग की बात रही, परंतु क्षायोपशमिक ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के लिये भी उनके साथ प्रकट होनेवाले क्षायोपशमिक वीर्य की आवश्यकता रहती है।।११।।

अखण्डदर्शनज्ञानप्राग्लभ्यग्लापिताऽखिलः।
अनाकुलः सदा तिष्ठन्नेकान्तेन सुखी भवान्।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**अखण्डदर्शनज्ञानप्राग्लभ्यग्लापिताखिलः**) पूर्ण दर्शन और ज्ञान की सामर्थ्य से जिन्होंने सबको गृहीत कर दिया है - एक साथ समस्त पदार्थों को जान लिया है और इसलिये जो (**सदा**) निरंतर (**अनाकुलः**) आकुलता से रहित (**तिष्ठन्**) स्थित हैं ऐसे (**भवान्**) आप (**एकांतेन**) नियम से (**सुखी**) सुखसंपन्न हैं।

भावार्थ :- ऊपर के दो श्लोक में अनंत ज्ञान अनंत दर्शन और अनंत वीर्य का वर्णन किया गया था। इस श्लोक में अनंत सुख का वर्णन किया जा रहा है। छद्मस्थ अवस्था में क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शन की प्रवृत्ति क्रम से होती है। इसलिये अज्ञान और अदृष्ट पदार्थ को जानने देखने की आकाङ्क्षारूप आकुलता विद्यमान रहती है, परंतु सर्वज्ञ अवस्था में ज्ञान और दर्शन एक साथ प्रवर्तते हैं, साथ ही मोहकर्म का सर्वथा क्षय हो जानेसे किसी पदार्थ के जानने की आकाङ्क्षा नहीं रहती, इसलिये पूर्णरूप से निराकुलता रहती है। यह निराकुलता ही सुख कहलाती है। हे भगवन् ! तथोक्त निराकुलता से युक्त होनेके कारण आप नियम से सुखी हैं। इस प्रकार आप अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य और अनंत सुख इस अनंत चतुष्टय से युक्त हैं।।१२।।

स्वयं दृग्ज्ञप्तिरूपत्वान्न सुखी सन् प्रमाद्यसि।
नित्यव्यापारितानन्तवीर्य जोन्यसि (जानासि) पश्यसि।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**नित्यव्यापारितानन्तवीर्य**) जिनका अनंत वीर्य निरंतर व्यापारयुक्त है ऐसे हे जिनेन्द्र ! आप (**सुखी सन्**) सुखी रहते हुए (**न प्रमाद्यसि**) प्रमाद नहीं करते हैं और (**स्वयं दृग्ज्ञप्तिरूपत्वात्**) स्वयं दर्शन और ज्ञानरूप होनेसे पदार्थों को (**जानासि पश्यसि**) जानते देखते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप अनंत वीर्य से युक्त होते हुए अनंत सुख से सम्पन्न हैं, तथा सुखी होनेपर प्रमाद नहीं करते, एवं स्वयं अनंत ज्ञान और अनंत दर्शनरूप होनेसे पदार्थों को जानते देखते हैं। तात्पर्य यह है कि आप अनंत चतुष्टय से युक्त हैं।

नश्वरत्वं दृशिज्ञप्त्योर्न तवास्ति मनागपि।
सतः स्वयं दृशिज्ञप्तिक्रियामात्रेण वस्तुनः।।१४।।

अन्वयार्थ :- जो (**वस्तुतः**) वस्तु के (**दृशिज्ञप्तिक्रियामात्रेण**) दर्शन और ज्ञान की क्रिया मात्र से (**स्वयं सतः**) स्वयं सदा विद्यमान हैं - वस्तु को सदा देखते और जानते रहते हैं ऐसे (**तव**) आपके (**दृशिज्ञप्तयोः**) दर्शन और ज्ञान में (**मनागपि**) किञ्चित्

भी (**नश्वरत्वं**) नश्वरपना (**नास्ति**) नहीं है।

भावार्थ :- यतश्च आप संसार के समस्त पदार्थों को स्वयं जानते देखते रहते हैं, इसलिये आपके दर्शन और ज्ञान सदा विद्यमान रहते हैं उनका कभी रञ्चमात्र भी नाश नहीं होता है।।१४।।

न ते कर्त्रादि(द्य)पेक्षित्वाद् दृशिज्ञप्त्योरनित्यता।
स्वयमेव सदैवासि यतः षट्कारकीमयः।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**यतः**) क्योंकि आप (**स्वयमेव**) स्वयं ही (**षट्कारकीमयः**) छह कारकरूप (**सदैव**) सदैव (**असि**) हैं, इसलिये (**कर्त्राद्यपेक्षात्वात्**) कर्ता आदि कारकों की अपेक्षा करनेसे (**ते**) आपके (**दृशि-ज्ञप्त्योः**) दर्शन और ज्ञान में (**अनित्यता**) अनित्यता (**न**) नहीं है।

भावार्थ :- अन्य संसारी जीवों के ज्ञान दर्शन, बाह्य कारक चक्र - कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण इन छह कारकों की सहायता पर निर्भर होनेके कारण उनके अभाव में प्रकट नहीं हो पाते, परंतु आप स्वयं षट्कारकरूप हैं - आपने अपने आपको षट्कारकरूप कर लिया है, अतः कारकचक्र की अपेक्षा आपके ज्ञान दर्शन के लिये आवश्यक नहीं है। फलस्वरूप वे सदा प्रकट रहते हैं।।१५।।

दृश्यज्ञे(य)बहिर्वस्तुसान्निध्यं नात्र कारणम्।
कुर्वतो दर्शनज्ञाने दृशिज्ञप्तिक्रिये तव।।१६।।

अन्वयार्थ :- (**दृशिज्ञप्तिक्रिये**) जानने देखनेरूप क्रियाओं को (**कुर्वतः**) करते हुए (**तव**) आपके (**अत्र दर्शनज्ञाने**) इन दर्शन और ज्ञान में (**दृश्य-ज्ञेयबहिर्वस्तुसान्निध्यं**) दृश्य और ज्ञेयरूप बाह्य वस्तुओं का सन्निधान (**कारणं न**) कारण नहीं है।

भावार्थ :- क्षायपोशमिक ज्ञान और दर्शन की उत्पत्ति में देखने और जानने योग्य बाह्य वस्तुओं का सन्निधान कारण पड़ता है, परंतु हे भगवन् ! आप सदा जानते और देखते रहते हैं, आपके इस जानने और देखने में बाह्य पदार्थों का सन्निधान कारण नहीं है। क्षायिक दर्शन और ज्ञान के निरावरण होनेसे उनकी ऐसी ही अद्भुत सामर्थ्य

है।।१६।।

क्रियमाणदृशिज्ञप्ती न ते भिन्ने कथञ्चन।
स्वयमेव दृशिज्ञप्तीभवतः कर्मकीर्तनात्।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**क्रियामाणदृशिज्ञप्ती**) आपके द्वारा किये जानेवाले दर्शन और ज्ञान, यतः (**स्वयमेव दृशिज्ञप्तीभवतः**) स्वयं ही दर्शन और ज्ञान होनेवाले (**ते**) आपके (**कर्मकीर्तनात्**) कर्म कहे गये हैं, अतः (**कथंचन**) किसी अपेक्षा आपसे (**भिन्ने न**) पृथक् नहीं हैं।

भावार्थ :- यहाँ दर्शन ज्ञान को आपसे अभिन्न कहनेका कारण यह है कि आप स्वयं ही दर्शन ज्ञानरूप होते हैं। निश्चयनय से कर्तृ-कर्मभाव एक द्रव्य में ही बनता है, अतः वही कर्ता होता है और वही कर्म।।१७।।

क्रियां भावत्वमानीय दृशिज्ञप्तीभवन् स्वयम्।
त्वं दृशिज्ञप्तिमात्रोऽसि भावोऽन्तर्गूढकारकः।।१८।।

अन्वयार्थ :- (**क्रियां**) दर्शन-ज्ञानरूप क्रिया को (**भावत्वम् आनीय**) परिणतिरूपता प्राप्त कराके (**स्वयं**) अपने आप (**दृशिज्ञप्तीभवन्**) दर्शन और ज्ञानरूप होते हुए (**त्वम्**) आप (**अंतर्गूढकारकः**) जिसमें कारकचक्र का विकल्प अंतर्गूढ हो चुका है ऐसे (**दृशिज्ञप्तिमात्रभावः असि**) दर्शनज्ञानमात्र भावरूप हुए हैं।

भावार्थ :- दर्शन और ज्ञान आत्मा के गुण हैं, इन गुणों की पदार्थों को जानने देखनेरूप जो परिणति है वह क्रिया कहलाती है। गुणों की यह क्रिया कारक सापेक्ष होती है, परंतु हे भगवन् ! आपने गुणों में उठनेवाले इस क्रियारूप विकल्प को समाप्त कर दिया है और स्वयं ज्ञान-दर्शनगुणरूप हो गये हैं। क्रियारूप विकल्प के समाप्त हो जानेसे कारकचक्र का विकल्प स्वयमेव समाप्त हो गया है। तात्पर्य यह है कि आप ज्ञान दर्शनमय हैं।।१८।।

दृग्ज्ञप्तीभवतो नित्यं भवनं भवतः क्रिया।
तस्याः कर्त्रादिरूपेण भवानुल्लसति स्वयम्।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**नित्यं**) नित्य ही (**दृग्ज्ञप्तोभवतः**) दर्शन और ज्ञानरूप होते हुए (**भवतः**) आपका (**भवनं**) होना (**क्रिया**) क्रिया है। (**तस्याः**) उस क्रिया के (**कर्त्रा दिरूपेण**) कर्ता कर्म आदि कारक के रूप से (**भवान्**) आप (**स्वयं**) स्वयं ही (**उल्लसति**) सुशोभित होते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपका दर्शन-ज्ञानरूप परिणमन करना ही आपकी क्रिया है और उस क्रिया के कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण आप स्वयं हैं। यह अभेदनय से षट्कारक का वर्णन है।।१९।।

आत्मा भवसि कर्त्तेति दृग्ज्ञप्तीभवसीति तु।
कर्मैवमपरे भावास्त्वमेव करणादयः।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**त्वं भवसि**) आप परिणत होते हैं (**इति**) इसलिये (**आत्मा**) आपका आत्मा (**कर्ता**) कर्ता है। (**तु**) और (**दृग्ज्ञप्तीभवसि**) आप दर्शन तथा ज्ञानरूप होते हैं (**इति**) इसलिये आपका आत्मा (**कर्म**) कर्म है (**एवं**) इसी तरह (**त्वमेव**) आप ही (**करणादयः अपरे भावाः**) करण आदि अन्य भावरूप हैं।

भावार्थ :- [1]जो परिणमन करता है वह कर्ता होता है जो परिणमन है वह कर्म कहलाता है और जो परिणति है वह क्रिया है। इस तरह कर्ता, कर्म और क्रिया ये तीनों भिन्न-भिन्न नहीं हैं। एक आत्मा की ही परिणातियाँ हैं।।२०।।

क्रियाकारकसामग्रीग्रासोल्लासविशारदः।
दृशिज्ञप्तिमयो भावो भवान् भावयतां सुखः।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**क्रियाकारकसामग्रीग्रासोल्लासविशारदः**) जो क्रिया कारकरूप सामग्री के अंतर्हित करने तथा उल्लासित करने में निपुण हैं ऐसे (**भवान्**) आप (**दृशिज्ञप्तिमयः भावः**) दर्शन-ज्ञानमय भावरूप हैं और (**भावयतां सुखः**) इनकी भावना करनेवालों को सुखदायक है।

---

१. यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।।५१।। समयसार कलश

२. सुखयति इति सुखं, सुखकारीत्यर्थः।

भावार्थ :- अभेद नय से विचार करने पर क्रिया तथा कारक आदि की सामग्री अंतर्निमग्न हो जाती है और भेद नय से विचार करने पर वह उल्लसित प्रकट होकर सामने आती है। हे भगवन् ! आप दोनों नयों के उपदेष्टा हैं अतः क्रिया कारक सामग्री को ग्रस्त और उल्लसित करने में निपुण कहे जाते हैं। भाव और भाववान् में अभेद विवक्षा से चर्चा करने पर आप भावस्वरूप ही अनुभव में आते हैं आपका वह भाव, दर्शन और ज्ञानरूप है। जो भी पुरुष आपके इस दर्शन ज्ञानमय भाव की भावना करता है वह निराकुलतारूप सुख का पात्र बनता है।।२१।।

अनाकुलः स्वयं ज्योतिरन्तर्बहिरखण्डितः।
स्वयंवेदनसंवेद्यो भासि त्वं भाव एव नः।।२२।।

अन्वयार्थ :- (**अनाकुलः**) जो आकुलता से रहित हैं (**अंतर्बहिः**) भीतर बाहर (**स्वयं ज्योतिः**) स्वयं ज्योतिस्वरूप हैं (**अखण्डितः**) अखण्डित हैं - गुण-गुणी के भेद से रहित हैं और (**स्वयंवेदनसंवेद्यः**) स्वसंवेदन के द्वारा संवेदन करनेके योग्य हैं ऐसे (**त्वं**) आप (**नः**) हमारे लिये (**भाव एवं**) भावरूप ही (**भासि**) प्रतीत होते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप मोह और क्षोभ से रहित होनेके कारण आकुलता से रहित हैं, अंतर्ज्योति - दर्शन और बहिर्ज्योति - ज्ञान से तन्मय हैं, प्रदेशभेद न होनेसे अखण्डित हैं तथा स्वसंवेदन के द्वारा अनुभव करने के योग्य हैं, अतः आप हमें भावरूप ही प्रतीत होते हैं। यहाँ भाव और भाववान् में अभेदनय से एकत्व का वर्णन करते हुए भगवान् को भावरूप कहा गया है।।२२।।

एवमेवेति न क्वापि यदुपैष्यवधारणम्।
अवधारयतां तत्त्वं तव सैवावधारणा।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**यत्**) जिस कारण वस्तु (**एवमेव**) इसी प्रकार है (**इति**) इस तरह (**क्वापि**) कहीं भी आप (**अवधारणं**) नियम को (**न उपैषि**) प्राप्त नहीं होते हैं (**तत्**) उस कारण (**तव तत्त्वम् अवधारयतां**) आपके तत्त्व की अवधारणा - निश्चय करनेवालों को (**सैव**) वही (**अवधारणा**) अवधारणा होती है अर्थात् जिस प्रकार आप किसी विषय में एकरूपता - एकांतदृष्टि का अवलम्बन नहीं लेते उसी प्रकार आपके द्वारा प्रतिपादित

तत्त्व का अवधारण करनेवाले पुरुष भी एकरूपता-एकांत दृष्टि का अवलंबन नहीं करते।

भावार्थ :- नयों का अवतार विभिन्न-विभिन्न विवक्षाओं को लेकर हुआ है, अतः किसी एक नय के एकांतपक्ष से तत्त्व का करनेवाले मनुष्यों को आपका पूर्णरूप से अवधारण नहीं हो सकता है।

तीक्ष्ण्यो-(तीक्ष्णो) पयोगनिर्व्यग्रगाढग्रहहठाहतः।
अनन्तशक्तिभिः स्फारस्फुटं भासि परिस्फुटम्।।२४।।

अन्वयार्थ :- (**तीक्ष्णोपयोगनिर्व्यग्रगाढग्रहहठाहतः**) जो तीक्ष्ण उपयोग की व्यग्रतारहित सुदृढ़ पकड़ से हठपूर्वक आहत हैं ऐसे आप (**अनंतशक्तिभिः**) अनंत शक्तियों के द्वारा (**स्फारस्फुटं**) परिपूर्ण तथा (**परिस्फुटं**) स्पष्ट (**भासि**) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप उन अनंत शक्तियों से परिपूर्ण हैं जो मात्र लब्धिरूप नहीं हैं, किन्तु साक्षात् उपयोगरूप हैं। शक्तियों का लब्धिरूप होना छद्मस्थ अवस्था में बनता है, सर्वज्ञ अवस्था में नहीं। यतश्च आप सर्वज्ञ अवस्था को प्राप्त है, अतः आपकी समस्त शक्तियां अपने अपने कार्य में उपयुक्त हैं - क्रियाशील हैं।।२४।।

त्वद्भावभावनाव्याप्तविश्वात्मास्मि भवन्मयः।
अयं दीपानलग्रस्तवर्तिनीत्या न संशयः।।२५।।

अन्वयार्थ :- (**त्वद्भावभावनाव्याप्तविश्वात्मा**) जिसका समग्र आत्मा आपके भाव - ज्ञानदर्शनादि गुणों की भावना से व्याप्त है ऐसा (**अयं**) यह मैं (**दीपानलग्रस्तवर्तिनीत्या**) दीपकसम्बन्धी अग्नि से व्याप्त वत्ती की नीतिसे (**भवन्मयः**) आपसे तन्मय (**अस्मि**) हो रहा हूँ इसमें (**न संशयः**) संशय नहीं है।

भावार्थ :- जिस प्रकार दीपक की अग्नि से व्याप्त वत्ती स्वयं अग्निरूप हो जाती है उसी प्रकार आपके ज्ञान दर्शनादिगुणों की भावना करने से मैं आपरूप हो रहा हूँ। हे भगवन् ! आपका चिंतन करने से मुझे विश्वास हो गया है कि जिस प्रकार आप ज्ञान-दर्शन से तन्मय हैं उसी प्रकार मैं भी ज्ञान-दर्शन से तन्मय हूँ। अंतर मात्र व्यक्त और अव्यक्त का है। आपके ज्ञान-दर्शन पूर्णमात्रा में व्यक्त हो चुके हैं और मेरे अव्यक्त हैं। यदि मैं भी पुरुषार्थ करूँ तो मेरे भी ज्ञान-दर्शन आपके ही समान व्यक्त हो सकते हैं। इसमें संशय की बात नहीं है।।२५।।

ॐ

(१२)

जिनाय जितरागाय नमोऽनेकान्तशालिने।
अनन्तचित्कलास्फोटस्पृष्टस्पष्टात्मतेजसे।।१।।

अन्वयार्थ :- (**जितरागाय**) जिन्होंने राग को जीत लिया है (**अनेकान्तशालिने**) जो अनेकान्त से सुशोभित हो रहे हैं और (**अनन्तचित्कलस्फोटस्पृष्टस्पष्टात्मतेजसे**) जिनका स्पष्ट आत्मतेज अविनाशी चैतन्यकला के विकास से स्पृष्ट हो रहा है - संसक्त हो रहा है ऐसे (**जिनाय**) कर्मशत्रुओं को जीतनेवाले आप जिनेन्द्र भगवान् के लिये (**नमः**) नमस्कार है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! दशम गुणस्थान के अंत में राग-द्वेषपर पूर्ण विजय प्राप्त कर आप वीतराग हुए हैं और उस वीतराग होनेके फलस्वरूप अंतर्मुहूर्त के भीतर सर्वज्ञ होकर तेरहवें गुणस्थान में हितोपदेष्टा हुए हैं। हितोपदेष्टा वही मनुष्य हो सकता है जो अपने शुक्लध्यानरूपी तेज के द्वारा समस्त विकारों के भस्म कर देता है। विकारों के भस्म होते ही जिसका आत्मा चैतन्यशक्ति के उत्कृष्ट विकासरूप केवलज्ञान से जगमगा उठता है और इन सबके होते ही जिसे जिन, जिनेन्द्र या अरहन्त संज्ञा प्राप्त हो जाती है। जिनेन्द्र का उपदेश अनेकांत से सुशोभित होता है। परस्पर विरोधी अनेक अंतों - धर्मों को नय विवक्षा से गौण और मुख्य करते हुए ग्रहण करना - जानना अनेकांत कहलाता है और तदनुसार ही स्यात् शब्द के प्रयोग से कथंचित् भावको लिये हुए उसका कथन करना स्याद्वाद कहलाता है। आप अंतरङ्ग में वीतराग तथा सर्वज्ञ हैं और बाह्य में स्याद्वाद की शैली से पदार्थ का उपदेश करते हैं, अतः सच्चे हितोपदेष्टा - हितोपदेशी आप ही हैं।।१।।

अनेकोऽप्यसि मन्ये त्वं ज्ञानमेकमनाकुलम्।
ज्ञानमेव भवन्भासि साक्षात् सर्वत्र सर्वदा।।२।।

अन्वयार्थ :- यद्यपि (**त्वम्**) आप (**अनेकाऽपि**) अनेकरूप भी (**असि**) हैं तथापि (**एकं अनाकुलं ज्ञानं**) एक अनाकुल ज्ञानरूप हैं ऐसा मैं (**मन्ये**) मानता हूँ, क्योंकि आप (**साक्षात्**) साक्षात् (**सर्वत्र सर्वदा**) सब स्थानों तथा समस्त कालों में (**ज्ञानमेव भवन्**) ज्ञानरूप ही होते हुए (**भासि**) भासित हो रहे हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप अनेक गुणरूप होनेसे यद्यपि अनेक हैं तथापि प्रधानता की अपेक्षा आकुलता रहित एक ज्ञानगुणरूप हैं ऐसा कहा जाता है और उसका कारण भी यह है कि आप सर्वत्र और सर्वदा एक ज्ञानरूप होते हुए ही अनुभव में आते हैं। स्वपरप्रकाशक होनेके कारण आत्मा के अनंत गुणों में एक ज्ञानगुण ही अपना विशिष्ट स्थान रखता है, इसलिये यहाँ अन्य अनेक गुणों को गौणकर एक ज्ञानगुण को ही मुख्यता देते हुए स्तवन किया गया है।।२।।

अतएव वियत्कालौ तद्‌गता द्रव्यपर्यया:।
ज्ञानस्य ज्ञानतामीश न प्रमार्ष्टुं तदे (वे) शते।।३।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! (**अतएव**) जिस कारण आप सब क्षेत्र सब कालों में ज्ञानरूप प्रतिभासित होते हैं उस कारण (**वियत्कालौ**) आकाश और काल तथा (**तद्‌गता:**) उनमें रहनेवाले सब द्रव्य और सब पर्याय (**तव**) आपके (**ज्ञानस्य**) ज्ञान की ज्ञानता को (**प्रमार्ष्टुं**) नष्ट करनेके लिये (**न ईशते**) समर्थ नहीं है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! यतः आप ज्ञानभूप होते हुए ज्ञानमय प्रतीत होते हैं, अतः आकाश और कालद्रव्य तथा उनमें रहनेवाले सब द्रव्य और सब पर्याय आपकी ज्ञानरूपता को नष्ट नहीं कर सकते। ऊपर के सर्वत्र और सर्वदा शब्द के द्वारा जो आकाश और काल का उल्लेख किया गया था उसे ही यहाँ स्पष्ट किया गया है अर्थात् सब स्थानों और सब कालों में आप ज्ञानरूप रहते हैं।।३।।

स्वरूपपररूपाभ्यां त्वं भवन् न भवन्नपि।
भावाभावौ विदन् साक्षात् सर्वज्ञ इति गीयसे।।४।।

अन्वयार्थ :- (**त्वम्**) आप (**स्वरूपपररूपाभ्यां**) स्वरूप-स्वचतुष्टय और पररूप-परचतुष्टय की अपेक्षा (**भवन् न भवन्नपि**) हो भी रहे हैं और नहीं भी हो रहे हैं तथा (**भावाभावौ**) भाव और अभाव को (**साक्षात् विदन्**) साक्षात् जानते हैं, अतः (**सर्वज्ञः इति गीयसे**) 'सर्वज्ञ है' ऐसे कहे जाते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप स्वकीय द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा हो रहे हैं - विद्यमानरूप हैं और परकीय द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा नहीं हो रहे हैं - अविद्यमानरूप हैं। साथी ही ज्ञेयों - जानने योग्य पदार्थों के इन दोनों भावाभावात्मक रूपों को साक्षात् जानते हैं इसलिये आप सर्वज्ञ हैं।

इदमेवमितिच्छिन्दन् निखिलार्थाननन्तशः।
स्वयमेकमनन्तं त्वं ज्ञानं भूत्वा विवर्तसे।।५।।

अन्वयार्थ :- (**इदम् एवम्**) यह ऐसा है (**इति**) इस प्रकार (**निखिलार्थान्**) समस्त पदार्थों को (**अनन्तशः**) अनन्तों बार (**छिन्दन्**) जानते हुए (**त्वम्**) आप (**स्वयं**) स्वयं (**एकं ज्ञानं भूत्वा**) एक ज्ञानरूप होकर (**अनन्तं ज्ञानं**) अनन्त ज्ञानरूप (**विवर्तसे**) परिणम रहे हैं।

भावार्थ :- एक ज्ञान, अनंत ज्ञेयों को जानने के कारण अनंत कहलाता है। हे भगवन् ! यतः आपका ज्ञान समस्त पदार्थों को - संसार के अनंत ज्ञेयों को ''यह ऐसा है'' इस प्रकार अनंतों बार जान रहा है, अतः वह ज्ञेयों की अपेक्षा अनंत है। आप इसी अनंत ज्ञानरूप होकर परिणमन कर रहे हैं।।५।।

अखण्डमहिमानन्तविकल्पोल्लासमांसलः।
अनाकुलः प्रभो भासि शुद्धज्ञानमहानिधिः।।६।।

अन्वयार्थ :- (**प्रभो**) हे स्वामिन् ! (**अखण्डमहिमा**) जो अखण्ड महिमा से सहित हैं, (**अनंतविकल्पोल्लासमांसलः**) अनंत विकल्पों के प्रादुर्भाव से परिपुष्ट हैं, (**अनाकुलः**) आकुलता से रहित हैं और (**शुद्धज्ञानमहानिधिः**) शुद्ध ज्ञान के महान् भाण्डार हैं, ऐसे आप (**भासि**) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपकी महिमा अखण्ड है, इसीलिये तो सौ इन्द्र निरंतर

आपको नमस्कार करते हैं। आप अनंत ज्ञेयों के विकल्प से युक्त हैं - अनंत पदार्थों के प्रतिबिम्ब आपके ज्ञान में दर्पण के समान झलकते हैं। एकसाथ समस्त पदार्थों को जानते हैं इसलिये अज्ञान पदार्थ को जानने की आकुलता से रहित हैं तथा वीतराग-विज्ञान के महान् भाण्डार हैं। इस प्रकार आपकी महिमा अद्वितीय है।।६।।

अक्रमात्क्रममाक्रम्य कर्षन्त्यपि परात्मनोः।
अनन्ता बोधधारेयं क्रमेण तव कृष्यते।।७।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**तव**) आपकी (**परात्मनोः**) स्वपरविषयक (**इयम्**) यह (**अनंता बोधधारा**) अनंत ज्ञानधारा (**क्रमम् आक्रम्य अक्रमात् कर्षन्ती अपि**) क्रम को उल्लङ्घन कर अक्रम से खींचती हुई भी (**क्रमेण**) क्रम से (**कृष्यते**) खींची जा रही है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपकी स्वपरविषयक - निज और पर को जाननेवाली ज्ञान की धारा छद्मस्थ अवस्था में पदार्थों को क्रम से जानती थी पर अब सर्वज्ञ दशा में वह क्रम को छोड़कर अक्रम - एकसाथ जानने लगी है इस प्रकार यद्यपि वह स्वभाव की अपेक्षा अक्रमवर्ती है तथापि ज्ञेयों की अपेक्षा क्रमवर्ती है अर्थात् कालक्रम से होनेवाली ज्ञेयों की अनंत परिणतियों को उसी क्रम से जानती है जिस क्रम से वे होनेवाली हैं।।७।।

भावास्सहभुवोऽनन्ता भान्ति क्रमभुवसु (स्तु) ते।
एक एव तथापि त्वं भावो भावान्तरं तु न ।।८।।

अन्वयार्थ :- यद्यपि (**ते**) आपके (**सहभुवः**) साथ होनेवाले - गुणरूप (**तु**) और (**क्रमभुवः**) क्रम से होनेवाले पर्यायरूप (**भावाः**) भाव (**अनंताः**) अनंता (**भान्ति**) सुशोभित हो रहे हैं (**तथापि**) तो भी - गुण और पर्यायों की अपेक्षा अनंतरूप होते हुए भी द्रव्य को अपेक्षा (**त्वं**) आप (**एक एव भावः**) एक ही भावरूप हैं (**भावान्तरं तु न**) अन्य भावरूप नहीं हैं।

भावार्थ :- साथ-साथ होनेके कारण गुण सहभावी कहलाते हैं और पर्याय में क्रम-क्रम से होनेके कारण क्रमवर्ती कहलाती हैं। प्रत्येक द्रव्य के अनंत गुण और

अनंत पर्यायें होती हैं, अतः जब उन गुण और पर्यायों को दृष्टि में रखकर कथन होता है तब एक द्रव्य अनेकरूप प्रतीत होता है, परंतु जब उन गुण और पर्यायों के आधारभूत द्रव्य को दृष्टि में रखकर कथन होता है तब वह एकरूप अनुभव में आता है। साथ ही वह द्रव्य, उसी द्रव्यरूप रहता है त्रिकाल में भी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यन्ताभाव रहता है। हे भगवन् ! द्रव्यस्वभाव की ऐसी व्यवस्था होनेसे आप भी गुण और पर्यायों की अपेक्षा यद्यपि अनंत हैं तथापि स्वरूप की अपेक्षा आप एक ही हैं और कभी भी आप अन्य द्रव्यरूप नहीं होगे।।८।।

वृत्तं तत्त्वमनन्तं स्वमनन्तं वत्स्र्यदूर्जितम्।
अनन्तं वर्त्तमानं च त्वमेको धारयन्नसि।।९।।

अन्वयार्थ :-(त्वम्) आप (**अनंत वृत्तं**) अनंत भूत (**अनंत वत्स्र्यत्**) अनंत भविष्यत् (**च**) और (**अनंत वर्तमानं**) अनंत वर्तमान (**ऊर्जितं**) शक्तिसम्पन्न (**स्वं तत्त्वं**) आत्मतत्त्व को (**धारयन्**) धारण करते हुए (**एकः असि**) एक हैं।

भावार्थ :- प्रत्येक द्रव्य की अनंत पर्यायें वीत चुकी हैं, अनंत पर्यायें आगे आनेवाली हैं और एक पर्याय वर्तमान में है। इन पर्यायों की अपेक्षा यद्यपि द्रव्य अनेकरूप है तथापि स्वकीय प्रदेशों की अपेक्षा वह एक ही रहता है। इसी अभिप्राय को लेकर यहाँ कहा गया है कि हे भगवन् ! आप इन भूत भविष्यत् और वर्तमान की अनंत पर्यायों को धारण करते हुए भी एक है अथवा आप इतने ऊर्जित - शक्ति सम्पन्न हैं कि एक होकर भी इतना पर्यायों को धारण करते हैं। अन्य ग्रंथों में भूत और भविष्यत् की पर्यायों को अनंत और वर्तमान की पर्याय को एक कहा गया है, परंतु यहाँ वर्तमान को भी अनंत कहा गया है सो उसकी संगति अनंत गुणों का आधार होनेसे वर्तमान की एक पर्याय को अनंतरूप मानने में होती है, अथवा स्थूल ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा वर्तमान की एक पर्याय, सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा होनेवाली एक समयवर्ती पर्यायों की अपेक्षा अनंत होती है।।९।।

उत्तानयसि गम्भीरं तलस्पर्शं स्वमानयन्।
अतलस्पर्श एव त्वं गम्भीरोत्तानितोऽपि नः।।१०।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! यद्यपि आप (**गंभीरं**) गम्भीर - मोह और क्षोभ से रहित (**स्वं**) अपने आपको (**तलस्पर्शं**) तलस्पर्श को (**आनयन्**) प्राप्त कराते हुए अर्थात् उसकी गहराई तक पहुँचाते हुए (**उत्तानयसि**) ऊपर उठाते हैं समुन्नत बनाते हैं, परंतु (**नः**) हम लोगों के लिये (**त्वं**) आप (**गम्भीरोत्तानितोऽपि**) अत्यंत गंभीर और ऊपर उठे हुए होकर भी (**अतलस्पर्श एव**) अतलस्पर्श ही हैं - हम आपके तल का स्पर्श नहीं कर सके हैं - आपकी गंभीरता और उत्कृष्टता की सीमा नहीं जान सके हैं।

भावार्थ :- जो राग-द्वेष का प्रसङ्ग होनेपर भी उनसे दूर रहता है वह गंभीर कहलाता है और जो किसी पदार्थ के सूक्ष्म से और बड़े से बड़े रूप को जानता है वह तलस्पर्शी कहलाता है। इन परिभाषाओं के आधार पर आपने अपने आपको गंभीर और तलस्पर्शी बनाया है, परंतु हम लोग इतने अज्ञानी हैं कि आपकी गहराई और ऊँचाई को नहीं जान सके हैं।।१०।।

अनन्तवीर्यव्यापारधीरस्फारस्फुरद्दृशः।
दृङ्मात्रीभवदाभाति भवतोऽन्तर्बहिश्च यत्।।११।।

अन्वयार्थ :- (**अनन्तवीर्यव्यापारधीरस्फारस्फुरद्दृशः**) अनंत वीर्य के व्यापार से जिनका दर्शन गुण उत्कृष्टरूप से विकसित हो रहा है ऐसे (**भवतः**) आपका (**यत्**) जो (**अंतर्बहिः**) अंतरङ्ग और बहिरङ्ग प्रकाश है वह सब (**दृङ्मात्रीभवत्**) दर्शनमात्र होता हुआ (**आभाति**) सुशोभित होता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपके जो केवलदर्शन हुआ है वह अनंत वीर्य के व्यापार से सहकृत है, क्योंकि उसके बिना न अनंत ज्ञान प्रकट हो सकता है और न अनंत दर्शन। आत्मा के अंतः प्रकाश को दर्शन और बाह्य प्रकाश को ज्ञान कहते हैं। दूसरे शब्दों में अंतः प्रकाश को आत्मावलोकन या सामान्यावलोकन और बाह्य प्रकाश को पदार्थावलोकन या विशेषावलोकन कहा जाता है। यहाँ अंतः प्रकाश को दर्शनरूप कहा सो उचित है, परंतु बाह्य प्रकाश - ज्ञान को भी दर्शनरूप कहा सो उसकी संगति इस प्रकार है कि निश्चयनय से केवलज्ञान आत्मा को ही जानता है वह लोकालोक का ज्ञाता व्यवहारनय से है। इस प्रकार निश्चयनय से ज्ञान का विषय भी दर्शन की तरह आत्मावलोकन होता है। यह अभिप्राय मन में रखकर आचार्य ने ज्ञान को भी दर्शनमात्र होता हुआ कहा है।।११।।

आक्षेपपरिहाराभ्यां खचितस्त्वमनन्तशः।
पदे पदे प्रभो भासि प्रोत्खात प्रतिरोपितः।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**प्रभो**) ! हे नाथ ! (**अनन्तशः**) अनंतों वार (**आक्षेप-परिहाराभ्यां**) विधि और निषेध के द्वारा (**खचितः**) व्याप्त (**त्वं**) आप (**पदे पदे**) अर्थ के वाचक प्रत्येक पदपर (**प्रोत्खात प्रतिरोपितः**) नास्तित्व और अस्तित्व को प्राप्त होते हुए (**भासि**) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपमें अनंत धर्म है और वे सब धर्म, विधि तथा निषेधरूप को लिये हुए हैं। जैसे सत्-असत्, एक-अनेक, तत्-अतत्, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य आदि। जब उक्त धर्मों की विधिरूप से विवक्षा की जाती है तब उन धर्मों से तन्मय होनेके कारण आप विधिरूप को प्राप्त होते है और जब उन धर्मों की निषेधरूप से विवक्षा की जाती है तब उनसे तन्मय होनेके कारण आप निषेधरूप को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उक्त धर्मों के प्रतिपादक शब्दों का जितनी बार प्रयोग होता है उतनी ही बार आप अस्तित्व और नास्तित्व को प्राप्त होते हैं। इसी अपेक्षा से आपको पद पदपर प्रोत्खात - नास्तिरूप और प्रतिरोपित - अस्तिरूप कहा गया है।।१२।।

विभ्रता तदतद्रूपस्वभावं स्वं स्वयं त्वया।
महान् विरुद्धधर्म्माणां समाहारोऽनुभूयसे(ते)।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**स्वं**) अपने (**तदतद्रूपस्वभावं**) तत्-अतत्रूप - विधि-निषेधरूप स्वभाव को (**विभ्रता**) धारण करनेवाले (**त्वया**) आपके द्वारा (**स्वयं**) स्वयं (**विरुद्धधर्म्माणां**) परस्पर विरोधी धर्मों का (**महान्**) बहुत भारी (**समाहारः**) समूह (**अनुभूयते**) अनुभूत होता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! यतः आप तत् और अतत् स्वभाव को स्वयं ही धारण करते हैं, अतः आप अनेक विरोधी धर्मों के समूह का अनुभव करते हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तुस्वभाव के कारण आपमें अनेक विरोधी धर्मों का समूह निवास कर रहा है।।१३।।

स्वरूपसत्तावष्टम्भखण्डितव्याप्तयोऽखिलाः।
असाधारणतां यान्ति धर्माः साधारणास्त्वयि।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**स्वरूपसत्तावष्टम्भरखण्डितव्याप्तयः**) आपकी निज स्वरूपसत्ता के आलम्बन से जिनकी अन्यत्र व्याप्ति खण्डित हो गई है ऐसे (**अखिलाः**) समस्त (**साधारणाः धर्मा**) साधारण धर्म (**त्वयि**) आपमें (**असाधारणतां**) असाधारणता को (**यान्ति**) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :- महासत्ता की अपेक्षा जो अस्तित्व आदि गुण साधारण कहे जाते हैं, अवान्तर सत्ता की अपेक्षा वे ही गुण असाधारण हो जाते हैं। जब आपके विभिन्न गुणों - धर्मों में सत् असत्, तत् अतत् आदि धर्मों की विवक्षा की जाती है तब उनकी आपमें ही व्याप्ति रहती है, अन्य द्रव्यों में नहीं। इस प्रकार साधारण होनेपर भी वे आपमें असाधारणता को प्राप्त हो जाते हैं।।५।।

अनन्तधर्मसम्भारनिर्भरं रूपमात्मनः।
इदमेकपदे विष्वग्बोधशक्त्यावगाहसे।।१५।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! आप (**बोधशक्त्या**) ज्ञानशक्ति के द्वारा (**अनन्तधर्मसम्भारनिर्भरम्ः**) अनंत धर्मों के समूह से परिपूर्ण (**आत्मनः**) आत्मा के (**इदं**) इस (**रूपं**) रूप में - ज्ञाता-दृष्टास्वभाव में (**एकपदे**) एकसाथ (**विष्वक्**) सब ओरसे (**अवगाह से**) प्रवेश कर रहे हैं।

भावार्थ :- आत्मा, ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि अनंत गुणों अथवा नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, भेद, अभेद आदि परस्पर विरोधी अनंत धर्मों के समूह से परिपूर्ण है ऐसा अपनी ज्ञानशक्ति के द्वारा ज्ञात कर आप उसमें सब ओरसे एकसाथ लीन हो रहे हैं। प्रवेश कर रहे अर्थात् लीनता को प्राप्त हो रहे हैं। अज्ञान दशा में यह जीव, आत्मा और कर्म नोकर्मरूप पुद्गल के संयोग से उत्पन्न मनुष्यादि असमानजातीय द्रव्यपर्याय को अपना स्वरूप समझ उसीमें तन्मय हो रहा है - उसीमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि कर रागद्वेष के वशीभूत हो रहा है। परंतु स्वपर भेदविज्ञानरूप ज्ञान की महिमा से आप असमान जातीय पर्याय में इस बात का निर्णय अच्छी तरह कर चुके हैं कि इसमें आत्मा क्या है और पुद्गल तथा उसके निमित्त से उत्पन्न होनेवाला विभाव क्या है। स्वभाव और विभाव का भेद होते ही आप विभाव को नष्ट करनेके प्रयत्न में संलग्न हो गये और उसके फलस्वरूप समस्त विभावों को नष्ट कर अपने ज्ञाता दृष्टारूप स्वभाव में लीन हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि आप वीतरागविज्ञान से परिपूर्ण

हैं तथा साधक की उस उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं जहाँ ज्ञान, ज्ञान में ही प्रतिष्ठित हो जाता है।।१५।।

अन्वया व्यतिरेकेषु व्यतिरेकाश्च तेष्वमी।
निमज्जन्तो निमज्जन्ति त्वयि त्वं तेषु मज्जसि।।१६।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**अमी**) ये (**अन्वयाः**) अन्वय् - गुण (**व्यतिरेकेषु**) व्यतिरेकों - पर्यायों में (**च**) और (**व्यतिरेकाः**) पर्यायें (**तेषु**) गुणों में (**निमज्जन्तः**) निमग्न होती हुई (**त्वयि**) आपमें (**निमज्जन्ति**) निमग्न होती हैं और (**त्वं**) आप (**तेषु**) उन अन्वय व्यतिरेकों - गुणपर्यायों में (**मज्जसि**) निमग्न हो रहे हैं।

भावार्थ :- साथ साथ रहने के कारण गुण अन्वय कहलाते हैं और एकके बाद एक होनेके कारण पर्यायें व्यतिरेक कहलाती हैं। ऐसा अवसर नहीं आता जब गुण के बिना पर्याय हो और पर्याय के बिना गुण हो तथा इन दोनों के बिना द्रव्य हो। इसी अभिप्राय से कहा गया है कि गुण, पर्यायों में और पर्यायें, गुणों में रहते हैं और यतः आप गुण और पर्यायों के समूहरूप हैं अतः वे गुण और पर्यायें आपमें निमग्न हैं और आप उनमें निमग्न हैं।।१६।।

प्रागभावादयोऽभावाश्चत्वारस्त्वयि भावताम्।
श्रयन्ते श्रयसे तेषु त्वं तु भावोऽप्यभावताम्।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**प्रागभावादयः**) प्रागभाव आदि (**चत्वारः**) चार (**अभावाः**) अभाव (**त्वयि**) आपमें (**भावतां**) भावरूपता को (**श्रयन्ते**) प्राप्त होते हैं (**त्वं तु**) और आप (**भावोऽपि**) भावरूप होते हुए भी (**तेषु**) उन अभावों में (**अभावतां**) अभावरूपता को (**श्रयसे**) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :- प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव ये चार अभाव हैं। कार्योत्पत्ति की पूर्वावस्था को प्रागभाव कहते हैं। जैसे घट की पूर्वपर्याय स्थास-कोश-कुसूल आदि घट का प्रागभाव है। कार्य के नष्ट हो जानेपर जो अभाव होता है उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं जैसे घट के फूट जानेपर उसकी कपाल आदि अवस्था घट का प्रध्वंसाभाव है। वस्तु की एक पर्याय में दूसरी पर्याय के न रहने को अन्योन्याभाव

कहते हैं। जैसे पुद्‌गल द्रव्य की घट पर्याय में पट पर्याय का अभाव है। और एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में जो त्रैकालिक अभाव है उसे अत्यन्तभाव कहते हैं। हे भगवन् ! ये चारों अभाव आपमें भावरूपता को प्राप्त हैं और आप भावरूप होकर भी उनमें अभावरूपता को प्राप्त हैं, क्योंकि आपमें इनका अभाव है। वह इस प्रकार है कि आपकी अरहंत पर्याय शक्ति की अपेक्षा से आपमें अनादिकाल से विद्यमान है, अतः प्रागभाव का अभाव है। अरहंत अवस्था में प्रकट होनेवाले अनंत चतुष्टयादि गुणों का आपमें कभी नाश नहीं होता, इसलिये प्रध्वंसाभाव का अभाव है। आपमें जो सामान्य ज्ञान दर्शन आदि गुण हैं वे आपकी समस्त पर्यायों में विद्यमान रहते हैं, इसलिये अन्योन्याभाव का अभाव है। तथा आपके जीवद्रव्य से दूसरा जीवद्रव्य यद्यपि पृथक् है - भिन्न द्रव्य है तथापि आपके और उसके गुणों में सादृश्य है। जिस प्रकार जीव का पुद्‌गल में अत्यन्ताभाव है। उस प्रकार गुण सादृश्य की अपेक्षा अन्य जीव द्रव्यों में नहीं है इसलिये आपमें अत्यन्ताभाव भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि विवक्षावश चारों अभाव आपमें भावरूपता को प्राप्त हैं। और आप स्वभाव से भावरूप होकर भी उन अभावों में अभावरूपता को प्राप्त हैं। इसका कारण अपर्युक्त विवक्षा से स्पष्ट है।।१७।।

अनेकोऽपि प्रपद्य त्वामेकत्वं प्रतिपद्यते।
एकोऽपि त्वमनेकत्वमनेकं प्राप्य गच्छसि।।१८।।

अन्वयार्थ :- (**अनेकोऽपि**) अनेक भी (**त्वां**) आपको (**प्रपद्य**) प्राप्त कर (**एकत्वं**) एकपने को (**प्रतिपद्यते**) प्राप्त होता है और (**त्वम्**) आप (**एकोऽपि**) एक होकर भी (**अनेकं**) अनेक को (**प्राप्य**) प्राप्त कर (**अनेकत्वं**) अनेकपने की (**गच्छसि**) प्राप्त हो रहे हैं।

भावार्थ :- गुण और पर्याय संख्या की अपेक्षा अनेक तथा द्रव्य एक है। वे अनेक गुण पर्याय द्रव्यरूप आपको प्राप्त कर एक हो जाते हैं और द्रव्यरूप होनेसे एकरूप होकर भी आप गुण पर्यायों की अपेक्षा अनेकरूपता को प्राप्त हैं।।१८।।

साक्षादनित्यमप्येतद्याति त्वां प्राप्य नित्यताम्।
त्वं तु नित्योऽप्यनित्यत्वमनित्यं प्राप्य गाहसे।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**एतत्**) यह पर्यायरूप तत्त्व (**साक्षात्**) साक्षात् (**अनित्यमपि**) अनित्य होकर भी (**त्वां प्राप्य**) द्रव्यस्वरूप आपको प्राप्त कर (**नित्यतां याति**) नित्यपने को प्राप्त होता है (**तु**) और (**त्वं**) आप (**नित्योऽपि**) नित्य होकर भी (**अनित्यं प्राप्य**) अनित्यरूप पर्याय को प्राप्तकर (**अनित्यत्वं**) अनित्यपने को (**गाहसे**) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :- द्रव्य, पर्याय से तन्मय रहता है, अतः जब पर्याय को गौणकर द्रव्य को प्रधान बनाया जाता है तब अनित्य तत्त्व नित्यत्व को प्राप्त होता है और जब द्रव्य को गौणकर पर्याय को प्रधानता दी जाती है तब नित्य तत्त्व, अनित्यत्व को प्राप्त होता है। हे भगवन् ! अनित्य पर्याय, आपका आश्रयकर नित्य हो जाती है और आप, अनित्य पर्याय का आश्रयकर अनित्य हो जाते हैं।।१९।।

य एवास्तमुपैषि त्वं स एवोदीयसे स्वयम्।
स एव ध्रुवतां धत्से य एवास्तमितोदितः।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**य एव त्वं**) जो ही आप (**अस्तम् उपैषि**) व्यय को प्राप्त होते हैं (**स एव**) वही आप (**स्वयं**) स्वयं (**उदीयसे**) उत्पाद को प्राप्त होते हैं और (**य एव अस्तमितोदितः**) जो ही आप व्यय होकर उत्पादको प्राप्त होते हैं (**स एव**) वही (**ध्रुवतां**) ध्रुवपने को (**धत्से**) धारण करते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से तन्मय हैं। व्यय की विवक्षा में आप अस्त को प्राप्त होते हैं, उत्पाद की विवक्षा में उदय को प्राप्त होते हैं और ध्रौव्य की विवक्षा में अस्त तथा उदय - दोनों अवस्थाओं की बीच की ध्रुवता को प्राप्त होते हैं। नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद, पूर्व पर्याय के नाश को व्यय और दोनों पर्यायों में व्यापक रहनेवाले अंशको ध्रौव्य कहते हैं।।२०।।

अभावतां नयन् भावमभावं भावतां नयन्।
भाव एव भवन् भासि तावुभौ परिवर्तयन्।।२१।।

अन्वयार्थ :- आप (**भावं अभावतां नयन्**) भावको अभावता प्राप्त कराते हैं और (**अभावं भावतां नयन्**) अभाव को भावता प्राप्त कराते हैं इस प्रकार (**तौ अभौ**) उन दोनों - भाव-अभाव को (**परिवर्तयन्**) परिवर्तित करते हुए आप स्वयं (**भाव एव भवन्**)

भावरूप ही होते हुए (**भासि**) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- जो पर्याय वर्तमान क्षण में भावरूप है वही उत्तर क्षण में अभावरूप हो जाती है, और जो पर्याय वर्तमान में अभावरूप है वही उत्तर क्षणमें भावरूप हो जाती है। इस प्रकार आप पूर्व क्षण और उत्तर क्षण की पर्यायों को यद्यपि अभाव तथा भावरूप करते रहते हैं तथापि स्वयं सत्सामान्य की अपेक्षा भावरूप ही रहते हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्वोत्तर क्षणवर्ती पर्यायों की अपेक्षा आप व्यय तथा उत्पादरूप हैं और सामान्य की अपेक्षा ध्रौव्यरूप हो रहे हैं।

हेतुरेव समग्रोऽपि समग्रो हेतुमानसि।
एकोऽपि त्वमनाद्यनन्तो यथापूर्वं यथोत्तरम्।।२२।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**त्वम्**) आप (**समग्रः हेतुः एव असि**) पूर्ण कारण ही हैं और (**समग्रः हेतुमान् असि**) पूर्ण कार्य है तथा आप (**एकोऽपि सन्**) एक होते हुए भी (**अनाद्यनन्तः**) अनादि-अनंत हैं (**यथापूर्वं**) जैसे पूर्व में थे और (**यथोत्तरं**) जैसे आगे होगे।

भावार्थ :- हे भगवन् ! पूर्व क्षण की अपेक्षा आप कारण हैं और उत्तर क्षण की अपेक्षा कार्य हैं तथा आपका यह कारण और कार्यभाव समग्ररूप से होता है अंशरूप से नहीं। अर्थात् पूर्व क्षण में आपके समस्त प्रदेश कारण व्यवहार को प्राप्त होते हैं और उत्तर क्षण में समस्त प्रदेश कार्य व्यवहार को प्राप्त होते हैं। सिद्धांत के अनुसार कारण का क्षय होना ही कार्य का उत्पाद कहलाता है। अध्यात्मभाषा में कारण समयसार का नाश ही कार्य समयसार का उत्पाद कहलाता है। इस प्रकार पूर्वोत्तर क्षण की अपेक्षा पदार्थ में व्यय और उत्पाद सिद्ध होते हैं, परंतु सामान्य सत् की अपेक्षा वह अनादि अनंत रहता है - वह जैसा पूर्व में रहता है वैसा ही आगे भी रहता है।।२२।।

न कार्यं कारणं नैव त्वमेव प्रतिभाससे।
अखण्डपिण्डितैकात्मा चिदेकरसनिर्भरः।।२३।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**न कार्यं प्रतिभाससे न कारणम् एव प्रतिभाससे**) सत्

सामान्य की अपेक्षा आप न कार्यरूप प्रतिभासित होते हैं और न कारणरूप ही। किन्तु (अखण्डपिण्डितैकात्मा) अखण्ड पिण्डरूप है स्वरूप जिनका तथा जो (**चिदेकरसनिर्भरः**) एक चैतन्य रससे परिपूर्ण हैं ऐसे (**त्वमेव प्रतिभाससे**) एक आप ही प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ :- भेदनय से आपमें कारण और कार्य का विभाग रहता है, परंतु अभेद नय से आप भेद से रहित एक अखण्ड द्रव्य प्रतिभासित होते हैं।।२३।।

भृतोऽपि रिक्ततामेषि रिक्तोऽपि परिपूर्यसे।
पूर्णोऽपि रिच्यसे किञ्चित् किञ्चिद्रिक्तोऽपि वर्द्धसे।।२४।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! आप (**भृतोऽपि**) परिपूर्ण होनेपर भी (**रिक्ततां**) रहितपने को (**एषि**) प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् स्वभाव से परिपूर्ण होते हुए भी विभाव से रिक्तपने को प्राप्त हो रहे हैं और (**रिक्तोऽपि**) रहित होनेपर भी (**परिपूर्यसे**) पूर्णता को प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् वैभाविक भावों से रहित होते हुए स्वाभाविक भावों से परिपूर्ण हो रहे हैं। तथा (**पूर्णोऽपि**) पूर्ण होते हुए भी (**किञ्चित् रिच्यसे**) कुछ रिक्त होते हैं - हानि को प्राप्त होते हैं और (**किञ्चिद् रिक्तोऽपि**) कुछ रिक्त होते हुए भी (**वर्द्धसे**) पुनः वृद्धि को प्राप्त होते हैं अर्थात् अगुरुलघु गुणों के कारण होनेवाली षड्गुणी हानि के समय आप कुछ हानि को प्राप्त होते हैं और षड्गुणी वृद्धि के समय कुछ वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! यह जीव अनादि काल से शुभ-अशुभ - पुण्य-पापरूप विभाव भावों से युक्त हो रहा है परंतु जब शुभ-अशुभ भावों के कारणभूत मोहकर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है तब यह यथाख्यात चारित्ररूप स्वभावभाव - शुद्धभाव से परिपूर्ण हो जाता है। आपका आत्मा भी अनादि काल से शुभाशुभ भावों से परिपूर्ण रहा है, परंतु अब मोहकर्म का सर्वथा क्षय हो जानेके कारण आप स्वभावभाव से परिपूर्ण हो रहे हैं। तथा परिपूर्ण होकर भी सदा कूटस्थ नित्य नहीं रहते, क्योंकि कालद्रव्यरूप सामान्य प्रत्यय और अपने-अपने अगुरुलघु गुणरूप आभ्यन्तर प्रत्यय के कारण अनंत भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि और अनंत गुणवृद्धि इन षड्गुणी वृद्धियों और हानियों के होते रहने से आप पूर्ण होकर भी - वृद्धि के चरम अंश को प्राप्त होकर भी कुछ हानि को प्राप्त हो

रहे हैं और हानि के चरम अंश को प्राप्त होकर भी पुनः वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं। यह हानि और वृद्धि केवल ज्ञानादि गुणों के अविभाग प्रतिच्छेदों का अपेक्षा होती है। यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिये कि केवलज्ञानादि गुणों के अविभागप्रतिच्छेद स्वभाव से अनंत हैं तथा हानि वृद्धि होनेपर भी वे अनंत ही रहते हैं, क्योंकि अनंत, अनंत प्रकार का होता है।।२४।।

विज्ञानघनविन्यस्तनित्योद्युक्तात्मनो मम।
स्फुरन्त्वश्रान्तमार्द्रार्द्रास्तवामूरनुभूतयः।।२५।।

अन्वयार्थ :- (**विज्ञानघनविन्यस्तनित्योद्युक्तात्मनः**) केवलज्ञान से परिपूर्ण आपके शुद्ध स्वभाव में जिसकी आत्मा संसक्त - संलग्न होकर उसी ओर निरंतर तत्पर हो रही है ऐसे (**मम**) मुझ स्तुतिकर्ता के (**तव**) आपकी (**अमूः**) ये (**आर्द्रार्द्राः**) नवीन-नवीन (**अनुभूतयः**) अनुभूतियां (**अश्रान्तं**) किसी विश्राम के बिना नित्य ही (**स्फुरन्तु**) प्रकट होवें।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप विज्ञानघनस्वभाव हैं - केवलज्ञान से आपका प्रत्येक प्रदेश परिपूर्ण है। उसी विज्ञानघनस्वभाववाले आप आराध्यदेव में मेरा आत्मा अर्थात् मेरा हृदय संलग्न होकर निरंतर उसी ओर उद्युक्त-तत्पर हो रहा है, इसलिये इस स्तुति के फलस्वरूप मैं किसी सांसारिक विभूति की आकांक्षा नहीं करता हूँ, किन्तु यह आकांक्षा करता हूँ कि आपकी, ये अनुभूतियाँ मुझे भी प्राप्त होवें।।२५।।

ॐ

(१३)

मञ्जुभाषिणी

सहजप्रभार्जितचिदच्छरूपताप्रतिभासमाननिखिलार्थसन्तति।
स्वपरप्रकाशभरभावनामयं तदकृत्रिमं किमपि भाति ते वपुः।।१।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**सहजप्रमार्जितचिदच्छरूपताप्रतिभासमाननिखिलार्थसन्तति**) जिसके स्वाभाविक तथा निर्मल चैतन्य स्वभाव में समस्त पदार्थों का समूह प्रतिबिम्बित हो रहा है, जो (**स्वपरप्रकाशभरभावनामयं**) निज और परके प्रकाश समूह की भावना से तन्मय हैं और (**अकृत्रिमं**) अकृत्रिम है किसीका किया हुआ नहीं है ऐसा (**ते**) आपका (**तत्**) वह (**किमपि**) कोई अद्भुत (**वपुः**) ज्ञानशरीर (**भाति**) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप ज्ञानशरीर है - ज्ञान ही आपका शरीर है। वह ज्ञान सहज है - स्वाभाविक होनेसे सदाकाल आपके साथ रहनेवाला है। पहले मिथ्यात्वदशा में वह ज्ञान मलिन हो रहा था, परंतु अब मिथ्यात्व के नष्ट हो जानेके कारण अत्यंत प्रमार्जित है - निर्मल हो गया है। उस ज्ञान में स्वभाव से ही लोक-अलोक के समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित हो रहें हैं। क्यों हो रहें हैं ? इसका उत्तर यहा है कि वह स्व-परप्रकाशक भावना से तन्मय है। उसकी यह विशेषता है कि उसमें निज और पर पदार्थों का प्रतिफलन स्वयमेव होता है। वह अकृत्रिम है - किसीका किया हुआ नहीं है तथा वचनों के अगोचर है - अनुभव में तो आता है परंतु वचनों के द्वारा कहा नहीं जा सकता।।१।।

क्रमभाविभावनिकुरम्बमालया प्रभवावसानपरिमुक्तया तव।
प्रसृतस्य नित्यमचलं समुच्छलज्जिन चिच्चमत्कृतमिद विलोक्यते।।२।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**प्रभवावसानपरिमुक्तया**) उत्पत्ति और अंत से रहित (**क्रमभाविभावनिकुरम्बमालया**) क्रम से होनेवाली पर्यायों के समूह की माला से (**प्रसृतस्य**) विस्तार को प्राप्त हुआ (**तव**) आपका (**इदं**) यह (**नित्यं**) नित्य (**अचलं**) चञ्चलता से रहित और (**समुच्छलत्**) सब और छलकता हुआ (**चिच्चमत्कृत**) चैतन्य का (**विलोक्यते**) दृष्टिगोचर होता है अनुभव में आता है।

भावार्थ :- पर्याय की दृष्टि से संसार के अनंतानंत पदार्थ अपने क्रम से उत्पन्न और विनष्ट हो रहे हैं। उनकी उत्पत्ति और विनाश का यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है और अनंत काल तक चलता रहेगा। ये सब पदार्थ आपके ज्ञान में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं इस लिये ज्ञेय की अपेक्षा आप सर्वत्र-लोक अलोक में विस्तार को प्राप्त हैं। अर्थात् लोक और अलोकगत ज्ञेय को जानने के कारण आपका ज्ञान लोक और अलोक में विस्तृत है और उस ज्ञान से तन्मय होनेके कारण आप भी सर्वत्र विस्तार को प्राप्त हैं। हे जिनेन्द्र ! आपका यह चैतन्यसम्बन्धी चमत्कार नित्य है, सामान्य ज्ञानस्वभाव की अपेक्षा त्रैकालिक है और केवलज्ञान की अपेक्षा सादि अनंत है। जिसप्रकार वायु का वेग समाप्त हो जानेसे जलाशय का जल चञ्चलता से रहित होकर स्वरूप में स्थिर हो जाता है उसी प्रकार कषाय और योगजनित चञ्चलता के दूर हो जानेसे आपका चैतन्य चमत्कार भी चञ्चलता से रहित होकर स्वरूप में स्थिर हो गया है। साथ ही यह चैतन्य चमत्कार सब ओर छलक रहा है - सभी ओरके पदार्थों को प्रतिभासित कर रहा है। यद्यपि अमूर्तिक होनेसे यह चमत्कार हमारे दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है तथापि अनुभूति का विषय अवश्य है, हमारे अनुभव में यह आ रहा है कि आपके चैतन्य गुण का सर्वोत्कृष्ट विकास हुआ है।।२।।

इदमेव देव सहभाविनीं तव स्फुटयत्यनन्तनिजधर्ममण्डलीम्।
तदभिन्नभिन्नसुखवीर्यवैभवप्रभृतिस्वशक्तिसमकालवेदनात्।।३।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे देव ! (**इदमेव**) यह चैतन्य चमत्कार ही (**तदभिन्नभिन्नसुख-वीर्यवैभवप्रभृतिस्वशक्तिसमकालवेदनात्**) उससे कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न सुख, वीर्य-वैभव आदि समस्त स्वकीय शक्तियों का एक साथ वेदन होनेसे (**तव**) आपकी (**सहभाविनी**) साथ साथ रहनेवाली (**अनंतनिजधर्ममण्डलीम्**) अनंत आत्मधर्मों के समूह को (**स्फुटयति**) प्रकट करता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपका चैतन्य चमत्कार यद्यपि सामान्यरूप से एक ही है तथापि वह सुख और वीर्य आदिका भी साथ साथ अनुभव करता है। चैतन्य-ज्ञानदर्शन और सुख तथा वीर्य के प्रदेश भिन्न भिन्न नहीं है, इसलिये उन सबमें अभेद है और सबका भिन्न भिन्न अनुभव होता है इसलिये भेद भी है। उनका यह भेद और अभेद कथंचित् है। इन सब गुणों का अनुभव सिद्ध करता है कि आपकी आत्मा में अनंत धर्मों - गुणों का समूह विद्यमान है।।३।।

त्वमनन्तधर्मभरभावितोऽपि सन्नुपयोगलक्षणमुखेन भाससे।
न हि तावतायमुपयोगमात्रतां श्रयसे निराश्रयगुणाप्रसिद्धितः।।४।।

अन्वयार्थ :- (**अयं त्वम्**) यह आप (**अनंतधर्मभरभावितः अपि सन्**) अनंत धर्मों के समूह से युक्त होते हुए भी (**उपयोगलक्षणमुखेन**) एक उपयोगरूप लक्षण के द्वारा (**मासरो**) सुशोभित हो रहे हैं। परंतु (**हि**) निश्चय से (**तावता**) उतने मात्र से - उपयोगलक्षण से युक्त होनेमात्र से (**उपयोगमात्रतां**) उपयोगमात्रपने को (**न श्रयसे**) प्राप्त नहीं हैं - इसका यह अभिप्राय नहीं है कि आपमें मात्र उपयोग ही पाया जाता है अन्य गुण नहीं, क्योंकि (**निराश्रयगुणाप्रसिद्धितः**) निराधार गुणों की सिद्धि नहीं है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! यद्यपि आपमें अनंत गुण विद्यमान हैं तथापि उन सबमें ज्ञानदर्शनरूप उपयोग की ही प्रधानता है। वही आपका लक्षण माना गया है। उपयोग ही लक्षण माना गया है। इसका यह तात्पर्य ग्राह्य नहीं है कि आपमें अन्य गुण नहीं हैं। अवश्य हैं और उनकी अनुभूति होती है। जब अनुभूति होती है तब उनका नास्तित्व स्वीकृत नहीं किया जा सकता। गुण द्रव्य के आश्रय ही रहते हैं, निराश्रय रहनेवाले गुणों का अस्तित्व आगम में स्वीकृत नहीं किया गया है।।४।।

अजडत्वमात्रमवयन्ति चेतनामजडः स्वयं न जडतामियात् परात्।
न हि वस्तुशक्तिहरणश्रमः परः स्वपरप्रकाशनमवाधितं तव।।५।।

अन्वयार्थ :- बुद्धिमान् पुरुष (**अजडत्वमात्रं**) जडता का अभाव होनेमात्र को (**चेतनाम्**) चेतना (**अवयन्ति**) जानते हैं अर्थात् जडता का अभाव और चेतना एक ही वस्तु है। जो (**स्वयं अजडः**) स्वयं चेतना है वह (**परात्**) दूसरे द्रव्य से (**जडतां न इयात्**) जडता-

अचेतनता को प्राप्त नहीं होता है। (**हि**) क्योंकि (**परः**) परद्रव्य (**वस्तुशक्तिहरणक्षमः न**) अन्य द्रव्य की शक्ति के हरण करने में समर्थ नहीं है। इसप्रकार (**तव**) आपका (**स्वपरप्रकाशन**) स्वपरप्रकाशीपन (**अबाधितं**) निर्बाध है।

भावार्थ :- संसार में चेतन और अचेतन के भेद से दो प्रकार के पदार्थ हैं। जीव द्रव्य चेतन है और शेष पांच द्रव्य अचेतन हैं। जो चेतन है वह सदा चेतन ही रहता है और जो अचेतन है वह सदा अचेतन ही रहता है। कर्म और नोकर्मरूप पुद्‌गल यद्यपि जीव के साथ अनादि काल से संलग्न हो रहे हैं तथापि वे जीव के जीवत्व को नष्ट करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि यह शाश्वतिक नियम है कि अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्य की शक्तियों के हरण करने में समर्थ नहीं है। इस तरह आपका जो स्वपर प्रकाशनस्वरूप गुण है वह सदा अबाध रहता है। प्रतिपक्षी कर्मों की उदयावस्था में यद्यपि कितने ही गुण तिरोहित हो जाते हैं तथापि स्वपर प्रकाशनरूप जो सामान्य ज्ञानगुण है वह कभी तिरोहित नहीं होता।।५।।

अजडप्रमातरि विभौ त्वयि स्थिते स्वपरप्रमेयमितिरित्तयबाधिता।
अविदन् परं न हि विशिष्यते जडात्परवेदनं च न जडाग्रकारणम्।
।।६।।

अन्वयार्थ :- (**इति**) इसप्रकार (**त्वयि विभौ अजडप्रमातरि स्थिते**) आप सामर्थ्यवन्त प्रबुद्ध ज्ञाता के रहते हुए (**स्वपरप्रमेयमितिः**) स्वपर प्रमेय का जानना (**अबाधिता**) निर्बाध सिद्ध है, (**हि**) क्योंकि (**परं अविदन्**) जो पर को नहीं जानता है वह (**ज़डात्**) अचेतन से (**नि विशिष्यते**) पृथक् नहीं होता है (**च**) और (**परवेदनं**) पर का जानना (**जडाग्रकारणं न**) जड़रूप होनेका प्रमुख कारण नहीं है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! जो पदार्थ को जानता है वह प्रमाता कहलाता है, जो जाना जाता है वह प्रमेय कहलाता है और जानना प्रमिति कहलाती है। आत्मा प्रमाता है और प्रमेय भी। शेष पदार्थ प्रमेय ही हैं, प्रमाता नहीं है। हे भगवन् ! आप चैतन्य गुण से संपन्न प्रमाता है तथा स्व और पर आपके प्रमेय हैं अर्थात् आप स्व को जानते हैं और पर को भी। यद्यपि निश्चयनय से आप स्व के ही ज्ञाता हैं पर के नहीं तथापि व्यवहारनय की दृष्टि में जड़ से भिन्न नहीं है - जड़ के समान ही है। पर का जानना जड़रूप अज्ञानी होनेका कारण नहीं है। तात्पर्य यह है कि पर को

जानना बंध का कारण नहीं है, किन्तु पर को अपना मानना बंध का कारण है।।६।।

जडतोऽभ्युदेति न जडस्य वेदना समुदेति सा तु यदि नाजडादपि।
ध्रुवमस्तमेति जडवेदना तदा जडवेदनास्तमयतः क्व वेदना।।७।।

अन्वयार्थ :- (**जडस्य**) अचेतन पदार्थ का (**वेदना**) ज्ञान (**जड़तः**) अचेतन से (**न अभ्युदेति**) उत्पन्न नहीं होता अर्थात् चेतन से ही उत्पन्न होता है। (**यदि**) यदि इसके विपरीत (**सा तु**) वह अचेतन का ज्ञान (**अजडादपि**) चेतन से भी (**न समुदेति**) उत्पन्न नहीं होता है (**तदा**) तो (**ध्रुवं**) निश्चित ही (**जडवेदना**) अचेतन का ज्ञान (**अस्तमेति**) नष्ट हो जावेगा और (**जडवेदनास्तमयतः**) अचेतन का ज्ञान नष्ट होनेसे (**वेदना**) ज्ञान (**क्व**) कहां हो सकता है ?

भावार्थ :- एकांत में निश्चय का पक्ष स्वीकृत करनेवाले लोगों का कहना है कि आत्मा मात्र स्व को जानता है पर को नहीं। पर में आत्मा से अतिरिक्त अन्य चेतन द्रव्य और पुद्गलादि पांच अचेतन द्रव्य आते हैं, क्योंकि पर का जानना एक विकल्प है और विकल्प होनेसे बंध का कारण है। यहाँ आचार्य उस निश्चय की एकांत मान्यता का खण्डन करते हुए लिखते हैं कि आत्मा से भिन्न अन्य द्रव्यों का जो ज्ञान होता है वह किससे होता है ? जड़ से तो हो नहीं सकता, क्योंकि जड़ में ज्ञातृत्व शक्ति का अभाव हैं। शक्ति के न होते हुए भी यदि जड़ से उसकी उत्पत्ति होती है ऐसा माना जाय तो निश्चित ही अचेतन पदार्थ के ज्ञान का अभाव हो जावेगा। उसका यह है कि जड़ से उत्पन्न हुआ ज्ञान जड़ में रहेगा, आत्मा में नहीं और जो जड़ के ज्ञान को - अचेतन पदार्थ के ज्ञान को नष्ट कर देता है - अस्वीकृत कर देता है उसके वेदना - सामान्य ज्ञान भी कहाँ हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। 'आत्मा स्व का ही ज्ञायक है पर का नहीं' इस एकांत मान्यता का खण्डन करते हुए आचार्यने सिद्ध किया है कि आत्मा जिस प्रकार स्व का ज्ञायक है उसी प्रकार पर का भी ज्ञायक है। यह जुदी बात है कि जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित घट-पटादि पदार्थ दर्पणरूप हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मा प्रतिबिम्बित - विकल्प को प्राप्त हुए अचेत - आत्मातिरिक्त पदार्थ आत्मारूप हो जाते हैं और आत्मा में उन्हीं को जानता है, इसलिये आत्मा, आत्मा का ही ज्ञायक है पर का नहीं।

परंतु आत्मा में पड़नेवाले उन विकल्पों का कारण अन्य पदार्थ ही हैं, अतः उनका भी ज्ञाता आत्मा ही है, अन्य जड पदार्थ नहीं।।७।।

न च वेदनात्मनि सदात्मनात्मनः परवेदनाविरह एव सिध्यति।
अविदन् परं स्वमयमाकृतिं विना कथमन्धबुद्धिरनुभूतिमानयेत्।।८।।

अन्वयार्थ :- (**परवेदनाविरहे**) पर के ज्ञान के अभाव में (**सदा**) निरंतर (**आत्माना**) अपने द्वारा (**आत्मनि**) अपने में (**आत्मनः**) आत्मा का (**वेदना**) ज्ञान (**सिध्यति**) सिद्ध होता है। (**[इति] न चैव**) ऐसा नहीं है, क्योंकि (**परम् अविदन्**) पर को न जाननेवाला (**अयम् अन्धबुद्धिः**) यह अज्ञानी (**आकृतिं विना**) पर के विकल्प बिना (**स्वम् अनुभूतिं कथम् आनयेत्**) स्व की अनुभूति कैसे कर सकता है ?

भावार्थ :- सिद्धांत-पक्ष का कहना है कि आत्मा के ज्ञानस्वरूप में जो पर पदार्थ प्रतिबिम्बित हो रहे हैं वे यद्यपि आत्मस्वरूप हैं, तथापि उन पर पदार्थों के प्रतिबिम्बित होनेमें उन पर पदार्थों की आकृति भी कारण है क्योंकि उनकी आकृति को यदि सर्वथा स्वीकृत नहीं किया जाता है तो आकृति के बिना उनकी अनुभूति कैसे होगी? मैं घटज्ञानवान् हूँ, पटज्ञानमय हूँ ऐसा जो अनुभव प्रत्यक्ष हो रहा है, वह तब तक सिद्ध नहीं हो सकता जब तक ज्ञान में घटाकार और पटाकार परिणति को स्वीकृत नहीं किया जाता है। ज्ञान की घटाकार और पटाकार परिणति है यही पर का जानना है। इसप्रकार पर के ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध है उसे एकांत मान्यता के कारण सर्वथा निरस्त नहीं किया जा सकता।।८।।

न कदाचनापि परवेदनां विना निजवेदना जिन जनस्य जायते।
गजमीलनेन निपतन्ति बालिशाः परशक्तिरिक्तचिदुपासिमोहिताः।।९।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**जनस्य**) मनुष्य को (**परवेदनां विना**) पर के ज्ञान के बिना (**कदाचनापि**) कभी भी (**निजवेदना**) निज का ज्ञान (**न जायते**) नहीं होता है। यह निश्चित है फिर भी (**परशक्तिरिक्तचिदुपासिमोहिताः**) पर की रञ्जनासे रहित चेतन की उपासना से मोहित (**वालिशाः**) अज्ञानी जीव (गजमीलनेन) हाथी के समान नेत्र बन्दकर (**निपतन्ति**) पतित होते हैं।

भावार्थ :- यह निश्चित है कि पर के ज्ञान बिना निज का ज्ञान नहीं होता फिर भी जिसका ऐसा अभिप्राय है कि आत्मा यदि पर को जानता है तो पर की रञ्जना से उसमें अशुद्धता आती है और हम परकी रञ्जना से रहित शुद्ध आत्मा की उपासना करना चाहते हैं। वे आत्मा को पर के ज्ञान से रहित मानते हैं। परंतु जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है। उनका ऐसा मानना तो इस प्रकार है कि जिसप्रकार हाथी नेत्र बंधकर यह समझने लगता है कि हमारे सामने कुछ नहीं है उसीप्रकार तथोक्त मान्यतावाले यह समझने लगते हैं कि आत्मा पर को नहीं जानता है।।९।।

परवेदनास्तमयगाढ़संहृता परितो दृगेव यदि देव भासते।
परवेदनाभ्युदयदूरविस्तृता नितरां दृगेव किल भाति केवला।।१०।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे भगवन् ! (**यदि**) यदि (**परितः**) सब ओर (**परवेदनास्तमयगाढसंहृता**) पर पदार्थों के ज्ञान के नाश से अत्यंत संकोच को प्राप्त हुआ कोई गुण (**भासते**) सुशोभित होता है तो (**दृगेव**) एक दर्शन गुण ही सुशोभित होता है, क्योंकि (**केवला**) मात्र (**दृगेव**) दर्शन ही (**किल**) निश्चय से (**नितरां**) अत्यंत (**परवेदनाम्युदयदूरविस्तृता**) परपदार्थसम्बन्धी ज्ञान के अभ्युदय से दूर रहता है।

भावार्थ :- आत्मावलोकन को दर्शन और पदार्थावलोकन को ज्ञान कहते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार दर्शन गुण ही परपदार्थसम्बन्धी ज्ञान से रहित होता है, ज्ञान नहीं। ज्ञान तो स्वपरावभासी ही है अर्थात् निज को जानना है और पर को भी जानता है।।१०।।

परवेदना न सहकार्यसम्भवे परिनिर्वृतस्य कथमप्यपोह्यते।
द्वयवेदना प्रकृतिरेव संविदः स्थगितैव सान्यकरणान्यपक्षेते।।११।।

अन्वयार्थ :- (**परिनिर्वृतस्य**) पूर्ण स्वाधीनता को प्राप्त हुए आत्मा के (**सहकारि-असम्भवे**) सहकारी कारणों का अभाव होनेपर (**परवेदना**) परपदार्थसम्बन्धी ज्ञान (**कथमपि**) किसी भी तरह (**न अपोह्यते**) दूर नहीं किया जा सकता, क्योंकि (**द्वयवेदना**) निज और पर - दोनों को जानना (**संविदः**) ज्ञान का (**प्रकृतिरेव**) स्वभाव ही है (**स्थगिता**

एव सा) यदि वह स्वभाव स्थगित होता है - आच्छादित होता है तभी वह (**अन्यकरणानि अपेक्षते**) अन्य सहकारी कारणों की अपेक्षा करता है।

भावार्थ :- यदि यहाँ किसीका अभिप्राय हो कि हे भगवन् ! यतः आप परिनिर्वृत हैं - पूर्ण-स्वाधीनता को प्राप्त हो चुके हैं, अतः सहकारी कारणों का अभाव हो जानेसे परपदार्थों को नहीं जानते हैं तो इसका उत्तर यह है कि निज और पर दोनों को जानना ज्ञान का स्वभाव ही है। यदि स्वभाव परिवर्तित हो सके तो ही वह अन्य कारणों की अपेक्षा कर सकता है अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह है कि आपके ज्ञान के लिये अन्य सहकारी कारणों की अपेक्षा नहीं है।।११।।

न परावमर्शरसिकोऽभ्युदीयसे परमाश्रयन् विभजसे निजाः कलाः।
स्थितिरेव सा किल तदा तु वास्तवी पशवः स्पृशन्ति परमात्मघातिनः।
।।१२।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! आप (**परावमर्शरसिकः `सन्'**) परपदार्थों के सम्बन्ध के रसिक होते हुए (**न अभ्युदीयसे**) अभ्युदय को प्राप्त नहीं हो रहे हैं और न (**परम् आश्रयन्**) पर का आश्रय लेते हुए (**निजाः कलाः**) अपनी कलाओं को (**विभजसे**) प्राप्त हो रहे हैं (तु) किन्तु (**किल**) निश्चय से (**तदा**) उस समय (**सा**) वह (**वास्तवी**) वास्तविक (**स्थितिः एव**) स्थिति ही है - स्वभाव ही है। क्योंकि (**आत्मघातिनः**) आत्मघाती (**पशवः**) अज्ञानी ही (**परं**) परपदार्थ का (**स्पृशन्ति**) स्पर्श करते हैं - उसके सहकार की प्रतीक्षा करते हैं।

भावार्थ :- हे प्रभो ! आप जो आर्हन्त्यरूप परम अभ्युदय - उत्कृष्ट ऐश्वर्य को प्राप्त हुए हैं सो पर पदार्थों के सम्बन्ध की इच्छा रखते हुए नहीं प्राप्त हुए हैं और इस समय जो केवलज्ञान केवलदर्शन आदि आपकी कलाएँ - आत्मगुणों की विशेषताएँ प्रकट हुई हैं वे भी पर पदार्थों के आश्रय से नहीं प्रकट हुई हैं। आपका यह वास्तविक स्वभाव है। स्वभाव के लिये पर सहकारी पदार्थों की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है। जो आत्मा की स्वतंत्र स्वभाव सत्ता को नहीं मानते हैं ऐसे अज्ञानी मनुष्य ही पर का आलम्बन चाहते हैं। ऊपर के श्लोक में प्रतिवादीने जो यह पक्ष रक्खा था कि सहकारी कारणों के अभाव में परपदार्थ सम्बन्धी ज्ञान आपके नहीं बनता है उसका उत्तर देते हुए आचार्यने इस श्लोक में कहा है कि यतः स्वपर को जानना ज्ञान

का स्वभाव है अतः उसे सहकारी कारणों की प्रतीक्षा नहीं करना पड़ती है।।१२।

विषया इति स्पृशति वीर रागवान् विषयीति पश्यति विरक्तदर्शनः।
उभयोः सदैव समकालवेदने तदविप्लवः क्वचन विप्लवः क्वचित्।।१३।

अन्वयार्थ :- (**वीर**) हे वर्धमान जिनेन्द्र ! (**रागवान्**) रागी और (**विरक्तदर्शनः**) सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य (**विषया इति**) ये विषय - ज्ञेय है और यह (**विषयी**) उन्हें विषय करनेवाला - जाननेवाला ज्ञायक है ऐसा (**स्पृशति पश्यति**) स्पर्श करता तथा श्रद्धान करता है - मानता है (**उभयोः**) दोनों - विषय और विषयी का (**सदा**) निरंतर (**समकालवेदने**) एक साथे वेदन-अनुभवन होता है (**तत्**) इसलिये (**क्वचन**) कहीं - भेद विवक्षा में (**अविप्लवः**) बाधा का अभाव और (**क्वचन**) कहीं - अभेद विवक्षा में (**विप्लवः**) बाधा का सद्भाव प्रतीत होता है।

भावार्थ :- स्वपर पदार्थ आत्मा के विषयी के विषय हैं - ज्ञेय हैं और आत्मा उन्हें विषय करनेवाला ज्ञायक है। इस प्रकार रागी द्वेषी मिथ्यादृष्टि जीव एक ही आत्मा को ज्ञेय और ज्ञायक के भेद से दो रूप में विभक्त कर देता है परंतु ज्ञानी जीव उसे भेद और अभेद की विवक्षा से सदा ही दोनोंरूप मानता है अतः भेद विवक्षा से आत्मा को दो रूप और अभेद विवक्षा से एकरूप मानने में बाधा नहीं है।।१३।

स्वयमेव देव भुवनं प्रकाश्यतां यदि याति यातु तपनस्य का क्षतिः।
सहजप्रकाशभरनिर्भरोऽशुमान्न हि तत्प्रकाशनधिया प्रकाशते।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे प्रभो ! (**यदि**) यदि (**भुवनं**) संसार (**स्वयमेव**) स्वयं ही (**प्रकाश्यतां**) प्रकाश्यपने को (**याति**) प्राप्त होता है तो (**यातु**) प्राप्त हो, इसमें (**तपनस्य**) सूर्य को (**का क्षतिः**) क्या हानि है ? (**हि**) क्योंकि (**सहजप्रकाशभरनिर्भरः**) अपने स्वाभाविक प्रकाश के समूह से परिपूर्ण (**अंशुभान्**) सूर्य (**तत्प्रकाशनधिया**) संसार को प्रकाशित करने की इच्छा से (**न प्रकाशने**) प्रकाशित नहीं होता है।

भावार्थ :- सूर्य प्रकाशक है और संसार प्रकाश्य है। यहाँ दोनों का प्रकाशक और प्रकाश्यपना स्वाश्रित है - पराश्रित नहीं हैं। इस दृष्टान्त से ज्ञेय और ज्ञायक की स्वाश्रित अवस्था का वर्णन किया गया है अर्थात् ज्ञेय ज्ञायक के अधीन नहीं

है और ज्ञायक ज्ञेय के अधीन नहीं है।।१४।।

स्वयमेव देव भुवनं प्रमेयतां यदि याति यातु पुरुषस्य का क्षतिः।
सहजावबोधभरनिर्भरः पुमान्नहि तत्प्रमाणवशतः प्रकाशते।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे नाथ ! (**यदि**) यदि (**भुवनं**) संसार (**स्वयमेव**) स्वयं ही (**प्रमेयतां**) प्रमेयपन को (**याति**) प्राप्त होता है तो (**यातु**) प्राप्त हो (**पुरुषस्य**) आत्मा की (**का क्षतिः**) क्या हानि है। (**हि**) क्योंकि (**सहजावबोधनिर्भरः**) सहज - स्वाभाविक ज्ञान के भार से परिपूर्ण (**पुमान्**) पुरुष - आत्मा (**तत्प्रमाणवशतः**) संसार को प्रमेय बनाने की इच्छा से (**न प्रकाशते**) प्रकाशित नहीं होता है।

भावार्थ :- संसार के समस्त पदार्थ प्रमेय हैं और आत्मा प्रमाता है, परंतु दोनों का प्रमेय और प्रमातापन एक दूसरे के आश्रित नहीं है। आत्मा के आश्रय के बिना संसार प्रमेय रहे इसमें आत्मा की कोई हानि नहीं है और आत्मा संसार का प्रमाता रहे इसमें संसार की कोई प्रेरणा नहीं है। इतना अवश्य है कि आपका वीतराग विज्ञान संसार को जानता है।।१५।।

उदयन् प्रकाशयति लोकमंशुमान् भुवनप्रकाशनमतिं विनापि चेत्।
घनमोहसन्नहृदयस्तदेष किं परभासनव्यसनमेति बालकः।।१६।।

अन्वयार्थ :- (**चेत्**) यदि (**उदयन्**) उदित होता हुआ (**अंशुमान्**) सूर्य (**भुवनप्रकाशनमतिं विनापि**) संसार को प्रकाशित करने की बुद्धि के बिना ही (**लोकं**) संसार को (**प्रकाशयति**) प्रकाशित करता है (**तत्**) तो (**घनमोहसन्नहृदयः**) जिसका हृदय तीव्र मिथ्यात्व से ग्रस्त हो रहा है ऐसा (**एष बालकः**) यह अज्ञानी प्राणी (**परभासनव्यसनं**) परपदार्थ को प्रकाशित करनेके व्यसन को (**किम् एति**) क्यों प्राप्त हो रहा है ?

भावार्थ :- जब हम देखते हैं कि सूर्य संसार को प्रकाशित करनेकी इच्छा के बिना ही उदित होता हुआ संसार को प्रकाशित करता है तब आत्मा के लिये परपदार्थों को प्रकाशित करने की इच्छा की क्या आवश्यकता है ? कुभ भी नहीं। स्वतः - स्वभाव से आत्मा स्वपरपदार्थों का ज्ञाता है। अज्ञान जीव, मोहाच्छादित हृदय के होनेके कारण व्यर्थ ही उस इच्छा की कल्पना करता है।।१६।।

बहिरन्तरप्रतिहतप्रभाभरः स्वपरप्रकाशनगुणः स्वभावतः।
त्वमय चिदेक नियतः परः परं भ्रममेति देव परभासनोन्मुखः।।१७।

अन्वयार्थ :- (**बहिरन्तः अप्रतिहतप्रभाभरः**) जिनकी दीप्ति - ज्ञातृत्व शक्ति का समूह बाह्य और भीतर - दोनों ही जगह अप्रतिहत है - निर्बाधरूप से अपनी क्रिया करता है तथा (**स्वपरप्रकाशनगुणः**) निज और पर को प्रकाशित करना जिनका गुण है ऐसे (**अयं त्वम्**) यह आप (**स्वभावतः**) स्वभाव से (**चिदेकनियतः**) ज्ञान में - पदार्थों के जानने में प्रमुखरूप से संलग्न हैं (**परं**) किन्तु (**देव**) हे देव ! (**परः**) अन्य मिथ्यादृष्टि जीव (**परभासनोन्मुखः**) परपदार्थों को प्रकाशित करनेके लिये सन्मुख होता हुआ (**भ्रमं**) भ्रम को (**एति**) प्राप्त होता है।

भावार्थ :- हे देव ! आप स्वतः - स्वभाव से पदार्थों को जानते हैं और अन्य मिथ्यादृष्टि भ्रमवश अन्य पदार्थों में कारणपने की कल्पना करता है।।१७।।

स्फुटभावमात्रमपि वस्तु ते भवत्स्वसमीकरोति किल कारकोत्करम्।
न हि हीयते कथमपीह निश्चयव्यवहारसंहतिमयी जगत्स्थितिः।।१८।।

अन्वयार्थ :- (**वस्तु**) जो वस्तु (**ते**) आपके लिये (**स्फुटभावमात्रमपि भवत्**) अत्यंत स्पष्ट हो रही है वह भी (**किल**) निश्चय से (**कारोत्करम्**) कारकों के समूह को (**स्वसमीकरोति**) अपने अनुरूप करती है। (**हि**) क्योंकि (**इह**) इस लोक में (**निश्चयव्यवहारसंहतिमयी**) निश्चय और व्यवहार के समुदायरूप (**जगत्स्थितिः**) जगत् की स्थिति (**कथमपि**) किसी भी तरह (**न हीयते**) ह्रासको प्राप्त नहीं होती है।

भावार्थ :- निश्चयनय अभेदकारक चकको और व्यवहारनय भेदकारक चक्र को आश्रय देता है। संसार की परिणति निश्चय और व्यवहारनय के संघटन से चलती है इसलिये जहाँ जैसी विवक्षा होती है वहाँ उसीके अनुरूप सामञ्जस्य बैठाया जाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा पर को जानता है, यह व्यवहारनय का विषय है और आत्मा स्व को जानता है, यह निश्चयनय का विषय है।।१८।।

सहजा सदा स्फुरति शुद्धचेतना परिणामिनोऽत्र परजा विभक्तयः।
न विभक्तिकारणतया बहिर्लुठन्नपनीतमोहकलुषस्य ते परः।।१९।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**अत्र**) इस लोक में (**परिणामिनः**) परिणमनशील और (**अपवीतमोहकलुषस्य**) मोहजन्य कलुषयतासे रहित (**ते**) आपकी जो (**शुद्धचेतना**) शुद्ध चेतना (**सदा स्फुरति**) सदा स्फुरायमान हो रही है, वह (**सहजा**) स्वाभाविक है और (**विभक्तय**) जितने उसमें विभेद है - विभाग हैं वे सब (**परजाः**) पर से उत्पन्न हैं। (**वहिर्लुठन्**) बाहर रहनेवाला (**परः**) परद्रव्य (**विभक्तिकारणतया**) विभाग के कारणरूप से (**ते**) आपको (**न**) नहीं है - आपको स्वीकार नहीं है। (**ते**) आपके (**न**) नहीं है।

भावार्थ :- जिसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है ऐसी सामान्य शुद्ध चेतना आत्मस्वभाव होनेसे सहज है - किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं है, परंतु उसमें जो मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदिका विभेद है वह परके निमित्त से उत्पन्न है अर्थात् मतिज्ञानावरणादि कर्मो के क्षयोपशममादिरूप अंतरङ्ग निमित्त तथा शास्त्र, प्रकाश आदि अन्य कारणों से उत्पन्न है। यतः परिणमन करना वस्तु का स्वभाव है, अतः आपमें भी परिणमन होता है और आपमें परिणमन होनेसे आपकी चेतना भी सामान्य-विशेषरूप परिणमन करती है। तात्पर्य यह है कि चेतना में जो विशेष - विभागरूप परिणमन होता है वह ऊपर कहे अनुसार अन्य से उत्पन्न है, परंतु वह अन्य द्रव्य आपसे बाहर ही रहता है, अंतरङ्ग में उसका प्रवेश नहीं होता। मोहजन्य कलुषता - मोह तथा राग-द्वेष के रहते हुए पहले उसमें आत्मबुद्धि करती थी, परंतु अब मोहजन्य कलुषता के दूर हो जानेसे उसमें आत्मबुद्धि भी नहीं होती है।।१९।।

अवबोधशक्तिरपयाति नैक्यतो न विभक्तयोऽपि विजहत्यनेकताम्।
तदनेकमेकमपि चिन्मयं वपुः स्वपरौ प्रकाशयति तुल्यमेव ते।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**अवबोधशक्तिः**) ज्ञानशक्ति (**ऐक्यतः**) अभेद से (**न अपयाति**) दूर नहीं हटती है और (**विभक्तयोऽपि**) विभेद भी (**अनेकतां**) अनेकता को (**न विजहति**) नहीं छोड़ते हैं अर्थात् सामान्य ज्ञातृत्वशक्ति अभेदरूप है और उसके विशेष भेदरूप हैं। (**तत्**) इसलिये (**अनेकम् एकम् अपि**) अनेक और एकरूप - अभेद और भेदरूप (**ते**) आपका जो (**चिन्मयं वपुः**) चैतन्यरूप शरीर है वह (**तुल्यमेव**) समानरूप से (**स्वपरौ**) निज और पर को (**प्रकाशयति**) प्रकाशित करता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपकी चेतना, सामान्य की अपेक्षा एक है, परंतु विशेष की अपेक्षा ज्ञान-चेतना दर्शन-चेतना तथा उनके अवान्तर भेदों के अनेक प्रकार की

है। चेतना ही आपका शरीर है और वह चेतना निज तथा पर - दोनों को समानरूप से जानती है।२०।।

त्वमनन्तवीर्यबलवृंहितोदयः सततं निरावरणबोधदुर्द्धरः।
अविचिन्त्यशक्तिर(स)हितस्तटस्थितः प्रतिभासि विश्वहृदयानि दारयन्।
।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**अनन्तवीर्यबलवृंहितोदयः**) अनंत वीर्य और बल के द्वारा जिनका उदय - ऐश्वर्य वृद्धि को प्राप्त हुआ है, जो (**सततं**) निरंतर (**निरावरणबोधदुर्द्धरः**) निरावरण - क्षायिक ज्ञान से दुर्धर हैं, जो (**अविचिन्त्यशक्तिसहितः**) अचिन्त्य शक्तियों से सहित हैं तथा राग-द्वेष से रहित होनेके कारण (**तटस्थितः**) मध्यस्थ हैं ऐसे (**त्वम्**) आप (**विश्वहृदयानि**) विश्व के रहस्यों को (**दारयन्**) खोलते हुऐ अथवा समस्त पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करते हुए (**प्रतिभासि**) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- जिसके कारण आत्मा के समस्त गुण अपने-अपने स्वरूप में स्थिर रहते हैं उस गुण को वीर्य कहते हैं और शारीरिक शक्ति को बल कहते हैं। हे भगवन् ! आपके वीर्य और बल दोनों ही अनंत अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं साथ ही निरावरण - सदा उद्घाटित रहनेवाले केवलज्ञान से आप परिपूर्ण हैं, अचिन्त्य शक्तियों से सहित हैं और राग-द्वेष का अभाव होनेसे तटस्थ हैं। इस प्रकार आत्मा के अनंत अभ्युदय से युक्त होकर आप दिव्यध्वनि के द्वारा समस्त पदार्थों के हार्द - वास्तविक स्वरूप को प्रकट कर रहे हैं।।२१।।

बहिरङ्गहेतुनियतव्यवस्थया परमानयन्नपि निमित्तमात्रताम्।
स्वयमेव पुष्कलविभक्तिनिर्भरं परिणाममेषि जिन केवलात्मना।।२२।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**बहिरङ्गहेतुनियतव्यवस्थया**) बहिरङ्ग कारणों की निश्चित व्यवस्था के कारण (**परम्**) अन्य पदार्थ को (**निमित्तमात्रतां**) निमित्त मात्रपना (**आनयन्नपि**) प्राप्त कराते हुए भी आप (**स्वयमेव**) स्वयं ही (**केवलात्माना**) केवल अपने द्वारा (**पुष्कलविभक्तिनिर्भरं**) अत्यधिक विभेदों से परिपूर्ण (**परिणामं**) परिणमन को (**एषि**) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :- पदार्थ में जो परिणमन होता है उसके दो कारण हैं - एक उपादान और दूसरा निमित्त। जो स्वयं कार्यरूप परिणमन करता है उसे उपादान कारण कहते हैं और जो उसमें सहायक होता है उसे निमित्त कारण कहते हैं। उपादान कारण, स्वद्रव्य होता है और निमित्तकारण परद्रव्य। यतश्च निमित्त कारण, स्वयं कार्यरूप परिणमन नहीं करता, अतः वह सदा निमित्त ही रहता है और उपादान, कार्यरूप परिणत होनेके कारण कार्य संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। उपादान और निमित्त, इन दो कारणों में उपादान वस्तु की योग्यता को प्रकट करता है और निमित्त उसमें सहायक होता है। यद्यपि कार्य अपनी योग्यता से होता है तथापि बाह्य कारण की सापेक्षता भी आवश्यक रहती है। इसी शाश्वतिक व्यवस्था के कारण हे भगवन् ! आपके परिणमन में भी उपादान और निमित्त दोनो कारण आवश्यक हैं। कार्योत्पत्ति की इस व्यवस्था के कारण यद्यपि पर पदार्थ, आपके परिणमन में निमित्त कारण रहते हैं तथापि उस परिणमन के उपादान आप ही हैं, अन्य पदार्थ नहीं।।२२।।

इदमेकमेव परिणाममागतं परकारणाभिरहितो (तं) विभक्तिभिः।
तव बोधधाम कलयत्यनङ्कुशामवकीर्णविश्वमपि विश्वरूपताम्।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**विभक्तिभिः**) पृथक्पने के कारण जो (**परकारणाभिरहितं**) अन्य-निमित्त कारणों से रहित होता हुआ (**परिणाममागतं**) अविभाग प्रतिच्छेदों की षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप परिणाम को प्राप्त हुआ है तथा (**एकमेव**) एक होकर ही (**अवकीर्णविश्वमपि**) जिसने समस्त विश्वलोकालोक को व्याप्त कर लिया है ऐसा (**तव**) आपका (**इदं**) यह (**बोधधाम**) केवलज्ञानरूप तेज (**अनङ्कुशां**) निर्बाध (**विश्वरूपतां**) नानारूपता को (**कलयति**) प्राप्त कर रहा है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपके केवलज्ञान में जो परिणमन हो रहा है वह स्वयं की योग्यता से हो रहा है, क्योंकि कालद्रव्य आदि बाह्य-कारण उससे सर्वथा पृथक् हैं। वह केवलज्ञान यद्यपि एक है तथापि समस्त विश्व को जानने के कारण विश्वरूपता - नानारूपता को प्राप्त हो रहा है।।२३।।

जिन केवलैककलया निराकुलं सकल सदा स्वपरवस्तुवैभवम्।
अनुभूतिमानयदनन्तमप्ययं तव याति तत्त्वमनुभूतिमात्रताम्।।२४।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! जिसने (**केवलैककलया**) केवलज्ञानरूप एक - अद्वितीय कला के द्वारा (**निराकुलं यथा स्यात्तथा**) निराकुलतापूर्वक (**अनंतमपि**) अनंत परिणाम से युक्त होनेपर भी (**सकलं**) समस्त (**स्वपरवस्तुवैभवं**) स्व-पररूप वस्तु की महिमा को (**सदा**) सर्वदा (**अनुभूतिमानयत्**) अनुभूति प्राप्त करायी थी ऐसा (**अयं**) यह प्राणी (**तव**) आपके(**अनुभूतिमात्रताँ तत्त्वं**) अनुभूति मात्र तत्त्व को (**याति**) प्राप्त होता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपकी उपासना के फलस्वरूप यह जीव केवलज्ञान को प्राप्त होता है और उसके द्वारा समस्त स्व-पर पदार्थों को जानता हुआ आपके यथार्थ तत्त्व को प्राप्त होता है।।२४।।

अलमाकुलप्रलपितैर्व्यवस्थितं द्वितयस्वभावमिह तत्त्वमात्मनः।
ग्लपयन्त्यशेषमियमात्मवैभवादनुभूतिरेव जयतादनङ्कुशा।।२५।।

अन्वयार्थ :- (**आकुलप्रलपितैः**) आकुलतापूर्ण प्रलाप करने से (**अलं**) रुको। (**इह**) इस जगत् में आत्मा का (**तत्त्वं**) स्वरूप (**द्वितयस्वभावं**) स्व और पर को प्रकाशित करनेरूप दो प्रकार के स्वभाव से युक्त है यह (**व्यवस्थितं**) निश्चित हो गया। (**आत्मवैभवात्**) अपनी सामर्थ्य से (**अशेषं ग्लपयन्ती**) अन्य समस्त मान्यताओं को नष्ट करनेवाली (**इयं**) यह (**अनङ्कुशा**) निर्बाध (**अनुभूतिरेव**) अनुभूति ही (**जयतात्**) जयवत्त प्रवर्ते।

भावार्थ :- आचार्य कहते हैं कि व्यर्थ के प्रलाप से क्या प्रयोजन है ? उपर्युक्त विवेचन से यह निर्णीत हो गया कि आत्मा का स्वरूप स्वपरावभासनरूप दो प्रकार के स्वभाव से युक्त है अर्थात् आत्मा स्व को भी जानता है और परको भी जानता है। ऐसा एकांत नहीं है कि मात्र स्व को ही जानता है, परको नहीं जानता अथवा परको ही जानता है स्वको नहीं जानता। जब आत्मा के इस स्वभाव की अनुभूति होती है तब अन्य मान्यताएँ स्वयमेव नष्ट हो जाती हैं।।२५।।

ॐ

(१४)

तोटक छन्दः

चितिमात्रमिदं दृशिबोधमयं तव रूपमरूपमनन्तमहः।
अविखण्डविखण्डितशक्तिभरात् क्रमतोऽक्रमतश्च नुमः प्रतपत्।।१।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**अविखण्डविखण्डितशक्तिभरात्**) गुण-गुणी के अभेद और भेदरूप शक्ति के भार से (**चितिमात्रं**) सामान्य विवक्षा में एक चैतन्यमात्र और विशेष विवक्षा में (**दृशिबोधमयं**) दर्शन और ज्ञानरूप, (**अरूपं**) रूप रस गंध स्पर्श से रहित (**अनंतमहः**) अनंत तेज से युक्त (**प्रतपत्**) प्रतपनशील (**तव**) आपके (**इदं**) इस (**रूपं**) रूप - स्वरूप की हम (**क्रमतः**) क्रमसे (**च**) और (**अक्रमतः**) एक साथ (**नुमः**) स्तुति करते हैं।

भावार्थ :- आत्मा में भेद और अभेद - दो प्रकार की शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों में जब भेद शक्ति की विवक्षा होती है तब संज्ञा, संख्या लक्षण आदि के भेद से गुण और गुणी में भेद का अनुभव होता है। जैसे आत्मा पृथक् है और ज्ञानादि पृथक् हैं। यहाँ आत्मा गुणी है और ज्ञानादि गुणों के प्रदेश पृथक्-पृथक् न होनेसे दोनों में अभेद सिद्ध होना है। हे भगवन् ! हम आपके जिस स्वरूप की स्तुति कर रहे हैं वह अभेद विवक्षा में आपसे अखण्ड-अभिन्न रूप है और भेद विवक्षा में विखण्ड विभेदरूप है। आपका स्वरूप ज्ञान-दर्शनरूप है। सामान्यरूप से यह ज्ञान-दर्शन एक चैतन्य-गुण की पर्याय है, इसलिये जब सामान्य की विवक्षा करते हैं तब वह एक चितिमात्र - चैतन्यमात्र है और जब चैतन्यगुण के द्विविध परिणमन की विवक्षा करते हैं तब वह दर्शन और ज्ञानरूप प्रतीत होता है। आत्मा रूप रस गंध और स्पर्श से रहित है, अतः उसके चैतन्य गुण भी उनसे रहित है एतावता आपका वह स्वरूप अरूप है - रूपादि से रहित है। आपके यह ज्ञान दर्शन गुण, केवलज्ञान और

केवलदर्शनरूप परिणत होनेसे अनंत तेजरूप हैं अथवा अनंत अविभाग प्रतिच्छेदों से युक्त होनेके कारण अनंतरूप हैं। इसके अतिरिक्त आपका यह स्वभाव सदा प्रतपनशील है - सदा उपयोगस्वरूप है। क्षायोपशमिक दर्शन और ज्ञान क्रमवर्ती होनेसे लब्धि और उपयोग - दोनोंरूप होते हैं परंतु क्षायिक, ज्ञान और क्षायिक दर्शन सदा उपयोगात्मक ही रहते हैं। हे नाथ ! हम आपके इस स्वरूप की गुण-गुणी की अभेद विविक्षा में एक साथ स्तुति करते हैं और भेद विवक्षा में पहले गुण की और उसके पश्चात् उस गुण के धारक आपकी स्तुति करते हैं।।१।।

त्वमनेकचिदर्च्चिकदम्बि (म्ब) रुचा रुचिरं रचयन् जिन चित्रमिदम्।
न परामृशतोनपि विभूतिलवान् दृशिगोचर एव परीतदृशः।।२।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**अनेकचिदर्च्चिकदम्बरुचा**) अनेक चैतन्यरूप ज्योतिः समूह की कान्ति के द्वारा जो अपने आपको (**रुचिरं रचयन्**) सदा रुचिमन्त - देदीप्यमान कर रहे हैं ऐसे (**त्वम्**) आप, (**विभूतिलवान् परामृशतः अपि**) अल्पतम ऐश्वर्य के धारक तथा (**परीतदृशः अपि**) दृष्टि सम्पन्न मनुष्य के भी (**दृशिगोचरः**) दृष्टि के विषयभूत (**न एव**) नियम से नहीं है (**इदम्**) यह (**चित्रम्**) आश्चर्य की बात है।

भावार्थ :- ज्योतियुक्त पदार्थ, नेत्रवाले मनुष्य को न दिखे यह आश्चर्य की बात है। हे भगवन् ! आप अपने आपको अनेक ज्योतिःसमूह की कान्ति से देदीप्यमान कर रहे हैं फिर भी उस नेत्रवान् मनुष्य को आप दिखाई नहीं देते जो लौकिक दृष्टि से कुछ विभूति को भी धारण कर रहा है यह आश्चर्य की बात है। यहाँ आचार्य ने यह भाव प्रकट किया है कि हे भगवन् ! आपका आभ्यंतर स्वरूप मात्र चर्मचक्षुओं के द्वारा नहीं देखा जा सकता उसके लिये श्रद्धा और ज्ञानरूप दो अंतरङ्ग नेत्रों की आवश्यकता है। आप अनंत ज्ञानराशि से देदीप्यमान हैं इसकी श्रद्धा उन मिथ्यादृष्टि जीवों को नहीं हो सकती है जो भले ही अल्पतम लौकिक विभूति को प्राप्त हो।।२।।

अनवरस्थमवस्थित एष भवानविरुद्धविरोधिनि धर्म्मभरे।
स्वविभूतिविलोकनलोलदृशामनवस्थमवस्थितिमादिशति।।३।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**अविरुद्धविरोधिनि**) अनेकांत की दृष्टि से अविरुद्ध परंतु एकांत दृष्टि से विरुद्ध (**धर्म्मभरे**) नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि धर्मों के समूह में (**अनवस्थं `यथा स्यात्तथा'**) अनवस्थितरूप से (**अवस्थितः**) स्थित रहनेवाले (**एषः भवान्**) यह आप, (**स्वविभूतिविलोकन[१] लोलदृशाम्**) आत्मवैभव के देखने में सतृष्ण दृष्टिवो मनुष्यों के लिये (**अनवस्थं `यथा स्यात्तथा'**) अनवस्थितरूप से (**अवस्थितिम्**) स्थिति को (**आदिशति**) प्ररूपित करते हैं - कहते हैं।

भावार्थ :- नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि धर्म यद्यपि परस्पर विरुद्ध दिखते हैं तथापि नयविवक्षा से वे अविरुद्ध हो जाते हैं। जैसे द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा पदार्थ नित्य है तो पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनित्य है। सामान्य की अपेक्षा एक है तो विशेष की अपेक्षा अनेक है। संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि में भेद होनेसे गुण और गुणी में भेद है तो प्रदेशभेद न होनेसे उनमें अभेद भी है। इस तरह अविरुद्ध होनेपर भी विरुद्ध दिखने वाले अनेक धर्मों के समूह में आप अवस्थित हैं। `आप धर्मों के समूह में अवस्थित हैं' यह कथन भी धर्म और धर्मो में भेद विवक्षा होनेपर ही संगत होता है। जब धर्म और धर्मी में अभेद मानकर धर्मो को धर्मरूप कहा जाता है तब यह नहीं कहा जा सकता कि आप धर्मों के समूह में स्थित हैं इसलिये `अनवस्थितं यथा स्यात्तथा' - अनवस्थितरूप से आप उन अविरुद्ध - विरोधी धर्मों के समूह में अवस्थित हैं यह कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि कथंचित् आप उन अविरुद्ध विरोधी धर्मों में अवस्थित हैं और कथंचित् उन धर्मस्वरूप होनेसे अनवस्थित भी हैं। हे भगवन् ! आप स्वयं ऐसे हैं, तथा जो आपके वैभव अथवा स्वकीय आत्मवैभव को देखने के लिये लालायित हैं - उत्कण्ठित हैं उन्हें भी आप यही उपदेश देते हैं कि हे संसार के प्राणियों ! आप लोग कथंचित् अपने अविरुद्ध-विरोधी धर्मों के समूह में अवस्थित हैं और कथंचित् अवस्थित नहीं भी है अर्थात् उन धर्मस्वरूप ही हैं। अतः ऐसा प्रयत्न करो कि जिससे गुण और गुणी का यह विकल्प भी समाप्त हो जावे।।३।।

अयमूर्जितशक्तिचमत्कृतिभिः स्वपरप्रविभागविजृम्भितवित्।
अनुभूयत एव विभो भ[२]वतो भव[३]तोऽभ[४]वतश्च विभूतिभरः।।४।।

---

[१] `लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः। २. भातीति भवान् तस्य भवतः तव इत्यर्थः, ३. भवतीति भवन् तस्य, ४. न भवतीति अभवन् तस्य।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे स्वामिन् ! (**भवतः**) जो आर्हन्त्य पर्याय की अपेक्षा उत्पन्न हो रहे हैं (**च**) और सामान्य जीवद्रव्य की अपेक्षा जो (**अभवतः**) उत्पन्न नहीं हो रहे हैं ऐसे (**भवतः**) आपका (**अयम्**) यह (**स्वपरप्रविभागविजृम्भितवित्**) स्वपर विभाग के विस्तार को जाननेवाला (**विभूतिभरः**) ज्ञान-दर्शन रूप विभूति का समूह (**ऊर्जितशक्तिचमत्कृतिभिः**) सबलशक्ति के चमत्कार से युक्त मनुष्यों के द्वारा (**अनुभूयते एव**) नियम से अनुभूत हो रहा है।

भावार्थ :- हे प्रभो ! आप पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उत्पद्यमान हैं - उत्पन्न हो रहे हैं और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अनुत्पद्यमान हैं - उत्पन्न नहीं हो रहे हैं। ऐसे आपकी स्वपरावभासी ज्ञानदर्शनरूप विभूति का जो समूह है वह अपनी सब शक्ति के चमत्कार से युक्त मनुष्यों के द्वारा नियम से अनुभूत ही रहा है। ज्ञानदर्शन का स्वभाव स्व और पर के विभाग को जानना है सो आपके इस स्वभाव का अनुभव, उन पुरुषों को सदा होता रहता है जो प्रचण्ड आत्मबल से सहित हैं।।४।।

न किलैकमनेकतया घटते यदनेकमिहैक्यमुपैति न तत्।
उभयात्मकमन्यदिवासि महः समुदाय इवावयवाश्च भवन्।।५।।

अन्वयार्थ :- (**किल**) निश्चय से (**इह**) इस जगत में (**यत्**) जो (**एकं**) एक है (**तत्**) वह (**अनेकतया**) अनेकरूप से (**न घटते**) घटित नहीं होता है और (**यत्**) जो (**अनेकं**) अनेक है (**तत्**) वह (**ऐक्यं**) एकपने को (**न उपैति**) प्राप्त नहीं होता है परंतु आप उस (**उभयात्मकं**) एक अनेकात्मक (**महः**) तेजःस्वरूप हो जो (**अन्यदिव**) अन्य के समान जान पड़ता है। हे भगवन् ! आप (**समुदाय इव भवन्**) समुदाय के समान हैं (**च**) और (**अवयवाः भवन्**) अवयव रूप भी हो रहे हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! एक और अनेक, ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म हैं क्योंकि जो एक है वह अनेक नहीं हो सकता और जो अनेक है वह एक नहीं हो सकता परंतु आप एकानेक इन दोनों धर्मों से युक्त हैं और इसीलिये अन्य के समान जान पड़ते हैं। आपके एक तथा अनेक रूप होने का कारण यह है कि जब अवयवों के समुदाय की ओर दृष्टि जाती है तब आप एक हैं और जब अवयवों की ओर दृष्टि जाती है तब अनेक हैं। लोक में अवयव अनेक, और अवयवी एक रूप से प्रसिद्ध है ही।।५।।

क्षणभङ्गविवेचितचित्कलिकानिकुरम्बमयस्य सनातनता।
क्षणिकत्वमथापि चिदेकरसप्रसरार्द्रितचित्कणिकस्य तव।।६।।

अन्वयार्थ :- (**क्षणभङ्गविवेचित्कलिकानिकुरम्बमयस्य**) क्षणभङ्गसे रहित चैतन्य कलिकाओं के समूह स्वरूप (**तब**) आपके यद्यपि (**सनातनता**) नित्यपना है (**अथापि**) तो भी (**चिदेकरसप्रसरार्द्रितचित्कणिकस्य**) चैतन्य रूप एकरस के समूह से आर्द्रित चैतन्य कणों से युक्त (**तव**) आपके (**क्षणिकत्वं**) क्षणिकपना भी है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप नित्यानित्य रूप हैं क्योंकि क्षणभङ्ग से रहित चैतन्य कलिकाओं के समूह से युक्त होनेके कारण आपमें नित्यता है तो एक चैतन्यरूप रस से आर्द्रित चैतन्यरूप कणों से युक्त होनेके कारण आप में क्षणिकता - अनित्यता भी है। ज्ञान सामान्य, उत्पत्ति और विनाश से रहित होनेके कारण नित्य है तो क्षण-क्षण में परिवर्तित होनेवाले ज्ञानकण - ज्ञान की विशिष्ट परिणति अनित्य भी है। आप इन दोनों - सामान्य विशेष रूप ज्ञानों से युक्त होनेके कारण नित्यनित्यात्मक हैं।।६।।

उदगाद्यदुदेति तदेव विभौ यदुदेति च भूय उदेष्यति तत्।
जिन कालकलङ्कितबोधकलाकलनेऽप्यसि निष्कलचिज्जलधिः।।७।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**विभौ**) महिमाशाली आपमें (**यत्**) जो ज्ञान (**उदगात्**) उत्पन्न हुआ था (**तदेव**) वही ज्ञान (**उदेति**) इस समय उदित हो रहा है (**च**) और (यत्) जो (**उदेति**) इस समय उदित हो रहा है (**तत्**) वही (**भूयः**) पुनः (**उदेष्यति**) उदित होगा। हे भगवन् ! इस प्रकार आप (**कालकलङ्कितबोधकलाकलनेऽपि**) काल से कलङ्कित अर्थात् कालत्रय में परिणमन करनेवाले ज्ञान की कला से युक्त होने पर भी (**निष्कलचिज्जलधिः**) कलारहित - अनाद्यनन्त ज्ञान सागर से सहित हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! जब आप घातिचतुष्क को नष्ट कर जिनेन्द्र अवस्था को प्राप्त हुए तब आपका वैभव निराला हो गया। आप विभु कहलाने लगे। उस समय जो आपको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था वही आज उत्पन्न हो रहा है - लोकालोक को जान रहा है और अपने अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा जो आज उत्पन्न हो रहा है वही आगे फिर भी उत्पन्न होगा। तात्पर्य यह है कि ज्ञानगुण की केवलज्ञानरूप

पर्याय सादि अनंत पर्याय है - एक बार प्रकट होकर कभी नष्ट नहीं होती। यद्यपि उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप होनेसे उसमें भी अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा उत्पाद और व्यय होते रहते हैं तथापि सामान्य केवलज्ञान की अपेक्षा वह सदा ध्रुवरूप रहती है। विशेष, सामान्य से पृथक् नहीं होता है और सामान्य भी विशेष से पृथक् नहीं रहता है। ज्ञानसामान्य, आत्मा का अनादि अनंत गुण है और केवलज्ञान सादि अनंतरूप विशेष ज्ञान है। जब विशेष ज्ञान की ओर दृष्टि देकर कथन किया जाता है, तब यह कहा जाता है कि हे भगवन् ! परिणमन करनेवाले आप काल से कलङ्कित - अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा कालत्रय में केवलज्ञान को धारण करनेवाले हैं परंतु जब सामान्य ज्ञानस्वभाव की ओर दृष्टि रखकर कहा जाता है तब यह कथन होता है कि हे भगवन् ! आप कला से रहित सामान्य चैतन्य - ज्ञानस्वभावरूप सागर से सहित हैं।।७।।

त्वमनन्तचिदुद्गमसङ्कलनां न जहासि सदैकतयापि लसन्।
तुहिनोपलखण्डलकेऽम्बुकणा अविलीनविलीनमहिम्नि समाः।।८।।

अन्वयार्थ :- (**सदा**) सर्वदा (**एकतया**) एकत्वरूप से (**लसन् अपि**) सुशोभित होते हुए भी (**त्वम्**) आप (**अनंतचिदुद्गमसंकलनां**) ज्ञान के अनंत विकल्पों की संकलना-संग्रह को (**न जहासि**) नहीं छोड़ रहे हैं अर्थात् अखण्ड सामान्य ज्ञान की अपेक्षा आप एक हैं और अनंत ज्ञान विकल्पों की अपेक्षा अनेक भी हैं। दोनों ही स्थितियों में ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्या समान ही रहती है क्योंकि (**अविलीनविलीनमहिम्नि**) सघन और पिघली हुई - दोनों अवस्थाओं से युक्त (**तुहिनोपलखण्डल के**) बर्फ के खण्ड में (**अम्बुकणाः**) पानी के कण (**समाः**) समान होते हैं।

भावार्थ :- यहाँ एक अखण्ड ज्ञान की अपेक्षा आपमें एकत्व है और उसके अनंत विकल्पों की अपेक्षा अनेकत्व है। दोनों ही अवस्थाओं में बर्फखण्ड में जलकणों के समान अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्या समान ही रहती है।।८।।

घटितो घटितः परितो झटसि झटितो झटितः परितो घटसे।
झटसीश न वा न पुनर्घटसे जिन जर्ज्जरयन्निव भासि मनः।।९।।

अन्वयार्थ :- (**हे ईश ! हे जिन**) हे नाथ ! हे जिनेन्द्र ! आप (**घटितो घटितः**) अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा वृद्धि को प्राप्त होते हुए (**परितः**) सब ओरसे (**झटसि**) हानिको प्राप्त होते हैं और (**झटितो झटितः**) हानिको प्राप्त होते हुए भी (**परितः**) सब ओरसे पुनः (**घटसे**) वृद्धि को प्राप्त होते हैं (**वा**) अथवा (**न झटसि न पुनः**) घटसे न हानिको प्राप्त होते हैं और न पुनः वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार आप (**मनः**) मेरे मन को (**जर्ज्जरयन्निव**) जर्जर करते हुए के समान (**भासि**) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण में वृद्धि का प्रसंग आनेपर अगुरुलघु गुण के निमित्त से अनंतभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनंतगुणवृद्धि यह छह प्रकार की वृद्धि होती है तथा हानिका प्रसङ्ग आनेपर उपर्युक्त छह प्रकार की हानि होती है। हे भगवन् ! द्रव्यगत स्वभाव के कारण आप भी अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा उपर्युक्त छह प्रकार की वृद्धि को प्राप्त कर पुनः छह प्रकार की हानिको प्राप्त करते हैं इसलिये कहा जाता है कि आप सब ओरसे वृद्धि को प्राप्त होकर भी हानिको प्राप्त होते हैं और हानिको प्राप्त होकर भी पुनः वृद्धि को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि भाववती शक्ति के कारण आपमें अर्थपर्यायरूप परिणमन निरंतर चालू रहता है परंतु विशेषता यह है कि इस अर्थपर्यायरूप परिणमन से आपके द्रव्य और गुणों में कोई ऐसा परिणमन नहीं होता जिससे उसके बाह्यरूप में कोई विशेषता अङ्कित की जा सके। भाव यह है कि सामान्य द्रव्य तथा गुण की अपेक्षा आपमें न वृद्धि होती है और न हानि होती है। इस प्रकार द्रव्य और पर्यायगत स्वभाव के कारण समीविचार करने पर मन की वह जर्जरता दूर हो जाती है।।९।।

प्रकृतिर्भवतः परिणाममयी प्रकृतौ च वृथैव वितर्ककथा।
वहनित्य (वहसि त्व) मखण्डितधारचिता सदृशेतरभावभरेण भृतः।।१०।

अन्वयार्थ :- (**भवतः**) आपका (**प्रकृतिः**) स्वभाव (**परिणाममयी**) परिणमनशील है (**च**) और (**प्रकृतौ**) स्वभाव के विषय में (**वितर्ककथा**) ऐसा क्यों होता है ? ऐसे तर्ककी चर्चा (**वृथैव**) वृथा ही है (**अखण्डितधारचिता**) अखण्ड सन्ततिसे युक्त (**सदृशेतरभावभरेण**) समान और असमान-वृद्धि और हानिरूप परस्पर विरोधी धर्मों के समूह से (**भूतः**) परिपूर्ण (**त्वम्**) आप (**बहसि**) उपर्युक्त प्रकृति - स्वभाव को धारण कर रहे हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! द्रव्य का यह स्वभाव है कि वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप परिणमन से युक्त होता है। उसका स्वभाव ऐसा क्यों है ? इसमें तर्क नहीं किया जा सकता है क्योंकि `स्वभावोऽतर्कगोचरः' स्वभाव तर्कका विषय नहीं है। इस सिद्धांत के अनुसार आप भी परिणमनशील है और उस परिणमनशीलता के विषय में कोई तर्क नहीं किया जा सकता है। यह परस्पर विरोधी परिणमन आपमें अनादिकाल से अखण्डधारा के रूपमें चला आ रहा है और आप इस प्रकार के परिणमनरूप स्वभाव को धारण करते आ रहे हैं।।१०।।

अपरोक्षतया त्वयि भाति विभावपरोक्षपरोक्षतया(र्थ)थ गतिः।
न तथाप्यपरोक्षविभूतिभरं प्रतियं पेति (प्रतियन्ति वि) मोहहताः पशवः।
।११।।

अन्वयार्थ :- (**अर्थगतिः**) पदार्थ का ज्ञान (**अपरोक्षपरोक्षतया**) प्रत्यक्ष और परोक्षरूप से होता है **[यद्यपि]** (**विभौ त्वयि अपरोक्षतया भाति `सति'**) लोकोत्तर सामर्थ्यसे युक्त आप प्रत्यक्षरूप से सुशोभित हो रहे हैं (**तथापि**) तो भी (**विमोहहताः पशवः**) मिथ्यात्व से पीडित अज्ञानी जन आपके (**अपरोक्षविभूतिभरं**) प्रत्यक्षविभूति के समूह की (**न प्रतियन्ति**) प्रतीति नहीं करते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! यह ठीक है कि पदार्थ का निर्णय प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रमाणों से होता है परंतु आप तो प्रत्यक्ष अनुभव में आनेवाले वैभव से सुशोभित हो रहे हैं फिर भी आश्चर्य है कि विभ्रम से पीड़ित हुए अज्ञानी जन आपके इस प्रत्यक्ष वैभव की प्रतीति नहीं कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि पदार्थ का निर्णय यद्यपि कहीं प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है और कहीं स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन परोक्ष प्रमाणों से भी होता है। जो पदार्थ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है उसका निर्णय प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है और जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है उसका निर्णय परोक्ष प्रमाण से होता है। कदाचित् परोक्ष पदार्थ के निर्णय करनेमें अज्ञानी जनों को बाधा हो सकती है परंतु प्रत्यक्ष पदार्थ के निर्णय में बाधा नहीं होती। आश्चर्य यह है कि आपकी विभूतियों का समूह यद्यपि प्रत्यक्ष है तथापि अनादि विमोह - मिथ्यात्व से पीड़ित अज्ञानी जन उसकी श्रद्धा नहीं कर पा रहे हैं।।११।।

स्वपराकृतिसङ्कलनाकुलिता स्वमपास्य परे पतिता परदृक्।
भवतस्तु भरादभिभूय परं स्वमहिम्नि निराकुलमुच्छलति।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**स्वपराकृतिसङ्कलनाकुलिता**) निज और पर की आकृति के ग्रहण करने में आकुलित रहनेवाली (**परदृक**) अन्य मिथ्यादृष्टि मनुष्यों की दृष्टि (**स्वम् अपास्य**) निज को छोड़कर (**परे**) पर पदार्थ में (**पतिता**) जा पड़ी है (**तु**) परंतु (**भवत्**) आपकी दृष्टि (**भराः**) बलपूर्वक (**परम् अभिभूय**) परको छोड़कर (**निराकुलं यथास्यात्तथा**) निराकुलरूप से (**स्वमहिम्नि**) अपनी महिमा में ही (**उच्छलति**) उच्छलित हो रही है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! यद्यपि ज्ञान का स्वभाव स्वपरग्राही है परंतु मिथ्यादृष्टि मनुष्य का ज्ञान स्व को छोड़कर पर पदार्थ को ही अपना ज्ञेय बनाता है और आपका ज्ञान पर पदार्थ को छोड़कर अपने आपको ही ज्ञेय बना रहा है अर्थात् अपने आपको ही जान रहा है। परमार्थ से आप आत्मज्ञ ही हैं और व्यवहार से लोकालोकज्ञ हैं।।१२।।

दृशि दृश्यतया परितः स्वपरावितरेतरमीश्वरसंविशतः।
अतएव विवेककृते भवता निरणायि विधिप्रतिषेधविधिः।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**ईश्वर**) हे भगवन् ! (**स्वपरौ**) निज और पर पदार्थ (**दृश्यतया**) दर्शन का विषय होनेसे (**दृशि**) दर्शनगुण में (**इतरेतरम्**) परस्पर (**परितः**) सब ओरसे (**संविशतः**) प्रविष्ट हो रहे हैं (**अतएव**) इसलिये (**भवता**) आपके द्वारा (**विवेककृते**) स्व और पर का भेद विज्ञान करने के लिये (**विधिप्रतिषेधविधिः**) विधि और निषेध की पद्धति का (**निरणायि**) निर्णय किया गया है।

भावार्थ :- जिस प्रकार स्वपरपदार्थ ज्ञानगुण के विषय हैं उसी प्रकार दर्शनगुण के भी विषय हैं। ज्ञानगुण के विषय होनेसे उन्हें ज्ञेय कहते हैं और दर्शनगुण का विषय होनेसे उन्हें दृश्य कहते हैं। ज्ञान और दर्शन में जो विषय आते हैं वे परस्पर संवलित रूपसे आते हैं अतः कौन स्व है ? और कौन पर है ? इसका भेद करनेके लिये हे भगवन् ! आपने विधि और निषेध की पद्धति को स्वीकृत किया है। जिसके साथ विधि का व्यवहार होता है वह स्व है जैसे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि। और जिसके साथ प्रतिषेधका व्यवहार होता है वह पर है जैसे राग, द्वेष, काम, क्रोध

आदि। ज्ञान दर्शन आदि आत्मा के हैं क्योंकि ये परावलबम्बन के बिना आत्मा में स्वतः विद्यमान रहते हैं और राग-द्वेष आदि आत्मा के नहीं हैं, क्योंकि ये परावलम्बन से आत्मा में प्रकट होते हैं।।१३।।

यदि दृश्यनिमित्तक एव दृशि व्यतिरेकभरोऽन्वयमन्वगमत्।
दृशिरेव तदा प्रतिभातु परं किमु दृश्यभरेण दृशं हरता।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**यदि**) यदि (**दृश्यनिमित्तकः**) दृश्य के निमित्त से होनेवाला (**एषः**) यह (**व्यतिरेकभरः**) पर्याय समूह (**दृशि**) दर्शन में (**अन्वयम्**) अन्वय को (**अन्वगमत्**) प्राप्त होता है अर्थात् दृश्य पदार्थों के निमित्त से ही दर्शनगुण की पर्यायों की सन्तति चलती है (**तदा**) तो (**दृशिरेव**) एक दर्शन ही (**परं**) अत्यंत (**प्रतिभातु**) प्रतिभासित हो (**दृशं हरता**) दर्शन का हरनेवाले (**दृश्यभरेण किमु**) दृश्य पदार्थों के समूह से क्या प्रयोजन है ?

भावार्थ :- जिस प्रकार दर्पण की स्वच्छता से दर्पण में अनेक पदार्थों का प्रतिबिम्ब पड़ता है परंतु परमार्थ से वह सब प्रतिबिम्ब, दर्पण ही परिणमन है पदार्थों का नहीं। इसी प्रकार दर्शन गुण में उसकी स्वच्छता से अनेक दृश्यों का विकल्प आता है, परंतु वह सब विकल्प दर्शन का ही परिणमन है पदार्थों का नहीं। इसी दृष्टि से यहाँ कहा गया है कि यदि दृश्य - पदार्थों के निमित्त से दर्शनगुण में अनेक पर्यायों का समूह अन्वय को प्राप्त होता है तो परमार्थ से वह दर्शनगुण का ही परिणमन है दृश्य पदार्थों का नहीं।

यद्यपि दर्शन निर्विकल्पक माना गया है और ज्ञान सविकल्पक, तथापि छद्मस्थ जीव का ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है और सर्वज्ञ का ज्ञान दर्शन के साथ उत्पन्न होता है इसी अभिप्राय से यहाँ दर्शन में दृश्य के विकल्प का उल्लेख किया गया है ऐसा जान पड़ता है।।१४।।

यदिदं वचसां विषयाविषयस्तदभूत्तव दृश्यमशेषमपि।
अथवाचलचिद्भरधीरतया जिन दृश्यविरक्तविभूतिरसि।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**यत्**) जिस कारण (**इदम्**) यह दर्शनगुण (**वचसां विषयाविषयः**) वचनों

के विषय का अविषय है अर्थात् सूक्ष्म होनेके कारण वचनों से उल्लिखित नहीं होता है (**तत्**) उस कारण (**तव**) आपका (**अशेषं दृश्यमपि**) समस्त दृश्य भी (**वचसां विषयाविषयः**) वचनों के विषय का अविषय है अर्थात् वचनों से उल्लिखित नहीं होता है। (**अथवा**) अथवा (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**अचलचिद्भरधीरतया**) अचल चैतन्य के समूह में स्थिर होनेके कारण आप (**दृश्यविरक्तविभूतिः असि**) दृश्यपदार्थों से विरक्तविभूतिवाले हैं।

भावार्थ :- दर्शनगुण का परिणमन इतना सूक्ष्म होता है कि वचनों के द्वारा उसका उल्लेख नहीं किया जा सकता है। वचनों से जिसका उल्लेख होता है वह ज्ञान का विषय होता है। इसी अभिप्राय से दर्शन को निर्विकल्प माना जाता है अर्थात् उसमें दृश्य के निमित्त से विकल्प की उत्पत्ति नहीं मानी जाती है। इस प्रकार हे भगवन् ! आप दृश्य के विकल्प से रहित हैं। अथवा चैतन्य एक गुण है उसका ज्ञान और दर्शन के भेद से दो रूप परिणमन होता है। जब इन दो रूप परिणमनों की विवक्षा रहती है तब दर्शन-दृश्य और ज्ञान-ज्ञेय का व्यवहार होता है परंतु जब एक अविनाशी चैतन्यगुण की ही विवक्षा रहती है तब इनका व्यवहार नहीं होता, एक चैतन्य और चैतन्य का ही व्यवहार होता है। इस स्थिति में यह कहा जाता है कि हे भगवन् ! आपकी विभूति दृश्य से विरक्त है अर्थात् दृश्य के विकल्प से रहित है।।१५।।

महतात्मविकासभरेण भृशं गमयन्त्य इवात्ममयत्वमिमाः।
जिन विश्वमपि स्फुटन्ति हठात् स्फुटितस्फुटितास्तव चित्कलिकाः।।१६।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**महता**) बहुत बड़े (**आत्मविकासभरेण**) आत्मविकास के समूह से (**भृशं**) अत्यधिक दृश्य और ज्ञेय पदार्थों को (**आत्ममयत्वं**) आत्मरूपता को (**गमयन्त्य इव**) प्राप्त कराती हुई के समान (**तव**) आपकी (**इमाः**) ये (**स्फुटितस्फुटिताः**) अतिशयरूप प्रकट हुई (**चित्कलिकाः**) ज्ञानदर्शनरूप चैतन्यगुण की परिणतियाँ (**हठात्**) हठपूर्वक (**विश्वमपि**) समस्तपदार्थों को भी (**स्फुटयन्ति**) प्रकट करती हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपके चैतन्यगुण का जो केवलदर्शन और केवलज्ञानरूप परिणमन है वह आत्मविकास का उत्कृष्ट रूप है। उसमें जो भी पदार्थ दृश्य और ज्ञेयरूप होकर आते हैं वे ऐसे जान पड़ते हैं मानों आत्मा के साथ तन्मयता को ही प्राप्त हो रहे हों। ये केवलदर्शन और केवलज्ञान स्वयं अत्यंत स्फुटित हैं - प्रकटरूप

हैं और समस्त विश्व को भी अपने भीतर स्फुटित करते हैं।।१६।।

अचलात्मचमत्कृतचन्द्ररुचा रचयन्ति वितानमिवाविरतम्।
अवभासितविश्वतयोच्छलिता विततद्युतयस्तव चित्तडितः।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**अवभासितविश्वतया**) समस्त लोकालोकरूप विश्व को प्रकाशित करने के कारण जो (**उच्छलिताः**) उत्कृष्टरूप से प्रकट हो रही हैं तथा (**विततद्युतयः**) जिनकी दीप्ति अत्यंत विस्तृत है ऐसा (**तव**) आपकी (**चित्तडितः**) चैतन्यज्ञानदर्शनरूप बिजलियाँ (**अचलात्मचमत्कृतचन्द्ररुचा**) अविनाशी आत्मा के चमत्काररूप चन्द्रमा की कान्ति के द्वारा (**अविरतम्**) निरंतर (**वितानमिव रचयन्ति**) मानों चँदेवा ही रच रही हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपके चैतन्यगुण का जो केवलदर्शन और केवलज्ञानरूप परिणमन है वह बिजली के समान अत्यंत प्रकाशमान है। बिजली सीमित क्षेत्र को जब कभी अपनी कौंद से प्रकाशित करती है परंतु केवलदर्शन और केवलज्ञान अपनी कौंदसे निरंतर लोकालोक को प्रकाशित करते रहते हैं। उनका प्रकाश तो ऐसा छाया रहता है मानों आत्मज्ञानरूप चन्द्रमा की चाँदनी के द्वारा एक सदा स्थायी रहनेवाला चँदेवा ही तान दिया गया हो।।१७।।

इदमद्य ददद्विशदानुभवं बहुभावसुनिर्भरसत्त्वरसम्।
तव बोधमुखे कवलग्रहवत् परिवृत्तिमुपैति समग्रजगत्।।१८।।

अन्वयार्थ :- (**विशदानुभवं ददत्**) जो स्पष्ट अनुभव को दे रहा है तथा जो (**बहुभावसुनिर्भरसत्त्वरसम्**) अनेक पदार्थ समूह की अतिशय सत्तारूपी रस से युक्त है ऐसा (**इदम्**) यह (**समग्रजगत्**) सम्पूर्ण लोक (**अद्य**) आज (**तव**) आपके (**बोधमुखे**) केवलज्ञानरूप मुख में (**कवलग्रहवत्**) ग्रासग्रहण के समान (**परिवृत्तिं**) परिवर्तन को (**उपैति**) प्राप्त हो रहा है।

भावार्थ :- जिस प्रकार अनेक रसोंसे युक्त ग्रास, मुख में पहुँच कर अपने आपका रसास्वाद कराता हुआ घुलमिल जाता है उसी प्रकार अनेक पदार्थों के अस्तित्त्व से परिपूर्ण यह समस्त संसार आपके केवलज्ञान में अपना स्पष्ट अनुभव कराता हुआ घुलमिल रहा है अर्थात् ज्ञेय बनकर प्रतिफलित हो रहा है।।१८।।

बहुरूपचिदुद्‌गमरूपतया वितथैव वपुः प्रतिबिम्बकथा।
अनुभूतिमथापतितं युगपन्ननु विश्वमपि प्रतिमा भवतः।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**बहुरूपचिदुद्‌गमरूपतया**) ज्ञान-दर्शन के भेद से विविधरूपता को प्राप्त चैतन्य के उद्‌गमस्वरूप होनेके कारण (**भवतः**) आपके (**वपुः प्रतिबिम्बकथा**) शरीर के प्रतिबिम्ब की कथा करना (**वितथैव**) व्यर्थ ही है (**अथ**) एक सर्वज्ञदशा के प्रकट होनेके अनंतर तो (**युगपत्**) एक साथ (**अनुभूतिम् आपतितम्**) अनुभूति को प्राप्त होनेवाला (**विश्वमपि**) समस्त विश्व भी (**ननु**) निश्चय से (**भवतः**) आपकी प्रतिमा - प्रतिबिम्ब है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! परमार्थ से ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि रूप जो चैतन्य का परिणमन है वही आपका स्वरूप है अतः आपके शरीर के प्रतिबिम्ब की चर्चा करना व्यर्थ है परंतु आपकी आत्मा में एक साथ प्रतिफलित होने वाले अनंतानन्त पदार्थों को ओर लक्ष्य देकर जब चर्चा की जाती है तब ऐसा लगता है कि यह समस्त विश्व ही आपकी प्रतिमा है। ज्ञेय - पदार्थ का जब ज्ञानमें विकल्प आता है तब ज्ञान, ज्ञेयाकार हो जाता है ऐसा व्यवहार है, इसी व्यवहार के अनुसार आपके ज्ञान में समस्त विश्व का विकल्प आ रहा है अतः आपका ज्ञान विश्वाकार हो रहा है। यद्यपि परमार्थ से न ज्ञान, ज्ञेयरूप होता है और न ज्ञेय, ज्ञानरूप होता है तथापि व्यवहार से ऐसा वर्णन होता है कि ज्ञेय को जानने के कारण ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता है और ज्ञेय, ज्ञान में प्रतिबिम्बित होनेसे ज्ञानाकार हो जाता है।।१९।।

ह्रियते हि परैर्विषयैर्विषयी स्वमतः कुरुतां विषयं विषयी।
स (यतो)हतो विषयैर्विषयस्तु भवेंदहृतो विषयी न पुनर्विषयः।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**हि**) जिस कारण (**विषयी**) पदार्थों का विषय करनेवाला - जाननेवाला आत्मा (**परैः विषयैः**) अन्य विषयों के द्वारा (**ह्रियते**) हरा जाता है - तद्रूप हो जाता है (**अतः**) इस कारण (**विषयी**) आत्मा (**स्वम्**) अपने आपको (**विषयं कुरुताम्**) विषय करे - परज्ञेयों से निवृत्त होकर स्व को जाने। (**तु**) और (**यतो**) जिस कारण (**सः**) वह स्वकीय आत्मा (**विषयः**) विषय होता है उस कारण वह (**विषयैः**) अन्य विषयों के द्वारा (**अहृतो भवेत्**) अहृत होता है - अन्यरूप नहीं होता है उस समय वह आत्मा (**विषयी**) विषय करनेवाला - ज्ञायक ही होता है (**न पुनर्विषयः**) विषयरूप नहीं होता।

भावार्थ :- जो आत्मा अन्य पदार्थों को जानता है वह ज्ञेयाकार परिणमन करनेके कारण उनरूप हो जाता है इसलिये उपरितन भूमिका में आत्मा अन्य पदार्थों का विकल्प छोड़कर अपने आपको जानता है। जब आत्मा अपने आपको विषय बनाता है अर्थात् अपने आपको जानता है तब वह अन्य ज्ञेयाकार नहीं होता, अतः विषयी-ज्ञायक ही रहता है विषय - ज्ञेयरूप नहीं होता है।।२०।।

दृशिबोधसुनिश्चलवृत्तिमयो भवबीजहरस्तव शक्तिभरः।
न विविक्तमतिः क्रियया रमते क्रिययोपरमत्थपथादथ तु।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**दृशिबोधसुनिश्चलवृत्तिमयः**) दर्शन और ज्ञान में निश्चलवृत्तिरूप जो (तव) आपकी (**शक्तिभरः**) शक्तियों का समूह है वह (**भवबीजहरः**) संसार के बीज - कारण को नष्ट करनेवाला है (**तु**) किन्तु (**विविक्तमतिः**) पवित्र ज्ञान का धारक-भेदविज्ञानी मनुष्य (**क्रियया**) क्रिया के द्वारा (**न रमते**) रमता नहीं है अर्थात् मात्र क्रिया में तल्लीन नहीं होता है (**अथ**) अपितु प्रारम्भिक अवस्था में (**क्रियया**) क्रिया के द्वारा (**अपथात्**) कुमार्ग से (**उपरमति**) निवृत्त होता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आत्मा ज्ञाता दृष्टा-स्वभाव वाला है अतः आत्मा की समस्त शक्तियों का समूह जब आत्मस्वभाव में स्थिर हो जाता है तब संसार अवस्था का नाश कर वह मुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है। ज्ञाता दृष्टा स्वभाव में स्थिर होना ही परम यथाख्यातचारित्र है और परम यथाख्यातचारित्र ही मोक्ष का साक्षात् कारण है। ज्ञान में अपवित्रता मोह के निमित्त से आती है, जिसके मोह का सम्बन्ध छूट जाता है उसका ज्ञान पवित्र हो जाता है। जब तक इस जीव के साथ मोह का सम्बन्ध रहता है तभी तक इसकी सामायिक छेदोपस्थापना आदि क्रियारूप चारित्र में प्रवृत्ति होती है। बारहवें आदि गुणस्थानों में मोह का सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है अतः उन गुणस्थानों में रहनेवाले जीवों के एक यथाख्यताचारित्र ही होता है क्रियारूप चारित्र नहीं होता। इस उपरितन भूमिका में पहुँचने के पहले जो क्रियारूप चारित्र में प्रवृत्ति होती है उसके द्वारा इस जीव की अशुभोपयोग कुमार्ग से निवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि निश्चयनय की अपेक्षा निवृत्ति का अंश ही चारित्र कहलाता है प्रवृत्ति का अंश नहीं। यह निवृत्तिरूप चारित्र संसारनिवृत्ति का कारण है और प्रवृत्तिरूप चारित्र पुण्यबंध का कारण है।।२१।।

क्रियये‌रितपुद्‌गलकर्ममलश्चिति पाकमकम्पमुपैति पुमान्।
परिपक्वचितस्त्वपुनर्भवता भवबीजहठोद्धरणान्नियतम्।।२२।।

अन्वयार्थ :- (**क्रियया**) चारित्ररूप क्रिया के द्वारा (**ईरितपुद्‌गलकर्ममलः**) जिसका पुद्‌गल कर्मरूपीमल निरस्त हो गया है ऐसा (**पुमान्**) पुरुष (**चिति**) ज्ञानस्वभाव में (**अकम्पं**) कभी नष्ट न होनेवाले (**पाकं**) परिणाम को (**उपैति**) प्राप्त होता है (**तु**) और (**परिपक्वचितः**) जिसका ज्ञानस्वभाव परिपक्व हो चुका है अर्थात् केवलज्ञानरूप पर्याय को प्राप्त कर परिपूर्ण हो चुका है उसके (**नियतम्**) निश्चितरूप से (**भवबीजहठोद्धरणात्**) संसार के कारणों को बलपूर्वक नष्ट कर देनेसे (**अपुनर्भवता**) मुक्ति होती है।

भावार्थ :- यथाख्यातचारित्र के द्वारा जिसके घातिचतुष्टय का क्षय हो चुका है ऐसा पुरुष केवलज्ञान प्राप्त करता है और जिसे केवलज्ञान प्राप्त हो चुका है ऐसा पुरुष नियम से मुक्ति का पात्र होता है। हे भगवन् ! आप उपर्युक्त विधि से कर्ममल को नष्ट कर केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं अतः यह निश्चय है कि अब आपको पुनर्जन्म धारण नहीं करना है। संसार का कारणस्वरूप जो कर्ममल था उसे आपने आत्मपुरुषार्थ से बलपूर्वक निरस्त कर दिया है।।२२।।

यदि बोधमबोधमलालुलितं स्फुटबोधतयैव सदोद्वहते।
जिन कर्तृतयाकुलितः प्रपतंस्तिमिवन्न विवर्त्तमुपैति तदा।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**यदि**) जब आप (**स्फुटबोधतया**) स्पष्ट-प्रत्यक्ष ज्ञान से युक्त होनेके कारण (**सदा एव**) निरंतर ही (**अबोधमलालुलितं**) अज्ञानरूपी मल से अचञ्चल अथवा अदूषित (**बोधं**) केवलज्ञान को (**उद्वहते**) धारण करते हैं (**तदा**) तब (**कर्तृतया**) कर्तृत्वभाव से (**आकुलितः**) आकुलित हो (**प्रपतन्**) मुक्ति स्थान से पतित होते हुए (**तिमिवत्**) मत्स्यावतार के समान (**विवर्तम्**) अवतार को (**न उपैति**) प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ :- अन्यमत की मान्यता है कि विष्णु मुक्ति स्थान को प्राप्त होकर[१] शिष्टानुग्रह और दुष्यनिग्रह करने की भावना से आकुल हो मुक्तिस्थान से नीचे आकर पुनः अवतार को ग्रहण करता हैं जैसी कि कथा है - एक बार पृथ्वी जल में डूब गया है कि हे भगवन् ! आप निरंतर उस केवलज्ञान को धारण करते हैं जो कभी अज्ञान मल

से चञ्चल या दूषित नहीं होता। केवलज्ञान होनेपर आप कृतकृत्य हो जाते हैं - शिष्यानुग्रह तथा दुष्टनिग्रह जैसी कर्तृत्व की भावना आपको कभी उत्पन्न नहीं होती। यही कारण है कि आप मुक्ति स्थान से वापिस आकर फिर कभी अन्य अवतार को धारण नहीं करते हैं।।२३।।

तव सङ्गममेव वदन्ति सुखं जिन दुःखमयं भवता विरहः।
सुखिनः खलु ते कृतिनः सततं सततं जिन येष्वसि सन्निहितः।।२४।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**तव**) आपके (**सङ्गममेव**) समागम को ही (**सुखं वदन्ति**) सुख कहते हैं और (**भवता**) आपके साथ जो (**अयं**) यह (**विरहः**) वियोग है उसे (**दुःखं**) दुःख कहते हैं (**खलु**) निश्चय से (**ते कृतिनः**) वे भाग्यशाली मनुष्य (**सततं सुखिनः**) निरंतर सुखी हैं (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**येषु**) जिनमें आप (**सततं**) सदा (**सन्निहितः**) निकटस्थ (**असि**) हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! ऋषिगण आपके समागम को ही सुख और आपके वियोग को ही दुःख कहते हैं तात्पर्य यह है कि जिन जीवों की आपमें सदा भक्ति रहती है वे सुख को प्राप्त होते हैं और जिन जीवों की आपमें भक्ति नहीं है वे सदा दुःख को प्राप्त होते हैं। हे नाथ ! संसार में वे ही भाग्यशाली मनुष्य सदा सुखी रहते हैं जिनके निकट आप रहते हैं।।२४।।

कलयन्ति भवन्तमनन्तकलं सकलं सकलाः किल केवलिनः।
तव देव चिदञ्चललग्नमपि ग्लपयन्ति कषायमलानि न माम्।।२५।।

अन्वयार्थ :- (**किल**) निश्चय से (**सकलाः**) समस्त (**केवलिनः**) केवली भगवान् (**भवन्तं**) आपको (**अनंतकलं**) अनंत कलाओं से सहित (**सकलं**) सकल परमात्मा (**कलयन्ति**) कहते

---

१. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।७।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दृष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।८।। - भगवद् गीता, अध्याय ४

हैं। (**देव**) हे नाथ ! (**तव**) आपके (**चिदञ्चललग्नं माम अपि**) ज्ञानरूप अञ्चल के एक देश से संलग्न मुझे भी (**कषायमलानि**) कषायरूपी मल (**न ग्लपयन्ति**) नष्ट नहीं करते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप जीवनमुक्त अरहंत हैं अतः समस्त केवली आपकी सकल-सदेह परमात्मा कहते हैं। यतः आप केवलज्ञानरूपी पूर्णचैतन्य ज्योति से देदीप्यमान हैं अतः कर्मरूपी मल आपको म्लान कर ही कैसे सकते हैं मैं यद्यपि आपके चैतन्य ज्योति के एक अञ्चल को ही प्राप्त कर सका हूँ तथापि कर्मरूपी मल मुझे भी म्लान नहीं कर सकते हैं। आपकी श्रद्धा ही इस जीव को कर्ममल के संसर्ग से दूर रखने में समर्थ है।।२५।।

ॐ

(१५)

वियोगिनी छन्दः

अभिभूय कषायकर्मणामुदयस्पर्द्धकपङ्क्तिमुत्थिताः।
जिन केवलिनः किलाद्भुतं पदमालोकयितुं तवेश्वराः।।१।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**किल**) निश्चय से (**कषायकर्मणां**) क्रोधादि कषायों को उत्पन्न करनेवाले मोहकर्म अथवा क्रोधादि कषायों और ज्ञानावरणादि शेष घातिकर्मों के उदयावली में प्राप्त स्पर्द्धकों के समूह को (**अभिभूय**) नष्ट कर जो (**उत्थिताः**) अभ्युदय को प्राप्त हुए हैं ऐसे (**केवलिनः**) केवली भगवान् (**तव**) आपके (**अद्भुतं**) आश्चर्य कारक (**पदम्**) पद को (**आलोकयितुं**) जानने के लिये (**ईश्वराः**) समर्थ हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपके आश्चर्यकारक पद को प्रत्यक्षरूप से देखने के लिये वे केवली भगवान् ही समर्थ हैं जो उदयागत कर्मपटलों को नष्ट कर अभ्युदय को प्राप्त हुए हैं।।१।।

तव बोधकलामहर्निशं रसयन् बाल इवेक्षुकाणिकाम्।
न हि तृप्तिमुपैत्ययं जनो बहुमाधुर्यहृतान्तराशयः।।२।।

अन्वयार्थ :- (**इक्षुकाणिकां रसयन् बाल इव**) गन्ना की गंडेरी का (**रसयन्**) स्वाद लेने वाले बालक के समान (**बहुमाधुर्यहृतान्तराशयः**) अत्यधिक मिठास, पक्ष में आनंद से हृत हृदय (**अयं जनः**) यह मनुष्य (**अहर्निशं**) दिनरात (**तव**) आपकी (**बोधकलां**) ज्ञानरूपी कला का (**रसयन्**) रस लेता हुआ - अनुभव करता हुआ (**तृप्तिं न हि उपैति**) तृप्ति को प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ :- जिस प्रकार गन्ना की गंडेरी को चूसने वाला बालक उसके मिठास के वशीभूत होता हुआ तृप्त नहीं होता है उसी प्रकार आपके केवलज्ञान की कला का रातदिन अनुभव करने वाला यह प्राणी तृप्त नहीं होता है क्योंकि उसकी दिव्य सामर्थ्य का अनुभव करता हुआ यह प्राणी आश्चर्य से चकित हो जाता है।।२।।

इदमीश निशायितं त्वया निजबोधस्त्रमनन्तशः स्वयम्।
अतएव पदार्थमण्डले निपतत्क्वापि न याति कुण्ठताम्।।३।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! (**त्वया**) आपके द्वारा (**इदम्**) यह (**निजबोधास्त्रं**) स्वकीय ज्ञानरूपी शस्त्र (**अनंतशः**) अनंत बार (**स्वयं**) अपने आप (**निशायितं**) तीक्ष्ण किया गया है (**अतएव**) इसीलिये वह (**पदार्थमण्डले**) पदार्थों के समूह पर (**निपतत्**) पड़ता हुआ (**क्वापि**) कहीं भी (**कुण्ठतां**) मोथलेपन को (**न याति**) नहीं प्राप्त होता है।

भावार्थ :- जिस प्रकार बार-बार घिसकर पैना किया हुआ शस्त्र इतना तीक्ष्ण हो जाता है कि वह किसी भी पदार्थ पर गिराये जाने पर कुण्ठित नहीं होता किन्तु उसे अवश्य ही काट देता है, इसी प्रकार अपने ज्ञानरूपी शस्त्र को आपने अनंतों बार इतना तेज किया है कि वह पदार्थ समूह को जानने में कुण्ठित नहीं होता। हे भगवन् ! आपका ज्ञान केवलज्ञानरूप में परिवर्तित हुआ है अतः वह लोकालोक को जानने में सदा तत्पर रहता है।।३।।

इदमेकमनन्तशो हठादिह वस्तून्यखिलानि खण्डयन्।
तव देव दृगस्त्रमीक्ष्यते युगपद्विश्वविसर्पिविक्रमम्।।४।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे भगवन् ! (**इह**) इस संसार में (**हठात्**) हठ पूर्वक (**अखिलानि वस्तूनि**) समस्त पदार्थों को (**अनंतशः**) अनंतों बार (**खण्डयन्**) खण्ड-खण्ड करता हुआ (**तव**) आपका (**इदं**) यह (**एकं**) एक (**दृगस्त्रम्**) दर्शनरूपी शस्त्र (**युगपत्**) एक साथ (**विश्वविसर्पिविक्रमम्**) जिसका पराक्रम लोकालोक में फैल रहा है ऐसा (**ईक्ष्यते**) दिखाई देता है।

भावार्थ :- हे स्वामिन् ! जिस प्रकार आपका ज्ञान, केवलज्ञान में परिवर्तित होकर लोकालोक को जानने में समर्थ हो गया है उसी प्रकार आपका दर्शन भी, केवल

दर्शनरूप में परिवर्तित होकर समस्त लोकालोक को देखने में समर्थ हो गया है।।४।।

समुदेति विनैव पर्ययैर्न खलु द्रव्यमिदं विना न ते।
इति तद्द्वितयावलम्बिनी प्रकृतिर्देव सदैव तावकी।।५।।

अन्वयार्थ :- (**खलु**) निश्चय से (**द्रव्यं**) द्रव्य पर्यायों के बिना (**न समुदेति**) उदय को प्राप्त नहीं होता और (**ते**) पर्यायें भी (**इदं विना**) द्रव्य के बिना (**न `समुद्यन्ति'**) उदय को प्राप्त नहीं होती (**इति**) इसलिये (**देव**) हे देव ! (**तावकी**) आपकी (**प्रकृतिः**) स्वभाव (**सदैव**) निरंतर ही (**तद्द्वितयावलम्बिनी**) उन दोनों - द्रव्य और पर्यायों को अवलम्बन देनेवाला है।

भावार्थ :- पर्याय से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्याय कभी नहीं होता इसीलिये हे भगवन् ! आप दोनों का अवलम्बन करते हैं। संसार का प्रत्येक पदार्थ द्रव्य पर्यायात्मक अथवा सामान्य विशेषात्मक है। उन सबको आप जानते हैं।।५।।

न विनाश्रयिणः किलाश्रयो न विनैवाश्रयिणः स्युराश्रयम्।
इतरेतरहेतुता तयोर्नियतार्कातपभास्वरत्ववत्।।६।।

अन्वयार्थ :- (**किल**) निश्चय से (**आश्रयिणः विना**) आश्रयी के बिना (**आश्रयः न**) आश्रय नहीं रहता और (**आश्रयं विना**) आश्रय के बिना (**आश्रयिणः**) आश्रयी (**नैव स्युः**) नहीं रहते, इसलिये (**तयोः**) आश्रयी और आश्रय में (**अर्कातपभास्वरत्ववत्**) सूर्य और उसके आतप तथा प्रकाश के समान (**इतरेतरहेतुता**) परस्पर की कारणता (**नियता**) निश्चित है।

भावार्थ :- द्रव्य आश्रय कहलाता है और गुण तथा पर्याय आश्रय कहलाता है। ये दोनों परस्पर एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते जैसे कि सूर्य और उसके आतप तथा प्रकाश।।६।।

विधिरेष निषेधबाधितः प्रतिषेधो विधिना विरूक्षितः।
उभयं समातमुपेत्य तद्यतते संहितमर्थसिद्धये।।७।।

अन्वयार्थ :- (**एषः**) यह (**विधिः**) अस्तिपक्ष (**निषेधवाधितः**) नास्तिपक्ष से बाधित है और (**प्रतिषेधः**) नास्तिपक्ष (**विधिना**) अस्तिपक्ष के द्वारा (**विरूक्षितः**) बाधित है परंतु (**तद् उभयं**) वे दोनों - अस्ति और नास्तिपक्ष (**समतामुपेत्य**) समता को प्राप्त कर (**संहितं**) परस्पर मिले हुए (**अर्थसिद्धये**) प्रयोजन अथवा पदार्थ की सिद्धि के लिये (**यतते**) यत्न करते हैं।

भावार्थ :- पदार्थ के सद्भाव को बतलाने वाला पक्ष अस्तिपक्ष कहलाता है और असद्भाव को बतलाने वाला पक्ष नास्तिपक्ष कहलाता है। ये दोनों पक्ष परस्पर के विरोधी होनेसे मिलते नहीं हैं, परंतु आपने नय विवक्षा से इन दोनों को एक साथ मिलाया है। आपने कहा है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय - अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा अस्तिरूप है और परचतुष्टय - परद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा नास्तिरूप है। जब ये दोनों पक्ष परस्पर विरुद्ध रहते हैं - अपने विरोधी पक्ष का सर्वथा निषेध कर देते हैं तब उनसे पदार्थ का वास्तविक रूप सिद्ध नहीं होता और न वैसा मानने से कोई प्रयोजन ही सिद्ध होता है।।७।।

न भवन्ति यतोऽन्यथा क्वचिज्जिन वस्तूनि तथा भवन्त्यपि।
समकालतयावतिष्ठते प्रतिषेधो विधिना समं ततः।।८।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**यतः**) क्योंकि (**वस्तूनि**) पदार्थ (**तथा भवन्ति अपि**) स्वचतुष्टय की अपेक्षा होते हुए भी (**क्वचित्**) कहीं (**अन्यथा न भवन्ति**) परचतुष्टय की अपेक्षा नहीं होते हैं (**ततः**) इस कारण (**प्रतिषेधः**) नास्तिपक्ष (**विधिना समं**) अस्तिपक्ष के साथ (**समकालतया**) एक काल में (**अवतिष्ठते**) अवस्थित रहता है।

भावार्थ :- ऊपर कहे हुए अस्तिपक्ष और नास्तिपक्ष जब पृथक्-पृथक् विवक्षित होते हैं तब वे स्वतंत्र रूपसे सामने आते हैं परंतु जब उनकी क्रम से एक साथ विवक्षा की जाती है तब एक ही साथ पदार्थ में अनुभूत होते हैं। ऊपर के श्लोक में `स्यात् अस्ति' और `स्यात् नास्ति' इन दो भङ्गों की चर्चा की गई थी। यहाँ `स्यात् अस्ति नास्ति' इस तृतीय भंग की चर्चा की गई है।।८।।

नहि वाच्यमवाच्यमेव वा तव माहात्म्यमिदं द्व्यात्मकम्।
उभयैकतरत् प्रभाषितां (णां) रसना नः शतखण्डतामियात्।।९।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! वस्तु (**नहि वाच्यम्**) न वाच्यरूप है (**वा**) और (**नहि अवाच्यमेव**) न अवाच्यरूप ही है किन्तु (**द्व्यात्मकम्**) दोनों रूप है। (**इदं**) यह (**तव**) आपका (**माहात्म्यम्**) माहात्म्य है। (**उभयैकतरत्**) दोनों में से मात्र एक का (**प्रभाषिणां**) कथन करने वाले (**नः**) हमारी (**रसना**) जिह्वा (**शतखण्डताम् इयात्**) सौ खण्ड को प्राप्त हो।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपकी यही महिमा है कि आपने वस्तु को सर्वथा वाच्य या अवाच्य न कहकर दोनों रूप कहा है। उन दोनों धर्मोंमें से मैं यदि मात्र एकका कथन करता हूँ तो मेरी जिह्वा के सौखण्ड हो जावें।।९।।

क्रमतः किल वाच्यतामियाद्युगपद् द्व्यात्मकमेत्यवाच्यताम्।
प्रकृतिः किल वाङ्मयस्य सा यदसौ शक्तिरशक्तिरेव च।।१०।

अन्वयार्थ :- हे प्रभो ! (**किल**) निश्चय से वस्तु (**क्रमतः**) क्रमसे (**वाच्यताम्**) वाच्यरूपता को (**इयात्**) प्राप्त होती है और (**युगपद्**) एक साथ (**द्व्यात्मकं `सत्'**) उभयधर्मात्मक होती हुई (**अवाच्यताम्**) अवाच्यरूपता को (**एति**) प्राप्त होती है (**किल**) वास्तव में (**वाङ्मयस्य**) शब्द समूह का (**सा-असौ**) वह (**प्रकृतिः**) स्वभाव है (**यत्**) कि (**शक्तिः च अशक्तिः**) क्रमसे कहने में उसकी शक्ति है और युगपत् कहने में अशक्ति है[१]।

भावार्थ :- दो विरोधी धर्मों को क्रमसे कहने की शब्दों में शक्ति है परंतु एक साथ कहने की शक्ति नहीं है अतः विरोधी धर्मों की जब क्रम से विवक्षा की जाती है तब वे वाच्य होते हैं और जब एक साथ विवक्षा की जाती है तब अवाच्य होते हैं।।१०।।

स्वयमेकमनेकमप्यदस्तवयत्तत्त्वमतर्कितं परैः।
इदमेव विचारगोचरं गतमायाति किलार्थगौरवम्।।११।।

१. कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव ते।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा।।१४।।
सदेव सर्व को नेच्छेत्स्वरूपादितचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते।।१५।।
क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्योत्तरोः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्व हेतुतः।।१६।। - आप्तमीमांसा।

अन्वयार्थ :- (**परैः अतर्कितं**) अन्य वादि जिसकी कल्पना नहीं कर सके हैं ऐसा (**तव यत् अदः तत्त्वम्**) आपका जो यह तत्त्व है वह (**स्वयं**) स्वयं (**एकम् अपि अनेकं**) एक होकर भी अनेक है। (**इदमेव**) यही परस्पर विरोधी तत्त्व (**विचारगोचरं सत्**) विचार के विषयो को प्राप्त होता हुआ (**अर्थगौरवम्**) अर्थ के गौरव को (**आयाति**) प्राप्त होता है।

भावार्थ :- यहाँ आचार्य एक, अनेक और उभयात्म - एकानेक रूप धर्म का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् का स्तवन करते हैं - हे प्रभो ! आपने जिस तत्त्व का निरूपण किया है वह विवक्षावश एक, अनेक तथा एकानेकात्मक है। समुदाय की अपेक्षा तत्त्व एक है, अवयवों की अपेक्षा अनेक है और दोनों की एक साथ विवक्षा करने पर एकानेक है। यही भाव आगेके श्लोक में स्पष्ट करते हैं।।११।।

न किलैकमनेकमेव वा समुदायावयवोभयात्मकम्।
इतरा गतिरेव वस्तुनः समुदायावयवौ विहाय न।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**किल**) निश्चय से वस्तु (**न एकं**) न एकरूप ही है (**वा**) और (**न अनेकमेव**) न अनेकरूप ही है किन्तु (**समुदायावयवोभयात्मकं**) समुदाय और अवयव - अंशी और अंश - दोनों रूप है। क्योंकि (**समुदायावयवौ**) समुदाय और अवयवों को (**विहाय**) छोड़कर (**वस्तुनः**) वस्तु की (**इतरा**) अन्य (**गतिरेव न**) गति ही नहीं है।

भावार्थ :- संसार की प्रत्येक वस्तु समुदाय और अवयव को छोड़कर अन्य रूप नहीं है। अतः जब समुदाय की ओर दृष्टिपात कर कथन होता है तब वस्तु एक रूप प्रतीत होती है और जब उसके अवयवों की ओर दृष्टिपात कर कथन करते हैं तब यही वस्तु अनेकरूप प्रतीत होती है। जब इन एक और अनेक दोनों रूपों की क्रम से विवक्षा होती है तब वस्तु उभयात्मक अनुभव में आती है और जब दोनों की एक साथ विवक्षा होती है तब वह अनुभयात्मक - अवाच्य प्रतीत होती है।।१२।

त्वमनित्यतयावभाससे जिन नित्योऽपि विभासि निश्चितम्।
द्वितयी किल कार्यकारितां तव शक्तिः कलयत्यनाकुलम्।।१३।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**एवम्**) आप (**अनित्यतया**) अनित्यरूप से (**अवभास**

से) प्रतीति में आते हैं और (**निश्चितं**) निश्चितरूप से (**नित्योऽपि**) नित्यरूप भी (**विभासि**) प्रतीति में आ रहे हैं। (**तव**) आपकी यह (**द्वितयी शक्तिः**) नित्यानित्यरूप द्विविधधर्मता (**अनाकुलं**) निःसंदेह (**कार्यकारितां**) अर्थ कार्यकारित्व को (**किल**) निश्चय से (**कलयति**) प्रकट करती है।

भावार्थ :- यहाँ नित्य, अनित्य और नित्यानित्य धर्म को दृष्टि में रखकर आचार्य ने भगवान् का स्तवन किया है - हे जिनेन्द्र ! आप द्रव्य की अपेक्षा नित्य हैं, पर्याय की अपेक्षा अनित्य हैं और यह द्विरूपता ही अर्थ क्रियाकारी है। यही बात आगे के श्लोक में स्पष्ट करते हैं।।१३।।

किमनित्यतया विना क्रमस्तमनाक्रम्य किमस्ति नित्यता।
स्वयमारचयन् क्रमाक्रमं भगवन् द्व्यात्मकतां जहासि किम्।।१४।

अन्वयार्थ :- (**किम् अनित्यतया विना क्रमः**) क्या अनित्यता के बिना क्रम होता है ? अर्थात् नहीं होता और (**क्रमम् अनाक्रम्य**) क्रम को नष्ट किये बिना (**किं नित्यता अस्ति**) क्या नित्यता है ? अर्थात् नहीं है। इस प्रकार (**भगवन्**) हे भगवन् ! (**स्वयं**) अपने आप (**क्रमाक्रमं**) क्रम और अक्रम को (**आरचयन्**) प्रकट करते हुए आप (**द्व्यात्मकतां**) नित्यानित्यरूपता को (**किं जहासि**) क्या छोड़ते हैं ? अर्थात् नहीं छोड़ते हैं।

भावार्थ :- क्रम की अनित्यता के साथ और अक्रम की नित्यता के साथ व्याप्ति है। पर्याय दृष्टि से आप क्रम को और द्रव्यदृष्टि से अक्रम को स्वयं ही आलम्बन दे रहे हैं अतः नित्यानित्यात्मकपने को आप कैसे छोड़ सकते हैं ? अर्थात् नहीं छोड़ सकते हैं।।१४।।

न किल स्वमिहैककारणं न तवैकः पर एव वा भवन्।
स्वपरावलम्ब्य वल्गतो द्वितयं कार्यत एव कारणम्।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**किल**) निश्चय से (**इह**) यहाँ (**स्वं**) स्व (**एककारणं न**) एक कारण नहीं है (**वा**) और (**भवन्**) होता हुआ (**एकः पर एव न**) एक पर ही कारण नहीं है किन्तु (**स्वपरौ**) निज और पर का (**अवलम्ब्य**) अवलम्बन लेकर (**वल्गतः**) उद्यम करने वाले (**तव**) आपके मत में (**कार्यतः**) कार्य की सिद्धि में (**द्वितयम् एव कारणम्**)

स्व और पर दोनों ही कारण हैं।

भावार्थ :- यहाँ भगवान् का स्तवन करते हुए कहा गया है कि कार्य की सिद्धि स्वपर कारणों से होती है। स्व, उपादान कारण और पर निमित्त कारण कहलाता है। दोनों कारण परस्पर सापेक्ष हैं।।१५।।

न हि बोधमयत्वमन्यतो न च विज्ञानविभक्तयः स्वतः।
प्रकटं तव देव केवले द्वितयं कारणमभ्युदीयते।।१६।।

अन्वयार्थ :- (**हि**) क्योंकि (**बोधमयत्वं**) आपका ज्ञान से तन्मयपना (**अन्यतः न**) दूसरे कारणों से नहीं हुआ है किन्तु स्वतः है (**च**) और (**विज्ञानविभक्तयः**) आपके ज्ञान में जो विभक्ति - विभाग हैं वे (**स्वतः न**) स्वयं नहीं हैं किन्तु पर सापेक्ष हैं। इस प्रकार (**देव**) हे नाथ ! (**प्रकटं**) स्पष्ट रूप से (**तव**) आपके केवल ज्ञान में (**द्विययं कारणं**) दो प्रकार का कारण (**अभ्युदीयते**) संमुख होता है।

भावार्थ :- हे देव ! आपकी जो ज्ञानरूपता है वह द्रव्यस्वभाव के कारण स्वतः सिद्ध है उसमें अन्य द्रव्य कारण नहीं है, किन्तु ज्ञेयों के आश्रय से ज्ञान में जो विभाग हैं वे पर सापेक्ष हैं। इस प्रकार आपके केवल ज्ञान में स्व और पर अर्थात् उपादान और निमित्त दोनों कारण हैं।।१६।।

स्वपरोभयभासि ते दिशां द्वितयीं यात्युपयोगवैभवम्।
अनुभूतय एव तादृशं बहिरन्तर्मुखहासविक्रमैः।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**स्वपरोभयभासि**) स्व और पर - दोनों को प्रकाशित करनेवाला (ते) आपका (**उपयोगवैभवम्**) उपयोगरूपी वैभव (**द्वितयीं दिशाम्**) दो रूपता - स्वपररूपता को (**याति**) प्राप्त होता है और (**बहिरन्तर्मुखहासविक्रमैः**) बहिर्मुख तथा अंतर्मुख प्रतिभास के विक्रम से वह उपयोगवैभव (**तादृशम् एव**) वैसा ही - स्वपरावभासी रूप ही (**अनुभूयते**) अनुभव में आता है।

भावार्थ :- आत्मा के चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं। उसके दो भेद हैं - एक ज्ञानोपयोग और दूसरा दर्शनोपयोग। उपयोग का कार्य स्व-पर को प्रकाशित करना है, उसमें दर्शन का काम स्वआत्मा को प्रकाशित करना है और ज्ञान

का काम स्व तथा पर को प्रकाशित करना है।।१७।।

विषयं परितोऽवभासयन् स्वमपि स्पष्टमिहावभासयन्।
मणिदीप इव प्रतीयसे भगवन् द्व्यात्मकबोधदर्शनः।।१८।।

अन्वयार्थ :- (**भगवन्**) हे प्रभो ! (**द्व्यात्मकबोधदर्शनः**) जिनका ज्ञान दर्शन दो प्रकार का है ऐसे आप (**विषयं**) घट-पटादि पदार्थों को (**परितः**) सब ओरसे (**अवभासयन्**) प्रकाशित करते हुए तथा (**स्वमपि**) अपने आपको भी (**स्पष्टं**) स्पष्टरूप से (**अवभासयन्**) प्रकाशित करते हुए (**इह**) इस लोक में (**मणिदीप इव**) मणिमय दीपक के समान (**प्रतीयसे**) प्रतीत होते हैं।

भावार्थ :- जिस प्रकार मणिमय दीपक स्व-पर प्रकाशक होता है उसी प्रकार आप भी स्व-पर प्रकाशक दर्शन और ज्ञान से तन्मय होनेके कारण स्व-पर प्रकाशक हैं।।१८।।

न परानवभासयन् भवान् परतां गच्छति वस्तुगौरवात्।
इदमत्र परावभासनं परमालम्ब्य यदात्मभासनम्।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**वस्तुगौरवात्**) वस्तु के गौरव से अर्थात् `एक द्रव्य दूसरे रूप नहीं होता' इस गौरव के कारण (**परान्**) घट-पटादि परपदार्थों को (**अवभासयन्**) प्रकाशित करते हुए (**भवान्**) आप (**परतां**) पररूपता को (**न गच्छति**) नहीं प्राप्त होते हैं क्योंकि (**परमालम्ब्य**) पर का आलम्बन लेकर (**यत्**) जो (**आत्मभासनम्**) आत्मा का प्रकाशित करना है (**इदम्**) यही (**अत्र**) यहाँ (**परावभासनं**) परका प्रकाशित करना है।

भावार्थ :- आत्मा पर पदार्थों को जानता है इतने मात्र से वह पररूप नहीं हो जाता है क्योंकि प्रत्येक वस्तु की मर्यादा है कि वह सदा अपने रूप ही रहती है अन्यरूप नहीं होती। आत्मा परपदार्थ को जानता है इसका इतना ही अर्थ विवक्षित है कि वह पर पदार्थ का आलम्बन लेकर अपने आपको जानता है।।१९।।

व्यवहारदृशा पराश्रयः परमार्थेन सदात्मसंश्रयः।
युगपत् प्रतिभासि पश्यतां द्वितयी ते गतिरीशतेतरा।।२०।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**व्यवहारदृशा**) व्यवहार दृष्टि से (**पश्यतां**) देखने वालों के लिये आप (**पराश्रयः**) पर का आलम्बन लेनेवाले और (**परमार्थेन**) निश्चय दृष्टि से देखने वालों के लिये (**सदा**) निरंतर (**आत्मसंश्रयः**) स्व का आलम्बन लेने वाले (**युगपत्**) एक काल में (**प्रतिभासि**) प्रतिभासित होते हैं। इस प्रकार (**ते गतिः द्वितयी**) आपकी स्थिति स्वाश्रयी और पराश्रयी के भेद से दो प्रकार की है। हे प्रभो ! आपकी (**ईशता**) प्रभुता - लोकोत्तर सामर्थ्य (**इतरा**) अन्य लोगों से विभिन्न ही है।

भावार्थ :- किसी द्रव्य की निज की परिणति में पर के आलम्बन को व्यवहारनय स्वीकृत करता है और निश्चयनय सदा अपने आपके आलम्बन को स्वीकृत करता है। हे भगवन् ! व्यवहारनय की दृष्टि से आप पराश्रयी और निश्चयनय की दृष्टि से स्वाश्रयी हैं। यह आपकी लोकोत्तर प्रभुता है कि आपमें दोनों अवस्थाएँ नयभेद से युगपत् प्रतिभासित होती हैं।।२०।।

यदि सर्वगतोऽपि भाससे नियतोऽत्यन्तमपि स्वसीमनि।
स्वपराश्रयता विरुध्यते न तव द्व्यात्मकतैव भासि (ति) तत्।।२१।

अन्वयार्थ :- (**यदि**) यदि आप (**सर्वगतोऽपि**) सर्वव्यापक भी (**भाससे**) प्रतीत होते हैं तो (**स्वसीमनि**) अपनी सीमा में (**अत्यंतं नियतः अपि**) अत्यंत नियत भी प्रतीत होते हैं। (**तत्**) इसलिये (**तव**) आपकी (**स्वपराश्रयता**) स्व-पर की आश्रयता (**न विरुध्यते**) विरुद्ध नहीं है किन्तु (**द्व्यात्मकता एव**) द्विरूपता ही (**भाति**) प्रतीत होती है।

भावार्थ :- सर्वगत ज्ञेयों को जानने की अपेक्षा यद्यपि आप सर्वगत - सर्वव्यापक जान पड़ते हैं तथापि आत्मप्रदेशों की अपेक्षा अपनी सीमा में नियत हैं - उससे बाहर नहीं जाते हैं। इस तरह व्यवहारनय की अपेक्षा पराश्रयता और निश्चयनय की अपेक्षा स्वाश्रयता आपमें एक साथ रहती है, इसमें विरोध नहीं मालूम होता है क्योंकि द्विविधरूपता स्पष्ट ही अनुभव में आ रही है।।२१।।

अपवादपदैः समन्ततः स्फुटमुत्सर्गमहिम्नि खण्डिते।
महिमा तव देव पश्यतां तदतद्रूपतयैव भासते।।२२।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे विभो ! (**अपवादपदैः**) प्रतिषेधात्मक शब्दों के द्वारा (**समन्ततः**)

सब ओर (**स्फुटं**) स्पष्टरूप से (**उत्सर्गमहिम्नि**) उत्सर्ग-सामान्य-विधिपक्ष के (**खण्डिते**) खण्डित हो जानेपर (**पश्यतां**) देखनेवाले - अनुभव करनेवाले पुरुषों के लिये (**तव**) आपकी (**महिमा**) महिमा (**तदतद्रूपतया एव**) तत्-अतत्रूप से ही - विधि-निषेधरूप से ही (**भासते**) प्रतिभासित होती है।

भावार्थ :- निश्चयनय के पक्ष को उत्सर्ग और व्यवहारनय के पक्ष को अपवाद कहते हैं। यद्यपि अपवाद के द्वारा उत्सर्ग की महिमा खण्डित होती है अर्थात् व्यवहार पक्ष से निश्चय पक्ष का निषेध होता है तथापि वस्तुस्थिति का अनुभव करनेवालों के लिये वस्तु तत्-अतद् दोनों रूप प्रतीत होती है।।२२।।

अनवस्थितिमेवमाश्रयन्नृभवत्वे विदधद् व्यवस्थितिम्।
अतिगाढविघट्टितोऽपि ते महिमा देव मनाङ् न कम्पते।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे विभो ! जो (**एवं**) इस प्रकार (**अनवस्थितिं**) अवस्थिति के अभाव का (**आश्रयन्**) आश्रय करती हुई (**नृभवत्वे**) मनुष्य पर्याय में (**व्यवस्थितिं**) अवस्थिति के सद्भाव को (**विदधत्**) कर रही है अर्थात् निश्चयनय से यद्यपि आप किसी गति में अवस्थित नहीं हैं तथापि व्यवहारनय से मनुष्य पर्याय में आप अवस्ति हैं। ऐसी (**ते**) आपकी (**महिमा**) प्रभुता (**अतिगाढविघट्टितोऽपि**) परस्पर विरोध के कारण अत्यंत विघट्टित होनेपर भी (**मनाक्**) रञ्चमात्र भी (**न कम्पते**) विचलित नहीं होती है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपकी महिमा यद्यपि ऊपर कहे अनुसार तद्रूप और अतद्रूप होनेसे अवस्थित - एकरूप नहीं है और इस प्रकार के विरोध से परस्पर व्याघात को भी प्राप्त हो रही है तथापि वह रञ्चमात्र भी कम्पित नहीं होती है। क्योंकि नयविवक्षा से सब व्याघातों का परिहार हो जाता है।।२३।।

हठघट्टनयाऽनया तव दृढनिःपीडितपौण्ड्रकादिव।
स्वरसप्लव एष उच्छलन् परितो मां ब्रुडितं करिष्यति।।२४।।

अन्वयार्थ :- (**तव**) आपकी (**अनया**) इस (**हठघट्टनया**) इस सुदृढ़ आक्रान्ति से - युक्तियुक्त विवेचना से (**दृढनिःपीडितपौण्ड्रकादिव**) अत्यंत पीडित गन्ना से निकलते हुए रस प्रवाह के समान (**एषः**) यह (**स्वरसप्लवः**) आत्मरस का पूर (**उच्छलन्**) छलकता

हुआ (**मां**) मुझे (**परितः**) सब ओरसे (**ब्रुडितं**) निमग्न (**करिष्यति**) कर देगा।

भावार्थ :- हे भगवन् ! जिस प्रकार अत्यंत दबाये हुए गन्ना से निकलता हुआ रस का पूर समीपवर्ती मनुष्य को अपने आपमें निमग्न कर लेता है उसी प्रकार आपके स्तवन से प्रकट हुआ आत्मरस का प्रवाह मुझे अपने आपमें सब प्रकार से निमग्न कर लेगा। यहाँ भगवत्स्तुति के फल का निरूपण करते हुए आचार्य ने आकांक्षा प्रकट की है कि आपकी स्तुति से मुझे आत्मानुभूति प्रकट हो और उसमें में सर्व ओरसे लीन हो जाऊँ।।२४।।

विरता मम मोहयामिनी तव पादाब्जगतस्य जाग्रतः।
कृपया परिवर्त्त्य भाक्तिकं भगवन् क्रोडगतं विधेहि माम्।।२५।

अन्वयार्थ :- (**भगवन्**) हे स्वामिन् ! (**तव**) आपके (**पादाब्जगतस्य**) चरणकमल को प्राप्त तथा (**जाग्रतः**) जागृत रहनेवाले (**मम**) मेरी (**मोहयामिनी**) मोहरूपी रात्रि (**विरता**) व्यतीत हो चुकी है अतः (**कृपया**) करुणाभाव से (**मां भाक्तिकं**) मुझ भक्त को (**परिवर्त्य**) उठा कर (**क्रोडगतं**) गोद में स्थित (**विधेहि**) कीजिये।

भावार्थ :- हे भगवन् ! अनादिकाल से मैं अन्य देवी-देवताओं की शरण में जाकर भव वन में भटकता रहा हूँ। अब बड़े सौभाग्य से मुझे आपके चरणकमलों की शरण प्राप्त हुई है जिसके फलस्वरूप मेरी मिथ्यात्वरूपी रात्रि बीत चुकी है तथा तन्द्रा दूर हो जानेसे मैं निरंतर जाग रहा हूँ। मैं एक आपका ही भक्त हूँ अतः मुझे उठाकर अपनी गोद में स्थान दीजिये। अपने स्नेहपूर्ण उपदेश से मेरा कल्याण कीजिये।।२५।।

ॐ

(१६)

पुष्पिताग्राछन्दः

अयमुदयदनन्तबोधशक्तिस्त्रिससमयविश्वसमग्रघस्मरात्मा।
धृ[1]तपरमपरारुचिः स्वतृप्तः स्फुटमनुभूयत एव ते स्वभावः।।१।।

अन्वयार्थ :- (**उदयदनन्तबोधशक्तिः**) जिसमें अनंत ज्ञान की शक्ति अथवा अनंत ज्ञान और अनंत वीर्य प्रकट हो रहे हैं, (**त्रिसमयविश्वसमग्रघस्मरात्मा**) जो त्रिकालवर्ती विश्व-लोकालोक को सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करने वाला है, (**धृतपरमपरारुचिः**) जिसने उत्कृष्ट रूपसे पर पदार्थों से अरुचि को धारण किया है तथा जो (**स्वतृप्तः**) अपने आपमें संतुष्ट है ऐसा (**अयं**) यह (**ते**) आपका (**स्वभावः**) स्वभाव (**स्फुटं `यथास्यात्तथा**') स्पष्ट रूप से (**अनुभूयते एव**) अनुभव में आ हो रहा है।

भावार्थ :- यहाँ भगवान् के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन ! आपका स्वभाव अनंतज्ञान और अनंत बल से सहित है। वह तीनकाल संबंधी समस्त द्रव्यों की समस-समयवर्ती पर्यायों को ग्रहण करने वाला है। पर पदार्थों में उसकी रञ्चमात्र भी रुचि नहीं है तथा अपने आपमें ही संतोष को प्राप्त है। तात्पर्य यह है कि आपके वीतराग विज्ञान स्वभाव का अनुभव मुझे स्पष्ट रूपसे होने लगा है। अनादि काल से कुदेवों की आराधना कर मैं संसार में परिभ्रमण करता रहा हूँ परंतु अब संसार दशा के क्षीण होनेसे मुझे आपकी शरण प्राप्त हुई है और स्पष्टरूप से मुझे आपके स्वभाव का अनुभव होने लगा है। आपके स्वभाव का अनुभव होते ही मुझे अपने स्वभाव का भी अनुभव होने लगा है। मेरी श्रद्धा हो रही है कि जैसा वीतराग - विज्ञानमयस्वभाव आपका है वैसा ही स्वभाव तो मेरा है। मैं अपने स्वभाव

---

१. धृता परमा-उत्कृष्टा परस्मिन् अरुचिर्येन सः।

की ओर आजतक दृष्टि नहीं दे सका और उसके कारण परपदार्थों में आसक्त रहा परंतु अब मुझे परपदार्थों में अत्यंत अरुचि होने लगी है और आत्मस्वरूप में अभिरुचि की प्राप्ति होने लगी है।।१।।

जिनवर परितोऽपि पीड्यमानः स्फुरसि मनागपि नीरसो न जातु।
अनवरतमुपर्युपर्यभीक्ष्णं निरवधिबोधसुधारसं ददासि।।२।।

अन्वयार्थ :- (**जिनवर**) हे जिनेन्द्र ! (**परितः**) सभी ओरसे (**पीड्यमानः अपि**) पीड्यमान - अनुभूयमान होते हुए भी आप (**जातु**) कदाचित् (**मनागपि**) रञ्चमात्र भी (**नीरसः**) (**न स्फुरसि**) नहीं मालूम होते हैं किन्तु (**अनवरतं**) निरंतर (**उपर्युपरि**) उत्तरोत्तर (**अभीक्ष्णं**) नित्य (**निरवधिबोधसुधारसं**) अनंतज्ञानरूप अमृतरस को (**ददासि**) प्रदान करते रहते हैं।

भावार्थ :- इक्षु आदि पदार्थ अत्यंत पीडित होने पर - दबाये जाने पर अपना रस छोड़ देते हैं और उसके पश्चात् नीरस हो जाते हैं तथा दूसरों के लिये रस देना बन्द कर देते हैं परंतु हे भगवन् ! आप सब ओरसे पीडित होने पर - संसार के अनंत प्राणियों के द्वारा एक साथ अनुभूयमान होने पर भी कभी नीरस नहीं होते किन्तु उत्तरोत्तर निरंतर अनंतज्ञानरूप सुधारस को प्रदान करते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि आपकी आराधना करने वाले जीव अनंतकाल तक अपने ज्ञानस्वभाव की अनुभूति करते रहेंगे।।२।।

शमरसकलशावलीप्रवाहैः क्रमविततैः परितस्तवैष धौतः।
निरवधिभवसन्ततिप्रवृत्तः कथमपि निर्गलितः कषायरङ्गः।।३।।

अन्वयार्थ :- (**क्रमविततैः**) क्रम से विस्तार को प्राप्त हुए (**शमरसकलशावलीप्रवाहैः**) शांतरस के कलश समूह के प्रवाहों के द्वारा (**परितः**) जो सब ओरसे (**धौतः**) धुला है ऐसा (**निरवधिभवसन्ततिप्रवृत्तः**) अनंत पर्यायों से साथ लगा हुआ (**तव**) आपका (**एषः**) यह (**कषायरङ्गः**) कषाय रूपी रंग (**कथमपि**) किसी प्रकार (**निर्गलितः**) निकल गया था।

भावार्थ :- हे भगवन् ! जैसा आपका वीतरागविज्ञान स्वभाव वर्तमान में प्रकट

है - व्यक्त है वैसा अनादि काल से व्यक्त नहीं था। अनादि काल से आपका स्वभाव भी कषायरूपी रंग से आच्छादित था परंतु शांतरससरूप कलशों के समूह से धुलते-धुलते वह कषायरूपी रंग किसी तरह अब निकल चुका है। श्लोक को एक भाव यह भी अनुभव में आता है कि - हे भगवन् ! आपकी आराधना करने के फल स्वरूप मुझ में जो लोकोत्तर शांति प्रकट हुई है उसके द्वारा मेरा अनादिकालीन कषाय रूपी रंग छूट गया है।।३।।

सुचरितशितसंवदिस्त्रपातात्तव तडिति त्रुटतात्मवन्ननेन।
अतिभरनिचितोच्छ्वसत्स्वशक्तिप्रकरविकाशमवापितः स्वभावः।।४।।

अन्वयार्थ :- (**आत्मवन्**) हे आत्मज्ञ ! (**सुचरितशितसंविदस्त्रपातात्**) अच्छी तरह से आचरित सम्यग्ज्ञान रूपी तीक्ष्ण शस्त्र के पातसे (**तडिति त्रुटता**) तड़तड़ कर टूटते हुए (**अनेन**) इस कषाय के द्वारा (**तव**) आपका (**स्वभावः**) वीतराग विज्ञानस्वभाव (**अतिभरनिचतोच्छ्वसत्स्वशक्तिप्रकरविकाशं**) अत्यंत भार से व्याप्त प्रकट होती हुई आत्मशक्तियों के समूह के विकाश को (**अवापितः**) प्राप्त कराया गया है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! ज्योंही आपने भेदविज्ञानरूप तीक्ष्ण शस्त्र का प्रयोग किया त्योंही आपका कषायरूपी बन्धन तड़तड़ कर टूट गया और टूटते ही उसने आपके वीतराग विज्ञानरूप स्वभाव को प्रकट कर दिया। स्वभाव के प्रकट होते ही अनंतकाल से आच्छादित अनंतशक्तियों का समूह स्वयमेव विकास को प्राप्त हो गया।।४।।

निरवधिभवभूमिनिम्नखातात् सरभसमुच्छलितो महद्भिरोघैः।
अयमतिविततस्तवाच्छबोधस्वरसभरः कुरुते समग्रपूरम्।।५।।

अन्वयार्थ :- (**निरवधिभवभूमिनिम्नखातात्**) जो अनंतभवरूपी भूमि के निम्नगर्तसे (**सरभसम्**) बड़े वेग सहित (**महद्भिः ओघैः**) बहुत भारी प्रवाहों के साथ (**उच्छलितः**) प्रकट हुआ है तथा (**अतिविततः**) अत्यंत विस्तृत है ऐसा (**तव**) आपका (**अयम्**) यह (**अच्छबोधस्वरसभरः**) निर्मल ज्ञान के स्वरस का समूह (**समग्रपूरम्**) परिपूर्ण प्रवाह को (**कुरुते**) करता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! अनंतभवों की साधना के अनंतर जो आपके अत्यंत विस्तृत

केवलज्ञान प्रकट हुआ है वह समस्त पदार्थों को जानता है और एक अखण्ड धारा में प्रवाहित होता रहता है।।५।।

निरवधि च दधासि निम्नभावं निरवधि च भ्रियसे विशुद्धबोधैः।
निरवधि दधतस्तवोन्नतत्वं निरवधि स्वे[च] विभो विभाति बोधः।।६।।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे भगवन् ! आप (**निरवधि च**) सीमातीत (**निम्नभावं**) गम्भीरता को (**दधासि**) धारण करते हैं तथा (**विशुद्धबोधैः**) निर्मल ज्ञान के द्वारा (**निरवधि**) अंत रहित रूप से (**भ्रियसे**) भरे जाते हैं। साथ ही (**निरवधि**) सीमातीत (**उन्नतत्वं**) औदार्य को (**दधतः**) धारण करने वाले (**तव**) आपका (**बोधः**) ज्ञान (**निरवधि**) निःसीम रूप से (**स्वे**) अपने आपमें (**विभाति**) सुशोभित होता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप अनंत गाम्भीर्य गुण को धारण करते हैं। अनंत निर्मल ज्ञान से परिपूर्ण हैं। अनंत उदारता को धारण करते हैं और आपका ज्ञान पर ज्ञेयों से विमुख हो स्व ज्ञेय में विलसित हो रहा है।।६।।

अयमनवधिबोधनिर्भरः सन्ननवधिरेव तथा विभो विभासि।
स्वयमथ च मितप्रदेशपुञ्जः प्रसभविपुञ्जितबोधवैभवोऽसि।।७।।

अन्वयार्थ :- (**तथा विभो**) और हे नाथ ! (**अयम्**) यह आप (**अनवधिबोधनिर्भरः सन्**) अनंत ज्ञान से परिपूर्ण होते हुए (**अनवधिरेव**) अनंत ही (**विभासि**) मालूम होते हैं (**अथ च**) और (**स्वयं**) स्वयं (**मितप्रदेशपुञ्चः**) परिमितप्रदेशसमूह से युक्त होते हुए भी (**प्रसभविपुञ्जितबोधवैभवः**) अत्यधिक एकत्रित ज्ञान के वैभव से युक्त (**असि**) हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप अवधिरहित अनंत ज्ञान से परिपूर्ण होते हुए स्वयं भी अवधिरहित - अनंत हैं। और यद्यपि आप स्वयं असंख्यात प्रदेशी हैं तथापि आपमें अनंतानंतअविभागप्रतिच्छेदों से युक्त केवलज्ञान रूपी वैभव इकठ्ठा हुआ है।।७।।

श्रितसहजतया समग्रकर्मक्षयजनिता न खलु स्खलन्ति भावाः।
अनवरतमनन्तवीर्यगुप्तस्तव तत एव विभात्यनन्तबोधः।।८।।

अन्वयार्थ :- (**समग्रकर्मक्षयजनिताः**) समस्त कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए (**भावाः**) भाव (**खलु**) निश्चय से (**श्रितसहजतया**) सहज-स्वभाव का आश्रय लेनेसे जिस कारण (**यतो**) जिस कारण (**न स्खलन्ति**) नष्ट नहीं होते हैं (**तत एव**) उसी कारण (**अनवरतं**) निरंतर (**अनंतवीर्यगुप्तः**) अनंतवीर्य से सुरक्षित (**तव**) आपका (**अनंतबोधः**) अनंत ज्ञान (**विभाति**) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! समस्त कर्मों के क्षय से जो भाव प्रकट होते हैं वे कभी नष्ट नहीं होते। इसीलिये ज्ञानावरणकर्म के क्षय से उत्पन्न होनेवाला आपका केवलज्ञान कभी नष्ट नहीं होता किन्तु अनंतवीर्य से सुरक्षित होता हुआ सदा सुशोभित रहता है।।८।।

दृगवगमगभीरमात्मतत्त्वं तव भरतः प्रविशद्भिरर्थसार्थैः।
निरवधिमहिमावगाहहीनैः पृथगचला क्रियते विहारसीमा।।९।।

अन्वयार्थ :- हे जिनेन्द्र ! (**दृगवगमगभीरं**) दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण (**आत्मतत्त्वं**) आत्मतत्त्व को (**प्रविशद्भिः**) प्रवेश करनेवाले किन्तु (**अवगाहहीनैः**) अवगाह से रहित (**अर्थसार्थैः**) पदार्थों के समूह से (**भरतः**) भरते हुए (**तव**) आपकी (**निरवधिमहिमा**) अनंतमाहात्म्य से युक्त (**अचला**) अविनाशी (**विहारसीमा**) विहार की सीमा (**पृथक्**) अन्य सब द्रव्यों से भिन्न (**क्रियते**) की जाती है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! दर्शन ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण आत्मतत्त्व की ऐसी अद्भुत महिमा है कि अनंतपदार्थों का समूह प्रवेश करता है अर्थात् वह अनंत पदार्थों को अपने स्थानपर स्थित रहकर ही जानता है। इसके साथ विचित्रता यह है कि वे पदार्थ आपकी आत्मा में प्रवेश करनेपर भी अवगाह से हीन रहते हैं अर्थात् उसमें स्थान नहीं पाते हैं इस प्रकार आपकी यह क्रीड़ा अनंतमहिमा से युक्त है, अविनाशी है और सब द्रव्यों से भिन्न है। भाव यह है कि जिस प्रकार दर्पण में[१] पदार्थों का प्रतिबिम्ब पड़ता है। परंतु प्रतिबिम्ब पड़ने पर भी क्या पदार्थ दर्पण के भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं ? नहीं। पदार्थ अपने स्थानपर रहते हैं मात्र उनके सम्मुख स्थित होनेसे दर्पण का पदार्थाकार परिणमन हो जाता है परमार्थ से दर्पण, दर्पण रहता है और

१. तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।।१।। - पुरुषार्थसिद्ध्युपायः।

पदार्थ, पदार्थ रहते हैं इसी प्रकार ज्ञानगुण की स्वच्छता के कारण पदार्थों का प्रतिबिम्ब - ज्ञेयाकार विकल्प आत्मा में पड़ता है परंतु इस विकल्प के पड़ने पर भी क्या पदार्थ आत्मा में प्रविष्ट हो जाते हैं ? नहीं। पदार्थ पदार्थ ही रहते हैं और आत्मा आत्मा ही रहता है। ज्ञानज्ञेय स्वभाव की ऐसी ही अद्भुत महिमा है कि वे दोनों पृथक्-पृथक् रहकर भी अपृथक् के समान जान पड़ते हैं। ज्ञान ज्ञेय का यह स्वभाव अचल है - कभी नष्ट नहीं होता है और आत्मा के सिवाय अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता है अतः उनसे पृथक् है।।९।।

निरवधिनिजबोधसिन्धुमध्ये तव परितस्तरतीव देव विश्वम्।
तिमिकुलमिव सागरे स्वगात्रैः प्रविरचयन्निजसन्निवेशराजीः।।१०।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे भगवन् ! (**सागरे**) समुद्र में (**स्वगात्रैः**) अपने शरीर के द्वारा (**निजसन्निवेशराजीः**) अपने सन्निवेश की रेखाओं को (**प्रविरचयत्**) रचने वाले (**तिमिकुलमिव**) मच्छों के समूह के समान (**विश्वं**) यह लोक-अलोक का समूह (**तव**) आपके (**निरवधिनिजबोधसिन्धुमध्ये**) अनंत आत्मज्ञानरूप समुद्र के बीच में (**परितः**) चारों ओरसे (**तरतीव**) तैरता हुआ-सा जान पड़ता है।

भावार्थ :- जिस प्रकार मगर-मच्छों का समूह समुद्र में तैरता है और तैरते समय उसके शरीर के संघर्ष से जल में रेखाएँ भी बनती हैं उसी प्रकार आपके अगाध ज्ञानसागर में यह समस्त विश्व तैर रहा है और उसकी विकल्परूप रेखाएँ भी बनती जाती हैं परंतु जिस प्रकार समुद्र के जल में मगर-मच्छों के शरीर की रेखाएँ स्थिर नहीं रहती उसी प्रकार विश्व की विकल्परूप रेखाएँ भी आपके ज्ञान में स्थिर नहीं रहती। वीतराग विज्ञान की ऐसी ही अद्भुत महिमा है कि वह जानता तो समस्त विश्व को है परंतु किसी भी पदार्थ के साथ उसका आत्मीयभाव नहीं होता।।१०।

प्रतिपदमेतदेवमित्यनन्ता भुवनभरस्य विवेचयत्स्वशक्तीः।
त्वदवगमगरिम्ण्यनन्तमेतद्युगपदुदेति महाविकल्पजालम्।।११।।

अन्वयार्थ :- (**एवम्**) इस प्रकार जो (**प्रतिपदम्**) पद पद पर (**भुवनभरस्य**) समस्त संसार के सामने (**इति**) इस प्रकार की (**अनंताः स्वशक्तिः**) अपनी अनंत शक्तियों

को (**विवेचयत्**) प्रकट कर रहा है ऐसा (**एतत्**) यह (**अनंतं**) अनंत (**महाविकल्पजालं**) बहुत भारी विकल्पों का समूह (**त्वत्अवगमगरिम्णि**) आपके ज्ञान की गरिमा में (**युगपत्**) एक साथ (**उदेति**) उदित हो रहा है - उत्पन्न हो रहा है।

भावार्थ :- हे विभो ! आपका ज्ञान अनंतशक्तियों का भाण्डार है यह बात समस्त संसार के समक्ष प्रकट है।।११।।

विधिनियममयाद्भुतस्वभावात् स्वपरविभागमतीवगाहमानः।
निरवधिमहिमाभिभूतविश्वं दधदपि बोधमुपैषि सङ्करं न।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**विधिनियममयाद्भुतस्वभावात्**) जो विधि और निषेधरूप अद्भुत स्वभाव से (**स्वपरविभागम्**) निज और परके विभाग को (**अतीवगाहमानः**) अतिशयरूप से प्राप्त हो रहा है ऐसे आप (**निरवधिमहिमाभिभूतविश्वं**) अपनी अनंत महिमा से विश्व समस्त लोकालोक को आक्रान्त करने वाले (**बोधं**) ज्ञान को (**द्धदपि**) यद्यपि धारण करते हैं तो भी (**सङ्कर**) सङ्कर दोष को - ज्ञान और ज्ञेय के एकीभाव को (**न उपैषि**) नहीं प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :- वस्तु का स्वभाव विधि और निषेधरूप है। स्वचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु विधिरूप है और परचतुष्टय की अपेक्षा निषेधरूप है। `ज्ञान में ज्ञेय है' यह विधिपक्ष है और `ज्ञान में ज्ञेय नहीं है' यह निषेधपक्ष है। `ज्ञान में ज्ञेय का विकल्प आता है' इस अपेक्षा से विधिपक्ष की सिद्धि होती है और `ज्ञान में ज्ञेय के प्रदेश नहीं आते हैं' इस अपेक्षा से निषेधपक्ष की सिद्धि होती है। जिस प्रकार दर्पण में पड़ा हुआ मयूर का प्रतिबिम्ब दर्पण से भिन्न नहीं है उसी प्रकार ज्ञान में आया हुआ ज्ञेय का विकल्प ज्ञान से भिन्न नहीं है इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में अभेद है परंतु जब दर्पण और सामने खड़े हुए मयूर की अपेक्षा विचार करते हैं तब दर्पण जुदा है और मयूर जुदा है, ऐसा प्रतीत होता है उसी प्रकार जब ज्ञान और उसमें आने वाले पदार्थ की अपेक्षा विचार करते हैं तब ज्ञान और ज्ञेय पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। हे भगवन् ! आपका ज्ञान अपनी अनंत सामर्थ्यसे समस्त पदार्थों को जानता है अर्थात् वे समस्त पदार्थ विकल्प की अपेक्षा आपके ज्ञान में आते हैं तो भी उनके साथ आपके ज्ञान अथवा गुण-गुणी की अभेद विवक्षा से आपमें संकर भाव प्राप्त नहीं होता अर्थात् आप पदार्थरूप नहीं होते और पदार्थ आपरूप नहीं होते। आप सदा

स्व-पर के विभाग को धारण करते रहते हैं।।१२।।

उदयति न भिदा समानभावाद्भवति भिदैव समन्ततो विशेषैः।
द्वयमिदमवलम्ब्य तेऽतिगाढं स्फुरति समक्षतयात्मवस्तुभावः।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**समानभावात्**) सामान्य की अपेक्षा (**भिदा**) भेद (**न उदयति**) उदित नहीं होता और (**विशेषैः**) विशेषों की अपेक्षा (**समन्ततः**) सब ओरसे (**भिदैव**) भेद ही (**भवति**) होता है। (**ते**) आपका (**आत्मवस्तुभावः**) आत्मा नामक पदार्थ (**अतिगाढं**) अत्यंत गाढ रूप से (**इदं द्वयम्**) इन भेद और अभेद दोनों का (**अवलम्ब्य**) आलम्बन लेकर (**समक्षतया**) प्रत्यक्ष रूप से (**स्फुरति**) प्रकट हो रहा है - अनुभव में आ रहा है।

भावार्थ :- यहाँ अभेद और भेद इन दो विरोधी धर्मों का एकत्र समन्वय करते हुए भगवान् का स्तवन किया जा रहा है। पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक अथवा द्रव्य-पर्यायात्मक है। सामान्य की अपेक्षा पदार्थ में अभेद रहता है और विशेषपर्याय की अपेक्षा भेद रहता है। हे भगवन् ! आपका आत्मद्रव्य भी सामान्यविशेषात्मक अथवा द्रव्यपर्यायात्मक होनेसे अभेद और भेदरूप है। इन दोनों विरोधी धर्मों का अवलम्बन लेकर आपका आत्मा अत्यंत सुशोभित हो रहा है।।१३।।

इदमुदय(द)मनन्तशक्तिचक्रं समुदयरूपतया विगाहमानः।
अनुभवसि सदाऽप्यनेकमेकं तदुभयसिद्धमिमं विभो स्वभावम्।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे स्वामिन् ! (**समुदयरूपतया**) समुदायरूप से (**उदयत्**) प्रकट होनेवाले (**इदं**) इस (**अनंतशक्तिचक्रं**) अनंतशक्ति समूह को (**विगाहमानः**) अवगाहन करते हुए आप (**सदापि**) निरंतर ही (**अनेकं एकं**) अनेक, एक और (**तदुभयसिद्धं**) उन दोनों से सिद्ध (**इमं**) इस (**स्वभावं**) स्वभाव का सदा (**अनुभवसि**) अनुभव करते हैं।

भावार्थ :- यहाँ एकानेक के भङ्ग से भगवान् का स्तवन किया जा रहा है। हे भगवन् ! आप उदय में आने वाली अनंत शक्तियों के समूह में अवगाहन करते हुए पदार्थ को एक, अनेक अथवा दोनों रूप ग्रहण करते हैं। सामान्य की अपेक्षा वस्तु एक परंतु पर्याय की अपेक्षा अनेक है। क्रम विवक्षा में दोनों पृथक्-पृथक् हैं और युगपद् दोनों की क्रमिक विवक्षा में एकानेकरूप हैं।।१४।।

निरवधिघटमानभावधारापरिणमिताक्रमवर्त्यनन्तशक्तेः।
अनुभवनमिहात्मनः स्फुटं ते वरद यतोऽस्ति तदप्यनन्तमेतत्।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**वरद**) हे उत्कृष्ट मोक्षपद के दायक ! (**यतः**) जिस कारण (**इह**) इस जगत् में (**ते**) आपको (**निरवधिघटमानभावधारापरिणमिताक्रमवर्त्यनन्तशक्तेः**) अवधिरहितरूप से - अनादि काल से विद्यमान भावों की सन्तति से परिणमित होनेवाली अक्रमवर्ती - युगपत् अनंत शक्तियाँ जिसमें विद्यमान हैं ऐसे (**आत्मनः**) आत्मतत्त्व का (**अनुभवनं**) अनुभव (**स्फुटं**) स्पष्ट रूप से हो रहा है (**तत्**) उस कारण से (**एतत् अनुभवनमपि**) यह अनुभव भी (**अनंतम् अस्ति**) अनंत है।

भावार्थ :- अनादिकाल से इस आत्मा में जो नाना प्रकार के भावों की सन्तति उत्पन्न होती आ रही है उससे आत्मा की अनंतशक्तियों का बोध होता है और वे अनंतशक्तियाँ भी क्रमवर्ती न होकर अक्रमवर्ती हैं - एक साथ आत्मा में विद्यमान हैं। यतश्च ऐसी आत्मा का अनुभव आपको स्पष्ट रूप से हो रहा है अतः आपका वह अनुभवन - ज्ञान भी अनंत है। तात्पर्य यह है कि अनंतशक्तियों को साक्षात् जानने वाला आपका ज्ञान भी अनंत ही है।।१५।।

प्रतिसमयलसद्विभूतिभावैः स्वपरनिमित्तवशादनन्तभावैः।
तव परिणमतः स्वभावशक्त्या स्फुरति समक्षमिहात्मवैभवं तत्।।१६।।

अन्वयार्थ :- (**स्वपरनिमित्तवशात्**) स्वपर निमित्त के वश (**स्वभावशक्त्या**) स्वभाव शक्ति से (**प्रतिसमयलसद्विभूतिभावैः**) जिनकी विभूति का भाव प्रतिसमय उल्लसित हो रहा है ऐसे (**अनंत भावैः**) अनंतभावों रूप (**परिणमतः**) परिणमन करने वाले (**तव**) आपका (**तत्**) वह अद्वितीय (**आत्मवैभवं**) आत्मसम्बन्धी वैभव (**इह**) इस जगत् में (**समक्षं**) प्रत्यक्षरूप से (**स्फुरति**) प्रकट हो रहा है।

भावार्थ :- पदार्थ का परिणमन करने का स्वभाव है और वह परिणमन स्वपरनिमित्तों के द्वारा होता है। स्वनिमित्त से अंतरङ्ग कारण और परनिमित्त से बहिरङ्ग कारण अपेक्षित है। वह सभी द्रव्यों के परिणमन में सहायक होता है। इस साधारण परनिमित्त के अतिरिक्त जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य परस्पर भी एक दूसरे के निमित्त होते हैं अर्थात् जीव के निमित्त से पुद्गलद्रव्य में कर्मरूप परिणमन होता है और कर्मरूप

पुद्‌गलद्रव्य के निमित्त से जीवद्रव्य में रागादिरूप परिणमन होता है। परिणमन करने की शक्ति सब द्रव्यों की अपनी-अपनी निज की है निमित्तकारण मात्र सहायक होता है। हे भगवन् ! आपकी आत्मा में प्रतिसमय जो अनंत-भाव उल्लसित हो रहे हैं वे स्व-पर कारणों से उल्लसित हो रहे हैं। वस्तु का स्वभाव हो ऐसा है। यद्यपि निमित्त का परिणमन निमित्त में हो रहा है और वस्तु का उपादान का परिणमन वस्तु में हो रहा है तथापि निमित्त के साथ अन्वयव्यतिरेक होनेसे वस्तु का परिणमन निमित्तसापेक्ष होता है। निमित्तनिरपेक्ष नहीं। आपका यह आत्मवैभव प्रत्यक्ष ही अनुभव का विषय हो रहा है।।१६।।

इममचलमनाद्यनन्तमेकं समगुणपर्ययपूर्णमन्वयं स्वम्।
स्वयमनुसरतश्चिदेकधातुस्तव पिबतीव परान्वयानशेषान्।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**अचलं**) चलाचल से रहित (**अनाद्यनन्तं**) अनादि अनंत (**समगुणपर्ययपूर्णं**) समस्त गुण और पर्यायों से पूर्ण (**एकं**) एक (**इमं**) इस (**स्वं**) स्वकीय (**अन्वयं**) आत्मद्रव्य का (**स्वयं**) (**अनुसरतः**) अनुसरण करने वाले (**तव**) आपकी (**चिदेकधातुः**) चैतन्यरूप अद्वितीय धातु केवलज्ञान (**अशेषान् परान्वयान्**) समस्त परद्रव्यों को (**पिबतीव**) मानों पी रहा है - जान रहा है।

भावार्थ :- समस्त कालों में विद्यमान रहनेसे द्रव्य को अन्वय और क्रमवर्ती होनेसे पर्याय को व्यतिरेक कहते हैं। आपका जो स्वद्रव्य है वह अचल है - चलाचल से रहित अविनाशी है, अनादि और अनंत है, समस्त गुणों और पर्यायों से पूर्ण है तथा एक है - स्वतंत्र द्रव्य है। इस आत्मद्रव्य का निरंतर आश्रय लेनेसे ही आपको यह अरहंत पर्याय प्रकट हुई है। इस अरहंत पर्याय की विशेषता यह है कि इसमें प्रकट होने वाली चैतन्यधातु - केवलज्ञान, स्वद्रव्य को तो जानता ही है - साथ में अन्य समस्त द्रव्यों को भी मानों पी रहा है अर्थात् ज्ञेय बनाकर उन्हें अपने आपमें निगीर्ण कर रहा है।।१७।।

अतिनिशितमनंशमूलसत्ताप्रभृतिनिरन्तरमातदन्त्यभेदात्।
प्रतिपदमतिदारयत् समग्रं जगदिदमेतदुदेति ते विदस्त्रम्।।१८।।

अन्वयार्थ :- जो (**अतिनिशितं**) अत्यंत तीक्ष्ण है तथा (**अनंशमूलसत्ताप्रभृतिनिरंतरं**) अखण्ड मूलसत्ता आदि से परिपूर्ण (**इदं समग्रं जगत्**) इस समस्त संसार को (**आतदन्त्यभेदात्**) उसके अन्तिमभेद पर्यंत (**प्रतिपदं**) पद-पद पर (**अतिदारयत्**) अत्यंत विदीर्ण करता है - खण्ड-खण्ड कर जानता है ऐसा (**ते**) आपका (**एतत्**) यह (**विदस्त्रम्**) ज्ञानरूपी अस्त्र (**उदेति**) उदित हुआ है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपका ज्ञानरूपी शस्त्र इतना तीक्ष्ण है कि वह इस अखण्ड संसार को उसके अंतिमभेद तक खण्ड खण्ड कर देता है। तात्पर्य यह है कि आपका ज्ञान अत्यंत सूक्ष्मग्राही है।।१८।।

विघटितघटितानि तुल्यकालं तव विदतः सकलार्थमण्डलानि।
अवयवसमुदायबोधलक्ष्मीरखिलतमा सममेव निर्विभाति।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**विघटितघटितानि**) खण्ड-खण्ड अवस्था को प्राप्त तथा संयुक्त दशा से मुक्त (**सकलार्थमण्डलानि**) समस्त पदार्थों के समूह को (**तुल्यकालं**) एक साथ (**विदितः**) जानने वाले (**तव**) आपकी (**अखिलतमा**) संपूर्ण (**अवयवसमुदायबोधलक्ष्मीः**) अवयव और समुदाय को जानने वाली ज्ञानलक्ष्मी (**सममेव**) एक ही साथ (**निर्विभाति**) अत्यंत सुशोभित हो रही है।

भावार्थ :- संसार के समस्त पदार्थ अपने अपने प्रदेशों की अपेक्षा विघटित हैं - विखरे हुए हैं और अवयवी की अपेक्षा घटित हैं - मिले हुए हैं। उन समस्त पदार्थों को आप एक साथ जानते हैं अर्थात् पदार्थों के अखण्डरूप को तो जानते ही हैं उनके एक एक प्रदेश को भी जानते हैं इस प्रकार आपकी ज्ञानलक्ष्मी अवयव और समुदाय दोनों को एक साथ जानने वाली है।।१९।।

जडमजडमिदं चिदेकभावं तव नयतो निजशुद्धबोधधाम्ना।
प्रकटयति तवैव बोधधाम प्रसभमिहान्तरमेतयोः सुदूरम्।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**निजशुद्धबोधधाम्ना**) अपने शुद्धज्ञान के तेज से (**इदं**) इस (**जडमजडं**) चेतन अचेतन जगत् को (**चिदेकभावं नयतः**) एक चैतन्यभाव को प्राप्त कराने वाले (**तवैव**) आपका ही (**बोधधाम**) ज्ञानरूपी तेज (**इह**) इस संसार में (**प्रसभं**) बलपूर्वक (**एतयोः**)

इन चेतन अचेतन के (**सुदूरं**) बहुत भारी (**अंतरं**) अंतर को (**प्रकटयति**) प्रकट करता है।

भावार्थ :- संसार के समस्त पदार्थ, चेतन और अचेतन के भेद से दो भागों में विभक्त हैं। अपने शुद्धज्ञान के द्वारा जब आप उन्हें जानते हैं तब अंतर्ज्ञेय बन कर वे आपके ज्ञान में आते हैं। इस अंतर्ज्ञेय की अपेक्षा यद्यपि सब पदार्थ एक चैतन्यभाव को प्राप्त हो रहे हैं तथापि आपका ज्ञान उन दोनों के महान् अंतर को प्रकट करता है। वह बतलाता है कि बहिर्ज्ञेय की अपेक्षा पदार्थ चेतन और अचेतन के भेद से दो प्रकार के हैं परंतु अंतर्ज्ञेय की अपेक्षा सब चेतन ही हैं। जिस प्रकार दर्पण में पड़ा हुआ मयूरादि का प्रतिबिम्ब परमार्थ से दर्पण का ही परिणमन है उसी प्रकार आपके ज्ञान में आया हुआ चेतन अचेतन ज्ञेयों का समूह परमार्थ से ज्ञान का ही परिणमन है। यतश्च ज्ञान चेतनरूप है अतः उसमें आये हुए अंतर्ज्ञेय भी चेतनरूप हैं। वस्तु स्वरूप की अपेक्षा चेतन और अचेतन दोनों द्रव्य पृथक्-पृथक् हैं अतः इनमें महान् अंतर है। हे प्रभो ! इसे आपका ज्ञान ही प्रकट कर रहा है।।२०।।

तव सहजविभाभरेण विश्वं वरद विभात्यविभामयं स्वभावात्।
स्नपितमपि महोभिरुष्णरश्मेस्तव विरहे भुवनं न किञ्चिदेव।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**वरद**) हे वरदायक ! (**स्वभावात्**) स्वभाव से (**अविभामयं**) अप्रकाशमय (**विश्वं**) जगत् (**तव**) आपके (**सहजविभावरेण**) स्वाभाविक ज्ञान के समूह से (**विभाति**) प्रकाशित हो रहा है सो ठीक ही है क्योंकि (**उष्णरश्मेः**) सूर्य के (**महोभिः**) तेज से (**स्नपितमपि**) नहलाये जाने पर भी - प्रकाशित होने पर भी (**भुवनं**) जगत् (**तव विरहे**) आपके अभाव में (**न किञ्चिदेव स्नपित**) कुछ भी प्रकाशित नहीं होता है।

भावार्थ :- यहाँ भगवान् के स्वाभाविक ज्ञानप्रकाश का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे मनोवाञ्छितफल को देनेवाले जिनेन्द्र ! यह अप्रकाशमय विश्व आपकी स्वाभाविक विभा - ज्ञानज्योति से ही विभासित हो रहा है। इसमें दृष्टान्त दिया है कि यह जगत् सूर्य के तेज से प्रकाशित होनेपर भी अप्रकाशित के ही समान है। भावार्थ यह है कि आपका तेज सूर्य के तेज से विलक्षण है।।२१।।

स्पृशदपि परमोद्‌गमेन विश्वं वरद परस्य न तेऽस्ति बोधधाम।
धवलयदपि सौधमिद्धधारं धवलगृहस्य सुधाम्बु न स्वभावः।।२२।।

अन्वयार्थ :- (**वरद**) हे इच्छितपदार्थ के देनेवाले जिनेन्द्र ! (**ते**) आपका (**बोधधाम**) ज्ञानरूपी तेज (**परमोद्‌गमेन**) अपनी उत्कृष्ट सामर्थ्य से (**विश्वं**) समस्त विश्व का (**स्पृशदपि**) स्पर्श करता हुआ भी - उसे जानता हुआ भी (**परस्य**) अन्य का - विश्व का (**न अस्ति**) नहीं है जैसे (**इद्धधारं**) उज्ज्वल धारा से युक्त (**सुधाम्बु**) चूना का पानी (**सौधं**) भवन को (**धवलयदपि**) धवल करता हुआ भी (**धवलगृहस्य**) धवल महल - श्वेतभवन का (**स्वभावः न**) स्वभाव नहीं होता।[1]

भावार्थ :- जिस प्रकार कलई मकान को सफेद करती हुई भी मकान से भिन्न रहती है, मकान का स्वभाव नहीं बन जाती उसी प्रकार आपका ज्ञान अपनी उत्कृष्ट सामर्थ्यसे यद्यपि पर पदार्थों को जानता है तथापि उनसे भिन्न रहता है परपदार्थरूप नहीं होता। यहाँ ज्ञान और ज्ञेय के पृथक्त्वभाव का वर्णन किया गया है।।२२।।

परिणतसकलात्मशक्तिसारः स्वरसभरेण जगत्त्रयस्य सिक्तः।
तव जिन जरठोपयोगकन्दः श्रयति बहूनि समं रसान्तराणि।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**परिणतसकलात्मशक्तिसारः**) जिसकी अपनी समस्त शक्तियों का सार परिणत हुआ है - पूर्णता को प्राप्त हुआ है तथा जो (**स्वरसभरेण**) आत्मरस के समूह से (**सिक्तः**) सींचा गया है - आत्मस्वभाव से परिपूर्ण है ऐसा (**तव**) आपका (**जरठोपयोगकन्दः**) उपयोगरूपी पुराना कंद (**जगत्त्रयस्य**) तीनों जगत् के (**बहूनि**) बहुसंख्यक (**रसान्तराणि**) अन्य रसों को (**समं**) एकसाथ (**श्रयति**) ग्रहण करता है।

भावार्थ :- जिस प्रकार भूमि में पड़ा हुआ पुराना जमीकन्द, पानी से सींचा जानेपर समीपवर्ती मिट्टी पानी आदि अन्य पदार्थों को अपना बनाकर अङ्कुरित हो उठता है उसी प्रकार आपका पुरातन - पूर्ववर्ती - ज्ञानोपयोग भी अपनी ज्ञातृत्वशक्ति के कारण

१. शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेषमन्यद्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः। ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमिर्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव।।२१६।।
- समयसार कलश २१६

तीनों लोकों के अन्यपदार्थों को एक साथ ग्रहण करता है अर्थात् उन्हें अपने आपमें प्रतिबिम्बित कर अंतर्ज्ञेय की अपेक्षा ज्ञानरूप परिणमा लेता है।।२३।।

त्रिसमयजगदेकदीपकोऽपि स्फुटमहिमा परमागमप्रकाशः।
अयमिह तव संविदेककोणो(णे) कलयति कीटमणेः किलाह्नि लीलाम्।
।।२४।।

अन्वयार्थ :- (**स्फुटमहिमा**) जिसकी महिमा अत्यंत स्पष्टरूप से प्रकट है ऐसा (**अयं**) यह (**परमागमप्रकाशः**) परमागमरूप प्रकाश (**इह**) इस जगत् में (**त्रिसमयजगदेकदीपकोऽपि `सन्**') तीनकाल और तीनलोक के पदार्थों को प्रकट करने के लिये अद्वितीय दीपक होता हुआ भी (**तव**) आपके (**संविदेककोण**) केवलज्ञान के एक कोने में (**अह्नि**) दिन में (**कीटमणेः**) जुगनू की (**लीलां**) लीला को (**कलयति**) प्राप्त हो रहा है।

भावार्थ :- जिस प्रकार दिन के समय जुगनू निष्प्रभ रहता है उसी प्रकार आपके लोकालोकावभासी केवलज्ञान के सामने श्रुतज्ञान का प्रकाश निष्प्रभ है। यद्यपि श्रुतज्ञान का विषय भी बहुत है तथापि वह परोक्ष और सान्त होनेके कारण प्रत्यक्ष और अनंत केवलज्ञान के सामने गौरवहीन ही रहता है।।२४।।

निजगरिमनिरन्तरावपीडप्रसभविकाशविसं(शं)कटां क्रमेण।
अविकलविलसत्कलौघशाली वरद विशाशु ममैकवित् स्फुलिङ्गम्।।
।।२५।।

अन्वयार्थ :- (**वरद**) हे वरदायक भगवन् ! (**अविकलविलसत्कलौघशाली**) पूर्णरूप से विलसित होने वाली कलाओं के समूह से सुशोभित (**एकवित्**) अद्वितीय केवलज्ञान (**आशु**) शीघ्र ही (**मम**) मेरी उस (**स्फुलिङ्गाम्**) श्रुतज्ञानरूप चिनगारी में (**क्रमेण**) क्रम से (**विश**) प्रवेश करे जो कि (**निजगरिमनिरन्तरावपीडप्रसभविकाशविशंकटां**) निज गौरव के निरंतर अवपीडन - दबाब से हठपूर्वक होने वाले विकाश से विशाल है।

१. `वेः शालच् शंकटचौ' इति सूत्रेण वेः शङ्कटच् प्रत्ययः। विशाला विशङ्कटा इति पर्यायवाचिनौ शब्दौ।

भावार्थ :- यहाँ स्तुतिकर्त्ता आचार्य जिनेन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि हे वरदायक भगवन् ! आपका केवलज्ञान परिपूर्ण कलाओं के समूह से सुशोभित है और मेरा श्रुतज्ञान उसके समक्ष एक चिनगारी (आग के तिलगा) के समान है। फिर भी मेरा श्रुतज्ञान आत्मज्ञान के गौरव से निरंतर विकाश के सम्मुख हो रहा है। मैं चाहता हूँ कि केवलज्ञान शीघ्र ही मेरे श्रुतज्ञानरूपी चिनगारी में प्रवेश करे अर्थात् मेरा श्रुतज्ञान केवलज्ञानरूप पर्याय से युक्त हो जावे। यह उचित भी है क्योंकि श्रेणी में आरूढ़ हुआ क्षपक जैसे-जैसे मोहजन्य कालिमा को दूर करता जाता है वैसे-वैसे ही उसका श्रुतज्ञान सराग दशा से वीतराग दशा को प्राप्त होता जाता है। यहाँ तक कि बारहवें गुण स्थान में उसका श्रुतज्ञान पूर्णरूप से वीतराग हो जाता है और अंतर्मुहूर्त के भीतर नियम से केवलज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है।।२५।।

ॐ

(१७)

प्रहर्षिणी छन्दः

वस्तूनां विधिनियमोभयस्वभावादेकांशे परिणतशक्तयः स्खलन्तः।
तत्त्वार्थं वरद वदन्त्यनुग्रहात्ते स्याद्वादप्रसभसमर्थनेन शब्दाः।।१।।

अन्वयार्थ :- (**वरद**) हे वरदायक ! (**परिणतशक्तयः**) अभिधाशक्ति से सम्पन्न (**शब्दाः**) शब्द (**वस्तूनां**) जीवाजीवादिपदार्थों के (**विधिनियमोभयस्वभावात्**) विधि और निषेध - दोनों स्वभावरूप होनेसे (**एकांशे**) विधि या निषेधरूप एक अंश में (**स्खलन्तः**) स्खलित होते हुए (**ते**) आपके (**अनुग्रहात्**) अनुग्रह से (**स्याद्वादप्रसभसमर्थनेन**) स्याद्वाद के प्रबल समर्थन के द्वारा (**तत्त्वार्थं**) वस्तुस्वरूप को (**वदन्ति**) कहते हैं।

भावार्थ :- संसार के प्रत्येक पदार्थ विधि और निषेध - दोनों स्वभावों से युक्त हैं अर्थात् स्वकीय चतुष्टय की अपेक्षा अस्ति आदि विधिरूप हैं और परचतुष्टय की अपेक्षा निषेध आदि नास्तिरूप हैं। इधर वस्तु का स्वभाव ऐसा है उधर उसका कथन करनेवाले शब्द अभिदाशक्ति के कारण नियन्त्रित होनेसे दो विरोधी धर्मोंमें से एकको कह-कर क्षीणशक्ति हो जाते हैं - दूसरे धर्म को कहने की उनमें सामर्थ्य नहीं रहती। एक अंश के कहने से वस्तु का पूर्णस्वरूप कथन में नहीं आ पाता। इस स्थिति में हे भगवन् ! आपके अनुग्रह से स्याद्वाद का - कथंचित्वाद का आविर्भाव हुआ। उसके प्रबल समर्थन से शब्द दोनों स्वभावों से युक्त तत्त्वार्थ का प्रतिपादन करने में समर्थ होते हैं। स्याद्वाद का समर्थ प्राप्त कर ही शब्द, यह कहने में समर्थ होते हैं कि अमुक अपेक्षा से पदार्थ अस्तिरूप है और अमुक अपेक्षा से नास्तिरूप है।।१।।

आत्मेति ध्वनिरनिवारितात्मवाच्यः शुद्धात्मकप्रकृतिविधानतत्परः सन्।
प्रत्यक्षस्फुरदिदमेवमुच्चनीचं नीत्वास्तं त्रिभुवनमात्मनास्तमेति।।२।।

अन्वयार्थ :- (**अनिवारितात्मवाच्यः**) निर्वाध आत्मा ही जिसका वाच्य है ऐसा (**आत्मेति ध्वनिः**) आत्मा यह शब्द (**शुद्धात्मप्रकृतिविधानतत्परः सन्**) शुद्ध आत्मस्वभाव को प्रकट करने में तत्पर होता हुआ (**प्रत्यक्षस्फुरत्**) प्रत्यक्षरूप से स्फुरित होनेवाले (**एवम्**) इसी प्रकार के (**उच्चनीचं**) ऊँचे-नीचे (**इदं त्रिभुवनं**) इस त्रिलोक को (**अस्तं नीत्वा**) अस्त को प्राप्त कराकर (**आत्मना**) अपने आपके द्वारा (**अस्तम् एति**) अस्त को प्राप्त होता है।।२।।

तस्यास्तगमनमनिच्छता त्वयैव स्यात्काराश्रयणगुणाद्विधानशक्तिम्।
सापेक्षां प्रविदधता निषेधशक्तिर्दत्तासौ स्वरसभरेण वल्गतीह।।३।।

अन्वयार्थ :- जो (**तस्य**) उस आत्मा के (**अस्तंगमनं**) अस्तभाव - निषेधपक्ष की (**अनिच्छता**) इच्छा नहीं करते हैं तथा (**स्यात्काराश्रयगुणात्**) स्याद्वाद के आश्रय से समुत्पन्न गुण से (**सापेक्षां**) अपेक्षा सहित (**विधानशक्तिं**) विधि शक्ति को (**प्रविदधता**) करते हैं ऐसे (**त्वयैव**) आपके द्वारा ही (**असौ**) यह (**निषेधशक्तिः**) निषेधशक्ति (**दत्ता**) दी गई है और वह निषेधशक्ति (**इह**) जगत् में (**स्वरसभरेण**) स्वकीय महिमा से (**वलग्ति**) क्रियाशील है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपको आत्मा का नास्तित्व इष्ट नहीं है अतः आपने स्याद्वाद का आश्रय लेकर कहा है कि आत्मा अस्ति और नास्ति - उभयरूप है। स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तिरूप है और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप है। जिस प्रकार अस्तिपक्ष को सूचित करनेवाली विधिशक्ति स्वरससमूह - स्वकीय महिमा से क्रियाशील है उसी प्रकार नास्तिपक्ष को सूचित करनेवाली निषेधशक्ति भी स्वरससमूह से क्रियाशील है।।३।।

तद्योगाद् विधिमधुराक्षरं ब्रुवाणा अप्येते कटुककठोरमारटन्ति।
स्वस्यास्तंगमनभयान्निषेधमुच्चैः स्वाकूतादवचनमेव घोषयन्तः।।४।।

अन्वयार्थ :- (**तद्योगात्**) उस निषेध शक्ति के योग से (**एते**) ये शब्द (**विधिमधुराक्षरं**) विधिपक्ष के मिष्ट अक्षरों को (**ब्रुवाणा अपि**) कहते हुए भी (**स्वस्य**) अपने आपके (**अस्तंगमनभयात्**) नष्ट होनेके भय से (**अवचनमेव**) चुपचाप ही (**स्वाकूतात्**) अपनी चेष्टामात्र

से (**निषेधं**) निषेधपक्ष की (**उच्चैः**) उच्च (**घोषयन्तः**) घोषण करते हुए (**कटुककठोरं आरटन्ति**) कटुक और कठोर घोषणा करते हैं।

भावार्थ :- यद्यपि विधिपक्ष मधुर है और निषेधपक्ष कटुक और कठोर है फिर भी शब्द अपनी दोनों प्रकार की शक्तियों के योग से दोनों पक्षों का कथन करते हैं क्योंकि इसके बिना उसका अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह सकता है।।४।।

त्रैलोक्यं विधिमयतां नयन्न चासौ शब्दोऽपि स्वयमिह गाहतेऽर्थरूपम्।
सत्येवं निरवधिवाच्यवाचकानां भिन्नत्वं विलयमुपैति दृष्टमेतत्।।५।।

अन्वयार्थ :- (**त्रैलोक्यं**) तीनों लोकों को (**विधिमयतां**) विधिरूपता को (**नयन्**) प्राप्त करानेवाला (**असौ**) यह (**शब्दोऽपि**) शब्द भी (**इह**) इस जगत् में (**स्वयं**) अपने आप (**अर्थरूपं**) अर्थरूपता को (**न च गाहते**) प्राप्त नहीं होता क्योंकि (**एवं सति**) ऐसा होनेपर (**निरवधिवाच्यवाचकानां**) असंख्य शब्द और अर्थों की (**दृष्टं**) देखी हुई (**एतत्**) यह (**भिन्नत्वं**) भिन्नता (**विलयं**) विनाश को (**उपैति**) प्राप्त होती है।

भावार्थ :- यद्यपि शब्द तीनों लोकों को विधिरूपता को प्राप्त कराते हैं - उनके अस्तिपक्ष को सूचित करते हैं तो भी वे स्वयं अर्थरूप नहीं होते अर्थात् शब्द, शब्द ही रहते हैं और अर्थ, अर्थ ही रहते हैं। इसके विपरीत यदि शब्द अर्थरूप होने लगें तो असंख्य शब्द और अर्थों में जो भिन्नरूपता दिखाई देती है वह नष्ट हो जावेगी, दोनों में एकरूपता हो जावेगी।।५।।

शब्दानां स्वयमपि कल्पितेऽर्थभावे भाव्येत भ्रम इति वाच्यवाचकत्वम्।
किन्त्वस्मिन् नियममृते न जातु सिद्धयेद् दृष्टोऽयं घटपट (घट)
शब्दयोर्विभेदः।।६।।

अन्वयार्थ :- (**शब्दानां**) घट आदि शब्दों की (**स्वयमपि**) स्वयं भी (**अर्थभावे कल्पिते 'सति'**) अर्थरूपता माननेपर (**वाच्यवाचकत्वम्**) उनमें जो वाच्यवाचकपना है वह (**भ्रम इति भाव्येत**) भ्रम है ऐसा समझा जावेगा (**किन्तु**) परंतु (**अस्मिन्**) इस भ्रम में (**नियमम् ऋते**) नियम के बिना (**दृष्टः**) देखा गया (**अयं**) यह (**घटघटशब्दयोः**) घट पदार्थ और घट शब्द का (**विभेदः**) भिन्नपना (**जातु**) कभी (**न सिद्धयेत्**) सिद्धि के लिये नहीं हो सकता।

भावार्थ :- यदि ऐसा माना जावे कि जो शब्द हैं वे स्वयं ही अर्थरूप हो जाते हैं तो ऐसा माननेपर शब्द और अर्थ में जो वाचक और वाच्य का भेद है वह भ्रमरूप हो जावेगा अर्थात् असत्यवत् हो जावेगा और उसके असत्यवत् होनेपर घटपदार्थ और घट शब्द में देखा गया भेद असत्य हो जावेगा।।६।।

अप्येतत् सदिति वचोऽत्र विश्वचुम्बि सत्सर्वं नहि सकलात्मना विधत्ते।
अर्थानां स्वयमसतां परस्वरूपात् तत्कुर्यान्नियतमसद्वचोऽप्यपेक्षाम्।।७।।

अन्वयार्थ :- (**अत्र**) इस जगत् में (**सदिति वचः**) `सत्' यह शब्द (**विश्वचुम्बि अपि सत्**) समस्त पदार्थों का ग्राही होता हुआ भी (**हि**) निश्चय से (**सकलात्मना**) सम्पूर्णरूप से (**सर्वं**) सबको (**सत् न विधत्ते**) सत् नहीं करता है क्योंकि (**तत्**) वह सत् शब्द (**असत् वचोऽपि**) असत् अर्थ को भी कहता हुआ (**परस्वरूपात्**) पर स्वरूप से (**स्वयम् असताम्**) स्वयं न रहनेवाले (**अर्थानाम्**) पदार्थों की (**नियतम्**) नियम से (**अपेक्षां कुर्यात्**) अपेक्षा करता है।

भावार्थ :- यद्यपि `सत्' शब्द के कहने से संसार के समस्त पदार्थों का ग्रहण होता है तथापि वह सर्वरूप से सबको सत् नहीं कह सकता क्योंकि समस्त पदार्थ स्व-स्वरूप की अपेक्षा ही सत् रूप होनेपर भी परस्वरूप की अपेक्षा असत् रूप भी हैं - तात्पर्य यह है कि सत् और असत् ये दोनों पक्ष परस्पर सापेक्ष हैं। जहाँ किसी पदार्थ को स्वस्वरूप की अपेक्षा सत् कहा जाता है वहाँ उसी पदार्थ को परस्वरूप की अपेक्षा असत् भी कहा जाता है और जहाँ किसी पदार्थ को परस्वरूप की अपेक्षा असत् कहा जाता है वहाँ उसी पदार्थ को स्वस्वरूप की अपेक्षा सत् भी कहा जाता है।।७।।

अस्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे स्पष्टासौ स्वयमनुभूतिरुल्लसन्ती।
चितत्त्वं विहितमिदं निजात्मनोच्चैः प्रव्यक्तं वदति परात्मना निषिद्धम्।
।८।।

अन्वयार्थ :- (**समन्ततः**) सब ओरसे (**अस्तीति**) `अस्ति' इस प्रकार का (**विकल्पे स्फुरति**) विकल्प स्फुरित होनेपर (**स्वयं**) अपने आप (**उल्लसन्ती**) प्रकट होती हुई (**असौ**)

यह (**स्पष्टा अनुभूतिः**) स्पष्ट अनुभूति जहाँ (**इदं चितत्त्वं**) इस जीवतत्त्व को (**निजात्मना**) स्वस्वरूप से (**विहितं**) विधिपक्ष से युक्त (**उच्चैः**) उच्च स्वर से (**वदति**) कहती है वहाँ उसे (**परात्मना**) परस्वरूप से (**प्रव्यक्तं**) स्पष्टरूप से (**निषिद्धं**) नास्तिपक्ष से युक्त भी (**वदति**) कहती है।

भावार्थ :- यहाँ चेतनतत्त्व - जीवतत्त्व के अस्ति और नास्ति पक्ष का उदाहरण देते हुए पदार्थों में रहने वाले विधि और निषेध धर्म को स्पष्ट किया गया है। जब जीवतत्त्व को `अस्ति' ऐसा कहा जाता है तब उसमें अस्तित्व का विकल्प सब ओरसे प्रकट होता है और अस्तित्व की स्पष्ट अनुभूति भी होती है परंतु वह निजात्मा - स्वस्वरूप की अपेक्षा होती है परंतु जब उसी जीवतत्त्व को परस्वरूप की अपेक्षा `नास्ति' ऐसा कहा जाता है तब उसमें नास्तित्व का विकल्प प्रस्फुरित होता है और नास्तित्व की अनुभूति भी होने लगती है।।८।।

नास्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे स्पष्टासौ स्वयमनुभूतिरुल्लसन्ती।
प्रव्यक्तं वदति परात्मना निषिद्धं चित्तत्त्वं विहितमिदं निजात्मनोच्चैः।
।।९।।

अन्वयार्थ :- (**समन्ततः**) सब ओरसे (**नास्तीति विकल्पे स्फुरति `सति'**) `नास्ति' ऐसा विकल्प स्फुरित - प्रकट होने पर (**स्वयं**) अपने आप (**उल्लसन्ती**) प्रकट होती हुई (**असौ**) यह (**स्पष्टा**) स्पष्ट (**अनुभूतिः**) अनुभूति (**चित्तत्त्वं**) चेतनतत्त्व को (**परात्मना**) परस्वरूप की अपेक्षा (**प्रव्यक्तं**) व्यक्त रूप से (**निषिद्धं**) निषेधरूप -नास्तिपक्ष से युक्त (**वदति**) कहती है और (**निजात्मना**) स्वस्वरूप की अपेक्षा (**इदं**) इस चेतनतत्त्व को (**उच्चैः**) उच्चस्वर से (**विहितं**) विधिरूप - अस्तिपक्ष से युक्त (**वदति**) कहती है।

भावार्थ :- श्लोक का भाव पूर्वश्लोक के भाव से स्पष्ट है, विशेषता यह है कि यहाँ नास्तिपक्ष की मुख्यता और विधिपक्ष की गौणता है।।९।।

सत्यस्मिन् स्वपरविभेदभाजि विश्वे किं ब्रूयात् विधिनियमाद्वयात् स शब्दः।
प्रब्रूयाद्यदि विधिमेव नास्ति भेदः प्रबूते यदि नियमं जगत् प्रमृष्टम्।
।।१०।।

अन्वयार्थ :- (**अस्मिन् विश्वं स्वपरविभेदभाजि सति**) जब कि यह विश्व - जगत्, स्व और पर के भेद को प्राप्त है तब (**स शब्दः**) वह शब्द (**विधिनियमाद्वयात्**) विधि और निषेध के अद्वैत से - विधि और निषेधमें-से किसी एक पक्ष के द्वारा (**किं ब्रूयात्**) क्या कह सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं। (**यदि**) यदि वह (**विधिमेव प्रब्रूयात्**) विधिपक्ष - भेद को ही (**प्रब्रूयात्**) कहता है तो (**भेदः नास्ति**) `भेद नहीं है', यह बात सामने आती है और यदि (**नियमं प्रब्रूते**) निषेधपक्ष - अभेद को कहता है तो (**जगत् प्रमृष्टं**) संसार साफ होता है - संसार की विविधता नष्ट होती है, जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

भावार्थ :- `संसार स्व और पर के भेद को प्राप्त है' यह विधिपक्ष है और `संसार स्वपर के भेद को प्राप्त नहीं है' यह निषेधपक्ष है। इन दोनों पक्षों के रहते हुए शब्द किसी एक पक्ष का निरूपण नहीं कर सकते क्योंकि एक पक्ष का निरूपण करने पर सर्वथा भेद या अभेद की बात सामने आती है जो कि इष्ट नहीं है।।१०।।

एकान्तात् सदिति वचो विसर्पि विश्वं स्पृष्ट्वापि स्पुटमवगाहते निषेधम्।
सन्तोऽर्था न खलु परस्परानिषेधाद् व्यावृत्तिं सहजविजृम्भितां व्रजेयुः।
।।११।।

अन्वयार्थ :- (**सदिति वचः**) `सत्' इसप्रकार का वचन (**एकान्तात्**) एकान्त से (**विसर्पि विश्वं**) विस्तृत विश्व का (**स्पृष्ट्वापि**) स्पर्श करके भी (**स्फुटं**) स्पष्टरूप में (**निषेधं**) निषेधपक्ष का (**अवगाहते**) अवगाहन करता है क्योंकि (**खलु**) निश्चय से (**सन्तः अर्थाः**) सत्रूप पदार्थ (**परस्परानिषेधात्**) परस्पर एक दूसरे का निषेध न करने से (**सहजविजृम्भितां**) स्वभाव सिद्ध (**व्यावृर्ति**) पृथक्त्व को (**न व्रजेयुः**) प्राप्त नहीं हो सकेंगे।

भावार्थ :- यद्यपि सत् शब्द समस्त विश्व का वाचक है तथापि वह निषेध पक्ष को भी प्रतिपादित करता है अर्थात् सबका वाचक नहीं है क्योंकि एकान्त से यदि ऐसा मान लिया जावे कि सत् समस्त पदार्थों को विषय करता है तो एक पदार्थ की अन्य पदार्थ से व्यावृत्ति - पृथकता नहीं हो सकेगी। तात्पर्य यह है कि महासत्ता की अपेक्षा सत् शब्द, समस्त विश्व को ग्रहण करता है परंतु अवान्तर सत्ता की अपेक्षा समस्त विश्व को ग्रहण न कर घट, पट आदि विशिष्ट पदार्थों को ही ग्रहण करता

है। ऐसा मानने पर घटपटादि पदार्थों का परस्पर पार्थक्य सिद्ध हो जाता है उसमें कोई बाधा नहीं आती।।११।।

एकान्तादसदिति गीर्जगत्समग्रं स्पृष्ट्वापि श्रयति विधिं पुरः स्फुरन्तम्।
अन्योऽन्यं स्वयमसदप्यनन्तमेतत् प्रोत्थातुं न हि सहते विधेरभावात्।
।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**एकान्तात्**) एकान्तरूप से (**असदिति गीः**) 'असत्' यह शब्द (**समग्रं जगत्**) समस्त संसार का (**स्पृष्ट्वापि**) स्पर्श करके भी (**पुरःस्फुरन्तं**) सामने स्फुरित होनेवाली विधि - सत्पक्ष का (**श्रयति**) आश्रय लेता है क्योंकि (**एतत् अनन्त**) यह अनंत जगत् (**अन्योऽन्यं**) परस्पर (**स्वयं**) स्वयं (**असदपि**) असत् होता हुआ भी (**विधेरभावात्**) विधि - सत्पक्ष के बिना (**प्रोत्थातुं**) उठने के लिये (**न हि सहते**) समर्थ नहीं है।

भावार्थ :- जगत् एकान्त से असत् सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि सत् पदार्थ ही द्रव्यादि चतुष्टय में भेद होनेसे असत् हुआ करता है। जो पदार्थ अभावरूप होता है वह भी किसी क्षेत्र आदि की अपेक्षा भावरूप होता है जैसे [१]पुष्प का अभाव आकाश में कहा जाता है उसका वृक्षपर सद्भाव पाया जाता है अर्थात् आकाशरूप क्षेत्र की अपेक्षा पुष्प असत् है परंतु वृक्षरूप क्षेत्र की अपेक्षा सत्रूप है। तात्पर्य यह है कि सत् और असत् - दोनों परस्पर एक दूसरे के आश्रय से ही सिद्ध होते हैं सर्वथा रूप से नहीं।।१२।।

भिन्नोऽस्मिन्भुवनभरान्न भाति भावोऽभावो वा स्वपरगतव्यपेक्षया तौ।
एकत्र प्रविचरतां द्विरूपशक्तिः शब्दानां भवति यथा कथञ्चिदेव।।१३।

अन्वयार्थ :- (**अस्मिन्**) इस जगत् में (**भावः**) सद्भाव (**वा**) अथवा (**अभावः**) असद्भाव (**भुवनभरात्**) संसारस्थ पदार्थों के समूह से (**भिन्नो न**) भिन्न नहीं है क्योंकि (**तौ**) वे दोनों भाव (**स्वपरगतव्यपेक्षया**) स्वगत और परगत की अपेक्षा सिद्ध होते हैं अर्थात् स्वगत

१. 'सतः कथञ्चित्तदसत्त्वशक्तिः खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम्।
सर्वस्वभावच्युतमप्रमाणं स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत्।।' - स्वयंभूस्तोत्र।

की अपेक्षा सद्भाव और परगत की अपेक्षा असद्भाव सिद्ध होता है। इस तरह (एकत्र) किसी एक अर्थ में (प्रविचरतां) प्रवृत्त होनेवाले (शब्दानां) शब्दों की (द्विरूपशक्तिः) सद्भाव और असद्भाव अर्थ को सूचित करनेवाली शक्ति (यथाकथञ्चित्) किसी अपेक्षा से (भवति एव) होती ही है।

भावार्थ :- भाव और अभाव ये दोनों धर्म यद्यपि परस्पर विरोधी हैं तथापि संसार के प्रत्येक पदार्थ में रहते अवश्य हैं। स्वगत की अपेक्षा भाव और परगत की अपेक्षा अभाव, इस प्रकार की विवक्षा से दोनों विरोधी धर्मों का अस्तित्व एक ही पदार्थ में सिद्ध हो जाता है। यह ठीक है कि अभिधाशक्ति के अनुसार शब्द किसी एक अर्थ को ही सूचित करने में समर्थ होते हैं परंतु स्याद्वाद का आश्रय उनमें उभयअर्थ को सूचित करने की शक्ति का अवतार करता है।।१३।।

अस्तीति ध्वनिरनिवारितः प्रशम्यान्यत् कुर्याद्विधिमयमेव नैव विश्वम्।
स्वस्यार्थं परगमनान्निवर्तयन्तं तन्नूनं स्पृशति निषेधमेव साक्षात्।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**अस्तीति ध्वनिः**) अस्ति-पदार्थ सद्रूप है इस प्रकार का शब्द (**अनिवारितः**) अनिवारितरूप से (**अन्यत्**) असद्रूप को (**प्रशम्य**) शांत कर - सर्वथा निषिद्ध कर (**विश्वम्**) विश्व को (**विधिमयमेव**) एकान्त से विधिरूप ही (नैव कुर्यात्) नहीं कर सकता है क्योंकि (**तत्**) वह (**स्वस्यार्थं**) अपने अर्थ को (**परगमनात्**) परगमन से (**निवर्तयन्तं**) दूर करनेवाले (**निषेधं**) निषेध को (**नूनं**) निश्चय से (**साक्षात्**) साक्षात् (**स्पृशति एव**) स्पर्श करता ही है।

भावार्थ :- `पदार्थ अस्तिरूप है' यह शब्द किसी रुकावट के बिना विश्व को अस्तिरूप सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि वह नास्तिरूप का भी साक्षात् आश्रय लेता है। `घटः अस्ति' यहाँ घट का स्वार्थ घट में है पट में नहीं है अतः विधिपक्ष घट की, पटादि से निवृत्ति भी करता रहता है।।१४।।

नास्तीति ध्वनितमनङ्कुशप्रचाराद्यच्छून्यं झगिति करोति नैव विश्वम्।
तन्नूनं नियमपदे तदात्मभूमावस्तीति ध्वनितमपेक्षते स्वयं तत्।।१५।।

अन्वयार्थ :- (यत्) जिस कारण (नास्तीति ध्वनितं) नास्ति यह शब्द (अनङ्कुशप्रचारात्)

स्वच्छन्दगति से (**विश्वं**) विश्व को (**झगिति**) शीघ्र ही (**शून्यं**) अभावरूप (**नैव करोति**) नहीं ही करता है (**तत्**) उस कारण (**तदा**) उस समय (**तत्**) वह विश्व (**आत्मभूमौ**) स्वक्षेत्र में (**नियमपदे**) नियम से (**स्वयं**) अपने आप (**अस्तीति ध्वनितं**) अस्ति इस शब्द की (**अपेक्षते**) अपेक्षा करता है।

भावार्थ :- ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार `अस्ति' शब्द `नास्ति' शब्द की अपेक्षा रखता है उसीप्रकार `नास्ति' शब्द `अस्ति' शब्द की अपेक्षा रखता है।।१५।।

सापेक्षो यदि न विधीयते विधिस्तत्स्वस्यार्थं ननु विधिरेव नाभिधत्ते।
विध्यर्थः स खलु परान्निषिद्धमर्थं यत् स्वरिमन्नियतमसौ स्वयं ब्रवीति।।१६।

अन्वयार्थ :- (**यदि**) **यदि** (**सापेक्षः**) निषेधपक्ष की अपेक्षा से सहित (**विधिः**) अस्तिका पक्ष (**न विधीयते**) नहीं किया जाता है (**तत्**) जो (**ननु**) निश्चय से (**स्वस्य अर्थं**) अपने अर्थ को (**विधिरेव**) मात्र विधिपक्ष (**नाभिधत्ते**) नहीं कहता है क्योंकि (**खलु**) निश्चय से (**सः असौ विध्यर्थः**) वह यह विधि - अस्ति का पक्ष (**स्वस्मिन् नियतं**) अपने आपमें नियत अर्थ को (**परात् निषिद्धं**) पर से निवृत्त (**स्वयं ब्रवीति**) स्वयं कहता है।

भावार्थ :- यदि विधिपक्ष को निषेधपक्ष से सापेक्ष नहीं माना जावे तो वह अपने पक्ष का कथन करने में समर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि विधिपक्ष अपने आपमें रहने वाले जिस अर्थ का निरूपण करता है वह दूसरे पदार्थ से उसे अपने आप व्यावृत्त सूचित करता है जैसे विधिपक्षने कहा - यह घट है। यहाँ बिना कहे ही निषेधपक्ष ने आकर कह दिया कि वह पट नहीं है।।१६।।

स्यात्कारः किमु कुरुतेऽसतीं सतीं वा शब्दानामयमुभयात्मिकां स्वशक्तिम्।
यद्यस्ति स्वरसत एव सा कृतिः किं नासत्याः करणमिह प्रसह्य युक्तम्।
।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**अयं**) यह (**स्यात्कारः**) स्यात् शब्द (**शब्दानां**) शब्दों की जिस (**उभयात्मिकां**) विधि और निषेधरूप द्विविध शक्ति को (**कुरुते**) करता है सो (**किमु**) क्या (**असतीं कुरुते सतीं वा**) अविद्यमान शक्ति को करता है या विद्यमान शक्ति को

करता है ? (**यदि सा शक्तिः स्वरसत एव अस्ति**) यदि वह शक्ति स्वभाव से ही उसमें विद्यमान है तो (**किं कृतिः**) स्यात् शब्द का क्या कार्य हुआ - उसने क्या किया ? और यदि वह शक्ति असती - अविद्यमान है तो (**इह**) इस संसार में (**असत्याः**) अविद्यमान शक्ति का (**प्रसह्य**) हठपूर्वक (**करणं**) करना (**युक्तं न**) युक्त नहीं है - शक्य नहीं है।

भावार्थ :- शब्दों में उभयात्मक शक्ति स्वतः, विद्यमान हैं। स्यात् शब्द उन्हें सूचितमात्र करता है क्योंकि शक्तियों का सद्भाव यदि स्वयं न माना जावे तो अविद्यमान - नवीन शक्ति की उत्पत्ति संभव नहीं है।।१७।।

शब्दानां स्वयमुभयात्मिकास्ति शक्तिः शक्तस्तां स्वयमसतीं परो न कर्तुम्।
न व्यक्तिर्भवति कदाचनापि किन्तु स्याद्वादं सहचरमन्तरेण तस्याः।।१८।

अन्वयार्थ :- (**शब्दानां**) शब्दों की (**उभयात्मिका**) द्विविधरूप शक्ति (**स्वयं**) स्वयं (**अस्ति**) है अतः (**परः**) दूसरा पदार्थ (**तां**) उसे (**असतीं कर्तुम्**) अविद्यमान करने के लिये (**स्वयं न शक्तः**) स्वयं समर्थ नहीं है (**किन्तु**) परंतु (**तस्या व्यक्तिः**) उस द्विविध शक्ति की व्यक्ति (**स्याद्वादं सहचरमन्तरेण**) स्याद्वादरूप मित्र के बिना (**कदाचनापि**) कभी भी (**न भवति**) नहीं होती है।

भावार्थ :- शब्दों में जो शक्ति स्वयं विद्यमान है उसे अविद्यमान करने की क्षमता किसी दूसरे पदार्थ में नहीं है क्योंकि ऐसा नियम है कि असत् की उत्पत्ति और सत् का नाश कभी नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शब्दों में विधिशक्ति स्वयं है उसी प्रकार निषेधशक्ति भी स्वयं है। कोई शक्ति न नवीन उत्पन्न होती है और न विनष्ट होती है। इतना अवश्य है कि उन शक्तियों की व्यक्ति `स्यात्' शब्द से होती है। `स्यात् घटः' यहाँ विधिपक्ष स्पष्ट है परंतु नास्तिपक्ष स्यात् शब्द से प्रकट होता है और `स्यात् अघटः' यहाँ नास्तिपक्ष प्रकट है परंतु विधिपक्ष स्यात् शब्द से प्रकट होता है।।१८।।

एकस्मादपि वचसो द्वयस्य सिद्धौ किन्न स्याद्विफल इहेतरप्रयोगः।
साफल्यं यदि पुनरेति सोऽपि तत्किं क्लेशाय स्वयमुभयाभिधायितेयम्।
।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**इह**) इस जगत् में (**एकस्मादपि वचसः**) एक ही वचन से (**द्वयस्य सिद्धौ `सत्यां'**) दो अर्थों की सिद्धि होने पर (**इतरप्रयोगः**) दूसरे वचन का प्रयोग (**विफलः**) निष्फल (**किं न स्यात्**) क्यों नहीं होगा ? अवश्य होगा और (**सोऽपि**) वह दूसरे शब्द का प्रयोग भी (**यदि पुनः**) यदि फिर (**साफल्यम्**) सफलता को (**एति**) प्राप्त होता है (**तत्**) तो (**स्वयं**) अपने आप (**इयं**) यह (**उभयाभिधायिता**) शब्दों की यह उभयाभिधायिता - दोनों अर्थों का प्रतिपादन (**क्लेशाय किम्**) क्लेशदायक क्यों है।

भावार्थ :- जब एक ही शब्द से विधि और निषेध - दोनों अर्थों की प्रतीति हो जाती है तब अन्य शब्द के प्रयोग की क्या आवश्यकता है ? जैसे `घटः अस्ति' यह घड़ा है ऐसा कहने से घट के अस्तित्व का बोध होता है वैसे ही उससे `घटेतरो नास्ति' घट से भिन्न पटादि नहीं है। इस अर्थ की प्रतीति हो जाती है। जब यह स्थिति है तब दूसरे शब्द का प्रयोग निष्फल हो जाता है। इसके विपरीत यदि दूसरे शब्द के प्रयोग को सफल माना जाता है तो फिर एक ही शब्द तो फिर शब्दों की उभयअर्थ को प्रतिपादित करनेवाली शक्ति से क्लेश क्यों होता है ? ।।१९।

तन्मुख्यं विधिनयमद्वयाद्यदुक्तं स्याद्वादाश्रयणगुणोदितस्तु गौणः।
एकस्मिन्नुभयमिहानयोर्ब्रुवाणे मुख्यत्वं भवति हि तद्द्वयप्रयोगात्।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**यत्**) जो (**विधिनियमद्वयात् उक्तं**) विधि और निषेध इन दो स्वभावों से कहा गया है (**तत्**) वह (**मुख्यं**) मुख्य है (**तु**) किन्तु (**स्याद्वादाश्रयणगुणोदितः**) जो स्याद्वाद के आश्रयरूप गुण से कहा जाता है वह (**गौणः**) गौण कहलाता है। (**इह**) इस जगत् में (**अनयोः**) विधिनिषेध में (**उभयं**) दोनों को (**ब्रुवाणे**) कहनेवाले (**एकस्मिन्**) एक शब्द में (**हि**) निश्चय से (**तद्द्वयप्रयोगात्**) उन दोनों का प्रयोग होनेसे दोनों की (**मुख्यत्वं**) मुख्यता (भवति) होती है।

भावार्थ :- यहाँ आचार्य ने मुख्य और गौण की परिभाषा बतलाते हुए कहा है कि जो विधि और निषेध - दोनों स्वभावों की अपेक्षा लेकर कहा जाता है वह मुख्य कहलाता है और गौण शब्द का अर्थ यह है कि जो स्याद्वाद के आश्रयरूप गुण से कहा गया है वह गौण है। आगे विवक्षित और अविवक्षित की अपेक्षा मुख्य और गौण का कथन करते हैं।।२०।।

मुख्यत्वं भवति विवक्षितस्य साक्षात् गौणत्वं व्रजति विवक्षितो न यः स्यात्।
एकस्मिंस्तदिह विवक्षितो (ते) द्वितीयो गौणत्वं दधदुपयाति मुख्यसख्यम्।
।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**साक्षात्-विवक्षितस्य**) वक्ता जिसे साक्षात् कहना चाहता है उसके (मुख्यत्वं) मुख्यपना (**भवति**) होता है और (**यः**) जो (**विवक्षितो न स्यात्**) विवक्षित नहीं होता है वह (**गौणत्वं**) गौणपने - अमुख्यपने को (**व्रजति**) प्राप्त होता है। (**तत्**) इसलिये (**इह**) इस जगत् में (**एकस्मिन्**) एक धर्म के (**विवक्षिते `सति'**) विवक्षित होनेपर (**द्वितीयः**) दूसरा धर्म (**गौणत्वं**) गौणपने को (**दधत्**) धारण करता हुआ (**मुख्यसख्यम्**) मुख की मैत्री को (**उपयाति**) प्राप्त होता है।

भावार्थ :- वक्ता जिस धर्म को साक्षात् कहना चाहता है वह मुख्य कहलाता है और जिस धर्म को नहीं कहना चाहता है वह गौण या अमुख्य कहलाता है[१]। यहाँ विवक्षा और अविवक्षा की अपेक्षा मुख्य तथा गौण का निरूपण किया गया है। इस मुख्य और गौण के निरूपण में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि गौण धर्म मुख्य का बाधक न हो कर उसका साधक ही होता है अर्थात् उसके साथ मैत्रीभाव को प्राप्त होता है।।२१।।

भावानामनवधिनिर्भरप्रवृत्ते संघट्टे महति परात्मनोरजस्त्रम्।
सीमानं विधिनियमावसंस्पृशन्तौ स्यात्काराश्रयणभृते विसंवदाते।।२२।।

अन्वयार्थ :- (**भावानां**) भावों के (**अनवधिनिर्भरप्रवृत्ते**) असंख्यभार से प्रवृत्त होनेवाले (**महति संघट्टे `सति'**) बहुत भारी संघट्ट के रहते हुए यदि (**विधिनियमौ**) विधि और निषेध (**अजस्त्रं**) निरंतर (**परात्मनोः**) पर और अपनी (**सीमानं**) सीमा का (**अस्पृशन्तौ**) स्पर्श नहीं करते हैं तो वे (**स्यात्काराश्रयणम् ऋते**) स्याद्वाद के आश्रय के बिना (**विसंवदाते**) विसंवाद - विरोध करने लगते हैं।

भावार्थ :- विधि और निषेध ये दोनों धर्म परस्पर विपरीत स्वभाववाले हैं अतः इनमें विसंवाद का अवसर निरंतर रहता है। इस विसंवाद को दूर करने के लिये

१. `विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते।' - स्वयंभूस्तोत्र।

आचार्यों ने दोनों की सीमाएँ निर्धारित करते हुए कहा है कि विधि की सीमा स्व है और निषेध की सीमा पर है। इन दोनों को स्याद्वाद की आज्ञा का पालन करते हुए अपनी अपनी सीमा में स्थिर रहना चाहिये। यदि इस आज्ञा का उल्लंघन किया गया तो भावों का संघट्ट होकर विसंवाद उत्पन्न हो जावेगा।।२२।।

धत्तेऽसौ विधिरधिकं निषेधमैत्रीं साकाङ्क्षा वहति विधिं निषेधवाणी।
स्यात्काराश्रयणसमर्थितात्मवीर्या वाख्यातो विधिनियमौ निजार्थमित्थम्।।२३।

अन्वयार्थ :- (**असौ**) यह (**विधिः**) अस्तिपक्ष (**अधिकं**) अधिक रूप से (**निषेधमैत्रीं**) निषेधपक्ष के साथ मित्रता को (**धत्ते**) धारण करता है और (**साकाङ्क्षा निषेधवाणी**) साकांक्षा निषेधवाचक शब्द (**विधिं**) विधिपक्ष को (**वहति**) धारण करता है। (**इत्थं**) इस प्रकार (**स्यात्काराश्रयणसमर्थितात्मवीर्यौ**) स्याद्वाद के आश्रय से अपनी शक्ति को बढ़ानेवाले (**विधिनियमौ**) विधि और निषेध (**निजार्थं**) अपने अर्थ को (**आख्यातः**) कहते हैं।

भावार्थ :- स्यात् शब्द की सामर्थ्यसे विधि और निषेध वाचक शब्द परस्पर मैत्रीभाव को रखते हुए ही अपने-अपने अर्थ का प्रतिपादन करते हैं।।२३।।

इत्येवं स्फुटसदसन्मयस्वभावं वस्त्वेकं विधिनियमो(भया) भिधेयम्।
स्यात्कारे निहितभरे विवक्षितः सन्नेकोऽपि क्षमत इहाभिधातुमेतत्।।२४।

अन्वयार्थ :- (**इत्येवं**) इस प्रकार (**इह**) इस जगत् में (**स्यात्कारे निहितभरे `सति'**) जिसके ऊपर भार निहित है ऐसे स्याद्वाद के रहते हुए (**स्फुटसदसन्मयस्वभावं**) जिसका स्वभाव स्पष्ट ही सत् और असत् से तन्मय है तथा (**विधिनियमोभयाभिधेयम्**) विधि और निषेध दोनों ही जिसके वाच्य हैं ऐसी (**एतत्**) इस (**एकं वस्तु**) एक वस्तु को (**एकोऽपि**) एक सत् शब्द ही (**विवक्षितः सन्**) विवक्षित होता हुआ (**अभिधातुं**) कहने के लिये (**क्षमते**) समर्थ है।

भावार्थ :- संसार का प्रत्येक पदार्थ सत्-असत् स्वभाव से युक्त है तथा विधि और निषेधरूप से वाच्य है। उसका कथन करने के लिये स्यात्कार के आश्रय से एक `सत्' शब्द भी समर्थ है। तात्पर्य यह है कि `स्यात् वस्तु सत्' - `वस्तु कथंचित् सत् है' इस एक शब्द से ही वस्तु के अस्तिपक्ष के साथ नास्तिपक्ष का भी बोध

हो जाता है।।२४।।

स्वद्रव्याद् विधिरयमन्यथा निषेधः क्षेत्राद्यैरपि हि निजेतरैः क्रमोऽयम्।
इत्युच्चैः प्रथममिह प्रताऽय भेरीं निर्बाधं निजविषये चरन्तु शब्दाः।।२५।

अन्वयार्थ :- (**स्वद्रव्यात्**) स्वद्रव्य की अपेक्षा (**अयं**) यह विधि - अस्तिपक्ष है और (**अन्यथा**) परद्रव्य की अपेक्षा (**निषेधः**) नास्तिपक्ष है। (**हि**) निश्चय से (**निजेतरैः**) निज और पर (**क्षेत्राद्यैः अपि**) क्षेत्र आदि की अपेक्षा भी (**अयं क्रमः**) यह क्रम है अर्थात् स्व क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा अस्तिपक्ष है और पर क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा नास्तिपक्ष है। (**इति**) इस प्रकार (**इह**) इस जगत् में (**प्रथमं**) पहले (**उच्चैः**) जोर से (**भेरीं प्रताड्य**) डंका पीट कर (**शब्दाः**) शब्द (**निजविषये**) अपने विषय में (**निर्बाधं**) निर्बाधरूप से (**चरन्तु**) विचरण करें।

भावार्थ :- `स्वचतुष्टय की अपेक्षा विधिपक्ष है और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिपक्ष है' इतना स्पष्ट कर देनेपर परस्पर विरोधी शब्दों का विरोध दूर हो जाता है और पदार्थ में परस्पर विरोधी धर्मों की सिद्धि हो जाती है।।२५।।

ॐ

(१८)

[१]मत्तमयूरं छन्दः

आद्यं ज्योतिर्द्वयात्मकदुर्गाद्‌भुततत्त्वं कर्मज्ञानोत्तेजितयोगागमसिद्धम्।
मोहध्वान्तं ध्वंसयदत्यन्तमनन्तं पश्याम्येतन्निर्दयमन्तः प्रविदार्य।।१।।

अन्वयार्थ :- मैं (**अन्तः**) अन्तरङ्‌गमें विद्यमान (**एतत्**) इस (**अनन्तं**) बहुतभारी (**मोहध्वान्तं**) मोहरूपी तिमिर को (**निर्दयं `यथा स्यात्तथा**') निर्दयता पूर्वक (**अत्यंतं**) अत्यंतरूप से (**प्रविदार्य**) चीर कर - नष्ट कर (**द्वयात्मकदुर्गाद्‌भुततत्वं**) जिसका यथार्थरूप द्वयात्मक - विधि-निषेधात्मक अथवा सामान्य-विशेषात्मक दुर्ग - गढ़ से आश्चर्यकारक है (**कर्मज्ञानोत्तेजितयोगागमसिद्धम्**) जो कर्म - कर्मनय और ज्ञान - ज्ञाननय से उत्तेजित योगागम शुक्लध्यान की प्राप्ति से सिद्ध है तथा (**अनंतं**) अंत से रहित है ऐसी (**आद्यं ज्योतिः**) केवलज्ञानरूप प्रथम ज्योति का (**पश्यामि**) अवलोकन कर रहा हूँ।

भावार्थ :- हे भगवन् ! मैं उस केवलज्ञानरूपी ज्योति का अवलोकन कर रहा हूँ जिसका यथार्थरूप विधि-निषेधात्मक - सामान्य-विशेषात्मक दुर्ग-गढ़ से अद्‌भुत है अर्थात् जो पदार्थ के उपर्युक्त द्विविधरूप को जानता है, जिसकी सिद्धि कर्मनय - क्रियारूपचारित्र का पालन तथा ज्ञाननय - सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप ज्ञाननय - निश्चयदृष्टि से वृद्धि को प्राप्त होनेवाले शुक्लध्यान की प्राप्ति से होती है तथा जो होकर फिर कभी नष्ट न होनेसे अनंत है। यह केवलज्ञानरूपी ज्योति, अंतरङ्‌ग में विद्यमान मोहरूपी गाढ़ तिमिर का निर्दयतापूर्वक अत्यंत - सर्वथा क्षय करने से ही प्रकट होती है इसलिये उसके क्षय करने की बात कही गई है। केवलज्ञान की उत्पत्ति का क्रम भी आगम में यही बताया गया है `मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' - मोहकर्म का क्षय और उसके अनंतर ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अंतरायकर्म

१. `वेदैरन्ध्रैम्तौं यसगा मत्तममपरम' - इति वृत्तरत्नकरे।

का क्षय होनेसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है। पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान के प्रभाव से दशम - सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अंत में मोहकर्म का सर्वथा क्षय होता है और उसके अंतर्मुहूर्त के बाद 'एकत्ववितर्क' नामक द्वितीय शुक्लध्यान के प्रभाव से बारहवें - क्षीणमोह नामक गुणस्थान के अंत में ज्ञानावरणादि शेष तीन घातिया कर्मों का क्षय होनेपर केवलज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञान की विशेषता यह है कि वह विधि निषेधात्मक अथवा सामान्य विशेषात्मक उभय धर्मों से युक्त पदार्थों को जानता है और स्वयं भी उभयधर्मात्मक है। सर्वोत्कृष्ट होनेसे इस केवलज्ञानरूपी ज्योति को आद्य ज्योति कहा जाता है।।१।।

एको भावस्तावक एष प्रतिभाति व्यक्तानेकव्यक्तिमहिम्न्येकनिषन्नः (ण्णः)।
यो नानेकव्यक्तिषु निष्णातमतिः स्यादेको भावस्तस्य तवैषो[1] विषयः स्यात्।
।।२।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**तावकः**) आपका (**एषः**) यह (**एको भावः**) एक भाव (**व्यक्तानेकव्यक्तिमहिम्नि**) प्रकट हुई अनेक पर्यायों की महिमा में (**एकनिषण्णः**) एक पर निर्भर अर्थात् सामान्यग्राही होनेसे अनेकों में एकत्व की स्थापित करनेवाला (**प्रतिभाति**) प्रतिभासित होता है (**यो वा**) जो पुरुष (**अनेकव्यक्तिषु**) अनेक पदार्थों में (**निष्णातमतिः स्यात्**) निपुणमति है - पदार्थों के अनेकत्व को स्वीकृत करता है (**तस्य एको भावः स्यात्**) उसीके एक भाव है - एकत्व का अनेकत्व के साथ अविनाभाव स्वीकृत है और (**एषः**) यही अनेकात्मक भाव (**तव विषयः स्यात्**) आपका ज्ञेय है।

भावार्थ :- यहाँ एक और अनेक इन दो विरोधी धर्मों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आपका यह एक भाव अनेक पदार्थों में व्यापक रहने से उनके साथ अविनाभावी है और अनेक एक के साथ अविनाभावी है। यह एकानेकात्मक भाव आपका ज्ञेय है - आपके ज्ञान का विषय है। तात्पर्य यह है कि यह एकत्व और अनेकत्वभाव परस्पर सापेक्ष है, अतः पदार्थ के एकत्व को वही ग्रहण कर सकता है जो अनेकत्व को भी ग्रहण करने में कुशल है और अनेकत्व को भी वही ग्रहण

१. 'एषो विषयः' यहाँ सु का लोप आचार्य वैकल्पिक मानते हैं ऐसा जान पड़ता है, क्योंकि 'एष प्रतिभाति' यहाँ लोप क्रिया है। ऐसा ही एक प्रयोग पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी पाया जाता है जैसे - 'नैषः कदापि सङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम्'।।११७।।

कर सकता है जो एकत्व के ग्रहण करने में निपुण है।।२।।

नो सामान्यं भाति विनैवात्मविशेषैर्निःसामान्याः सन्ति कदाचिन्न विशेषाः।
यत् सामान्यं भाति त एवात्र विशेषास्त्वं वस्तु स्याः स्वीकृतसामान्यविशेषः।
।३।।

अन्वयार्थ :- (**आत्मविशेषैः विना**) अपने विशेष रूपों के बिना (**सामान्यं नो भाति**) सामान्य नहीं होता है और (**निःसामान्याः**) सामान्य के बिना (**विशेषाः**) विशेष (**कदाचित्**) कभी भी (**न सन्ति**) नहीं होते हैं (**अत्र**) इस जगत् में (**यत् सामान्यं**) जो सामान्य है (**ते एव विशेषाः**) वे ही विशेष हैं अर्थात् सामान्य और विशेष पदार्थ पृथक्-पृथक् नहीं है। हे भगवन् ! (**त्वं**) आप (**स्वीकृत सामान्यविशेषः**) सामान्य और विशेष दोनों को स्वीकृत करनेवाले हैं, अतः (**वस्तु स्याः**) यथार्थ वस्तु स्वरूप हैं।

भावार्थ :- पदार्थ में रहनेवाले सामान्य और विशेष धर्म परस्पर सापेक्ष हैं, क्योंकि विशेष के विना सामान्य नहीं होता और सामान्य के बिना विशेष नहीं होते। अतः जो सामान्य है वही विशेष है और जो विशेष हैं वही सामान्य है। द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं रहता। द्रव्य को सामान्य और पर्याय को विशेष कहते हैं। इस प्रकार संसार का प्रत्येक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक अथवा सामान्य-विशेषात्मक है। विवक्षावश जब द्रव्य को प्रधानता दी जाती है तब विशेष या अनेक अनुभव में आता है। जिनेन्द्र भगवान् सामान्य और विशेष के एकांत से रहित हैं, अतः वे स्वयं वस्तुस्वरूप हैं।।३।।

द्रव्येणैको नित्यमपीशासि समन्ताद् देवानेकः स्फूर्जसि पर्यायभरेण।
एकानेको वस्तुत एष प्रतिभासित्वं पर्यायद्रव्यसमाहारमयात्मा।।४।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! (**द्रव्येण**) द्रव्य की अपेक्षा आप (**नित्यमपि**) सदा ही (**समन्तात्**) सब ओरसे (**एकः असि**) एक हैं और (**देव**) हे देव ! (**पर्यायभरेण**) पर्याय समूह की अपेक्षा आप (**अनेकः स्फूर्जसि**) अनेक प्रतिभासित होते हैं। (**वस्तुतः**) परमार्थ से (**एष त्वं**) यह आप (**पर्यायद्रव्यसमाहारमयात्मा**) द्रव्य और पर्याय के समूह से तन्मय हैं अतः (**एकानेकः प्रतिभासि**) एक अनेक प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ :- `द्रव्यमेक पर्यायास्त्वनन्ताः' इस सिद्धांत के अनुसार द्रव्य एक और पर्याय अनेक है। हे नाथ ! जब द्रव्य की अपेक्षा विचार करते हैं तब आप एक मालूम होते हैं और जब भूत-भविष्यत्काल की अनंत पर्यायों की अपेक्षा विचार करते हैं तब अनेक प्रतीत होते हैं। यतः आप द्रव्य और पर्यायों के समूहरूप हैं अतः आप एकानेकः हैं अर्थात् कथंचित् एक हैं और कथंचित् अनेक हैं।।४।।

दृष्टः कस्मिन् कश्चिदनेकेन विनैको यश्चानेकः सोऽपि विनैकेन न सिद्धः।
सर्वं वस्तु स्यात् समुदायेन सदैकं देवानेकं स्वावयववैर्भाति तदेव।।५।

अन्वयार्थ :- (**कश्चित् एकः**) कोई एक (**अनेकेन**) अनेक के बिना (**कस्मिन्**) कहाँ (**दृष्टः**) देखा गया है ? अर्थात् कहीं नहीं। (**यश्च अनेकः**) और जो अनेक है (**सोऽपि**) वह भी (**एकेन विना**) एक के बिना (**न सिद्धः**) सिद्ध नहीं है। (**समुदायेन**) समुदाय की अपेक्षा (**सर्व वस्तु**) सभी पदार्थ (**सदा**) सदा (**एकं स्यात्**) एक हैं और (**देव**) हे देव ! (**तदेव**) वही एक पदार्थ (**स्वावयवैः**) अपने अवयवों की अपेक्षा (**अनेकं भाति**) अनेक मालूम होता है।

भावार्थ :- संसार में कहीं कोई एक ऐसा नहीं देखा गया है जो अनेक के बिना हो और ऐसा अनेक भी नहीं देखा गया है जो एक के बिना हो। तात्पर्य यह है कि संसार के समस्त पदार्थ एक और अनेकात्मक हैं। यह एक और अनेकपना जिस प्रकार द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा बनता है उसी प्रकार अवयवी और अवयवी की अपेक्षा भी बनता है। अवयवी के अपेक्षा पदार्थ एक है और अवयवों की अपेक्षा अनेक है। जैसे शाखा प्रशाखा पत्ते फल तथा पुष्पों के समूह की अपेक्षा वृक्ष एक है परंतु अपने उपर्युक्त अवयवों की अपेक्षा अनेक है।।५।।

एकानेकौ द्वौ सममन्योन्यविरुद्धौ संगच्छाते तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने।
एकं द्रव्यं नूनमनेके व्यतिरेका एकानेको न्यायत एवास्युभयात्मा।।६।

अन्वयार्थ :- (**अन्योन्यविरुद्धौ**) जो परस्पर में विरुद्ध हैं और (**भिन्ने पथि वृत्तौ**) भिन्न मार्ग में रहते हैं (**तौ**) वे (**एकानेकौ द्वौ**) एक और अनेक नामक दो धर्म (**त्वयि**) आपमें (**समं**) एक साथ (**संगच्छाते**) संगत होते हैं क्योंकि (**नूनं**) निश्चय से (**द्रव्यम्**

एकम्) द्रव्य एक है और (**व्यतिरेकाः**) पर्याय (**अनेके**) अनेक हैं (`**त्वम्**' **उभयात्मा असि**) आप उभयरूप हैं - द्रव्यपर्यायात्मक हैं अतः (**न्यायत एव**) न्याय से ही (**एकानेकः**) एकानेक हैं।

भावार्थ :- एक और अनेक ये दोनों धर्म पूर्व और पश्चिम की तरह परस्पर विरोधी है तथा भिन्न-भिन्न मार्ग में स्थित हैं परंतु आपमें एक साथ संगत होकर रहते हैं उसका कारण यह है कि एकत्व धर्म तो द्रव्य से सम्बन्ध रखता है और अनेकत्व धर्म पर्याय से। द्रव्य एक है और पर्याय अनेक हैं और यतः आप द्रव्यपर्यायात्मक हैं अतः एकानेकात्मक हैं अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा एक हैं और पर्याय की अपेक्षा अनेक हैं।।६।।

यत् तद्द्रव्यं रक्षति नित्यत्वमनन्तं पर्याया ये ते रचयन्ति क्षणभङ्गम्।
नित्यानित्यं वस्तु तवोदेति समन्तान्नित्यानित्यद्रव्यविशेषैकमयत्वात्।।७।।

अन्वयार्थ :- (**यत् द्रव्यं तत्**) जो द्रव्य है वह (**अनन्तं**) कभी नष्ट न होनेवाले (**नित्यत्वं**) नित्यत्व धर्म को (**रक्षति**) रखता है और (**ये पर्यायाः**) जो पर्याय हैं (**ते**) वे (**क्षणभङ्गम्**) क्षण-क्षण में नश्वरता अनित्यत्व धर्म को (**रचयन्ति**) रचती हैं। इसीलिये (**तव**) आपके मत में (**समन्तात्**) सब ओरसे (**नित्यानित्यद्रव्यविशेषैकमयत्वात्**) नित्य द्रव्य और अनित्य विशेष - पर्याय से एकरूप होनेके कारण (**वस्तु**) पदार्थ (**नित्यानित्यं**) नित्यानित्य (**उदेति**) सिद्ध होता है।

भावार्थ :- यहाँ नित्य और अनित्य इन दो विरोधी धर्मों की संगति सिद्ध करते हुए आचार्य ने कहा है कि भगवन् ! आपके मन में वस्तु नित्यानित्यात्मक है क्योंकि वह वस्तु, द्रव्य और पर्याय से तन्मय है तथा द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य है।।७।।

नित्यं किं हि स्यात् क्षणभङ्गिव्यतिरिक्तं नित्यादन्यः स्यात्क्षणभङ्गी कतरोऽत्र।
नित्यावृत्तिः स्यान्न विनांशैः क्षणिकैः स्वैर्नित्यावृत्तिं स्युर्न विनांशाः क्षणिकास्ते।।८।।

अन्वयार्थ :- (**हि**) निश्चय से (**नित्यं**) नित्य रहनेवाला द्रव्य (**किं**) क्या (**क्षणभङ्गिव्यतिरिक्तं**) अनित्य पर्याय से पृथक् (**स्यात्**) है ? अर्थात् नहीं है और (**क्षणभङ्गी**) क्षण-क्षण में नष्ट होने वाला (**कतरः**) कौनसा पर्याय (**नित्यात्**) नित्य-द्रव्य से (**अन्यः**) पृथक् है ? अर्थात् कोई नहीं है। (**अत्र**) इस जगत् में (**नित्यावृत्तिः**) नित्य रहनेवाला द्रव्य (**क्षणिकैः स्वैः अंशैः विना**) क्षण-क्षण में नष्ट होनेवाले पर्यायरूप अपने अंशों के बिना (**न स्यात्**) नहीं हो सकता और (**क्षणिकाः ते अंशाः**) क्षण-क्षण में नष्ट होने वाले वे अंश (**नित्यावृत्तिं विना**) द्रव्य के विना (**न स्युः**) नहीं हो सकते।

भावार्थ :- यह सिद्धांत है कि द्रव्य, पर्याय से और पर्याय, द्रव्य से पृथक् नहीं है। जब दोनों पृथक् नहीं हैं तब द्रव्य की अपेक्षा नित्यत्व और पर्याय की अपेक्षा अनित्यत्व धर्म, एक साथ एक ही वस्तु में सिद्ध होते हैं।।८।।

नित्यानित्यौ द्वौ सममन्योन्यविरुद्धौ संगच्छाते तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने नित्यम्।
द्रव्यं नित्यमनित्या व्यतिरेका नित्यानित्यौ (त्यो) न्यायत एवास्युभयात्मा।।९।।

अन्वयार्थ :- (**अन्योन्यविरुद्धौ**) परस्पर विरोधी तथा (**नित्यं**) निरंतर (**भिन्ने पथि**) भिन्न मार्ग में (**वृत्तौ**) प्रवृत्त होनेवाले (**नित्यानित्यौ द्वौ**) नित्य और अनित्य ये दो धर्म (**त्वयि**) आपमें (**समं**) एक साथ (**संगच्छाते**) संगत होते हैं, क्योंकि (**द्रव्यं**) द्रव्य (**नित्यं**) नित्य है और (**व्यतिरेकाः**) पर्याय (**अनित्याः**) अनित्य हैं। आप (**उभयात्मा असि**) द्रव्य और पर्याय रूप हैं अतः (**न्यायत एव**) न्याय से ही (**नित्यानित्यः**) नित्यानित्य हैं।

भावार्थ :- ऊपर जिस प्रकार द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा आपमें एकानेकत्व धर्म सिद्ध किया गया है उसी प्रकार यहाँ द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा नित्यानित्यत्व धर्म सिद्ध किया गया है। द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य है और आप द्रव्यपर्यायात्मक हैं अतः आपमें एक साथ नित्यानित्यत्व धर्म सिद्ध है।।९।।

स्वद्रव्याद्यैः स्फूर्जसि भावस्त्वमिहान्यद्रव्याद्यैस्तु व्यक्तमभावः प्रतिभासि।
भावाभावो वस्तुतयासीश समन्ताद् भावाभावावैक्यमुपानीय कृतो यत्।।।।१०।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे नाथ ! (**इह**) इस जगत् में (**त्वम्**) आप (**स्वद्रव्याद्यैः**) स्वकीय द्रव्य क्षेत्र काल भाव से (**भावः**) भावरूप-अस्तिरूप (**स्फूर्जसि**) प्रतीत होते हैं (**तु**) और (**अन्यद्रव्याद्यैः**) अन्य पदार्थ के द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा (**व्यक्तं**) स्पष्ट ही (**अभावः**) अभावरूप - नास्तिरूप (**प्रतिभासि**) मालूम होते हैं (**यत्**) जिस कारण आपने (**समन्तात्**) सब ओरसे (**भावाभावौ**) भाव और अभाव को (**ऐक्यमुपानीय कृतः**) एकरूपता प्राप्त करायी है अतः आप (**वस्तुतया**) परमार्थ से वस्तुस्वभाव के कारण (**भावाभावः असि**) भावाभावरूप हैं।

भावार्थ :- यहाँ जिनेन्द्र देव में आचार्यने भाव और अभाव इन दो विरोधी धर्मों की संगति सिद्ध करते हुये कहा है कि आप स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा भावरूप हैं और परद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा अभावरूप हैं, अतः आप परमार्थ से भावाभावरूप हैं।।१०।।

भावाद्भिन्नः कीदृगभावोऽत्र विधेयोभावो वा स्यात्कीदृग भावेन विनासौ।
तौ वस्त्वंशौ द्वौ स्वपराभ्यां समकालं पूर्णं शून्यं वस्तु किलाश्रित्य विभातः।
।।११।।

अन्वयार्थ :- (**अत्र**) इस जगत् में (**भावात् भिन्नः**) भाव से भिन्न (**अभावः**) अभाव (**कीदृग् विधेयः**) कैसे किया जा सकता है ? (**वा**) अथवा (**अभावेन बिना**) अभाव के विना (**असौ भावः**) यह भाव (**कीदृग् विधेयः**) कैसा किया जा सकने योग्य (**स्यात्**) है ? (**तौ द्वौ**) वे दोनों भाव और अभाव (**वस्त्वंशौ**) वस्तु के अंश हैं तथा (**स्वपराभ्यां**) निज और पर चतुष्टय की अपेक्षा (**समकालं**) एक ही साथ (**पूर्णं**) पूर्ण और (**शून्यं**) शून्यरूप (**वस्तु**) वस्तु का (**किल**) निश्चय से (**आश्रित्य**) आश्रयकर (**विभातः**) सुशोभित होते हैं।

भावार्थ :- भाव और अभाव ये दोनों वस्तु के अंश हैं तथा परस्पर सापेक्ष हैं। भाव से भिन्न - पृथक् अभाव और अभाव से भिन्न भाव नहीं होता है। प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय की अपेक्षा भावरूप है और परचतुष्टय की अपेक्षा अभावरूप है। स्वचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु पूर्ण कहलाती है परचतुष्टय की अपेक्षा शून्य कही जाती है इस प्रकार पूर्ण और शून्य वस्तु का आश्रय लेकर वे भाव और अभाव धर्म एक ही साथ सुशोभित होते हैं।।११।।

भावाभावौ द्वौ सममन्योन्यविरुद्धौ सङ्गच्छाते त्तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने।
भावः स्वांशाद् व्यक्तमभावस्तु परांशाद् भावाभावो न्यायत एवास्युभयात्मा।
।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**अन्योन्यविरुद्धौ**) जो परस्पर विरुद्ध हैं तथा (**भिन्ने पथि वृत्तौ**) भिन्न मार्ग में स्थित हैं (**तौ**) वे (**भावाभावौ द्वौ**) भाव और अभावरूप दोनों धर्म (**त्वयि**) आपमें (**समं**) एक साथ (**संगच्छाते**) संगत होते हैं (**व्यक्तं**) स्पष्ट ही (**भावः**) भाव (**स्वांशात्**) स्व अंश - निजचतुष्टय की अपेक्षा है (**तु**) और (**अभावः**) अभाव (**परांशात्**) पर अंश की अपेक्षा है। यतश्च आप (**उभयात्मा**) दोनोंरूप हैं अतः (**न्यायतः**) न्याय से (**भावाभावः**) भावाभावरूप (**एव**) ही (**असि**) हैं।

भावार्थ :- भाव और अभाव धर्म यद्यपि परस्पर विरुद्ध हैं और भिन्न मार्ग में स्थित हैं तथापि स्वांश और परांश की अपेक्षा आपमें एक साथ सिद्ध होते हैं। उन दोनों धर्मों की अपेक्षा आप भावाभावरूप हैं।।१२।।

सर्वं वाच्यं द्वयात्मकमेतत्क्रमतः स्याद्देवावाच्यं तद्युगपद् वक्तुमशक्तेः।
तौ पर्यायौ द्वौ सह बिभ्रद् भगबंस्त्वं वाच्यावाच्यं वस्त्वसि किञ्चिज्जगतीरं
(ह)।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे स्वामिन् ! (**द्वयात्मकं**) द्विविध रूप को धारण करनेवाली (**एतत्**) यह (**सर्वं**) समस्त वस्तु (**क्रमतः**) क्रम से (**वाच्यं स्यात्**) वाच्य है और (**तद्**) वही वस्तु (**युगपत्**) एक साथ (**वक्तुमशक्तेः**) कहने की असमर्थता होनेसे (**अवाच्यं**) अवाच्य है (**भगवन्**) हे भगवन् ! (**तौ द्वौ पर्यायौ**) उन दोनों वाच्य-अवाच्य धर्मों को (**सह**) एक साथ (**विभ्रद्**) धारण करते हुये (**त्वम्**) आप (**इह जगति**) इस संसार में (**किञ्चित्**) को - विलक्षण (**वाच्यावाच्यं**) वाच्य और अवाच्यरूप (**वस्तु असि**) वस्तु हैं।

भावार्थ :- यहाँ वक्तव्य और अवक्तव्य धर्म का समन्वय करते हुये कहा गया है कि विधि निषेध, एक अनेक, नित्य अनित्य और भाव अभाव आदि द्विविध रूपको धारण करने वाली वस्तु क्रम से वाच्य है परंतु एक साथ दोनों विरोधी धर्म नहीं कहे जा सकते, इसलिए अवाच्य है। यह वाच्य और अवाच्य दोनों पर्याय हैं। इन

दोनों को एक साथ धारण करते हुए आप वाच्यावाच्य - वक्तव्य और अवक्तव्य धर्मरूप कोई अद्‌भुत वस्तु हैं।।१३।।

वाच्यादन्यत् किञ्चिदवाच्यं न हि दृष्टं वाच्यं चैतन्नेष्टमवाच्यव्यतिरिक्तम्।
वागाश्रित्य स्वक्रमवृत्त्यक्रमवृत्ती वस्तु द्व्यात्मकं हि गृणीयान्न गृणीयात्।
।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**हि**) निश्चय से (**किञ्चित्**) कोई भी (**अवाच्यं**) अवाच्य (**वाच्यात् अन्यत्**) वाच्य से पृथक् (**न दृष्टं**) नहीं देखा गया है (**च**) और (**एतत् वाच्यं**) यह वाच्या (**अवाच्यव्यतिरिक्तं**) अवाच्य से भिन्न (**न इष्टम्**) इष्ट नहीं है - माना नहीं गया है। (**वाक्**) वचन, (**स्वक्रमवृत्त्यक्रमवृत्ती**) अपनी क्रमवृत्ति और अक्रमवृत्ति का आश्रय लेकर (**हि**) निश्चय से (**द्व्यात्मकं वस्तु**) दो रूप वस्तु को (**गृणीयात्**) निगीर्ण करता है और (**न गृणीयात्**) निगीर्ण नहीं करता है अर्थात् क्रमवृत्ति का आश्रय लेनेपर वचन द्वयात्मक वस्तु को कहता है और अक्रमवृत्ति का आश्रय लेने पर नहीं कहता है।

भावार्थ :- वस्तु में अवक्तव्य और वक्तव्य ये दो धर्म हैं। ये दोनों धर्म परस्पर सापेक्ष हैं क्योंकि वाच्य से भिन्न अवाच्य और अवाच्य से भिन्न वाच्य देखने में नहीं आता। जब वचन, किन्हीं दो विरोधी धर्मों का क्रम से वर्णन करता है तब वस्तु वक्तव्य होती है और जब एक साथ वर्णन करना चाहता है तब दोनों धर्मों का वर्णन एक साथ न कर सकने के कारण अवक्तव्य होती है।।१४।।

वाच्यावाच्यौ द्वौ सममन्योऽन्यविरुद्धौ संगच्छाते तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने।
वाच्यौ व्यस्तौ व्यक्तमवाच्यस्तु समस्तो वाच्यावाच्यो न्यायत एवास्युभयात्मा।
।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**अन्योन्यविरुद्धौ**) जो परस्पर विरुद्ध हैं और (**भिन्ने पथि वृत्तौ**) भिन्न मार्ग में स्थित हैं (**तौ**) वे (**वाच्यावाच्यौ**) वाच्य और अवाच्य - वक्तव्य और अवक्तव्य दो विरोधी धर्म (**त्वयि**) आपमें (**समं**) एक साथ (**संगच्छाते**) संगत होते हैं। (**व्यस्तौ**) पृथक्-पृथक् रहते हुये स्पष्ट ही (**वाच्यौ**) वाच्य हैं (**तु**) और (**समस्तः अवाच्यः**) समस्त -

मिले हुये (**अवाच्यः**) अवाच्य हैं। यतः आप (**उभयात्मा**) उभयरूप हैं अतः (**न्यायत एव**) न्याय से ही (**वाच्यावाच्यः असि**) वाच्य अवाच्यरूप हैं।

भावार्थ :- यद्यपि वाच्य और अवाच्य धर्म परस्पर विरोधी हैं और विरुद्ध मार्ग में स्थित हैं तथापि हे भगवन् ! आपमें दोनों धर्म एक साथ संगत हैं - अतः न्याय से आप उभयात्मा हैं - वाच्या-वाच्य अथवा वक्तव्य और अवक्तव्य धर्म से सहित हैं।।१५।।

सोऽयं भावः कर्म यदेतत् परमार्थाद्धत्ते योगं यद्भवनेन क्रियमाणम्।
शुद्धो भावः कारकचक्रे तव लीनः शुद्धे भावे कारकचक्रं च निगूढम्।
।।१६।।

अन्वयार्थ :- (**यदेतत् कर्म**) जो यह कर्म है (**सोऽयं भावः**) वही क्रिया है क्योंकि (**यत् क्रियमाणं**) जो किया जा रहा कर्म है वह (**परमार्थात्**) वास्तव में (**भवनेन**) क्रिया के साथ (**योगं धत्ते**) योग - सम्बन्ध को धारण करता है (**तव**) आपका (**शुद्धो भावः**) शुद्ध भाव (**कारकचक्रे**) कारकसमूह में (**लीनः**) लीन है (**च**) और (**कारकचक्रं**) कारक समूह (**शुद्धे भावे**) शुद्ध भाव में (**निगूढं**) निगूढ़ है।

भावार्थ :- यहाँ कर्म और क्रिया का अभेद वर्णन करते हुये कहा गया है कि जो कर्म है वह भाव - क्रिया के साथ सम्बन्ध को धारण करता है। परमार्थ से शुद्ध भाव - क्रिया कारक समूह में लीन है और कारक समूह शुद्ध भाव में लीन है।।१६।।

जातं जातं कारणभावेन गृहीत्वा जन्यं जन्यं कार्यतया स्वं परिणामम्।
सर्वेऽपि त्वं कारणमेवास्यसि कार्यं शुद्धो भावः कारणकार्याविषयोऽपि।
।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**कार्यतया**) कार्यरूप से (**जातं**) उत्पन्न हुआ (**जन्यं जन्यं**) उत्पन्न होनेवाला प्रत्येक पदार्थ (**कारणभावेन**) कारणरूप से (**स्वं परिणामं**) अपने ही परिणाम को (**गृहीत्वा**) ग्रहण कर (**जातं**) उत्पन्न हुआ है अतः (**त्वं**) आप (**सर्वोऽपि**) सम्पूर्णरूप से (**कारणमेव**

असि) कारण ही हैं और (**कार्यम् एव असि**) कार्य ही हैं जब कि (**शुद्धो भावः**) शुद्ध भाव (**कारणकार्याविषयोऽपि**) कारण और कार्य का विषय नहीं है।

भावार्थ :- शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से न कोई उत्पन्न होता है और न कोई विनशता है इसलिये उसमें कारण - कार्यभाव की चर्चा नहीं है। इसी अभिप्राय से यहाँ कहा गया है कि शुद्ध भाव कारण कार्य का विषय नहीं है परंतु पर्यायार्थिक नय से पदार्थ उत्पन्न होता है और विनशता है अतः उसमें कारण - कार्यभाव की चर्चा आती है। जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह कार्य कहलाता है और उसमें जो निमित्त पड़ता है वह कारण कहलाता है। यहाँ कारण के लिये उपादान की दृष्टि से कर्ता भी कहा जाता है। परमार्थ से जो परिणमन करता है वह कर्ता कहलाता है और जो परिणमन है वह कर्म कहलाता है 'यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म' ऐसा समयसार कलशा में भी कहा है। उत्पन्न होनेवाला प्रत्येक कार्य अपने परिणमन को ही कारणरूप से स्वीकृत करता है अन्य पदार्थ को नहीं। जैसे मिट्टी से घट बनता है। यहाँ घट कार्य है और मिट्टी उसका कारण अथवा कर्ता है। अध्यात्म की दृष्टि में कर्तृ कर्म अथवा कारण कार्यभाव एक ही द्रव्य में बनता है दो द्रव्यों में नहीं। दो द्रव्यों में निमित्तनैमित्तिक भाव बनता है इसलिये जो द्रव्य कार्य है वही द्रव्य उसका कारण होता है मात्र पूर्व और उत्तर क्षण की अपेक्षा उसमें कारण और कार्य का भेद होता है। पूर्वक्षणवर्ती पर्याय कारण है और उत्तर क्षणवर्ती पर्याय कार्य है। जब इस प्रकार की तत्त्वव्यवस्था है तब हे भगवन् ! आप ही संपूर्ण रूपसे कारण हैं और आप ही संपूर्णरूप से कार्य हैं। संपूर्णरूप से कहने का तात्पर्य यह है कि आपकी आत्मा के जितने असंख्य प्रदेश हैं वे पूर्वक्षण में सबके सब कारण थे और उत्तर क्षण में सबके सब कार्य हुए हैं। ऐसा नहीं है कि कुछ प्रदेश कारण रहे हों और कुछ प्रदेश कार्य हो गये हों[१]।।१७।।

वल्गन्त्वन्ये ज्ञाननिमित्तत्वमुपेता बाह्यो हेतुर्हेतुरिहान्तर्न किल स्यात्।
स्वस्माद्देवोज्जृम्भितचिद्वीर्यविशेषाज्जातो विश्वव्यापकविज्ञानघनस्त्वम्।।१८।

अन्वयार्थ :- (**ज्ञाननिमित्तत्वम् उपेताः**) ज्ञान के निमित्तपने को प्राप्त हुआ (**अन्ये**) अन्य पदार्थ भले ही (**वल्गन्तु**) गतिशील रहें परंतु (**किल**) परमार्थरूप से (**इह**) कार्योत्पत्ति

[१] विशेष ज्ञान के लिये समयसार का कर्तृत्वकर्माधिका दृष्टव्य है।

में (**बाह्यो हेतुः**) बाह्य कारण (**अन्तः हेतुः**) अन्तरङ्ग कारण (**न स्यात्**) नहीं होता है। (**देव**) हे भगवन् ! (**त्वम्**) आप (**स्वस्मात्**) अपने (**उज्जृम्भितचिद्वीर्यविशेषात्**) वृद्धि को प्राप्त हुए ज्ञान और बल के विशेष से (**विश्वव्यापकविज्ञानघनः**) विश्वव्यापक अर्थात् लोकालोक को जाननेवाले केवलज्ञान से सान्द्र (**जातः**) हुए हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप जो लोकालोकावभासी केवलज्ञान से सान्द्ररूपता को प्राप्त हुए हैं इसमें अन्तरङ्ग कारण आप ही हैं। आप ही के ज्ञान और वीर्यगुण में जो विशिष्ट परिणमन हुआ है उसीसे यह अवस्था प्रकट हुई है। यद्यपि बाह्य कारण अनेक होते हैं सो रहें उनका निषेध नहीं है परंतु परमार्थ से कारण कार्य की चर्चा में बाह्य कारण को कारण न मानकर अन्तरङ्ग कारण को कारण स्वीकृत किया गया है।।१८।।

अन्यः कर्ता कर्म किलान्यत् स्थितिरेषा यः कर्ता त्वं कर्म तदेवास्याविशेषात्।
देवाकार्षीस्त्वं किल विज्ञानघनं यः सोऽयं साक्षात् त्वं खलु विज्ञानघनोऽसि।
।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**किल**) निश्चय से (**कर्ता**) कर्ता (**अन्यः**) अन्य है और (**कर्म**) कर्म (**अन्यत्**) अन्य है (**एषा स्थितिः**) यह स्थिति है - व्यवहारनय की यह मान्यता है परंतु (**यः त्वं कर्ता**) जो आप कर्ता हैं (**अविशेषात्**) सामान्य को अपेक्षा (**तदेव कर्म असि**) वही आप कर्म हैं (**देव**) हे नाथ ! (**यः त्वं किल**) जिन आपने (**विज्ञानघनं**) विज्ञान घन को (**अकार्षीः**) किया था (**सोऽयं त्वं**) वही तुम (**खलु**) निश्चय से (**साक्षात्**) साक्षात् (**विज्ञानघनः असि**) विज्ञानघन हैं।

भावार्थ :- व्यवहारनय के आश्रय से कहा जाता है कि कर्ता अन्य होता है और कर्म अन्य होता है परंतु निश्चयनय की मान्यता है कि जो कर्ता होता है वही कर्म होता है क्योंकि परमार्थ से कर्ता क्रिया और कर्म ये तीनों पृथक्-पृथक् नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि आप ही कर्ता हैं और आप ही कर्म हैं। जैसे आपने विज्ञानघन स्वभाव को किया। यहाँ आप कर्ता हैं और विज्ञानघन स्वभाव कर्म है परंतु विज्ञानघन स्वभाव आपसे भिन्न नहीं है अतः आप ही कर्ता हैं और आप ही कर्म हैं। निश्चयनय कर्तृ कर्मभाव को एक ही द्रव्य में स्वीकृत करता है क्योंकि व्याप्य-व्यापक भाव एक ही द्रव्य में बनता है और व्याप्यव्यापकभाव ही कर्तृकर्मभाव का आधार है।।१९।

विष्वग्व्याप्यः सत्यविशेषे स्वगुणानां देवाधारस्त्वं स्वयमाधेयभरोऽपि।
एकाधाराधेयतयैव ज्वलितात्मा तेनैवोच्चैर्वल्गासि विज्ञानघनोऽयम्।।२०।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे भगवन् ! (**अविशेषे सति**) समानता के रहते हुए (**त्वं**) आप (**विश्वग् व्याप्यः**) सब ओर व्याप्त होकर रहने योग्य (**स्वगुणानां**) अपने गुणों के (**आँधारः**) आधार हैं और (**स्वयं**) स्वयं (**आधेयभरोऽपि**) आधेय के समूह भी हैं। यतश्च आप (**एकाधाराधेयतया**) एक आधाराधेयभाव से (**ज्वलितात्मा**) प्रकाशित आत्मावाले हैं (**तेनैव**) उसी कारण (**अयं त्वम्**) यह आप (**उच्चैः**) उच्चरूप से (**विज्ञानघनः**) विज्ञानघन होते हुए (**वल्गासि**) प्रवर्तमान हैं।

भावार्थ :- व्यवहारनय दो भिन्न पदार्थों में आधार-आधेयभाव को स्वीकृत करता है, परंतु निश्चयनय एक ही पदार्थ में आधारआधेयभाव को स्वीकृत करता है। इस स्थिति के अनुसार निश्चयनय से आप ही अपने गुणों के आधार हैं और आप ही आधेय हैं। आधार होनेसे आप ही व्यापक हैं और आधेय होनेसे आप ही व्याप्य हैं। गुण और गुणी में प्रदेशभेद न होनेसे निश्चयनय अभेद को स्वीकृत करता है। विज्ञानघनस्वभाव आपका आधेय है और आप ही उसके आधार हैं क्योंकि आपमें और विज्ञानघनस्वभाव में प्रदेशभेद न होनेसे पृथक् भाव नहीं है।।२०।।

आत्मा माता मेयमिदं विश्वमशेषं सम्बन्धेऽस्मिन् सत्यपि नान्योन्यगतौ तौ।
प्रत्यासत्तिः कारणमैक्यस्य न सा स्यादर्थो वाच्यं वक्त्रभिधानं च विभिन्ने।
।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**आत्मा**) आत्मा (**माता**) ज्ञाता है और (**इदं अशेषं विश्वं**) यह समस्त विश्व (**मेयम्**) ज्ञेय है (**अस्मिन् सम्बन्धे सत्यपि**) इस माता-मेय अथवा ज्ञानज्ञेय सम्बन्ध के रहनेपर भी (**तौ**) वे दोनों (**अन्योन्यगतौ न**) परस्पर एक दूसरे में गत नहीं हैं। (**ऐक्यस्य**) एकता का कारण (**प्रत्यासत्तिः**) अत्यंत निकटता है परंतु (**सा न स्यात्**) वह प्रत्यासत्ति नहीं है क्योंकि (**वाच्यं अर्थः**) वाच्यरूप अर्थ (**च**) और (**वक्त्रभिधानं**) वक्ता का वचन दोनों (**विभिन्ने**) पृथक्-पृथक् हैं।

भावार्थ :- जो पदार्थ को जानता है उसे माता और जो जाना जाता है उसे मेय कहते हैं। आत्मा माता है और समस्त विश्व मेय है। यद्यपि आत्मा और विश्व

में माता और मेय का सम्बन्ध है तथापि वे दोनों एक दूसरे में अनुप्रविष्ट नहीं है। पृथक्-पृथक् हैं। दोनों की एकता का कारण प्रत्यासत्ति हो सकती है परंतु वह नहीं है। यह बहिर्ज्ञेय की अपेक्षा कथन है। अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा दोनों में अभेद माना जाता है जैसे वाच्य पदार्थ है और वाचक वक्ता का शब्द है इस तरह दोनों में भेद है फिर भी दोनों में वाचकवाच्य सम्बन्ध माना जाता है। वैसे ही माता और मेय में भेद होने पर भी परस्पर में मातामेय सम्बन्ध माना गया है।।२१।।

यः प्रागासीर्वत्स्यर्यदपेक्षः खलु सिद्धः प्रत्युपन्नः सम्प्रति सिद्धोऽसि स एव।
प्रत्युत्पन्नायतो[ते] वरक्तिरिहासीद् [या] भूतापेक्षा सम्प्रति [ते] सा किल रक्तिः।।२२।।

अन्वयार्थ :- (**खलु**) निश्चय से (**यः**) जो आप (**वत्स्यर्यदपेक्षः**) भविष्यत् की अपेक्षा (**प्राक्**) पहले (**सिद्ध आसीः**) सिद्ध थे (**स एव**) वही आप (**सम्प्रति**) अब (**प्रत्युत्पन्नः सिद्धः असि**) वर्तमान सिद्ध हैं। (**इह**) जगत् में (**ते**) आपकी (**या**) जो (**अवरक्तिः**) विरक्त दशा (**प्रत्युत्पन्नायते**) वर्तमान के समान मालूम होती है (**किल**) वास्तव में (**सा**) वह (**भूतापेक्ष**) भूतकाल की अपेक्षा (**रक्तिः**) सरागावस्था (**आसीत्**) थी।

भावार्थ :- हे भगवन् ! जो आप पहले भविष्यत् की अपेक्षा सिद्ध कहे जाते थे वही अब वर्तमान सिद्ध कहलाते हैं। इस काल की अपेक्षा पर्यायभेद होनेपर भी द्रव्य की अपेक्षा दोनों पर्यायों में एकत्व स्थापित किया गया है। इसी प्रकार वर्तमान की अपेक्षा जो विरक्त दशा है वह भूत की अपेक्षा सरागावस्था थी। इसलिए यहाँ भी पर्याय की अपेक्षा भेद होने पर भी द्रव्य की अपेक्षा अभेद प्ररूपण किया गया है।।२२।।

एकं भावं शाश्वतमुच्चैरभिषिञ्चन् भूत्वाभूत्वा त्वं भवसीश स्वयमेव।
एतद्भूत्व यद्भवनं पुनरन्यत्र (तत्) त्रैकाल्यं सङ्कलयन् त्वामनुयाति।।२३।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे नाथ ! (**त्वं**) आप (**एकं शाश्वतं भावं**) एक शाश्वत - त्रैकालिक भाव का (**उच्चैः अभिषिञ्चन्**) उत्कृष्ट अभिषेचन करते हुए अर्थात् सामान्य त्रैकालिक भाव की रक्षा करते हुए (**भूत्वाभूत्वा**) हो होकर (**स्वयमेव**) अपनेआप (**भवसि**) होते हैं

सो (**एतद् भूत्वा पुनः यद्भवनं**) यह होकर पुनः जो होता है वह (**अन्यत् न**) अन्य नहीं है अर्थात् अन्य द्रव्य की उत्पत्ति नहीं है (**त्रैकाल्यं सङ्कलयन् `भावः'**) तीन काल का संग्रह करनेवाला भाव (**त्वाम्**) आपका (**अनुयाति**) अनुगमन करता है।

भावार्थ :- पदार्थ द्रव्य और पर्यायरूप है। इनमें द्रव्यांश त्रैकालिक है और पर्यायांश परिवर्तित होता रहता है। जब द्रव्यांश को प्रधानता देकर कथन किया जाता है तब कहा जाता कि पदार्थ अपरिवर्तनीय - त्रैकालिक है और जब पर्यायांश को प्रधानता देकर कथन होता है तब कहा जाता है कि पदार्थ परिवर्तनीय है। यतश्च द्रव्य पर्याय से भिन्न नहीं है और पर्याय द्रव्य से भिन्न नहीं है अतः यहाँ कहा गया है कि हे ईश ! आप शाश्वतभाव - त्रैकालिक द्रव्यांश की रक्षा करते हुए ही अपनी उपादान शक्ति से स्वयं हो रहे हैं, नूतन नूतन परिणति से युक्त हो रहे हैं परंतु आपकी वह नूतन परिणति आपके द्रव्यांश से पृथक् नहीं है। इस प्रकार तीनों काल का संकलन करनेवाला जो द्रव्यांश है वह सदा आपके साथ रहता है। तात्पर्य यह है कि आप द्रव्यपर्यायात्मक होनेसे भावाभावात्मक हैं।।२३।।

एकः साक्षादक्षरविज्ञानघनस्त्वं शुद्धः शुद्धस्वावयवेष्वेव निलीनः।
अन्तर्मज्जद्दृक्सुखवीर्यादिविशेषैरेकोऽप्युद्गच्छसि वैचित्र्यमनन्तम्।।२४।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**त्वं**) आप (**एकः**) एक हैं (**साक्षात् अक्षरविज्ञानघनः**) साक्षात् अविनाशी विज्ञानघन स्वभाव से युक्त हैं (**शुद्धः**) शुद्ध हैं तथा (**शुद्धस्वावयवेष्वेव निलीनः**) अपने शुद्ध अवयवों में ही निलीन हैं। इस तरह (**एकोऽपि सन्**) एक होते हुए भी (**अन्तर्मज्जद्दृक्सुखवीर्यादिविशेषैः**) अन्तर में निमग्न होनेवाले दर्शन सुख और वीर्य आदि विशिष्ट गुणों की अपेक्षा (**अनन्तं वैचित्र्यम्**) अनंत प्रकार की विचित्रता - नानारूपता को (**उद्गच्छसि**) प्राप्त हो रहे हैं।

भावार्थ :- यहाँ एकानेक भङ्ग की अपेक्षा भगवान की स्तुति करते हुए आचार्य कहते हैं कि हे भगवन् ! आप यद्यपि अपने विज्ञानघनस्वभाव की अपेक्षा एक हैं तथापि अन्तरङ्ग में विद्यमान दर्शन सुख और वीर्य आदि गुणों की अपेक्षा अनेक भी हैं।।२४।।

अध्यारूढोऽन्योन्यविरुद्धोद्धतधर्मैः स्याद्वादेन प्रविभक्तात्मविभूतिः।
स्वामिन् नित्यं त्वं निजतत्त्वैकपराणां किञ्चिद् दत्सेऽत्यन्तमगाधोऽप्यवगाहम्।
।।२५।।

अन्वयार्थ :- (**स्वामिन्**) हे नाथ ! यद्यपि (**त्वं**) आप (**नित्यं**) निरंतर (**अन्योऽन्यविरुद्धोद्धतधर्मैः**) परस्पर विरुद्ध अनेक उद्धत धर्मों से (**अध्यारूढः**) सहित हैं तथापि (**स्याद्वादेन**) स्याद्वाद से (**प्रविभक्तात्मविभूतिः**) विभाग को प्राप्त आत्मवैभव से युक्त हैं अतः (**अगाधोऽपि**) अत्यंत गंभीर होते हुए भी (**निजतत्त्वैकपराणां**) स्वतत्त्व की एक आराधना में तत्पर रहनेवालों के लिये (**किञ्चिद्**) कुछ (**अवगाहं दत्से**) प्रवेश देते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! ऊपर कहे अनुसार यद्यपि आप परस्पर विरोधी अनेक धर्मों से युक्त हैं और वे धर्म इतने उद्धत हैं कि सब, आपके समस्त आत्मप्रदेशोंपर अधिकार जमाये हुए हैं तथापि स्याद्वाद का आलम्बन लेकर आपने अपनी आत्मविभूति का ऐसी सुंदरता के साथ विभाग किया है कि सब विरोधी धर्मों का पारस्परिक विरोध अपने आप शांत हो गया है। इस तरह यद्यपि आपका समझना अत्यंत कठिन है तथापि जो निरन्तर आत्मतत्त्व की आराधना में तत्पर रहते हैं उन्हें आपका समझना सरल हो गया है, इसी दृष्टि से कहा गया है कि आप अगाध होते हुए भी अपनी आराधना में तत्पर रहनेवाले पुरुषों के लिये कुछ अवगाह - प्रवेश देते हैं।।२५।

ॐ

(१९)

वियोगिनीछन्दः[१]

अजरः पुरुषो जिन स्वयं सहजज्योतिरजय्यचिद्भरः।
अयमद्भुतसत्यवैभवस्त्वमसि द्व्यात्मकदृष्टिगोचरः।।१।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे कर्मशत्रुओं को जीतनेवाले जिनेन्द्र ! (**अजरः**) जो वृद्धावस्था से रहित हैं, (**पुरुषः**) आत्मस्वरूप हैं, (**स्वयं**) अपने आप (**सहजज्योतिरजय्यचिद्भरः**) स्वाभाविक ज्ञानज्योति से जीता न जा सके ऐसे चैतन्य के समूह से युक्त हैं और (**अद्भुतसत्यवैभवः**) आश्चर्यकारक सत्यवैभव से सहित हैं ऐसे (**अयं त्वम्**) यह आप (**द्व्यात्मकदृष्टिगोचरः**) विधिनिषेध के भेद से द्विविधरूपता को धारण करनेवाली दृष्टि के गोचर हैं।

भावार्थ :- अन्यत्र पुरुष अर्थात् आत्मा का लक्षण लिखते हुए कहा है - `अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।' गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः[२]। अर्थात् चैतन्य जिसका स्वरूप है, जो स्पर्श रस गंध और वर्ण से रहित है - अमूर्त है, गुण और पर्यायों से तन्मय है तथा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से सहित है ऐसा पुरुष - आत्मा है। हे भगवन् ! आप इसी आत्मद्रव्यरूप हैं, वृद्धावस्था से रहित हैं क्योंकि वृद्धावस्था शरीररूप पुद्गलद्रव्य की परिणति है, सहज चैतन्य से सहित हैं आश्चर्यकारी आत्मवैभव से सहित हैं - सबको आश्चर्य में डालनेवाले केवलज्ञानादि गुणों से तन्मय हैं। आपके इस स्वरूप को जानने के लिये विधि और निषेध इन दोनों दृष्टियों का ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि उनके बिना आपका यथार्थरूप जानना

---

१. `विषमे ससजा गुरुः समे सभरालोऽथ गुरुर्वियोगिनी' - वृत्तरत्नाकर

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाये।

संभव नहीं है।।

न पराश्रयणं न शून्यता न च भावान्तरसङ्करोऽस्ति ते।
यदसंख्यनिजप्रदेशकैर्विहितो वस्तुपरिग्रहः स्वयम्।।२।।

अन्वयार्थ :- (**ते**) आपके (**न पराश्रयणं**) न पर का आश्रय है (**न शून्यता**) न शून्यरूपता है (**च**) और (**न भावान्तरसङ्करः अस्ति**) न अन्य भावों का संकर - संमिश्रण है (**यतः**) क्योंकि (**असंख्यनिजप्रदेशकैः**) अपने असंख्यात प्रदेशों के द्वारा (**स्वयं**) स्वयं (**वस्तुपरिग्रहः**) वस्तु का परिग्रहण (**विहितः**) किया गया है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप जो अनंत गुण और पर्यायरूप वस्तु को ग्रहण कर रहे हैं अर्थात् उससे तन्मय हो रहे हैं सो इस कार्य में आपको पर द्रव्य का आश्रय नहीं लेना पड़ा है, न इन गुणों का आपमें अभाव है और न अन्य भावों से आपका संकरपना है मात्र अपने असंख्यात प्रदेशों द्वारा स्वयं ही उस चैतन्य वस्तु को ग्रहण कर रहे हैं।।२।।

यदमूर्त इति स्फुटोदयं सहजं भाति विशेषणं विभोः।
तदिहात्मपरायणो भवान् सह भेदं समुपैति पुद्गलैः।।३।।

अन्वयार्थ :- (**यत्**) जिस कारण (**विभोः**) आपका (**अमूर्तः**) अमूर्त (**इति**) यह (**स्फुटोदयं**) अत्यंत स्पष्ट और (**सहजं**) स्वाभाविक (**विशेषणं**) विशेषण (**भाति**) सुशोभित होता है (**तत्**) इस कारण (**इह**) इस लोक में (**आत्मपरायणः**) आत्माराधना में लीन रहनेवाले (**भवान्**) आप (**पुद्गलैः सह**) पुद्गलों के साथ (**भेदं**) पृथक्त्व को (**समुपैति**) प्राप्त हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपके अनेक विशेषणों में `अमूर्त' यह भी एक विशेषण है। जो स्पर्श रस गंध और वर्ण से रहित है उसे अमूर्त कहते हैं। आपका यह `अमूर्त' विशेषण अत्यंत स्पष्ट और सहज - स्वाभाविक है। `मूर्त' विशेषण पुद्गल द्रव्य में संगत होता है क्योंकि वही स्पर्श रस गंध और वर्ण से सहित है। अरहन्त अवस्था में यद्यपि आप शरीररूप पुद्गल में निवास करते हैं तथापि उससे आप सर्वथा पृथक् हैं। शरीररूप पुद्गल के साथ आपका एकत्व नहीं है।।३।।

चिदितीस(श) विशेषणं दधत्सहजं व्यापि कुतोऽप्यबाधितम्।
उपयासि भिदामचेतनैरखिलैरेव समं समन्ततः।।४।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! जिस कारण आप (**सहजं**) स्वाभाविक (**व्यापि**) व्यापक और (**कुतोऽपि**) किसी भी कारण से (**अबाधितं**) बाधित न होनेवाले (**चिद् इति विशेषणं**) `चित्' इस विशेषण को (**दधत्**) धारण कर रहे हैं उस कारण आप (**समन्ततः**) सब ओरसे (**अखिलैः एव अचेतनैः**) सभी अचेतन द्रव्यों के (**समं**) साथ (**भिदां**) भेद को (**उपयासि**) प्राप्त हो रहे हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! अमूर्त विशेषण के समान एक `चित्' यह भी आपका विशेषण है। आपका यह चित् विशेषण सहज है - स्वाभाविक है, सब अवस्थाओं में व्यापक है और किसी भी कारण से उसमें बाधा नहीं आती है। इस विशेषण की महिमा से आप पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पाँचों अचेतन द्रव्यों से पृथक् सिद्ध होते हैं। `अमूर्त' विशेषण से तो आपका मात्र पुद्गलद्रव्य से पृथक्त्व सिद्ध होता है - धर्म, अधर्म, आकाश और काल से नहीं। परंतु `चित्' विशेषण से जीवातिरिक्त सभी अचेतन द्रव्यों से पृथक्त्व सिद्ध होता है।।४।।

विशदेन सदैव सर्वतः सहजस्वानुभवेन दीव्यतः।
सकलैः सह चेतनान्तरैरुदितं दूरमिदं तवान्तरम्।।५।।

अन्वयार्थ :- (**सदैव**) सदा ही (**सर्वतः**) सब ओरसे (**विशदेन**) निर्मल (**सहजस्वानुभवेन**) सहज स्वानुभव से (**दीव्यतः**) रमण करनेवाले (**तव**) आपका (**सकलैः**) समस्त (**चेतनान्तरैः सह**) अन्य चेतन द्रव्यों के साथ (**इदं**) यह (**दूरं**) बहुत दूर का (**अन्तरं**) अंतर (**उदितं**) कहा गया है।

भावार्थ :- `चित्' विशेषण से अचेतन द्रव्यों के साथ तो आपका पृथक्त्व सिद्ध हो गया था परंतु अन्य चेतन द्रव्यों के साथ पृथक्त्व सिद्ध नहीं हुआ था। `अब आप सहज स्वानुभव से सहित हैं' इस विशेषण के द्वारा समस्त अन्य चेतन द्रव्यों से आपका बहुत दूर का अंतर सिद्ध होता है, यह बात सिद्ध की गई है। संसार में जितने चेतन द्रव्य हैं वे सब अपना-अपना स्वतंत्र पृथक् अस्तित्व लिए हुए हैं क्योंकि सबका स्वानुभव पृथक्-पृथक् है। यदि सब चेतन एक ही ब्रह्म के विवर्तरूप होते

तो सबका अनुभव एकरूप ही होता परंतु सबका अनुभव अपना-अपना जुदा-जुदा है अतः सब पृथक्-पृथक् हैं। हे भगवन् ! आपका भी सहज स्वानुभव पृथक् है अतः आप अन्य चेतन द्रव्यों से पृथक् हैं।।५।।

निजभावभृतस्य सर्वतो निजभावेन सदैव तिष्ठतः।
प्रतिभाति परैरखण्डितः स्फुटमेको निजभाव एव ते।।६।।

अन्वयार्थ :- जो (**सर्वतः**) सब ओरसे (**निजभावभृतस्य**) निजभाव से भरे हुए हैं तथा (**सदैव**) सदा ही (**निजभावेन**) निजभाव के साथ (**तिष्ठतः**) स्थित रहते हैं ऐसे (**ते**) आपका (**परैः अखण्डितः**) परसे खण्डित नहीं होनेवाला (**एकः**) एक (**निजभाव एव**) निजभाव ही (**स्फुटं**) स्पष्टरूप से (**प्रतिभाति**) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ :- यतश्च प्रत्येक द्रव्य निजभाव से परिपूर्ण है, सदा निजभाव से ही युक्त रहता है और उसका वह निजभाव पर के द्वारा खण्डित नहीं होता है। यह वस्तुस्वभाव की मर्यादा है तदनुसार आप भी एक स्वतंत्र आत्मद्रव्य हैं अतः आपका भी निजभाव सदा पर से अखण्डित है।।६।।

अजडादिविशेषणैरयं त्वमनन्तैर्युगपद्विशेषितः।
भवसि स्वयमेक एव चेत् प्रकटा तत्तव भावामात्रता।।७।।

अन्वयार्थ :- (**अनन्तैः अजडादिविशेषणैः**) अजड़-चेतन आदि अनंत विशेषणों के द्वारा (**युगपत्**) एक साथ (**विशेषितः**) विशेषता को प्राप्त हुए (**अयं त्वम्**) यह आप (**चेत्**) यदि (**स्वयं**) स्वयं (**एक एव भवसि**) एक ही हैं (**तत्**) तो (**तव**) आपकी (**भावमात्रता**) सामान्यरूपता (**प्रकटा**) प्रकट है - स्पष्ट है।

भावार्थ :- 'यद्यपि शब्द-शब्द में अर्थभेद होता है' इस मान्यता के अनुसार अनंत विशेषणों से युक्त होनेके कारण आपमें अनंतरूपता होना चाहिए तथापि आप एक ही हैं अर्थात् एक ही व्यक्ति के अनंत विशेषण हैं। इससे सिद्ध होता है कि उन विशेषताओं के होने पर भी आपमें एक ऐसी सामान्यरूपता है जिसके कारण आपका सब विशेषणों में अनुगमन होता रहता है।।७।।

त्वमुपर्युपरि प्रभो भवन्निदमस्तीत्यविभिन्नधारया।
अविभावितपूर्वपश्चिमः प्रतिभासि ध्रुव एव पश्यताम्।।८।।

अन्वयार्थ :- (**प्रभो**) हे भगवन् ! (**उपर्युपरि**) ऊपर-ऊपर अर्थात् आगामी प्रत्येक क्षण में (**भवन्**) होते हुए (**त्वम्**) आप (**इदमस्ति**) 'यह है' (**इति अविभिन्नधारया**) इस प्रकार अखण्डधारा से (**अविभावितपूर्वपश्चिमः**) पूर्व और उत्तर के विकल्प से रहित (**प्रतिभासि**) सुशोभित होते हैं अतः (**पश्यताम्**) देखनेवालों के लिए (**ध्रुव एव प्रतिभासि**) ध्रुव - नित्यरूप ही प्रतीत होते हैं।

भावार्थ :- द्रव्य स्वभाव के कारण यद्यपि आपमें प्रतिक्षण उत्पाद और व्यय होता रहता है और उसके कारण आप अध्रुवरूप हैं तथापि 'यह वहीं हैं' इस प्रकार की अखण्डधारा से - अविच्छिन्नरूप से होने वाले प्रत्यभिज्ञान के कारण आपके पूर्व और उत्तर का विभाग अनुभव में नहीं आता है इसलिए आप देखनेवालों के लिए एक ध्रुवरूप ही अनुभव में आते हैं।।८।।

अयमेकविशेष्यतां गतस्त्वमनन्तात्मविशेषणस्त्रजः।
प्रभवन्नविमुक्तधारया भगवन् भासि भवन्निरन्तरः।।९।।

अन्वयार्थ :- (**अनन्तात्मविशेषणस्त्रजः**) अपने अनंत विशेषणों के समूह की (**एक विशेष्यतां गतः**) एक विशेष्यता को प्राप्त हुए (**अयं त्वम्**) यह आप (**अविमुक्तधारया प्रभवन्**) अखण्डधारा से होते हैं अतः (**भगवन्**) हे भगवन् ! (**भवन्निरन्तरः**) होते हुए भी अंतर से रहित (**भासि**) सुशोभित हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! विशेषणों की माला अनंत है परंतु उन सब विशेषणों के विशेष्य आप एक ही हैं। यद्यपि उन विशेषणों के कारण आप प्रतिसमय नवीन नवीनरूप से उत्पन्न हो रहे हैं तथापि आपकी वह उत्पत्ति अखण्डधारा से हो रही है अर्थात् विशेषणजन्य नवीनता के होने पर भी आपकी एकरूपता में कोई बाधा नहीं आती है अतः आप 'भवन् चासौ निरंतरं' इस समास के अनुसार होते हुए भी निरंतर हैं - अंतर से रहित है। तात्पर्य यह है कि उत्पाद व्यय के होने पर भी आप किसी अपेक्षा से ध्रुवरूप हैं।।९।।

अजडादिविशेषणैर्भृता निजधारा न तवैति तुच्छताम्।
अजडादिविशेषणानि न क्षयमायान्ति धृतानि धारया।।१०।।

अन्वयार्थ :- (**अजडादिविशेषणैः भृता**) अजड आदि विशेषणों से भरी हुई (**तव निजधारा**) आपकी वह धारा (**तुच्छतां**) अभाव रूपता को (**न एति**) प्राप्त नहीं होती और (**धारया**) धारा से (**धृतानि**) धारण किये हुए (**अजडादिविशेषणानि**) अजड आदि विशेषण (**क्षयं न आयान्ति**) क्षय को प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ :- द्रव्य की जो अनादिअनंतरूपता है वह उसकी निजधारा कहलाती है और उसमें गुण तथा पर्याय के कारण जो नवीनता आती है उसे विशेषण कहते हैं। द्रव्य की जो निजधारा है वह अनेक विशेषणों से परिपूर्ण रहती है तथा अनादि-अनंत होनेसे कभी नष्ट नहीं होती है। विशेषणों से द्रव्य में जो नूतनता आती है वह उसकी निजधारा से सदा संबद्ध रहती है इसलिए वह भी सर्वथा क्षय को प्राप्त नहीं होती। हे भगवन् ! आप एक स्वतंत्र आत्म-द्रव्य हैं उसकी जो अनादि अनंत परिणति है वह आपकी निजधारा है और यह निजधारा `अजड-चेतन' तथा अमूर्त आदि विशेषणों से परिपूर्ण है। इन विशेषणों की अपेक्षा आपकी निजधारा कभी नष्ट नहीं होती और निजधारा की अपेक्षा कभी विशेषण नष्ट नहीं होते अर्थात् `अजड' तथा अमूर्तत्व आदि ऐसे विशेषण हैं जो सदा काल आपमें विद्यमान रहते हैं।।१०।।

अजडादिविशेषणानि ते परतो भेदकराणि न स्वतः।
दधतः स्वयमद्वयं सदा स्वमसाधारणभावनिर्भरम्।।११।।

अन्वयार्थ :- (**ते**) आपके (**अजडादिविशेषणानि**) अजड आदि विशेषण (**परतः**) अन्य द्रव्यों से (**भेदकराणि**) भेद-पृथक्त्व करनेवाले हैं (**स्वतः न**) स्वद्रव्य से नहीं। क्योंकि आप (**सदा**) निरंतर (**अद्वयं**) अन्य द्रव्य से रहित और (**असाधारणभावनिर्भरम्**) असाधारण भावों से परिपूर्ण (**स्वं**) अपने आत्म द्रव्य को (**स्वयं**) अपने आप (**दधतः**) धारण करते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपका आत्मद्रव्य एकत्व-विभक्त है अर्थात् स्वकीय गुण पर्यायों से अभिन्न तथा परद्रव्यों से विभक्त है। इस प्रकार जब आप परसे रहित और अपने असाधारणभावों से सहित आत्मद्रव्य को सदा धारण करते हैं तब आपके अजड

आदि विशेषण आपको परद्रव्यों से तो पृथक् सिद्ध करते हैं परंतु अपने आत्मद्रव्य से नहीं। कहीं द्रव्य के गुण पर्याय भी क्या उससे पृथक् होते हैं ? अर्थात् नहीं होते।।११।।

अजडाद्यविभागतः स्थितस्तव भावोऽयमनंश एककः।
अजडाद्यविभागभावनादनुभूतिं समुपैति नान्यथा।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**अजडाद्यविभागतः स्थितः**) अजड आदि विशेषणों के अपृथक्त्व - अविभेद से स्थित (**तव**) आपका (**अयं**) यह (**अनंशः**) अखण्ड (**एककः**) एक (**भावः**) आत्मद्रव्य (**अजडाद्यविभागभावनात्**) अजडादि विशेषणों के अभेद की भावना करने से ही (**अनुभूतिं**) स्वानुभूति को (**समुपैति**) प्राप्त होता है (**अन्यथा न**) अन्य प्रकार से नहीं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपका यह एक अखण्ड आत्मद्रव्य, अजड-चैतन्य-ज्ञानरूपता आदि विशेषणों से अभिन्न है, न्याय वैशेषिक दर्शन की मान्यता के अनुसार गुणों से सर्वथा भिन्न नहीं है और बौद्धदर्शन की मान्यता के अनुसार क्षण-क्षण में नष्ट होकर अनेकत्व को प्राप्त नहीं है इसीलिए उसमें आत्मानुभूति तथा अतीत कार्यों की स्मृति आदि होता है। गुणगुणी में तथा पूर्वोत्तर क्षण में सर्वथा भेद मानने से अनुभूति आदि की सिद्धि नहीं हो सकती।।१२।।

भवनं भवतो निरङ्कुशं सकला मार्ष्टि सकारकाः क्रियाः।
भवनं द्वयतामवाप्यते क्रियया नैव न कारकैरपि।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**भवतः**) आपका (**निरङ्कुशं**) निर्बाधरूप से (**भवनं**) होना (**सकलाः**) सम्पूर्ण (**सकारकाः**) कारक सहित (**क्रियाः**) क्रियाओं को (**मार्ष्टि**) साफ करता है क्योंकि (**भवनं**) आपका होना (**नैव क्रियया**) न क्रिया के द्वारा और (**न कारकैः अपि**) न कारकों के द्वारा भी (**द्वयतां**) द्विरूपता को (**अवाप्यते**) प्राप्त कराया जाता है।

भावार्थ :- भेददृष्टि के कथन में द्रव्य की परिणति कर्ता कर्म आदि कारकों और क्रिया की अपेक्षा रखती है परंतु अभेददृष्टि के कथन में द्रव्य की परिणति स्वतः होती है, उसमें कारक और क्रिया की अपेक्षा नहीं रहती। यहाँ अभेददृष्टि की अपेक्षा स्तुति करते हुए आचार्य कहते हैं कि हे भगवन् ! आपकी जो परिणति

है वह स्वतंत्र है किसी बाह्य द्रव्य के आश्रित नहीं है अतः उसमें कारक और क्रियाओं का विकल्प नहीं है।।१३।।

भवने भवतोनिरङ्कुशे क्व लसेत् कारणकार्यविस्तरः।
न किलाभवनं करोति तत् क्रियतेऽत्राभवनं च तेन नः (न)।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**भवतो भवने निरङ्कुशे सति**) आपका परिणमन निर्बाध होने पर (**कारणकार्यविस्तरः**) कारण और कार्य का विस्तार (**क्व लसेत्**) कहाँ विराजता है ? अर्थात् कहीं नहीं। क्योंकि (**किल**) निश्चय से (**तत्**) कारण (**अभवनं**) कार्य की अनुत्पत्ति को (**न करोति**) नहीं करता है (**च**) और (**अत्र**) इस लोक में (**तेन**) कार्य के द्वारा (**अभवनं**) कारण की अनुत्पत्ति (**न क्रियते**) नहीं की जाती है।

भावार्थ :- लोक में जिसका जिसके साथ अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है उसका उसके साथ कारण-कार्यभाव माना जाता है परंतु यह मान्यता भेददृष्टि की अपेक्षा है। अभेददृष्टि की अपेक्षा पदार्थ की उस प्रकार की योग्यता ही कार्योत्पत्ति में कारण मानी जाती है। तात्पर्य यह है कि अभेददृष्टि में कारण कार्य का विकल्प ही नहीं है। इसी अभिप्राय से यहाँ कहा गया है कि हे भगवन् ! आपकी जो परिणति हो रही है उसमें कारण-कार्य का विकल्प नहीं है।।१४।।

भवतीति न युज्यते क्रिया त्वयि कर्त्रादिकरम्बितोदया।
भवनैकविभूतिभारिणस्तव भेदो हि कलङ्ककल्पना।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**कर्त्रादिकरम्बितोदया**) कर्ता आदि कारकों से जिसका उदय व्याप्त है ऐसी (**क्रिया**) क्रिया (**त्वयि**) आपमें (**भवति**) होती है (**इति न युज्यते**) ऐसा कहना युक्त नहीं है (**हि**) क्योंकि (**भवनैकविंभूतिभारिणः**) परिणमन मात्र एक विभूति को धारण करनेवाले (**तव**) आपके (**भेदः**) कर्ता कर्म आदि का भेद करना (**कलङ्ककल्पना**) कलङ्क की कल्पना है।

भावार्थ :- अभेदनय की दृष्टि में कर्ता कर्म और क्रिया तीनों एक ही पदार्थ हैं भिन्न-भिन्न नहीं है इसलिए आपमें उनका भेद करना उचित नहीं है।।१५।।

अजडादिमयः सनातनो जिन भावोऽस्यवकीर्णकश्मलः।
अयमुच्छलदच्छचित्प्रभाभरमग्नस्वपरक्रमाक्रमः।।१६।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**अजडादिमयः**) जो अजड अर्थात् चैतन्य आदि रूप है, (**सनातनः**) त्रैकालिक है, (**अवकीर्णकश्मलः**) मोह परिणामों से रहित है और (**उच्छलदच्छचिंत्प्रभाभरमग्नस्वपरक्रमाक्रमः**) जिसके छलकते हुए निर्मल चैतन्य की प्रभा के समूह में निज और पर के पर्याय और गुण निमग्न हैं ऐसा जो (**अयं**) यह (**भावः**) भाव है उस रूप आप (**असि**) हैं।

भावार्थ :- यहाँ भाव और भाववान् में अभेद कर भगवान् को भावरूप कहा है। जिनेन्द्र भाववान् हैं और उनका अजडादिरूप - चैतन्य तथा अमूर्तत्वरूप जो परिणाम है वह भाव है। जिनेन्द्र का वह भाव, सब कश्मल - मोह अथवा दुःखों से रहित है तथा स्वपर द्रव्यों के गुण और पर्यायों को अंतर्निमग्न करनेवाला है।।१६।।

भगवन्नवकीर्णकश्मलो यदि भावोऽसि विभामयः स्वयम्।
तदयं स्वयमेव विस्फुरन् न विमोहं समुपैषि कुत्रचित्।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**भगवन्**) हे भगवन् ! (**यदि**) यदि आप (**अवकीर्णकश्मलः**) मोह रहित तथा (**विभामयः**) ज्ञानरूप दीप्ति से सहिंत (**स्वयं**) स्वयं (**भावः असि**) भावरूप हैं (**तत्**) तो (**अयं**) यह भाव (**स्वयमेव**) स्वयं ही (**विस्फुरन्**) प्रकट होता है - अन्य के द्वारा किया हुआ नहीं है। आप (**कुत्रचित्**) कहीं भी (**विमोहं**) कर्तृत्वजन्य भ्रम को (**न समुपैषि**) प्राप्त नहीं होते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप जिस वीतराग भावरूप हैं वह भाव भी आपमें स्वयं प्रकट हुआ है किसी अन्य द्रव्य के उपादान से उसकी उत्पत्ति नहीं हुई है क्योंकि उपादानोपादेयभाव एक ही द्रव्य में बनता है दो द्रव्यों में नहीं। दो द्रव्यों में निमित्तनैमित्तिक भाव बनता है, परंतु अभेदनय के कथन में उसकी विवक्षाा नहीं है।।१७।।

स विभाति विभामयोऽस्ति यो न विभायादविभामयः क्वचित्।
ननु सर्वमिदं विभाति यत् तदियं भाति विनैव (विभैव) निर्भरम्।।१८।।

अन्वयार्थ :- (**यः**) जो (**विभामयः अस्ति**) विभामय है (**सः**) वह (**विभातिं**) सुशोभित होता है (**अविभामयः**) अविभावमय (**क्वचित्**) कहीं भी (**न विभायात्**) सुशोभित नहीं हो सकता। (**यत्**) जो (**इदं सर्वं**) यह सब (**ननु**) निश्चय से (**विभाति**) सुशोभित हो रहा है (**तत्**) वह (**इयं विभा एव**) यह विभा ही (**निर्भरं**) अत्यंत (**भाति**) सुशोभित हो रही है।

भावार्थ :- विभा और विभामय ये दो वस्तुएँ पृथक्-पृथक् नहीं हैं क्योंकि गुण और गुणी में प्रदेशभेद न होनेसे अभेद स्वीकृत किया गया है। जो विभा से तन्मय है उसे विभामय कहते हैं और उसकी जो दीप्ति है वह विभा कहलाती है। विभामय, विभा से तन्मय है इसलिए विभामय की शोभा से विभा की शोभा स्वयं सिद्ध हो जाती है। यहाँ विभा और विभामय में अभेद स्वीकृत कर कथन किया गया है।।१८।।

इदमेव विभाति केवलं न विभातीदमिति क्व कल्पना।
इदमित्यमुना विभाति तद् द्वितयं नास्ति विभाविभागकृत्।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**केवलं**) मात्र (**इदमेव**) यही (**विभाति**) सुशोभित होता है (**इदं न विभाति**) यह सुशोभित नहीं होता (**इति कल्पना क्व**) ऐसी कल्पना कहाँ होती है ? अर्थात् कहीं नहीं। (**इदम्**) यह (**अमुना**) इससे (**विभाति**) सुशोभित होता है (**इति**) इस प्रकार का जो (**द्वितयं**) गुण और गुणी का युगल है (**तत्**) वह (**विभाविभागकृत्**) विभामय से विभा के विभाग को करनेवाला (**नास्ति**) नहीं है।

भावार्थ :- जब अभेद दृष्टि से विभा और विभामय पदार्थ में अभेद है तब यह नहीं कहा जा सकता कि विभा ही सुशोभित होती है, विभामय पदार्थ सुशोभित नहीं होता। अथवा विभामय पदार्थ ही सुशोभित होता है विभा नहीं। कदाचित् ऐसा भी कहा जावे कि `यह इससे सुशोभित होता है' और ऐसा कहने से विभा तथा विभामय पदार्थ में द्वैतपना सिद्ध होता है तथापि वह द्वैतपना विभा को विभामय से पृथक् करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि उन दोनों में प्रदेशभेद नहीं है।।१९।।

सहजा सततोदिता समा स्वसमक्षा सकला निराकुला।
इयमद्भुतधाममालिनी ननु कस्यास्तु विभा विभावरी।।२०।।

अन्वयार्थ :- जो (**सहजा**) स्वाभाविक है, (**सततोदिता**) निरंतर उदयरूप रहती है, (**समा**) न्यूनाधिकता से रहित है, (**स्वसमक्षा**) अपने आपके लिए जिसका प्रत्यक्ष होता है, (**सकला**) परिपूर्ण है (**निराकुला**) आकुलता से रहित है तथा (**अद्‌भुतधाममालिनी**) विस्मयकारी तेज की माला से सहित है ऐसी (**इयं**) यह (**विभा**) विभा-दीप्ति (**ननु**) निश्चय से (**कस्य**) किसके लिए (**विभावरी**) रात्रिरूप (**अस्तु**) हो अर्थात् किसीके लिए नहीं।

भावार्थ :- जो विभा प्रत्यक्ष अनुभव में आ रही है उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है ? इस प्रकरण में विभा शब्द से आत्मा की ज्ञानज्योति ग्राह्य है शरीर की दीप्ति नहीं।।२०।।

विधिवद् दधती स्ववैभवाद् विधिरूपेण निषेधमप्यसौ।
परिशुद्धचिदेकनिर्भरा तव केनात्र विभा निषिध्यते।।२१।।

अन्वयार्थ :- जो (**स्ववैभवात्**) अपने वैभव से (**विधिवत्**) विधिपक्ष के समान (**निषेधमपि**) निषेधपक्ष को भी (**विधिरूपेण**) विधिरूप से (**दधती**) धारण कर रही है तथा (**परिशुद्धचिदेकनिर्भरा**) जो अत्यंत शुद्ध एक चेतनद्रव्य - आत्मद्रव्य के निर्भर है ऐसी (**तव**) आपकी (**विभा**) ज्ञानज्योतिरूप विभा (**अत्र**) इस लोक में (**केन**) किसके द्वारा (**निषिध्यते**) निषिद्ध की जाती है ? अर्थात् किसीके द्वारा नहीं।

भावार्थ :- जो विधिपक्ष और निषेधपक्ष - दोनों की धारण करती है तथा अत्यंत शुद्ध एक-चेतन द्रव्यपर निर्भर करती है ऐसी आत्मा की ज्ञानज्योतिरूप विभा का अपलाप कौन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं।।२१।।

अभितः स्फुटितस्वभावया च्युतदिक्कालविभागमेकया।
विभया भवतः समन्ततो जिन सम्पूर्णमिदं विभाव्यते।।२२।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**अभितः स्फुटितस्वभावया**) जिसका स्वभाव सब ओरसे प्रकट हो रहा है ऐसी (**भवतः**) आपकी (**एकया**) एक - अद्वितीय (**विभया**) विभा के द्वारा (**च्युतदिक्कालविभागं**) दिशाओं और काल के विभाग से रहित (**इदं सम्पूर्णं**) यह समस्त जगत् (**समन्ततः**) सब ओरसे (**विभाव्यते**) देखा जाता है विभासित

होता है।

भावार्थ :- हे जिन ! आपकी स्वाभाविक ज्ञानज्योतिरूप विभा के द्वारा समस्त लोकालोक सब ओरसे जाना जाता है।।२२।।

न खलु स्वपरप्रकाशने मृगयेतात्र विभा विभान्तरम्।
भवतो विभयैव धीमतः क्रमतः कृत्स्नमिदं प्रकाशते।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**खलु**) निश्चय से (**अत्र**) इस जगत् में (**स्वपरप्रकाशने**) निज और पर को प्रकाशित करनेके लिए (**विभा**) विभा (**विभान्तरं**) दूसरी विभा को (**न मृगयेत**) नहीं खोजती है। (**धीमतः**) लोकोत्तरज्ञान से युक्त (**भवतः**) आपकी (**विभयैव**) ज्ञानज्योतिरूप विभा के द्वारा ही (**इदं**) यह (**कृत्स्नं**) सम्पूर्ण जगत् (**क्रमतः**) क्रम से - पदार्थों की परिणति के क्रमानुसार (**प्रकाशते**) प्रकाशित होता है।

भावार्थ :- जिस प्रकार दीपक स्वपरप्रकाशक होता है उसी प्रकार आपकी ज्ञानज्योतिरूप विभा भी स्वपरप्रकाशक है। हे भगवन् ! आपकी तथोक्त विभा के द्वारा ही समस्त जगत् प्रकाशित हो रहा है, यहाँ विभा को क्रम से प्रकाशित करने की जो बात कही है वह ज्ञेय के क्रमानुसार समझना चाहिए अर्थात् ज्ञेय का जिस क्रम से परिणमन होता है उसी क्रमानुसार वह उसे युगपत् प्रकाशित करती है।।२३।।

अनया विचरन्ति नित्यशो जिन ये प्रत्ययमात्रसत्तया।
सकलं प्रतियन्ति ते स्वयं न हि बोधप्रतिबोधकः क्वचित्।।२४।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे कर्मशत्रुओं के विजेता ! (**प्रत्ययमात्रसत्तया**) ज्ञानमात्र की सत्तास्वरूप (**अनया**) इस ज्ञानज्योतिरूप विभा के द्वारा (**ये**) जो (**नित्यशः**) निरंतर (**विचरन्ति**) विचरण करते हैं - जानने का उद्योग करते हैं (**ते**) वे (**स्वयं**) स्वयं ही (**सकलं**) सब पदार्थों की (**प्रतियन्ति**) प्रतीति करने लगते हैं अर्थात् उन्हें यह श्रद्धा हो जाती है कि आपकी विभा स्वपरप्रकाशक है। (**हि**) वास्तव में (**बोधप्रतिबोधकः**) ज्ञान को प्रकाशित करनेवाला (**क्वचित् न**) कहीं नहीं है।

भावार्थ :- विभा क्या है ? ज्ञान मात्र की सत्तारूप है और ज्ञान स्वपरावभासी

है अतः विभा भी स्वपरावभासिनी है।।२४।।

अभितोऽनुभवन् भवद्विभामहभेषोऽस्मि मुहुर्मुहुः समः।
जिन यावदुपैमि पुष्कलं स (स्व) मनन्तस्वविभामयं स्वयम्।।२५।।

अन्वयार्थ :- (**जिन**) हे भगवन् ! (**एषोऽहम्**) यह मैं (**समः**) मध्यस्थ - इष्टानिष्ट के विकल्प से रहित होता हुआ (**तावत्**) तब तक (**मुहुर्मुहुः**) बार-बार (**अभितः**) सब ओरसे (**भवद्विभाम्**) आपकी विभा का (**अनुभवन् अस्मि**) अनुभवन करता रहूँ (**यावत्**) जब तक (**स्वयं**) स्वयं (**पुष्कलं**) परिपूर्ण और (**अनंतस्वविभामयं**) अनंत स्वकीय विभा - ज्ञानज्योति से तन्मय (**स्वम्**) अपने आपको (**उपैमि**) प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ :- हे प्रभो ! आपकी विभा का अनुभवन आत्मोपलब्धि में कारण हैं इसलिए स्तुति के फलस्वरूप मैं चाहता हूँ कि मुझे इसकी तब तक उपलब्धि होती रहे जबतक कि मैं अनंत स्वकीयविभा से तन्मय आत्मस्वरूप को प्राप्त न कर लूँ।।२५।।

ॐ

(२०)

वंशस्थछन्दः[1]

अतत्त्वमेव प्रणिधानसौष्ठवात् तवेंश तत्त्वप्रतिपत्तये परम्।
विषं वमन्त्योऽप्यमृतं क्षरन्ति यत् पदे पदे स्यात्पदसंस्कृता गिरः।।१।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! (**तव**) आपके (**प्रणिधानसौष्ठवात्**) उपयोग की कुशलता से (**अतत्त्वमेव**) अतत्त्व ही (**तत्त्वप्रतिपत्तये**) वस्तु स्वरूप की यथार्थ प्रतिपत्ति के लिए (**परं**) समर्थ है (**यत्**) क्योंकि (**स्यात्पदसंस्कृताः**) स्यात् पदसे सुशोभित (**गिरः**) वचन (**पदे पदे**) प्रत्येक पद में (**विषं**) अतत्त्व एकान्तरूप विषय को (**वमन्त्योऽपि**) उगलते हुए भी (**अमृतं**) अनेकान्तरूप अमृत को (**क्षरन्ति**) प्रवाहित करते हैं।

भावार्थ :- स्यात्पदसे चिह्नित जिनेन्द्र भगवान् की वाणी का अच्छी तरह उपयोग किया जावे तो उससे अनादिकालीन अतत्त्व-एकांत दूर होकर यथार्थतत्त्व की प्राप्ति होती है। इसीको लक्ष्य में रखकर आचार्यने कहा है कि हे स्वामिन् ! जो वचन एकान्तरूप विष को उगलते हैं। इस अध्याय में एकान्तवादियों के द्वारा स्वीकृत कुछ तत्त्वों का स्याद्वाद की शैली से प्रतिपादन किया गया है। वे भी स्यात्पद से अलंकृत होने पर अनेकान्तरूप अमृत को प्रवाहित करने लगते हैं।।१।।

परापरोल्लेखविनाशकृद् बलाद् विलीनदिक्कालविभागकल्पनः।
विभात्यसौ संग्रहशुद्धदर्शनात् त्वमीश चिन्मात्रविभूतिनिर्भरः।।२।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! जो (**बलात्**) बलपूर्वक (**परापरोल्लेखविनाशकृत**)

---

१. `जतौ तु वंशस्यमुदीरितं जरौ' - वृत्तरत्नाकर।

पर और अपर - पूर्व और उत्तर क्षण के उल्लेख का विनाश करने वाले हैं, (**विलीनदिक्कालविभागकल्पनः**) जिनमें दिशा और काल के विभाग की कल्पना नष्ट हो चुकी है तथा जो (**चिन्मात्रविभूतिनिर्भरः**) चैतन्यमात्र विभूति से परिपूर्ण हैं ऐसे (**असौ त्वम्**) यह आप (**संग्रहशुद्धदर्शनात्**) संग्रहनय की शुद्धदृष्टि से (**विभासि**) अतिशय सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- जो पदार्थ के विशेष अंश को गौण कर प्रधानरूप से उसके सामान्य अंश को ग्रहण करता है वह संग्रहनय कहलाता है। उस संग्रहनय की शुद्धदृष्टि से जब आपका विचार किया जाता है तब आप पूर्वापर के विभाग से रहित तथा दिशा और काल सम्बन्धी विभाग की कल्पना से शून्य प्रतीत होते हैं। साथ ही एक चैतन्यमात्र विभूति से युक्त प्रतीत होते हैं।।२।।

विशुद्ध्यतिव्याप्तिरसेन वल्गिता अपि स्खलन्त्योऽस्खलिता इवोच्छिखाः।
निरंशतत्त्वांशनिवेशदारुणास्त्वयीश मूर्च्छन्त्यृजुसूत्रदृष्टयः।।३।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे नाथ ! (**त्वयि**) आपमें (**ऋजुसूत्रदृष्टयः**) ऋजुसूत्रयनय की वे दृष्टियां (**मूर्च्छन्ति**) वृद्धि को प्राप्त हो रही हैं जो (**विशुद्ध्यतिव्याप्तिरसेन वल्गिताः**) विशुद्धता के अधिक प्रसार रूप रस से युक्त हैं तथा (**स्खलन्त्यः अपि**) स्खलित होती हुई भी (**अस्खलिता इव**) अस्खलित के समान (**उच्छिखाः**) प्रकाशमान हैं और (**निरंशतत्त्वांशनिवेशदारुणाः**) अखण्ड तत्त्व के अंश को उपस्थित करने के कारण दारुण - कठिन हैं।

भावार्थ :- जो द्रव्य की समय समयवर्ती पर्याय को ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्रनय कहलाता है। यह नय, पदार्थ को मात्र वर्तमान पर्यायरूप मानता है उसके आगे और पीछे होनेवाले पर्यायरूप अंशों को यह गौण कर देता है। इस नय की दृष्टि अत्यंत सूक्ष्म होनेसे छद्मस्थ के ज्ञान में नहीं आती अर्थात् छद्मस्थ का ज्ञान द्रव्य की समय-समयवर्ती पर्यायों को ग्रहण करने में असमर्थ है, अतः यह दृष्टि स्खलित-सी जान पड़ती है परंतु प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होनेसे यह अस्खलित ही रहती हुई प्रकाशमान रहती है। इस नय की दृष्टि विशुद्धि के अतिरेक से परिपूर्ण रहती है और निरंश वस्तु के अंश को प्रस्तुत करने के कारण कठिन भी है।।३।।

समन्ततः स्वावयवैस्तव प्रभो विभज्यमानस्य विशीर्णसञ्चयाः।
प्रदेशमात्रा ऋजवः पृथक्-पृथक् स्फुरन्त्यनन्ताः स्फुटबोधधातवः।।४।।

अन्वयार्थ :- (**प्रभो**) हे नाथ ! (**स्वावयवैः**) अपने अवयवों के द्वारा (**समन्ततः**) सब ओरसे (**विभज्यमानस्य**) विभाग को प्राप्त होनेवाले (**तव**) आपके (**अनन्ताः स्फुटबोधधातवः**) प्रत्यक्षज्ञान के अनंत अविभागी, प्रतिच्छेद (**पृथक्-पृथक्**) जुदे-जुदे (**स्फुरन्ति**) प्रकाशित होते हैं। वे अविभाग प्रतिच्छेद, (**विशीर्णसञ्चयाः**) संचय से बिखरे हुए हैं (**प्रदेशमात्राः**) प्रदेशमात्र है और (**ऋजवः**) सरल - वर्तमानरूप हैं।

भावार्थ :- हे प्रभो ! संग्रह नय की दृष्टि में आप असंख्यातप्रदेशी एक अखण्ड आत्मद्रव्य हैं और आपके समस्त प्रदेशों में अनंत अविभाग प्रतिच्छेदों से युक्त अखण्ड केवलज्ञान सुशोभित हो रहा है, परंतु ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में आप अपने असंख्य प्रदेशों में विभाजित हैं और आपका केवलज्ञान एक अखण्डपिण्ड में न रहकर अनंत अविभागी प्रतिच्छेदों में विभक्त है। उदाहरण के लिये संग्रहनय की दृष्टि में वृक्ष, एक दिखाई देता है परंतु ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में वह वृक्ष शाखा, प्रशाखा, फल-फूल, पत्ते और पल्लवों की अपेक्षा अनेकरूप दिखाई देता है।।४।।

विशीर्यमाणैः सहसैव चित्कणैस्त्वमेष पूर्वापरसंगमाक्षमः।
अनादिसन्तानगतोऽपि कुत्रचित् परस्परं संघटनां न गाहसे।।५।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**एष त्वम्**) यह आप (**सहसैव**) शीघ्र ही (**विशीर्यमाणैः**) बिखरते हुए (**चित्कणैः**) चैतन्यकणों के द्वारा ज्ञानप्रदेशों के द्वारा (**पूर्वापरसङ्गमाक्षमः**) पूर्व और उत्तर क्षणवर्ती चैतन्य कणों के मिलाने में असमर्थ हैं और (**अनादिसन्तानगतोऽपि `सन्'**) अनादि सन्तति से युक्त होनेपर भी (**कुत्रचित्**) कहीं (**परस्परं**) परस्पर उन चैतन्यकणों के साथ (**सङ्घटनां**) मेल को (**न गाहसे**) प्राप्त नहीं होते हैं।

भावार्थ :- ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि - ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में द्रव्य अखण्ड न रहकर अपने समस्त अवयवों - प्रदेशों में विभक्त रहता है और पूर्वोत्तरक्षण में सन्ततिरूप से न रहकर मात्र समयवर्ती वर्तमान पर्याय में रहता है। इसी अभिप्राय से यहाँ कहा जा रहा है कि आपके चित्कण सहसा ही विखर गये हैं और इस प्रकार विखर गये हैं कि उनमें आगे-पीछे का भी भेद नहीं किया जा सकता है

तथा काल की अपेक्षा अनादि सन्तति से युक्त होनेपर भी आप पूर्वोत्तर क्षणवर्ती चित्कणों को परस्पर मिलाने में असमर्थ हैं।।५।।

क्षणक्षयोत्संगितचित्कणावलीनिकृत्तसामान्यतया निरन्वयम्।
भवन्तमालोकयतामसिक्षतं विभाति नैरात्म्यमिदं बलात् त्वयि।।६।।

अन्वयार्थ :- (**निरन्वयं `यथा स्यात्तथा'**) निरन्वयरूप से (**क्षणक्षयोत्सङ्गितचित्कणावली-निकृत्तसामान्यतया**) क्षणक्षय के द्वारा अङ्गीकृत चैतन्य के अंश समूह से सामान्य के सर्वथा नष्ट हो जानेसे (**त्वयि**) आपके विषय में (**बलात्**) बलपूर्वक स्थापित किया गया (**इदं नैरात्म्यं**) यह नैरात्म्यपना (**भवन्तम्**) आको (**आलोकयतां**) देखनेवाले मनुष्यों के लिये (**असिक्षतं**) तलवार का घाव (**विभाति**) मालूम होता है।

भावार्थ :- जहाँ संग्रह और ऋजुसूत्रनय में मैत्री होती है वहाँ ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा विशेष में परिवर्तन होनेपर भी संग्रहनय की अपेक्षा सामान्य सुरक्षित रहा आता है परंतु जहाँ ऋजुसूत्रनय को संग्रहनय से निरपेक्ष मान लिया जाता है वहाँ सामान्य का निरन्वय नाश होनेसे नैरात्म्यवाद आता है। जैसे सामान्यरूप से आत्मा नामक द्रव्य का अस्तित्व, उसके क्षण क्षण में होनेवाले चित्कणों के आश्रय से उत्पन्न होता है। इसके विपरीत यदि सामान्य को सर्वथा अस्वीकृत कर क्षण क्षय से युक्त चिदंशों को ही आत्मा स्वीकृत किया जाय तो इन चिदंशों का आधारभूत कोई पदार्थ स्वीकृत करना आवश्यक होगा। यदि उसे स्वीकृत नहीं किया जायगा तो ऋजुसूत्रनय के द्वारा प्रतिपादित क्षणक्षयी चिदंश किसके आश्रय रहेंगे ? इस प्रकार आपके विषय में प्रस्तुत किया हुआ यह नैरात्म्यवाद आपका अवलोकन करनेवालों के लिये तलवार के घाव के समान जान पड़ता है।।६।।

गतो गतत्वान्न करोति किञ्चन प्रभो भविष्यन्ननुपस्थितत्वतः।
स नूनमर्थक्रिययेश युज्यते प्रवर्तमानक्षणगोचरोऽस्ति यः।।७।।

अन्वयार्थ :- (**प्रभो**) हे नाथ ! (**गतः**) गत पदार्थ (**गतत्वात्**) गत हो जानेके कारण (**किञ्चन न करोति**) कुछ नहीं करता है और (**भविष्यन्**) अनागत पदार्थ (**अनुपस्थितत्वतः**) अनुपस्थित होनेसे (**किञ्चन न करोति**) कुछ नहीं करता है। (**ईश**) हे भगवन् ! (**यः**

`**त्वम्**') जो आप (**प्रवर्तमानक्षणगोचरः अस्ति**) वर्तमान क्षण के विषय हैं (**सः `त्वम्**') वह आप (**नूनं**) निश्चित ही (**अर्थक्रियया**) अर्थक्रिया से (**युज्यते**) युक्त हैं।

भावार्थ :- `अर्थक्रियाकारित्वं हि वस्तुनः स्वरूपम्' इस लक्षण के अनुसार जो अर्थक्रियाकारी होती है वही वस्तु कहलाती है। भूत भविष्यत् और वर्तमान काल की अपेक्षा वस्तु तीन रूप में विभक्त है। इनमें जो भूत है अर्थात् गत हो चुका है वह गत हो जानेके कारण कुछ करने में समर्थ नहीं है और जो भविष्यत् है अर्थात् आगे होनेवाला है वह अनुपस्थित होनेसे कुछ नहीं कर सकता। शेष रहा वर्तमान, सो वही अर्थ क्रिया से युक्त होता है। इसप्रकार हे भगवन् ! आप वर्तमान क्षणरूप होनेसे अर्थक्रियाकारी वस्तु हैं।।७।।

क्षणक्षयरथेषु कणेषु संविदो न कार्यकालं कलयेद्धि कारणम्।
तथापि पूर्वोत्तरवर्तिचित्कणैर्हठाद्धता कारणकार्यता त्वयि।।८।।

अन्वयार्थ :- यद्यपि (**हि**) निश्चय से (**क्षणक्षयस्थेषु**) **संविदः कणेषु**) क्षणस्थायी चिदंशों में (**कारणं**) कारण (**कार्यकालं**) कार्य के काल को (**न कलयेत्**) नहीं प्राप्त करता है (**तथापि**) तो भी (**पूर्वोत्तरवर्तिचित्कणैः**) पूर्व और उत्तरकाल में रहनेवाले चिदंशों के द्वारा (हठात्) हठपूर्वक (त्वयि) **आपमें** (**कारणकार्यता**) **कारण-कार्यभाव** (**धृता**) **धारण किया गया है।**

भावार्थ :- पूर्वक्षणवर्ती चिदंश कारण और उत्तरक्षणवर्ती चिदंश कार्य माना जाता है क्योंकि पूर्वक्षणवर्ती चिदंश ही उत्तरक्षण में कार्यरूप परिणत होता है। परंतु पूर्वक्षणवर्ती चिदंश जब पूर्वक्षण में ही नष्ट हो जाता है तब वह उत्तरक्षणवर्ती चिदंश का कारण कैसे हो सकता है ? इसप्रकार क्षणस्थायी चिदंशों की अपेक्षा यद्यपि आपमें कारण-कार्यपना सिद्ध नहीं होता है तथापि उन क्षणस्थायी चिदंशों के पूर्वोत्तरक्षणवर्ती चिदंशों में हठपूर्वक कारणकार्यपना अवस्थित है।।८।।

गलत्यबोधः सकले कृते बलादुपर्युपर्युद्यति चाकृते स्वयम्।
अनादिरागानलनिर्वृतिक्षणे तवैष निर्वाणमितोऽन्त्यचित्क्षणः।।९।।

अन्वयार्थ :- (**सकले**) सम्पूर्णरूप से (**अनादिरागानलनिर्वृतिक्षणे कृते**) अनादिकालीन

रागाग्नि के शांत होनेका क्षण उपस्थित होनेपर (**अबोधः**) अज्ञान (**गलति**) नष्ट होता है (**च**) और अनादिकालीन रागाग्नि के शान्त होने का क्षण (**अकृते**) अनुपस्थित होनेपर (**अबोधः**) अज्ञान (**बलात्**) बलपूर्वक (**स्वयं**) अपनेआप (**उपर्युपरि**) ऊपर ऊपर (**उद्यति**) उठता है - वृद्धि को प्राप्त होता है। इसप्रकार अज्ञान के नष्ट हो जानेपर (**तव**) आपका (**एषः**) यह (**अन्त्यचित्क्षणः**) अन्तिम चिदंश (**निर्वाणम्**) मोक्ष को (**इतः**) प्राप्त हुआ है।

भावार्थ :- निर्वाण प्राप्ति का क्रम यह है कि पहले अनादिकालीन रागरूप अग्नि को सम्पूर्ण रूप से शांत किया जावे। उसके शांत होते ही अज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है और उसके शांत न होनेपर अज्ञान नष्ट न होकर वृद्धि को प्राप्त होता है। इसप्रकार रागक्षय, अज्ञान निवृत्ति का कारण है और अज्ञाननिवृत्ति निर्वाण का कारण है। दशम गुणस्थान के अंत में राग का सर्वथा क्षय हो जानेपर यह जीव बारहवें गुणस्थान में पहुँचता है वहाँ अंतर्मुहूर्त रुक कर शुक्लध्यान के द्वितीय भेद के प्रभाव से ज्ञानावरणादि तीन घातिया कर्मों का एक साथ क्षय कर तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है। वहाँ का जघन्य काल अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन कोटिवर्ष पूर्व व्यतीत कर चौदहवें गुणस्थान में पहुँचता है और वहाँ लघु अंतर्मुहूर्त तक ठहरकर अंत समय में निर्वाण को प्राप्त होता है। उपादान कारण की अपेक्षा विचार करने पर उत्तरक्षणवर्ती पर्याय कार्य और पूर्वक्षणवर्ती पर्याय उपादान कारण होती है इसतरह अन्तिम क्षणवर्ती जो चिदंश है वही निर्वाण को प्राप्त होता है।।९।।

प्रदीपवन्निर्वृतिमागतस्य ते समस्तमेवागमदेकशून्यताम्।
न साहसं कर्म तवेति कुर्वतो मम प्रभो जल्पत एव साहसम्।।१०।।

अन्वयार्थ :- (**प्रदीपवत्**) दीपक के समान (**निर्वृतिमागतस्य**) निर्वाण को प्राप्त हुए (**ते**) आपके (**समस्तमेव**) अज्ञान तथा रागादिक सभी विकार (**एकशून्यताम्**) एक शून्यता को (**अगमत्**) प्राप्त हुए थे। (**प्रभो**) हे नाथ ! (**इति**) इसप्रकार का आश्चर्यजनक (**कर्म**) कार्य (**कुर्वतः**) करते हुए (**तव**) आपको (**साहसं न**) साहस नहीं करना पड़ा किन्तु (**मम**) मुझे (**जल्पत एव**) कहते हुए ही (**साहसम्**) साहस करना पड़ रहा है।

भावार्थ :- प्रदीपवत् निर्वाण की मान्यता बौद्धदर्शन में भी आती है परंतु वहाँ इस मान्यता का यह अर्थ किया गया है कि जिस प्रकार दीपक बुझनेपर न किसी

दिशा को जाता है, न विदिशा में जाता है, न अंतरीक्ष में जाता है और न भूमि के भीतर जाता है किन्तु स्नेह - तैल का क्षय हो जानेसे वहीं शांत हो जाता है उसीप्रकार निर्वाण होनेपर आत्मा दिशा विदिशा अंतरीक्ष अथवा भूमि के भीतर कहीं नहीं जाता, किन्तु क्लेशों का क्षय होनेसे वहीं समाप्त हो जाता है। इसप्रकार आत्मा के उच्छेद को बौद्धदर्शन में निर्वाण माना गया है। यहाँ उपर्युक्त अर्थ में प्रदीपवन्निर्वाण की व्याख्या नहीं है यहाँ इतनी ही व्याख्या है कि जिसप्रकार स्नेह - तेल के क्षय से दीपक शांत हो जाता है उसी प्रकार स्नेह - रागभाव के क्षय से आत्मा शांत हो जाता है। हे भगवन् ! इन रागादिक विकारी भावों को नष्ट करने के लिए आपने जो उग्र तपश्चरणादि कार्य किये है उनके करने में आपको साहस नहीं करना पड़ा ? आत्मबल की बहुलता से वे कार्य अनायास हो गये, परंतु मुझे उन कार्यों को कहते हुए भी साहस करना पड़ रहा है।।१०।।

विचित्ररूपाकृतिभिः समन्ततो व्रजन्निहार्थक्रियया समागमम्।
त्वमेक एवाप्रतिषेधवैभवः स्वयं हि विज्ञानघनोऽवभाससे।।११।।

अन्वयार्थ :- (**इह**) इस संसार में जो (**अर्थक्रियाया**) अर्थ क्रिया के द्वारा (**समन्ततः**) सब ओरसे (**विचित्ररूपाकृतिभिः**) नानारूपवाली आकृतियों के साथ (**समागमं**) समागम को (**व्रजन्**) प्राप्त हो रहे हैं, (**अप्रतिषेधवैभवः**) जो अप्रतिहत वैभव के धारक हैं और (**विज्ञानघनः**) वीतराग विज्ञान से परिपूर्ण हैं ऐसे (**त्वम्**) आप (**एक एव**) एकही (**हि**) निश्चय से (**स्वयं**) (**अवभाससे**) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप अन्तर्ज्ञेयों की अपेक्षा नानाज्ञेयाकृतियों के समागम को प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् आपके दिव्यज्ञान में नानाज्ञेयों की आकृतियाँ प्रतिफलित हो रही हैं आपके वैभव का कोई निषेध नहीं कर सकता है तथा वीतराग विज्ञान - केवलज्ञान से आप परिपूर्ण हैं। आपकी ऐसी परिणति आत्मद्रव्य की योग्यता से स्वयं प्रकट हुई है।।११।।

न किञ्चनापि प्रतिभाति बोधतो बहिर्विचित्राकृतिरेक एव सन्।
स्वयं हि कुर्वन् जलधारणादिकं त्वमीश कुम्भादितयावभाससे।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे भगवन् ! (**बोधतो बहिः**) ज्ञान के बाहर (**किञ्चनापि**) कुछ भी (**न प्रतिभाति**) नहीं प्रतिभासित होता है अर्थात् अंतर्ज्ञेय की अपेक्षा सब ज्ञान के ही परिणमन हैं (**त्वम् एक एव**) आप एक ही (**विचित्राकृतिः सन्**) विचित्र आकृतिरूप होते हैं तथा (**स्वयं**) स्वयं ही (**हि**) निश्चय से (**जलधारणादिक कुर्वन्**) जलधारण आदि कार्य करते हुए (**कुम्भादितया**) कुम्भ आदिरूप से (**अवभाससे**) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- बौद्धसंमत ज्ञानाद्वैतका निराकरण कर यहाँ जैनसंमत ज्ञानाद्वैत का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि ज्ञान के बाहर कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित मयूर आदि, दर्पणरूप ही होतें हैं उसी प्रकार ज्ञान में प्रतिफलित संसार के समस्त पदार्थ ज्ञानरूप ही हैं। हे ईश ! जिस प्रकार बाह्य घट जलधारणादि क्रिया करता है उसी प्रकार अंतर्घट भी जलधारणादि क्रिया करता है अर्थात् घट की जलधारणरूप परिणति ज्ञान में भी आती है और उस परिणति के कारण हो ज्ञान को घटादिरूप कहा जाता है।।१२।।

स्वयं हि कुम्भादितया न चेद् भवान् भवेद् भवेत् किं बहिरर्थसाधनम्।
त्वयीश कुम्भादितया स्वयं स्थिते प्रभो किमर्थं बहिरर्थसाधनम्।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**चेत्**) यदि (**हि**) निश्चय से (**भवान्**) आप (**स्वयं**) स्वयं (**कुम्भादितया**) घटादिरूप (**न भवेत्**) न हों अर्थात् घटादिक आपके ज्ञान में प्रतिफलित न हों तो (**किं**) क्या (**बहिरर्थसाधनम्**) बाह्य घटादि की सिद्धि (**भवेत्**) हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती। (**ईश**) हे नाथ ! (**त्वयि**) आप जब स्वयं (**कुम्भादितया**) घटादिरूप से (**स्थिते**) विद्यमान हैं तब (**प्रभो**) हे प्रभो ! (**बहिरर्थसाधनम्**) बाह्य पदार्थों की सिद्धि (**किमर्थं**) किसलिये है ?

भावार्थ :- हे भगवन् ! जब आप अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा घटादिरूप परिणत होते हैं तभी घटादिक बाह्य ज्ञेयों की सिद्धि होती है, क्योंकि जो पदार्थ आपका अन्तर्ज्ञेय नहीं है वह बाह्य ज्ञेय भी नहीं है। जैसे खर विषाण आपका अन्तर्ज्ञेय नहीं है तो बाह्य में भी उसकी सिद्धि नहीं है। यतश्च अंतर्ज्ञेय, ज्ञान की ही परिणति है अतः ज्ञानाद्वैत का सिद्धांत ठीक है, ऐसा एकांत भी नहीं है क्योंकि अंतर्ज्ञेय की अपेक्षा घटादिक के रहनेपर भी फिर बाह्य ज्ञेय की क्या आवश्यकता रह जाती है ? उसकी निरर्थकता सिद्ध होती है, परंतु परमार्थ से निरर्थकता नहीं है, क्योंकि जलधारणादिक

कार्य बाह्य घटादिक से ही संपन्न होते हैं। भोजन, अंतर्ज्ञेय बनकर ज्ञान की परिणति कही जा सकती है पर उससे किसीकी क्षुधा निवृत्ति नहीं हो सकती। क्षुधानिवृत्ति के लिये बाह्य भोजन का अस्तित्व आवश्यक है। इसलिये ज्ञानाद्वैत का एकांत जैनसिद्धांत को स्वीकृत नहीं है।।१३।।

त्वदेकविज्ञानघनाभिषेधनात् समस्तमेज्जडतां परित्यजत्।
अभिन्नवैचित्र्यमनन्तमर्थकृत् पृथक् पृथग्बोधतयाऽवभासते।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**त्वदेकविज्ञानघनाभिषेधनात्**) आपके एक विज्ञानघन में समागत होनेसे जो (**जडतां परित्यजत्**) जडता - अचेतनता का परित्याग कर रहा है, (**अभिन्नवैचित्र्यं**) जिसने अपनी विचित्रता - विविधरूपता को नहीं छोड़ा है, (**अनंतं**) जिसका अंत नहीं होता है और जो (**पृथक्-पृथक्**) पृथक् पृथक् (**अर्थकृत्**) अर्थक्रियाकारी है ऐसा (**एतत् समस्तं**) यह समस्त जगत् - समस्त पदार्थों का समूह (**बोधतया**) ज्ञानरूप से (**अवभासते**) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपके केवलज्ञान में जितने चेतन-अचेतन पदार्थ अंतर्ज्ञेय बनकर प्रतिफलित हो रहे हैं वे सब चेतनरूप ही हैं अर्थात् चेतन पदार्थ तो चेतन हैं ही किन्तु अचेतन पदार्थ भी अपनी जडता को छोड़कर चेतनता को प्राप्त होते हैं। परंतु आपके अंतर्ज्ञेय होनेपर भी चेतन अचेतन पदार्थ अपनी विचित्रता को नहीं छोड़ते हैं, सब अंत से रहित हैं और सभी अपना अपना अर्थक्रियाकारित्व पृथक्-पृथक् रखते हैं। मात्र ज्ञान में प्रतिबिम्बित होनेसे ज्ञानरूप प्रतीत होते हैं। यहाँ `सब चैतन्यरूप ही है' इस एकांत का निराकरण करते हुए आचार्यने कहा है कि आपके ज्ञान में आनेसे यद्यपि समस्त पदार्थ जडता को छोड़कर चेतनरूप प्रतीत होते हैं तथापि इतने मात्र से वे चैतन्यरूपता को प्राप्त नहीं हो जाते, क्योंकि वे अपनी अपनी विचित्रता और अर्थक्रियाकारिता को छोड़ते नहीं हैं। बहिर्ज्ञेय की अपेक्षा सब चेतन अचेतन पदार्थ अपना अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं और तदनुरूप ही उनमें अर्थक्रियाकारित्व रहता है।।१४।।

त्वयीश विज्ञानघनौघघस्मरे स्फुटीकृताशेषविशेषसम्पदि।
स्फुरत्यभिव्याप्य समं समन्ततो बलात् प्रवृत्तो बहिरर्थनिह्नवः।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे प्रभो ! (**विज्ञानघनौघघस्मरे**) जो विज्ञानघनरूप होनेसे अपने आपमें सबको निमग्न करनेवाले हैं तथा (**स्फुटीकृताशेषविशेषसम्पदि**) जिसमें समस्त विशिष्ट पदार्थ स्फुटीकृत हैं - पृथक् पृथक् भासमान हैं ऐसे (**त्वयि**) आपके (**समं**) सबको (**समन्ततः**) सब ओरसे (**अभिव्याप्य**) प्राप्त कर (**स्फुरति `सति'**) स्फुरित होनेपर (**बहिरर्थनिह्नवः**) बाह्य पदार्थों का निह्नव (**बलात्**) हठपूर्वक (**प्रवृत्तः**) प्रवृत्त हुआ है।

भावार्थ :- यहाँ ज्ञानाद्वैतवादी के एकांत का निराकरण करते हुए कहा गया है कि हे प्रभो ! यतः आपके विज्ञानघन में समस्त पदार्थों के प्रतिबिम्ब पड़ रहे हैं अतः सभी पदार्थ आपके अंतर्ज्ञेय बन रहे हैं इस अपेक्षा से बहिरर्थनिह्नव है, बाह्य पदार्थों का अभाव होनेकी अपेक्षा नहीं।।१५।।

तदेव रूपं तव सम्प्रतीयते प्रभो परापोहतया विभासि यत्।
परस्य रूपं तु तदेव यत्परः स्वयं तवापोह इति प्रकाशते।।१६।।

अन्वयार्थ :- (**प्रभो**) हे प्रभो ! (**यत्**) जो आप (**परापोहतया**) पर की व्यावृत्ति से (**विभासि**) सुशोभित हो रहे हैं (**तदेव**) वही (**तव**) आपका रूप है अर्थात् पर से व्यावृत्तपना ही आपका वस्तुत्व है (**तु**) और (**परः**) पर पदार्थ, (**तव अपोहः**) `आपकी व्यावृत्ति है' (**इति**) इस रूपसे (**यत्**) जो (**प्रकाशते**) प्रकाशित होता है (**तदेव**) वही (**परस्य रूपम्**) पर का रूप है।

भावार्थ :- पर से पृथक्पना आपका स्वरूप है और आपसे पृथक्पना पर का स्वरूप है। बौद्धदर्शन में अन्यापोह के द्वारा वस्तु की व्यवस्था की गई है। यह अन्यापोह अन्यव्यावृत्तिरूप है जैसे घट, अघट अर्थात् पटादि से व्यावृत्तिरूप है और पट, अपट अर्थात् घटादि से व्यावृत्तिरूप है। इस तरह अन्यापोह द्वारा बौद्धदर्शन में वस्तु के स्वरूप का कथन किया गया है। यहाँ आचार्य महोदयने उसी अन्यापोह को दृष्टि में रखकर कहा है कि आप पर की व्यावृत्तिरूप हैं और पर आपकी व्यावृत्तिरूप हैं। जैनदर्शन में स्याद्वाद की दृष्टि से इस प्रकार का कथन किया जा सकता है, उसमें कोई विरोध नहीं है।।१६।।

अभाव एवैष परस्पराश्रयो व्रजत्यवश्यं स्वपरस्वरूपताम्।
प्रभो परेषां त्वमशेषतः स्वयं भवस्यभावोऽल्पधियामगोचरः।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**एषः**) यह (**परस्पराश्रयः**) परस्पर के आश्रय रहनेवाला (**अभाव एव**) अभाव ही (**अवश्यं**) अवश्यरूप से (**स्वपररूपतां**) निज और पररूपता को (**व्रजति**) प्राप्त होता है अर्थात् निज में पर का अभाव होना निरूपता है और पर में निज का अभाव होना पररूपता है। (**प्रभो**) हे भगवन् ! (**त्वं**) आप (**परेषां**) दूसरों के (**अशेषतः**) सम्पूर्णरूप से (**अभावः भवसि**) अभावरूप हैं। आप (**अल्पधियामगोचरः**) अल्पबुद्धियों के अविषय हैं।

भावार्थ :- हे प्रभो ! एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ में जो व्यावृत्ति है उसे अन्यापोह कहते हैं। इस अन्यापोह से ही पदार्थ अपने अपने स्वरूप में स्थिर रहता है आप अन्य पदार्थों के पूर्णतः स्वयं अभावरूप हैं। यह अल्पबुद्धि वालों के लिये जानने में नहीं आता।।१७।।

इतीदमत्यन्तमुपप्लवावहं सदोद्यतस्यान्यदपोहितुं तव।
स्फुरत्यपोहोऽयमनादिसन्ततिप्रवृत्ततीव्रभ्रमभिद् विपश्चिताम्।।१८।।

अन्वयार्थ :- (**इति**) इस प्रकार (**अत्यंत**) अत्यधिक (**उपप्लवावहं**) उपद्रव को धारण करने वाले (**इदं**) इस (**अन्यत्**) अन्य पदार्थ के (**अपोहितुं**) अपोह करने के लिये (**सदोद्यतस्य**) निरंतर तत्पर रहनेवाले (**तव**) आपका (**अयं**) यह (**अपोहः**) अन्यापोह (**स्फुरति**) प्रकट होता है। यह अन्यापोह (**विपश्चितां**) विद्वानों के (**अनादिसन्ततिप्रवृत्ततीव्रभ्रमभित्**) अनादि सन्तति से चले आये तीव्रभ्रम को भेदनेवाला है - नष्ट करनेवाला है।

भावार्थ :- बौद्धदर्शन के द्वारा स्वीकृत अपोहवाद का निराकरण करते हुए यहाँ यथार्थ अपोहवादका निरूपण किया गया है। विज्ञानघनस्वभाव से अतिरिक्त अन्य कर्म नोकर्म आदि पदार्थों से आत्मा को पृथक् पृथक् अनुभव करना ही सच्चा अपोहवाद है। यह अपोह, ज्ञानी जनों के अनादिकालीन विभ्रम-मिथ्याबुद्धि को तत्काल नष्ट कर देता है।।१८।।

परस्परापोहतया त्वयि स्थिताः परे न काञ्चिज्जनयन्ति विक्रियाम्।
त्वमेक एव क्षपयन्नुपप्लवं विभोऽखिलापोहतयाऽवभाससे।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे प्रभो ! (**परस्परापोहतया**) परस्पर के अपोहरूप से (**त्वयि**)

आपमें (**स्थितः**) स्थित रहनेवाले (**परे**) अन्य पदार्थ (**काञ्चित् विक्रियां**) किसी विकार को - विक्रिया को (**न जनयन्ति**) नहीं उत्पन्न करते हैं (**उपप्लवं**) उपप्लव को (**क्षपयन्**) नष्ट करते हुए (**त्वमेक एव**) आप एक ही (**अखिलापोहतया**) समस्त पदार्थों के अपोहरूप से (**अवभाससे**) सुशोभित होते हैं।

भावार्थ :- आपमें जो कर्म नोकर्मरूप अन्य पदार्थ स्थित हैं वे परस्पर के अपोह-रूप से स्थित हैं अर्थात् आप, कर्म में स्थित नहीं हैं और कर्म, आपमें स्थित नहीं है - दोनों ही अपने अपने गुण पर्यायों में स्थित हैं। इस प्रकार से स्थित पर पदार्थ कुछ भी विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं। समस्त उपद्रवों को नष्ट करते हुए आप एक ही समस्त पदार्थों से अपने आपको दूर अनुभव करते हैं।।१९।।

गतं तवापोहतया जगत्त्रयं जगत्त्रयापोहतया गतो भवान्।
अतो गतस्त्वं सुगतस्तथागतो जिनेन्द्र साक्षादगतोऽपि भाससे।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**तव**) आपके (**अपोहतया**) अपोहरूप होनेसे (**जगत्त्रयं**) तीनों लोक (**गतं**) गत हैं और (**जगत्त्रयापोहतया**) तीनों लोकों की अपोहरूपता से (**भवान् गतः**) आप गत हैं (**अतः**) इसलिये (**जिनेन्द्र**) हे जिनेन्द्र ! आप (**साक्षात्**) साक्षात् रूप से (**अगतोऽपि**) अगत होते हुए भी (**गतः सुगतः तथागतः**) गत, सुगत और तथागत (भाससे) भासित होते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपसे व्यावृत्तरूप होनेके कारण तीनों लोक गत हैं अर्थात् आपसे पृथक् हैं और आप तीनों लोकों से व्यावृत्तरूप होनेके कारण गत हैं अर्थात् आपसे भिन्न हैं इसलिये आप गत, सुगत और तथागत हैं परंतु परमार्थ से आप अगत ही हैं क्योंकि आप अपने ज्ञायक स्वभाव से हटकर कहीं गये नहीं हैं।।२०।।

समन्तमन्तश्च बहिश्च वस्तु सत् प्रसह्य निह्नुत्य निरंकुशा सती।
न किञ्चिदस्तीति समस्तशून्यतामुपेयुषी संविदिहावभासते।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**अन्तश्च बहिश्च**) भीतर और बाहर (**सत्**) विद्यमान (**समन्तं**) समस्त वस्तु का (**प्रसह्य**) हठपूर्वक (**निह्नुत्य**) अपलाप कर जो (**निरंकुशा सती**) निरंकुश - स्वच्छंद हो रही है तथा (**किञ्चित् नास्ति**) कुछ नहीं है (**इति**) इस प्रकार की

(**समस्तशून्यताम्**) समस्त शून्यता को जो (**उपेयुषी**) प्राप्त है ऐसी (**संवित्**) ज्ञान की धारा (**इह**) इस लोक में (**अवभासते**) प्रतिभासित है।

भावार्थ :- शून्याद्वैतवादी बौद्धों का कहना है कि इस जगत् में भीतर और बाहर कुछ भी नहीं है सब शून्य ही शून्य है। यहाँ स्तुतिकार अंतर्ज्ञेय और बरिर्ज्ञेय दोनों को इसलिये शून्य प्रकट करते हैं कि वे दोनों ज्ञान में समाविष्ट हैं। ज्ञान के सिवाय अन्य कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता। इसी दृष्टि से शून्याद्वैतवादी बौद्धों का मत स्वीकार न कर स्याद्वाददृष्टि से उसका यथार्थरूप प्रकट किया है।।२१।।

उपप्लवायोच्छलिताः समं बलात् किलेश शून्यं परिमार्ष्टि कल्पनाः।
क्व किं कियत् केन कृतः कथं कदा विभातु विश्वेऽस्तमिते समन्ततः।
।।२२।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! (**किल**) निश्चय से (**शून्यं**) शून्य (**उपप्लवाय**) उपद्रव के लिये (**उच्छलिताः**) उछलती हुई (**कल्पनाः**) कल्पनाओं को (**समं**) एक साथ (**बलात्**) हठ पूर्वक (**परिमार्ष्टि**) साफ कर देता है, क्योंकि (**समन्ततः**) सब ओरसे (**विश्वे अस्तमिते सति**) **विश्व** - समस्त संसार के अस्तमित हो जानेपर (**किं**) कौन वस्तु (**क्व**) कहाँ (**कियत्**) कितने परिणामवाली (**केन**) किसके द्वारा (**कुतः**) कहाँसे (**कथं**) कैसे और (**कदा**) कब (**विभातु**) सुशोभित हो ?

समस्तमेतद्भ्रम एव केवलं न किचिंदस्ति स्पृशतां विनिश्चयात्।
पिपासवोऽमी मृगतृष्णिकोदकं श्रयन्ति नूनं प्रतिमामृगाः श्रमम्।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**एतत् समस्तं**) यह सब (**केवलं**) मात्र (**भ्रम एव**) भ्रम ही है (**विनिश्चयात्**) निश्चय से (**स्पृशताम्**) स्पर्श करने वालों के लिये (**किञ्चित् नास्ति**) कुछ भी नहीं है। (**मृगतृष्णिकोदकं**) मृगतृष्णारूप जल को (**पिपासवः**) पीने के लिये इच्छुक (**अभी**) ये (**प्रतिमामृगाः**) मृगतुल्य प्राणी (**नूनं**) निश्चय से (**श्रमं श्रयन्ति**) खेद को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :- यहाँ भी शून्य सिद्धांत का स्पष्टीकरण किया गया है। आगे इस शून्याद्वैतसिद्धांत का निराकरण करते हैं।।२३।।

इतीदमुच्चावचमस्तमामृशत् प्रसह्य शून्यस्य बलेन सर्वतः।
न किञ्चिदेवात्र विभोऽवशिष्यते न किञ्चिदस्तीत्यवशिष्यते मुधीः।।२४।

अन्वयार्थ :- (**इति**) इस प्रकार (**इदं**) इस शून्याद्वैत के सिद्धांतने (**उच्चावचं**) ऊँची-नीची समस्त वस्तुओं को (**प्रसह्य अस्तम् आमृशत्**) बलपूर्वक नष्ट कर दिया है। (**विभो**) हे प्रभो ! (**शून्यस्य बलेन**) उपर्युक्त शून्य सिद्धांत के बल से (**सर्वतः**) सभी ओर (**अत्र**) इस संसार में (**किञ्चिदेव**) कुछ भी (**न अवशिष्यते**) शेष नहीं रहता है (**तु**) और (**किञ्चित् अस्ति**) कुछ है ऐसी (**धीः**) बुद्धि भी (**नावशिष्यते**) शेष नहीं रहती है।

भावार्थ :- हे प्रभो ! शून्याद्वैतका सिद्धांत प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुओं का अपलाप करने वाला है।।२४।।

न यस्य विश्वास्तमयोत्सवे स्पृहा स वेत्ति निर्निक्ततमं न किञ्चन।
असीमविश्ववास्तमयप्रमार्जिते प्रवेश्य शून्ये कृतिनं कुरुष्व माम्।।२५।।

अन्वयार्थ :- (**यस्य**) जिस पुरुष की (**विश्वास्तमयोत्सवे**) समस्त वस्तुओं के अस्तरूप उत्सव में (**स्पृश**) इच्छा (**न**) नहीं है अर्थात् अंतर्बहिर्ज्ञेय के विकल्प से शून्य मात्र ज्ञान के अस्तित्व में रुचि नहीं है (**सः**) वह (निर्निक्ततमं किञ्चन) अत्यंत शुद्ध किसी तत्त्व को नहीं (**न वेत्ति**) नहीं जानता है। हे भगवन् ! आप (**अनंतविश्वास्तमयप्रमार्जिते**) अनंत विश्व - समस्त पदार्थों के अस्तमयभाव से साफ किये हुए - अतिशय निर्मल किये हुए (**शून्ये**) शून्य में (**प्रवेश्य**) प्रवेश कराकर (**मां**) मुझे (**कृतिनं**) कृतकृत्य (**कुरुष्व**) कीजिये।

ॐ

(२१)

वंशस्थवृत्तम्

**सुनिरस्तुषान्तावधिशुद्धमूलतो निरन्तरोत्सर्पमुपर्युपर्यम्।
विमोहयन्त्योऽन्यमनन्यगोचराः स्फुरन्त्यनन्तास्तव तत्त्वभूमयः।।१।।**

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**तव**) आपकी (**सुनिरस्तुषान्तावधिशुद्धमूलतः**) आत्मारूप परमशुद्ध मूलकारण से (**उपर्युपरि**) ऊपर ऊपर (**निरंतरोत्सर्पं**) निरंतर वृद्धि को प्राप्त होती हुई (**अमूः**) वे (**अनंताः**) अनंत (**तत्त्वभूमयः**) तत्त्वभूमियाँ - आत्मपरिणतियाँ (**स्फुरन्ति**) प्रकट हो रही हैं जो (**अन्यं विमोहयन्त्यः**) अन्य मिथ्यादृष्टि जीवों को विमोह में डालने वाली हैं तथा (**अनन्यगोचराः**) अन्य - मिथ्यादृष्टि पुरुषों में नहीं पायी जाती।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप निरंतर ऊँचे उठते हुए, जो उपरितन गुणस्थानों को प्राप्त हुए हैं उसमें मूलकारण आत्मा की उच्चकोटि की विशुद्धता है। उसके बिना इस अरहन्त अवस्था को प्राप्त करना कठिन है। यहाँ आत्मा को निस्तुषान्तावधि कहा है उसका तात्पर्य यह है कि जिसकी अंतिम पर्याय - सिद्धावस्था तुष - छिलके के समान कर्म और नोकर्म से रहित है वह आत्मा है। हे प्रभो ! आपका जो अनंत परिणतियाँ हैं वे दूसरों को विभ्रममें डालने वाली हैं तथा दूसरों के अगोचर हैं। आपकी आत्मविशुद्धि के कारण आपमें ही उनका विकास हुआ है।।१।।

**यदि स्वयं नान्त्यविशेषतां व्रजेस्तदा न सामान्यमिदं तवादिमम्।
स्थिताः स्वशक्त्योभयतोऽपि धावतस्तवेत्यनन्ताः परिणामभूमिकाः।।२।।**

अन्वयार्थ :- हे प्रभो ! (**यदि**) यदि आप (**स्वयं**) स्वयं (**अन्त्यविशेषतां**) अंतिम पर्याय

को (**न व्रजेः**) प्राप्त नहीं हैं (**तदा**) तो (**तव**) आपका (**इदं**) यह (**सामान्यं**) द्रव्य भी (आदिमं) आदियुक्त (**न**) नहीं हैं (**इति**) इस प्रकार (**स्वशक्त्या**) अपनी शक्ति से (**उभयतः अपि**) द्रव्य और पर्याय अथवा सामान्य और विशेष - दोनों की ओर (**धावतः**) प्रवृत्त होनेवाले (**तव**) आपकी (**अनंताः**) अनंत (**परिणामभूमिकाः**) पर्यायों भी भूमिकाएँ (**स्थिताः**) विद्यमान है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य-पर्यायात्मक हैं। द्रव्य की अपेक्षा आपकी आदि नहीं है और पर्याय की अपेक्षा आपका अंत नहीं है। यद्यपि संसार की दृष्टि से अरहन्त पर्याय अंतिम पर्याय है तथापि जब क्षण-क्षणव्यापी पर्याय की अपेक्षा विचार होता है तब आपकी पर्यायों का भी अंत नहीं है। द्रव्य और पर्याय दोनों साथ रहते हैं। ऐसा अवसर नहीं आता जब द्रव्य, किसी न किसी पर्याय से सहित न हो। आप अपनी शक्ति से द्रव्य और पर्याय - दोनों का आलम्बन लेकर प्रवर्तमान हैं अतः आपकी पर्यायरूप अनंत भूमिकाएँ स्वतः सिद्ध हैं। इस पद्य द्वारा आचार्यने आत्मा ही सामान्य विशेषरूपता सिद्ध की है क्योंकि विशेष के बिना सामान्य, और सामान्य के बिना विशेष का अस्तित्व सिद्ध नहीं है।।२।।

अखण्डितद्रव्यतया त्वमेकतामुषैषि पर्यायमुखादनेकताम्।
त्वमेव देवान्तिमपर्ययात्मना सुनिस्तुषांशः परमोऽवभावसे।।३।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे प्रभो ! (**त्वम्**) आप (**अखण्डितद्रव्यतया**) अखण्ड द्रव्य की अपेक्षा (**एकताम्**) एकत्व को और (**पर्यायमुखात्**) पर्याय की अपेक्षा अनेकत्व को (**उपैषि**) प्राप्त होते हैं। तथा (**अन्तिमपर्यायात्मना**) संसार सम्बन्धी अन्तिम पर्याय की अपेक्षा (**परमः सुनिस्तुषांशः**) परम शुद्धात्मरूप (**अवभाससे**) सुशोभित हैं।

भावार्थ :- जब द्रव्यस्वरूप की अपेक्षा आपका विचार करते हैं तब आप एक जान पड़ते हैं और कालक्रम से होने वाली अनंत पर्यायों की अपेक्षा जब विचार किया जाता है तब आप अनेक प्रतीत होते हैं। हे देव संसार सम्बन्धी पर्यायों में आपकी यह अन्तिम पर्याय है। इसके बाद आपको संसार की दूसरी पर्याय नहीं धारण करना है। इस अन्तिम पर्याय की अपेक्षा आप परमात्मा संज्ञा को प्राप्त हैं। अरहन्त अवस्था में शरीर सहित होनेसे यद्यपि आप सकल परमात्मा कहलाते हैं तथापि अनंतचतुष्टय की अपेक्षा निष्फल परमात्मा के अंश ही हैं यहाँ एकत्व और अनेकत्व इन दो विरोधी

धर्मों का समन्वय करते हुए भगवान् का स्तवन किया गया है।।३।।

त्वमेकतां यासि यदीश सर्वथा तदा प्रणश्यन्ति विशेषणानि ते।
विशेषणानां विरहे विशेष्यतां विहाय देवास्तमुपैषि निश्चितम्।।४।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे नाथ ! (**यदि त्वम्**) यदि आप (**सर्वथा**) सब प्रकार से (**एकतां**) एकत्व को (**यासि**) प्राप्त होते हैं (**तदा**) तो (**ते**) आपके (**विशेषणानि**) विशेषण (**प्रणश्यन्ति**) नष्ट हो जाते हैं और (**विशेषणानां विरहे**) विशेषणों का अभाव होनेपर (**देव**) हे देव ! आप (**विशेष्यतां**) विशेष्यता को (**विहाय**) छोड़कर (**निश्चितं**) निश्चितरूप से (**अस्तमुपैषि**) अस्त को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :- ऊपर द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा एकत्व तथा अनेकत्व की संगति कर यहाँ विशेष्य और विशेषण की अपेक्षा उनकी संगति बैठाते हैं। हे भगवन् ! आप विशेष्य की अपेक्षा एक हैं और विशेषणों की अपेक्षा अनेक हैं। इसके विपरीत यदि आप सर्वथा एकत्व को प्राप्त होते हैं तो आपके नाना विशेषण नष्ट हो जाते हैं और जब नाना विशेषण नष्ट हो जाते हैं तो उनका आधारभूत विशेष्य भी नष्ट हो जाता है। अतः विशेष्य और विशेषणों की अपेक्षा आप एक तथा अनेकरूपता को प्राप्त हैं।।४।।

ध्रुवं तव द्व्यात्मकतैव यद् भवान् स्वयं विशेष्योऽपि विशेषणान्यपि।
विशेष्यरूपेण न यासि भिन्नतां पृथक् पृथक् भासि विशेषणश्रिया।।५।।

अन्वयार्थ :- (**ध्रुवं**) निश्चित ही (**तव**) आपके (**द्व्यात्मकतैव**) एकानेकरूपता है (**यत्**) क्योंकि (**भवान्**) आप (**स्वयं**) स्वयं (**विशेष्योऽपि**) विशेष्य होते हुए भी (**विशेषणान्यपि**) विशेषण भी हैं। आप विशेष्यरूप से (**भिन्नतां न यासि**) भिन्नता को प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु (**विशेषणश्रिया**) विशेषणरूप लक्ष्मी के कारण (**पृथक्-पृथक्**) पृथक्-पृथक् (**भासि**) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- ऊपर के श्लोक में विशेष्य और विशेषण की अपेक्षा जो एकानेकरूपता कही गई थी उसीका इस श्लोक में समर्थन किया गया है। साथ ही विशेष्य और विशेषण की अपेक्षा भेदाभेद रूपता का भी निर्देश किया गया है।।५।।

विभो विशेष्यस्य तवाविशेषतो विशेषणानामविशेष एव न।
त्वया समं यान्ति न तानि भिन्नतां परस्परं भिन्नतयैवमीशते।।६।।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे स्वामिन् ! (**विशेष्यस्य तव**) विशेष्यरूप आपकी (**अविशेषतः**) अविशेषता से (**विशेषणानां**) विशेषणों में (**अविशेषः**) अविशेषता (**नैव**) नहीं है क्योंकि (**तानि**) वे विशेषण (**त्वया समं**) आपके साथ (**भिन्नतां न यान्ति**) भिन्नता को प्राप्त नहीं हैं परंतु (**एवं**) इस तरह (**परस्परं**) परस्पर में वे (**भिन्नतया**) भिन्नरूप से (**ईशते**) अपना प्रभुत्व रखते हैं।

भावार्थ :- यहाँ विशेषणों में भेदाभेद की चर्चा करते हुए कहा गया है कि हे प्रभो ! विशेष्यरूपता को धारण करनेवाले आपमें भी अविशेष - अभेद है उससे विशेषणों में अविशेष-अभेद सिद्ध नहीं होता। क्योंकि वे आपके साथ यद्यपि अभेद को प्राप्त होते हैं तथापि परस्पर भेदरूप ही हैं अर्थात् एक विशेषण दूसरे विशेषण से भिन्न ही है। अन्यथा उन विशेषणों की नानारूपता सिद्ध न होकर एकरूपता ही सिद्ध होती है।।६।।

विभाति वृत्तिं न विनैव वृत्तिमान् न चास्ति वृत्तिः क्रममन्तरेण सा।
विगाह्य नित्यक्षणिकान्तरं महल्लसन्त्यनन्तास्तव कालपर्ययाः।।७।।

अन्वयार्थ :- (**वृत्तिमान्**) वर्तना का आधारभूत द्रव्य (**वृत्तिं विना**) वर्तना के बिना (**नैव विभाति**) सुशोभित नहीं होता (**च**) और (**सा वृत्तिः**) वह वर्तना (**क्रममन्तरेण**) क्रम के बिना (**तास्ति**) नहीं होती है। इस प्रकार (**तव**) आपकी (**अनंताः कालपर्ययाः**) कालद्रव्य की अपेक्षा होनेवाली अनंत पर्यायें (**महत् नित्यक्षणिकान्तरं**) नित्य और क्षणिक के महान् अंतर का (**विगाह्य**) अवगाहन कर (**लसन्ति**) सुशोभित हो रही हैं।

भावार्थ :- कालद्रव्य के अपेक्षा से पदार्थ में जो प्रतिसमय वर्तना होती है उसे वृत्ति कहते हैं और वह वृत्ति जिसमें पायी जाती है उसे वृत्तिमान् कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार संसार का प्रत्येक पदार्थ वृत्तिमान् कहलाता है। वह वृत्तिमान् पदार्थ, वृत्ति के बिना नहीं होता है अर्थात् उसमें वृत्ति - वर्तना नियम से होती है। यह वृत्ति क्रम से होती है। इस प्रकार कालद्रव्य की अपेक्षा से आपकी अनंत वृत्तियाँ उल्लसित हो रही हैं। इन वृत्तियों में पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा एक समय का और

द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा बहुत काल का अंतर विद्यमान रहता है।।७।।

सतो न नाशोऽस्ति न चानसदुद्भवो व्ययोदयाभ्यां च विना न किञ्चन।
त्वमीश सन्नेव विवर्तसे तथा व्ययोदयौ ते भवतः सयं यथा।।८।।

अन्वयार्थ :- (**सतः नाशो न अस्ति**) सत् का नाश नहीं होता (**च असदुद्भवः न**) और असत् की उत्पत्ति नहीं होती (**च व्ययोदयाभ्यां विना किञ्चन न**) तथा व्यय और उत्पाद के बिना कोई पदार्थ नहीं है। (**ईश**) हे नाथ ! (**त्वम्**) आप (**सन् एव**) सत्‌रूप होते हुए ही (**तथा विवर्तसे**) उसप्रकार परिवर्तन करते हैं (**यथा**) जिसप्रकार कि (**भवतः**) आपके (**व्ययोदयौ**) व्यय और उत्पाद (**समं भवतः**) साथ ही हो जाते हैं।

भावार्थ :- संसार से सत् पदार्थ का कभी नाश नहीं होता है। यद्यपि पर्याय की अपेक्षा सत् का नाश प्रतीत होता है तथापि द्रव्य की अपेक्षा उसका नाश नहीं होता है अर्थात् किसी न किसी पर्याय में वह द्रव्य रहता ही है। इसीप्रकार जो पदार्थ असत् है उसकी कभी उत्पत्ति नहीं होती। संसार में ऐसा भी कोई पदार्थ नहीं है जो उत्पाद और व्यय से रहित हो अर्थात् सभी पदार्थों में उत्पाद व्यय होते हैं। हे भगवन् ! आप सत्‌रूप ही हैं यह निश्चित है और वस्तुस्वभाव के कारण आपमें उत्पाद व्यय भी नियम से होते हैं। यहाँ विरोधभास यह है कि जब आप सत्‌रूप हैं तब आपमें उत्पाद और व्यय कैसे हो सकते हैं ? विरोधाभास का परिहार यह है कि आप द्रव्य की अपेक्षा सत्‌रूप ही हैं और पर्याय की अपेक्षा आपमें उत्पाद व्यय भी एकसाथ हो रहे हैं।।८।।

उदीयमानव्ययमानमेव सद् विवर्तशून्यस्य न जातु वस्तुता।
क्षणे क्षणे यन्नवतां न गाहते कथं हि तत्कालसहं भवेदिह।।९।।

अन्वयार्थ :- (**उदीयमानव्ययमानमेव सत्**) उत्पाद और व्यय से युक्त ही सत् होता है क्योंकि (**विवर्तशून्यस्य**) उत्पाद व्ययरूप परिवर्तन से शून्य वस्तु में (**जातु**) कभी की (**वस्तुता न**) वस्तुपना नहीं रहता है (**हि**) निश्चय से (**इह**) इस लोक में (**यत्**) जो वस्तु (**क्षणे क्षणे**) क्षण-क्षण में (**नवतां**) नवीनता को (**न गाहते**) प्राप्त नहीं होती है (**तत्**) वह (**कालसहं**) कालद्रव्य को सहन करनेवाली (**कथं भवेत्**) कैसे हो सकती है ?

भावार्थ :- सत् की परिभाषा ही यही है कि जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से सहित हो उसे सत् कहते हैं। सत् ध्रौव्यरूप तो होता ही है परंतु वह ध्रौव्यरूप सत् उत्पाद व्यय की भी अपेक्षा रखता है क्योंकि उसके बिना उसका अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह सकता। कालद्रव्य की सहायता से वस्तु क्षण-क्षण में नवीनता को प्राप्त होती रहती है अर्थात् क्षण-क्षण में नवीन पर्याय को धारण करती रहती है। इसके विपरीत यदि वस्तु को सर्वथा कूटस्थ नित्य माना जावे तो फिर कालद्रव्य की उपयोगिता ही क्या रह जाती है ? अर्थात् कुछ नही।।९।।

क्षणक्षयस्त्वां कुरुते पृथक् पृथक् ध्रुवत्वमैक्यं नयते निरंतरम्।
अनन्तकालं कलयेति वाहयन् विभास्युभाभ्यामयमीश धारितः।।१०।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे प्रभो ! (**क्षणक्षयः**) क्षण क्षण में होनेवाला क्षय (**त्वाम्**) आपको (**पृथक् पृथक्**) पृथक् पृथक् करता है और (**ध्रुवत्वं**) ध्रौव्य (**निरंतरं**) सदा (**ऐक्यं नयते**) एकत्व को प्राप्त कराता है। (**इति कलया**) इसप्रकार क्षण-क्षण के द्वारा (**अनंतकालं वाहयन्**) अनंतकाल को व्यतीत करते हुए (**अयं**) यह आप (**उभाभ्यां**) पृथक्त्व और अपृथक्त्व अथवा एकत्व और अनेकत्व इन दो धर्मों से (**धारितः**) धारण किये हुए (**विभासि**) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा क्षण-क्षण में होनेवाला उत्पाद और व्यय आपको पृथक्-पृथक् सिद्ध करता है और ध्रुवपना एकत्व को प्राप्त कराता है। इसप्रकार उत्पाद और व्यय की अपेक्षा पृथकत्व अथवा अनेकत्व, और ध्रौव्य की अपेक्षा अपृथक्त्व अथवा एकत्व - इन दो विरोधी धर्मों से आप युक्त हैं।।१०।।

अयं हि सन्नेव भवस्तव व्यगादभूदसन्नेव च सिद्धपर्ययः।
तथापि सन्मलानिमसद्विसर्पणं विनेश सन्नेव भवान् विभासते।।११।।

अन्वयार्थ :- यद्यपि (**हि**) निश्चय से (**तव**) आपका (**अयं**) जो यह (**भवः**) मनुष्यभव (**व्यगात्**) व्यतीत हुआ है वह (**सन् एव**) सत्रूप होता हुआ ही व्यतीत हुआ है (**च**) और (**सिद्धपर्ययः**) जो सिद्धपर्याय (**अभूत**) हुई है वह (**असन् एव**) असत् रूप होकर ही उत्पन्न हुई है। इस प्रकार सत् का नाश और असत् की उत्पत्ति सिद्ध होती

है (**तथापि**) तो भी (**ईश**) हे प्रभो ! (**भवान्**) आप (**सन्मलानिं**) सत् का नाश और (**असद्विसर्पणं**) असत् की उत्पत्ति के (**विना**) बिना (**सन् एव विभासते**) सत्‌रूप ही सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- ऊपर जो कहा गया है कि सत् का नाश और असत् की उत्पत्ति नहीं होती, वह द्रव्य की अपेक्षा कहा गया है क्योंकि किसी विद्यमान द्रव्य का सर्वथा नाश और अविद्यमान द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती परंतु पर्याय की अपेक्षा विद्यमान पर्याय का ही नाश होता है और अविद्यमान पर्याय की ही उत्पत्ति होती है। क्रमवर्ती होनेसे आगामी पर्याय का पिछली पर्याय में अभाव ही रहता है। जैसे किसीने मनुष्य पर्याय के बाद सिद्धपर्याय प्राप्त की ? यहाँ जिस मनुष्य पर्याय का नाश हुआ वह सत् रूप ही थी और जिस सिद्धपर्याय की उत्पत्ति हुई वह मनुष्यपर्याय में असत्‌रूप ही थी। इस तरह यद्यपि पर्याय की अपेक्षा सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति देखी जाती है तथापि आप सत् के विनाश और असत् की उत्पत्ति के बिना सदा सत्‌रूप ही रहते हैं। इसका कारण यह है कि आप न केवल पर्यायात्मक हैं और न केवल द्रव्यात्मक हैं किन्तु द्रव्य पर्यायात्मक हैं अतः पर्याय की अपेक्षा आपमें उत्पादव्यय सिद्ध होते हैं - सत् का नाश और असत् की उत्पत्ति सिद्ध होती है परंतु द्रव्य की अपेक्षा आपका न नाश होता है और न उत्पत्ति - सदा सत्‌रूप ही रहते हैं।।११।।

न भासि सामान्यविशेषवत्तया विभास्यसौ त्वं स्वयमेव तद्द्वयम्।
न वस्तु सामान्यविशेषमात्रतः परं किमप्येति विमर्शगोचरम्।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**असौ त्वम्**) यह आप (**सामान्यविशेषवत्तया**) सामान्य और विशेष से युक्त होनेके कारण (**न भासि**) सुशोभित नहीं हो रहे हैं किन्तु (**स्वयं**) स्वयं (**तद्द्वयमेव**) उन दोनों रूप ही - सामान्य-विशेषरूप ही (**विभासि**) सुशोभित हो रहे हैं, क्योंकि (**सामान्यविशेषमात्रतः परं**) सामान्य और विशेषमात्र से अतिरिक्त (**किमपि वस्तु**) कोई भी वस्तु (**विमर्शगोचरम्**) विचार के विषय को (**न एति**) नहीं प्राप्त होती है।

भावार्थ :- धर्म और धर्मी अथवा गुण और गुणी का जब भेदविवक्षा से कथन किया जाता है तब कहा जाता है कि हे प्रभो ! आप सामान्य-विशेष धर्म से सहित हैं परंतु जब अभेदविवक्षा से उनका कथन होता है तब यह कहा जाता है कि आप

स्वयं ही सामान्य-विशेषरूप हैं। इसका कारण भी यह है कि अभेदविवक्षा में सामान्य-विशेष धर्म के अतिरिक्त कोई वस्तु है यह बात विमर्शकोटी-विचारकोटी में नहीं आती है।।१२।।

स्वयं समानैरिह भूयते हि यत् तदेव सामान्यमुशन्ति नेतरत्।
समा विशेषास्तव देव यावता भवन्ति सामान्यमिहासि तावता।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**हि**) निश्चय से (**इह**) इस जगत् में (**समानैः**) समान वस्तुओं के द्वारा (**यत्**) जो (**स्वयं**) अपने आप (**भूयते**) हुआ जाता है अर्थात् वस्तुओं का स्वतः सिद्ध सादृश्य परिणमन है (**तदेव**) उसे ही (**सामान्यम्**) सामान्य (**उशन्ति**) कहते हैं (**इतरत् न**) अन्य को नहीं। (**देव**) हे भगवन् ! (**तव**) आपके (**विशेषाः**) विशेष (**यावता**) जितने अंश के द्वारा (**समाः**) समान (**भवन्ति**) होते हैं (**तावता**) उतने अंश से आप (**इह**) इस लोक में (**सामान्यम् असि**) सामान्यरूप हैं।

भावार्थ :- यहाँ सामान्य का लक्षण बताते हुए आचार्य कहते हैं कि वस्तु के विशेषों में जो स्वतः सिद्ध सादृश्य है वही सामान्य कहलाता है। सामान्य का निरुक्त अर्थ ऐसा है `समानानां भावःसामान्यम्' अर्थात् समान धर्मों का जो भाव है वह सामान्य है। हे भगवन् ! आप सामान्य विशेषरूप हैं यह ऊपर कह आये हैं। यहाँ यह बतला रहे हैं कि आपमें रहनेवाला सामान्य क्या है ? आपमें रहनेवाले विशेषों में जो साम्य - सादृश्य है वही सामान्य है, उसी सादृश्य के कारण आप सामान्यरूप हैं।।१३।।

यथैकतां यासि तथा समानता तथा विशेषाश्च यथा विशिष्यसे।
स्वविक्रिया भाति तवैव सोभयी न भिन्नसामान्यविशेषभागसि।।१४।।

अन्वयार्थ :- आप (**यथा**) जिस प्रकार (**एकतां यासि**) एकत्व को प्राप्त होते हैं (**तथा**) उसी प्रकार (**समानता**) समानता है अर्थात् जिसरूप में आपमें एकत्व है उसीरूप में आपमें सामान्य धर्म स्थित है (**च**) और (**यथा विशिष्यसे**) जिस प्रकार विशेषरूपता को प्राप्त हैं (**तथा विशेषाः**) उसी प्रकार विशेषरूप हैं। (**तव**) आपकी **[या]** जो (**स्वविक्रिया**) अपनी परिणति (**भाति**) सुशोभित है (**सा उभयी एव**) वह सामान्य-विशेषरूप ही है क्योंकि आप (**भिन्नसामान्यविशेषभाग्**) पृथग्वर्ती सामान्य और विशेष से युक्त नहीं है।

भावार्थ :- यहाँ आचार्य कहते हैं कि आपमें एकत्व स्थापित करनेवाला धर्म सामान्य कहलाता है और विशेषता स्थापित करनेवाला धर्म विशेष कहलाता है। यह सामान्य और विशेष्य धर्मरूप परिणति आपकी स्वयं है और उसका कारण है कि ये दोनों धर्म आपसे पृथक् नहीं हैं। अर्थात् आप सामान्य-विशेषात्मक ही हैं।।१४।।

समा विशेषा भवतो भवन्ति ये व्रजन्ति ते भावमुखात् सामानताम्।
विशेषरूपेण सदाऽसमानता विभो भवन्ती भवतो न भिद्यते।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे नाथ ! (**भवतः**) आपके (**ये**) जो (**विशेषः**) विशेष (**समाः**) समानसदृश (**भवन्ति**) हैं (**ते**) वे (**भावमुखात्**) भाव की अपेक्षा (**समानतां**) समानता को (**व्रजन्ति**) प्राप्त होते हैं (**विशेषरूपेण**) विशेषरूप से (**सदा**) निरंतर (**भवन्ती**) रहनेवाली (**असमानता**) अदृशता (**भवतः**) आपसे (**न भिद्यते**) भिन्न नहीं है।

भावार्थ :- हे प्रभो ! आपके विशेषों में जो समानता है वह सत् की अपेक्षा है। परंतु वे ही विशेष, विशेष की अपेक्षा असमान भी हैं। यदि उनमें समानता ही रहे तो उनकी विशेषता ही सुरक्षित नहीं रह सकती। यह आपकी असमानता भी आपसे भिन्न है क्योंकि असमानता का आधार जो विशेष है वह आपसे भिन्न नहीं है।।१५।

समग्रसामान्यमुपैति वस्तुतां न तन्मयद्रव्यभरात् पृथग्भवन् (त्)।
विशेषतां द्रव्यभरे तदर्प्पयद् विभागतस्तेष्वपि देव लीयते।।१६।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे भगवन् ! (**तन्मयद्रव्यभरात्**) सामान्य से तन्मय द्रव्य के समूह से (**पृथग्भवत्**) पृथग् होता हुआ (**समग्रसामान्यं**) समस्त सामान्य (**वस्तुतां न उपैति**) वस्तुपने को प्राप्त नहीं होता है क्योंकि (**द्रव्यभरे**) द्रव्यों के समूह में (**विशेषतां**) विशेषता को (**अर्पयत्**) अर्पित करता हुआ (**तद्**) वह समग्र सामान्य (**विभागतः अपि**) विभागरूप से भी पृथक्-पृथक् (**तेषु लीयते**) उन द्रव्यों में भी लीन रहता है।

भावार्थ :- समस्त द्रव्यों में पाया जानेवाला जो सादृश्य है वह समग्र सामान्य कहलाता है। यह समग्र सामान्य भी द्रव्यों से पृथक् नहीं है। किन्तु उनमें विशेषता को प्रदान करता हुआ उन्हीं में लीन रहता है।।१६।।

न चैकसामान्यमिदं तव प्रभो स्वपर्ययेभ्यः पृथगेव भासते।
स्वपर्ययाणां दृढयद् विशेषतामभागवृत्तं तदिहावभासते।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**च**) और (**प्रभो**) हे प्रभो ! (**तव**) आपके मत में (**इदं एकसामान्यं**) यह एक सामान्य भी (**स्वपर्ययेभ्यः**) अपनी पर्यायों से (**पृथक्**) जुदा (**नैव भासते**) नहीं सुशोभित होता है क्योंकि (**तद्**) वह (**इह**) इस लोक में (**स्वपर्ययाणां**) अपनी पर्यायों की (**विशेषतां**) विशेषता को (**दृढ्यत्**) दृढ करता हुआ (**अभागवृत्तं**) अपृथक् ही (**अवभासते**) प्रतीत होता है।

भावार्थ :- एक द्रव्य की कालक्रम से होनेवाली अनेक पर्यायों में जो समानता है उसे एक सामान्य कहते हैं। यह एक सामान्य भी अपनी पर्यायों से पृथक् नहीं है किन्तु उन्हीं में अविभक्त होकर रहता है।।१७।।

तवेति सत् प्रत्ययपीतमञ्जसा समस्तमेतत्प्रतिभाति तन्मयम्।
अखण्डितः प्रत्यय एष ते तु सन् भवन्मयत्वं न जहाति जातुचित्।।१८।

अन्वयार्थ :- (**सत्**) सत् - द्रव्य-पर्यायात्मक पदार्थ (**तव**) आपके (**प्रत्ययपीतं**) ज्ञान के द्वारा पीत है - जाना गया है (**इति**) इसलिये (**अज्जसा**) वास्तव में (एतत् समस्त) यह सब (**तन्मयं**) ज्ञानमय (**प्रतिभाति**) प्रतिभासित होता है (**तु**) और (**ते**) आपके (**अखण्डितः प्रत्ययः**) अखण्ड ज्ञानरूप (**एषः सन्**) यह सत् (**भवन्मयत्वं**) आपकी तन्मयता को (**जातुचित्**) कभी भी (**न जहाति**) नहीं छोड़ता है।

भावार्थ :- ज्ञान जिस ज्ञेय को जानता है अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा वह ज्ञेय ज्ञानरूप होता है और ज्ञान ज्ञाता से अभिन्न रहता है इसलिये ज्ञान को ज्ञातृरूप कहा जाता है। हे भगवन् ! यह सत् आपके ज्ञान के द्वारा जाना गया है इसलिये अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा वह ज्ञानरूप ही है और ज्ञान आपसे अभिन्न है अतः यह ज्ञान आपरूप है आपसे तन्मय है।।१८।।

असौ स्वतो भाववतस्तव प्रभो विभाति भावोऽत्र विशेषणं यथा।
तथान्यतोऽभाववतोऽनिवारितो भवत्वभावोऽपि विशेषणं तव।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**प्रभो**) हे भगवन् ! (**स्वतः**) स्वचतुष्टय से (**भाववतः**) भाव से युक्त (**तव**) आपका (**अत्र**) इस लोक में (**यथा**) जिस प्रकार (**असौ भावः**) यह भाव (**विशेषणं विभाति**) विशेषण सुशोभित है (**तथा**) उसी प्रकार (**अन्यतः**) परचतुष्टय से (**अभाववतः**) अभाव से युक्त (**तव**) आपका (**अनिवारितः**) जिसे रोका न जा सके ऐसा (**अभावः अपि**) अभाव भी (**विशेषणं**) विशेषण (**भवतु**) हो।

भावार्थ :- हे भगवन् ! स्वचतुष्टय की अपेक्षा सद्भावरूप होनेसे आपका जैसा 'भाव' विशेषण है वैसा ही परचतुष्टय की अपेक्षा असद्भावरूप होनेसे आपका अभाव विशेषण भी है। तात्पर्य यह है कि आपमें भाव और अभाव ये दोनों विरोधी धर्म स्थित हैं। स्वचतुष्टय की अपेक्षा भाव है और परचतुष्टय की अपेक्षा अभाव है।।१९।।

विभाति भावो न निराश्रयः क्वचित् तदाश्रयो यः स तु भाववानिति।
न जात्वभावोऽपि निराश्रयः स्फुरेदभाववानापतितस्तदाश्रयः।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**भावः**) भाव (**क्वचित्**) कहीं भी (**निराश्रयः**) आश्रय से रहित (**न विभाति**) नहीं रहता है इसलिये (**यः**) जो (**तदाश्रयः**) भाव का आश्रय है (**स तु**) वह (**भाववान्**) भगवान है - भाव से युक्त है (**इति**) ऐसा प्रसिद्ध है इसी प्रकार (**अभावोऽपि**) अभाव भी (**जातु**) कभी (**निराश्रयः**) आश्रय से रहित (**न स्फुरेत्**) नहीं रह सकता है इसलिये (**तदाश्रयः**) अभाव का जो आश्रय है वह (**अभाववान्**) अभाववान् है - अभाव से युक्त है ऐसा (**आपतितः**) आ उपस्थित होता है।

भावार्थ :- भाव और अभाव ये दोनों धर्म बिना आधार के नहीं रह सकते इसलिये जिस प्रकार भाव का आधार भाववान् कहलाता है उसी प्रकार अभाव का आधार अभाववान् कहलाता है। यतश्च आप भाव और अभाव दोनों के आधार हैं इसलिये भाववान् और अभाववान् - दोनों हैं।।२०।।

तयोः सहैवापततोर्विरुद्धयोर्न निर्विरोधं तव वस्तु शीर्यते।
उदीयते देव तथैव तत्परं भवत् किलात्मा पर एव चाभवत्।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**विरुद्धयोः**) परस्पर विरुद्ध रहनेवाले (**तयोः**) उन भाव और अभावरूप धर्मों के (**निर्विरोधं**) निर्विरोधरूप से (**सहैव**) साथ ही (**आपततोः**) आनेपर - सिद्ध होनेपर

(**तव**) आपके मत में (**वस्तु**) वस्तु (**न शीर्यते**) नष्ट नहीं होती है किन्तु (**देव**) हे प्रभो ! (**तत्**) वह वस्तु (**परंभावाभावभवत्**) पररूप - होती हुई (**तथैव उदीयते**) उसी प्रकार उत्पन्न होती है (**किल**) निश्चय से (**आत्मा च**) आपका आत्मा भी (**पर एव अभवत्**) पररूप होता हुआ उत्पन्न हुआ है - भावाभावरूप से सिद्ध हुआ है।

भावार्थ :- यद्यपि भाव और अभाव ये दोनों धर्म परस्पर विरोधी हैं तथापि स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा दोनों एक साथ ही वस्तु में सिद्ध होते हैं और उनके सिद्ध होनेपर वस्तु विखरती नहीं है - नष्ट नहीं होती है किन्तु भावाभाववान् के रूप में सिद्ध होती है। इसी प्रकार आपका आत्मा भी, भाव और अभाव इन दो विरोधी धर्मों के एक साथ सिद्ध होनेपर विखरकर नष्ट नहीं होता है किन्तु भावाभाववान् के रूप में सिद्ध होता है।।२१।।

न जात्वभावस्य विभाति तुच्छता स्वयं हि वस्त्वाश्रयतोर्जितं नयात्।
यथास्ति भावः सकलार्थमण्डली तथाऽस्त्यभावोऽपि मिथो विशेषणात्।।२२।

अन्वयार्थ :- (**जातु**) कभी (**अभावस्य**) अभाव की (**तुच्छता**) तुच्छरूपता (**न विभाति**) नहीं है (**हि**) क्योंकि (**नयात्**) नय विवक्षा से वह (**स्वयं**) स्वयं ही (**वस्त्वाश्रयतोर्जितं**) वस्तु की आश्रयता से शक्ति सम्पन्न रहता है अर्थात् अभाव, सर्वथा अभावरूप नहीं होता है किन्तु वस्तु के आश्रय से रहने के कारण वह भी भाव के समान बलिष्ठ होता है। (**यथा**) जिस प्रकार (**सकला**) सम्पूर्ण (**अर्थमण्डली**) पदार्थ समूह (**भावः अस्ति**) भावरूप है (**तथा**) उसी प्रकार (**मिथो विशेषणात्**) परस्पर विशिष्ट होनेसे - परस्पर भेद करने से (**अभावोऽपि**) अभावरूप भी (**अस्ति**) है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपके मत में अभाव की तुच्छाभावरूप नहीं माना है क्योंकि जो अभाव है वह भी किसी वस्तु के आश्रय से रहता है अतः उस आधारभूत वस्तु की अपेक्षा वह अभाव भी कथंचित् भावरूप होता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार संसार के समस्त पदार्थ भावरूप हैं उसी प्रकार अभावरूप भी हैं और उसका कारण है कि समस्त पदार्थ परस्पर विशिष्ट हैं अर्थात् एक दूसरे से भिन्न हैं अतः एक में दूसरे का अभाव रहता है। इस स्थिति में जो पदार्थ पर की अपेक्षा अभावरूप है वही पदार्थ स्व की अपेक्षा भावरूप भी होता है।।२२।।

स्फुरत्थभावः सकलस्य यः प्रभो स्थितः समस्तेऽपि परस्पराश्रयात्।
नयत्ययं त्वां स्वमुखेन दारुणाः स्फुटैकसंविन्मयमीश शून्यताम्।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**प्रभो**) हे भगवन् ! (**परस्पराश्रयात्**) परस्पर के आश्रय से (**समस्तेऽपि**) सभी पदार्थों में (**स्थितः**) स्थित रहनेवाला (**यः सकलस्य अभावः**) जो सर्वाभाव (**स्फुरति**) स्फुरित हो रहा है (**दारुणः**) तीक्ष्णता को धारण करनेवाला (**अयं**) यह सर्वाभाव (**ईश**) हे नाथ ! (**स्फुटैकसंविन्मयं त्वां**) स्पष्ट ही एक ज्ञान से तन्मय रहनेवाले आपको (**स्वमुखेन**) अपने रूप से (**शून्यतां नयति**) शून्यता को प्राप्त करा रहा है।

भावार्थ :- संसार के प्रत्येक पदार्थ में उसके अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थों का अभाव रहता है। यदि ऐसा न माना जावे तो उस पदार्थ का अन्य पदार्थों से व्यतिरेक सिद्ध नहीं हो सकता। हे प्रभो ! आप ज्ञान से तन्मय हैं अतः ज्ञेयरूप अन्य पदार्थों का आपमें अभाव है। इसी दृष्टि से यहाँ कहा गया है कि ईश ! यह सर्वाभाव इतना दारुण है - इतना कठोर है कि वह आपमें समस्त ज्ञेयों की शून्यता को सिद्ध करता है।।२३।।

करोति भावस्तव बोधवस्तुतां करोत्यभावोऽप्यविशेषतोऽत्र ताम्।
उभौ समं तौ लि (नि) हतो भृताभृतौ प्रसह्य सर्वं सह संविदर्चिषा।
।।२४।।

अन्वयार्थ :- (**भावः**) भाव, (**तव**) आपकी (**बोधवस्तुतां**) ज्ञानरूपता को (**करोति**) करता है अर्थात् भाव की अपेक्षा आप ज्ञानरूप हैं और (**अभावः अपि**) अभाव भी (**अविशेषतः**) सामान्यरूप से (**अत्र**) इस जगत् में आपकी (**तो**) ज्ञानरूपता करता है (**समं**) एक साथ (**भृताभृतौ**) धारण किये हुए (**तौ**) वे दोनों भाव-अभावरूप धर्म (**संविदर्चिषा सह**) ज्ञानरूप ज्योति के साथ (**सर्वं**) सबको (**प्रसह्य**) बलपूर्वक (**निहतः**) नष्ट कर देते हैं।

भावार्थ :- जब भाव की अपेक्षा विचार किया जाता है तब हे भगवन् ! आप ज्ञानरूप हैं ऐसा सिद्ध होता है और अभाव की अपेक्षा विचार किया जाता है तब आप ज्ञेयरूप नहीं हैं - उनकी शून्यता आपमें है ऐसा सिद्ध होता है। ये भाव और अभाव एक ही साथ आपमें रहते हैं इसलिये ये बलपूर्वक सबका अभाव करते हैं। अर्थात् आप ज्ञानरूप हैं इस पक्ष में ज्ञेय का अभाव करते हैं और अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा

ज्ञेयरूप हैं इस पक्ष में ज्ञान का अभाव करते हैं।।२४।।

त्वदंशसंधुक्षणदारुणो भवन् ममानिशं वर्द्धत एष भस्मकः।
प्रसीद विश्वैककरम्बितः समं विश प्रभोऽन्तस्त्वमनन्त एव मे।।२५।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**त्वदंशसंधुक्षणदारुणः भवन्**) जो आपके एक अंश - भाव या अभाव के संधुक्षण - समुत्तेजन से कठिन हो रहा है ऐसा (**मम**) मेरा (एष **भस्मकः**) यह भस्मक रोग (**अनिशं**) निरंतर (**समं**) एक साथ (**वर्द्धते**) बढ़ता जा रहा है इसलिये (**त्वम्**) आप (**प्रसीद**) प्रसन्न हों और (**विश्वैककरम्बितः `सन्'**) समस्त पदार्थों - समस्त अन्तर्ज्ञेयों से एकाकार होते हुए (**मम अन्तः**) मेरे भीतर - मेरे अन्तःकरण में (विश) प्रवेश करें (**प्रभो**) हे विभो ! आप (**मे**) मेरे लिये (**अनंत एव**) अनंत ही हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपके एक अंश के ज्ञान से मेरी जिज्ञासा - जानने की उत्कण्ठा शांत न होकर बढ़ती ही जा रही है अतः आप प्रसन्न होकर मेरे हृदय में पूर्णरूप से प्रवेश कीजिये अर्थात् मुझ में इतनी बुद्धि प्रकट कीजिये जिससे मैं आपके भाव-अभाव आदि परस्पर विरोधी धर्मों को समझ सकूं। मेरी दृष्टि में आप एक नहीं हैं किन्तु अनंत हैं अर्थात् अनंत धर्मों से सहित हैं।।२५।।

ॐ

(२२)

मन्दाक्रान्ता

प्रत्यक्षार्चिःप्रचयखचितैकान्त निष्कम्पदीव्यद्-
बाह्यस्पर्शप्रणयविमुखाक्षीणसंवेदनस्य।
मग्नां मग्नां दृशमतिशयान्मज्जयन्नन्तरन्तः
स्वामिन्नर्हन् वहति भवतः कोऽयमानन्दवाहः।।१।।

अन्वयार्थ :- (**स्वामिन् अर्हन्**) हे अर्हन्त देव ! (**प्रत्यक्षार्चिःप्रचयखचितैकान्त-निष्कम्पदीव्यद्बाह्यस्पर्शप्रणयविमुखाक्षीणसंवेदनस्य**) प्रत्यक्ष ज्योति के समूह से सहित, अत्यंत निश्चल और प्रतिफलित होनेवाले बाह्य पदार्थों के अनुभवन् सम्बन्धी राग से पराङ्मुख है अविनाशी ज्ञान जिनका ऐसे (**भवतः**) आपका (**मग्नां मग्नां**) अत्यंत मग्न (**दृशम्**) दृष्टि को (**अतिशयात्**) अत्यधिकरूप से (**अन्तरन्तः**) भीतर-भीतर (**मज्जयन्**) निमग्न करता हुआ (**अयं कः**) यह कौन मुख (**आनन्दवाहः**) अनंत सुख का पूर (**वहति**) बह रहा है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपके सर्वदेश प्रत्यक्ष केवलज्ञान में संसार के अनंतानन्त पदार्थ ज्ञेय बनकर यद्यपि सदा के लिये प्रतिबिम्बित हो रहे हैं तथापि मोहजन्य विकार का अभाव हो जानेसे आप उनके स्पर्शन - अनुभवन से सदा विमुख रहते हैं। जिस प्रकार दर्पण अपने आपमें प्रतिबिम्बित पदार्थों के अनुभवनसम्बन्धी राग से रहित होता है उसी प्रकार आप भी अपने प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रतिबिम्बित बाह्य पदार्थों के अनुभवनसम्बन्धी राग से रहित हैं इसी कारण आप अक्षीणसंवेदन हैं - अनंत ज्ञेयों के ज्ञायक होकर भी उनके अनुभवन से रहित हैं। बारहवें गुणस्थान में आपकी जो दृष्टि बाह्य पदार्थों से हटकर स्वरूप में निमग्न हो रही थी उस दृष्टि को आप और भी अधिक स्वरूप

में निमग्न कर रहे हैं। इस दशा में जो आपके निराकुलतारूप अनंत सुख का प्रवाह प्रकट हो रहा है वह अभूतपूर्व है - उसकी महिमा वचनों के द्वारा नहीं कही जा सकती है।।१।।

किञ्च ब्रूमः किमिह दहनादिन्धनं स्याद् विभिन्नं
येन व्याप्तं भवति दहनेनेन्धनं नाग्निरेव।
ज्ञेयं ज्ञानात् किमु च भवतो विश्वमेतद्विभिन्नं
येन व्याप्तं भवति भवतो नेश विश्वं त्वमेव।।२।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे नाथ ! (**किञ्च ब्रूमः**) हम कुछ कहते हैं कि (**इह**) इस जगत् में (**किम्**) क्या (**इन्धनं**) ईन्धन (**दहनात्**) दाह से (**विभिन्नं स्यात्**) पृथक् है (**येन**) जिससे (**दहनेन**) दाह के द्वारा (**इन्धनं व्याप्तं न भवति**) ईन्धन व्याप्त नहीं होता है किन्तु (**अग्निरेव `व्याप्तो भवति'**) अग्नि ही व्याप्त होती है। (**च**) और (**एतत् विश्वं ज्ञेय**) यह समस्त विश्वरूप ज्ञेय (**किमु**) क्या (**भवतो ज्ञानात् विभिन्नं**) आपके ज्ञान से पृथक् है (**येन**) जिससे (**भवतः ज्ञानेन**) आपके ज्ञान से (**विश्वं व्याप्तं न भवति**) यह विश्व व्याप्त नहीं है किन्तु (**त्वमेव**) आप ही व्याप्त हैं।

भावार्थ :- अग्नि, दाह और ईन्धन ये तीन पदार्थ हैं इनमें जिस प्रकार अग्नि दाह से अभिन्न है इसी प्रकार क्या दाह से ईन्धन भी अभिन्न है ? इसका उत्तर नयविवक्षा से यह दिया जाता है कि जब ईन्धन, अग्नि से व्याप्त होकर अग्निरूप हो जाता है तब दाह भी ईन्धन से अभिन्न हो जाता है। इसी तरह आप, आपका ज्ञान और ज्ञेय ये तीन पदार्थ हैं। इनमें जिस प्रकार आप, अपने ज्ञान से अभिन्न हैं इसी प्रकार क्या ज्ञेय से भी अभिन्न हैं ? इसका उत्तर यह है कि जिस समय ज्ञान, ज्ञेय को जानता है उस समय ज्ञान, ज्ञेयाकार होनेके कारण ज्ञेय से अभिन्न होता है और उस प्रकार के ज्ञान से आप अभिन्न हैं अतः आप भी ज्ञेय से अभिन्न हैं। तात्पर्य यह है कि बहिर्ज्ञेय और अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा ज्ञेय के दो भेद हैं। घट-पटादि बाह्य पदार्थ बहिर्ज्ञेय हैं और ज्ञान में प्रतिबिम्बित घट-पटादि अन्तर्ज्ञेय हैं। बहिर्ज्ञेय तो आपसे तथा आपके ज्ञान से स्पष्ट ही भिन्न हैं परंतु अन्तर्ज्ञेय, ज्ञान की परिणतिरूप होनेसे ज्ञान ही हैं और जब ज्ञान, ज्ञेयरूप हो जाता है तब ज्ञान से अभिन्न रहनेवाले आप भी ज्ञेयरूप हैं - उससे अभिन्न हैं - यह सिद्ध है।।२।।

नूनं नान्तर्विशति न बहिर्याति किन्त्वान्त एव (किन्त्वन्तरेव)
व्यक्तावर्तं मुहुरिह परावृत्तिमुच्चैरुपैति।
ज्ञानास्याद्वः क्व किल निपतेत् पीतसर्वावकाशः
सर्वद्रव्यस्वरसविशदो विश्वगण्डूष एषः।।३।।

अन्वयार्थ :- (**पीतसर्वावकाशः**) जिसने ज्ञान के समस्त अवकाश को प्राप्त कर लिया है तथा जो (**सर्वद्रव्यस्वरसविशदः**) समस्त द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप से युक्त है ऐसा (**एषः**) यह (**विश्वगण्डूषः**) विश्वरूपो कुरला (**वः**) आपके (**ज्ञानास्यात्**) ज्ञानरूपी मुख से निकलकर (**किल**) निश्चय से (**क्व**) कहाँ (**निपतेत्**) गिरे ? अर्थात् कहीं नहीं (**नूनं**) निश्चय से वह विश्वरूपी कुरला (**न अन्तर्विशति**) न तो भीतर प्रवेश करता है और (**न बहिर्याति**) न बाहर जाता है (**किन्तु**) परंतु (**अन्तरेव**) भीतर ही (**इह**) ज्ञानरूपी मुख में (**मुहुः**) बारबार (**व्यक्तावर्तं**) आवर्तको प्रकट करता हुआ (**उच्चैः**) अत्यधिक (**परावृर्ति**) परिवर्तन को (**उपैति**) प्राप्त होता है।

भावार्थ :- जिस प्रकार किसीके मुख में स्थित पानी का कुरला न भीतर जा रहा हो और न बाहर आ रहा हो किन्तु मुख के भीतर हो लोट-पोट हो रहा हो उसी प्रकार हे भगवन् ! आपके ज्ञानरूपी मुख में जो विश्वरूपी कुरला समस्त प्रदेशों में व्याप्त होकर भरा हुआ है अर्थात् आपके ज्ञान में जो समस्त द्रव्यो से युक्त विश्व व्याप्त हो रहा है वह न तो ज्ञान के भीतर प्रवेश करता है - बहिर्ज्ञेय होनेके कारण ज्ञान से तन्मय नहीं होता है और अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा ज्ञानरूप हो जाने के कारण उससे बाहर भी नहीं जाता है। इस तरह वह ज्ञानरूपी मुख से निकल कर कहाँ गिरे ? अर्थात् कहीं नहीं। भाव यह है कि केवलज्ञान में जो पदार्थ प्रतिफलित होते हैं वे सदाके लिये प्रतिफलित हो जाते हैं। बहिर्ज्ञेय की अपेक्षा वे उसके भीतर प्रवेश नहीं करते और अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा बाहर नहीं निकलते तथा स्वयं परिवर्तनशील होनेसे उसीके भीतर परिवर्तन करते रहते हैं।।३।।

निर्भागोऽपि प्रसभमभितः खण्ड्यसे त्वं नयौघैः
खण्डं खण्डं कृतमपि विभुं संदधाति प्रमैव।

देवाप्येवं भवति न भवान् खण्डितायोजितश्री -
रन्यैव श्रीः स्फुरति सहजाखण्डखण्डैव भर्तुः।।४।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे भगवन् ! (**त्वं**) आप (**निर्भागोऽपि**) भाग रहित होनेपर भी (**अभितः**) सब ओरसे (**नयौघैः**) नयों के समूह द्वारा (**प्रसभं**) हठपूर्वक (**खण्ड्यसे**) खण्ड-खण्ड होते हैं - भाग सहित किये जाते हैं। और (**खण्डं खण्ड कृतमपि विभुं**) खण्ड खण्ड किये हुए भी आपको (**प्रमैव**) एक ज्ञान ही (**संदधाति**) मिलाता है (**एवमपि**) ऐसा होनेपर भी (**भवान्**) आप (**खण्डितायोजितश्रीः**) खण्डित होकर पश्चात् मिली हुई लक्ष्मी से युक्त (**न भवति**) नहीं हैं (**भर्तुः**) आपकी (**श्रीः**) लक्ष्मी (**अन्यैव**) अन्य ही (**स्फुरति**) प्रकट होती है जो (**सहजाखण्डखण्डैव**) स्वाभाविकरूप से अखण्ड खण्ड ही है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! यद्यपि आप प्रदेशभेद न होनेसे अखण्डरूप हैं तथापि गुण गुणी, धर्म धर्मी, तथा द्रव्य पर्याय आदिको विषय करनेवाले नयसमूह के द्वारा बलपूर्वक खण्डरूप को प्राप्त होते हैं। इस तरह आप नयसमूह की अपेक्षा यद्यपि खण्ड खण्ड हो रहे हैं तथापि प्रमा - ज्ञानरूप परिणति आपको मिलाती रहती है अर्थात् गुण गुणी आदिका भेद होनेपर भी ज्ञान परिणति आपको अखण्ड बनाये रखती है। इस तरह यद्यपि आप नयसमूह की अपेक्षा खण्ड खण्ड हैं तथापि खण्डित होकर मिलनेवाली लक्ष्मी से युक्त नहीं हैं। आपकी लक्ष्मी एक दूसरी ही है जो स्वाभाविकरूप से अखण्ड खण्ड ही है।।४।।

भिन्नोऽभेदं स्पृशति न विभो नास्त्यभिन्नस्य भेदो
भेदाभेदद्वयपरिणतस्त्वं तु नित्यं तथापि।
भिन्नैर्भावैर्वरद भवतो भिन्नभावस्य साक्षात्
स्वामिन् कान्या गतिरिह भवेत् तद्द्वयं ते विहाय।।५।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे प्रभो ! यद्यपि (**भिन्नः अभेदं न स्पृशति**) भिन्न पदार्थ अभेद का स्पर्श नहीं करता है और (**अभिन्नस्य भेदो नास्ति**) अभिन्न पदार्थ का भेद नहीं होता है (**तु**) किन्तु (**तथापि**) तो भी (**त्वं**) आप (**नित्यं**) निरंतर (**भेदाभेदद्वयपरिणतः**) भेद और अभेद दोनोंरूप परिणत हैं (**वरद**) हे उत्कृष्ट पदार्थों के दायक ! (**स्वामिन्**)

नाथ (**भिन्नैः भावैः**) भिन्न भावों के द्वारा (**भवतः**) संसार से (**साक्षात्**) प्रत्यक्ष ही (**भिन्नभावस्य**) पृथक्त्व को धारण करनेवाले और (**भिन्नैर्भावैः भवतः**) अपने नाना गुणों के द्वारा साक्षात् (**अभिन्नभावस्य**) अभिन्नभाव को धारणकरनेवाले (**ते**) आपकी (**इह**) इस जगत् में (**तद्द्वयं**) भेदाभेद को (**विहाय**) छोड़कर (**अन्या का गतिः भवेत्**) दूसरी कौन गति हो सकती है ? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! वस्तुसमूह की ऐसी मर्यादा है कि जो वस्तु भेदरूप है वह अभेदरूप नहीं होती और जो अभेदरूप है वह भेदरूप नहीं होती किन्तु आप निरंतर भेदाभेद - दोनों रूप हैं। इसका कारण है कि आप भिन्न - कर्म नोकर्म आदिसे पृथक् भावों के द्वारा साक्षात् ही संसार के अन्य पदार्थों से पृथक् जान पड़ते हैं और अपने नाना प्रकार के भाव - गुणों के द्वारा अभिन्नभाव को - अपृथक्त्व भाव को धारण करनेवाले, यह अर्थ है। अथवा भाव और भाववान् अर्थात् गुण और गुणी में प्रदेशभेद नहीं है इसलिये अभेदरूप हैं और संज्ञा संख्या लक्षण आदिकी अपेक्षा भेद है अतः भेदरूप हैं।।५।।

सामान्यस्योल्लसति महिमा किं विनासौ विशेषै-
र्निःसामान्याः स्वमिह किममी धारयन्ते विशेषाः।
एकद्रव्यग्लपितविततानन्तपर्यायपुञ्जो
दृक्संवित्तिस्फुरितसरसस्त्वं हि वस्तुत्वमेषि।।६।।

अन्वयार्थ :- (**विशेषैर्विना**) विशेषों के बिना (**किं**) क्या (**सामान्यस्य**) सामान्य की (महिमा) महिमा (**उल्लसित**) उल्लसित होती है ? अर्थात् नहीं होती, और (**इह**) इस लोक में (**निःसामान्याः**) सामान्य से रहित (**अमी विशेषाः**) ये विशेष (**किम्**) क्या (**स्वम्**) अपने आपको (**धारयन्ते**) धारण करते हैं ? अर्थात् नहीं करते। (**हि**) निश्चय से (**एकद्रव्यग्लपितविततानन्तपर्यायपुञ्जः**) जिनके एक द्रव्य की विस्तृत अनंत पर्यायों का समूह बीत चुका है अर्थात् जो नाना पर्यायों के द्वारा विशेषरूप हैं और (**दृक्संवित्तिस्फुरितसरसः**) जो दर्शन और ज्ञान के चमत्कार से सरस हैं अर्थात् दर्शन और ज्ञान की अपेक्षा सामान्यरूप हैं ऐसे (**त्वम्**) आप (**वस्तुत्वम्**) वस्तुपने को (**एषि**) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :- संसार के समस्त पदार्थ सामान्य विशेषात्मक अथवा द्रव्यपर्यायात्मक

हैं। सामान्य के बिना विशेष और विशेष के बिना सामान्य अथवा द्रव्य के बिना पर्याय और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता। हे भगवन् ! यद्यपि आप एक अखण्ड द्रव्य हैं। तथापि उसकी अनंत पर्याय बीत चुकी हैं उन पर्यायों की अपेक्षा आप विशेषरूप हैं और उन समस्त पर्यायों में आप दर्शन ज्ञानरूप चैतन्य चमत्कार से युक्त रहते हैं इसलिये उसकी अपेक्षा सामान्यरूप हैं। इस तरह आप सामान्य विशेषरूप होकर ही वस्तुपने को प्राप्त हैं। शास्त्र में वस्तु का लक्षण `सामान्यविशेषात्मकं वस्तु' कहा भी है।।६।।

एकोऽनेको न भवति न चानेक एकत्वमेति
व्यक्तं ह्येतत्तदुभयमयस्त्वं तु किं स्यान्न विद्मः।
जानीमोऽन्यद्भवति किल यो यत्समाहारजन्मा
तस्यावश्यं भवति युगपत्तत्स्वभावोऽनुभावः।।७।।

अन्वयार्थ :- (**एकः अनेकः न भवति**) एक अनेक नहीं होता है (**च**) और (**अनेकः**) अनेक (**एकत्वं न एति**) एकत्व को प्राप्त नहीं होता है (**एतत् व्यक्तं**) यह स्पष्ट है (**तु**) किन्तु (**हि निश्चय से**) तदुभयमयः (**त्वम्**) इन दोनोंरूप - एकानेकरूप रहनेवाले (**किं स्यात्**) क्या हैं यह (**न विद्मः**) हम नहीं जानते (**अन्यत् जानीमः**) यह जानते हैं कि (**यः**) जो (**किल**) निश्चय से (**यत्समाहारजन्मा भवति**) जिनके समूह से उत्पन्न होता है (**तस्य**) उसका (**अनुभावः**) परिणमन (**युगपत्**) एक साथ (**अवश्यं**) अवश्य ही (**तत्स्वभावः**) उस स्वभाववाला (**भवति**) होता है।

भावार्थ :- संसार का ऐसा नियम है कि जो एक है वह अनेक नहीं होता और जो अनेक है वह एक नहीं होता परंतु आप एकानेकरूप हैं। क्योंकि सामान्य गुणी की अपेक्षा आप एक हैं और नाना गुणों के समूह से युक्त होनेके कारण आप अनेकरूप हैं।।७।।

अन्यो नश्यत्युदयति परः शश्वदुद्भासतेऽन्य-
स्तीव्रस्तस्मिंस्तव समतया पक्षपातस्त्रयोऽपि।

तेन ध्रौव्यप्रभवविलयालिङ्गितोऽसि स्वयं त्वं
त्वत्तो बाह्यं त्रितयमपि तच्छून्यमेवात्था स्यात्।।८।।

अन्वयार्थ :- (**अन्यः नश्यति**) अन्य पदार्थ नष्ट होता है (**परः**) अन्य (**उदयति**) उत्पन्न होता है और (**अन्यः**) अन्य (**शाश्वत्**) निरंतर (**उद्भासते**) विद्यमान रहता है किन्तु (**तस्मिन्**) उस पदार्थ में (**समतया**) समानरूप से (**त्रयः अपि**) व्यय, उत्पाद और ध्रौव्य - तीनों होते हैं ऐसा (**तव**) आपका (**तीव्रः**) अत्यधिक (**पक्षपातः**) पक्षपात है (**तेन**) इसलिये (**त्वम्**) आप (**स्वयं**) स्वयं (**ध्रौव्यप्रभवविलयालिङ्गितः असि**) ध्रौव्य उत्पाद और व्यय इन तीनों से युक्त हैं (**अन्यथा**) यदि ऐसा न माना जावे तो (**तत् त्रितयमपि**) वह त्रिक भी (**त्वत्तौ बाह्यं**) आपसे पृथक् होता हुआ (**शून्यमेव स्यात्**) शून्य ही हो जावेगा।

भावार्थ :- पदार्थ की उत्पत्ति को उत्पाद, विनाश को व्यय और सदा विद्यमान रहने को ध्रौव्य कहते हैं। किसीका मत है कि ये तीनों, पृथक्-पृथक् पदार्थ में होते हैं परंतु आपका मत है कि ये तीनों समानरूप से एक ही पदार्थ में होते हैं अर्थात् एक ही द्रव्य में पर्यायों की अपेक्षा ये तीनों होते हैं। यही कारण है कि आप स्वयं इन तीनों से आलिङ्गित हैं - युक्त हैं यदि आपसे इन तीनों को सर्वथा पृथक् माना जाता है तो निराश्रय होनेसे ये तीनों ही नष्ट हो जाते हैं।।८।।

भावाभावं तव रचयतः कुर्वतो भावभावं
नूनं भावो भवति भगवन् भावनाशोऽस्ति कोऽन्यः।
अस्तित्वस्यास्खलितभवनोल्लासमात्रं यथैतद्
भङ्गोत्पादद्वयमपि तथा निश्चितं तत्त्वमेव।।९।।

अन्वयार्थ :- (**भगवन्**) हे भगवन् ! (**भावाभावं**) पदार्थ के अभाव को (**रचयतः**) रचनेवाले और (**भावभावं**) पदार्थ के उत्पाद को (**कुर्वतः**) करनेवाले (**तव**) आपके (**नूनं**) निश्चित ही (**भावोभवति**) उत्पाद होता है इसके अतिरिक्त (**अन्य भावनाशः कः अस्ति**) इसके विषय सिवाय भाव का नाश - व्यय क्या है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। (**यथा**) जिस प्रकार (**एतत्**) यह (**अस्तित्वस्य**) अस्तित्वधर्म का (**अस्खलितभवनोल्लासमात्रं**) अस्खलितरूप से उल्लसित होना - ध्रौव्यरूप होना तत्त्व है (**तथा**) उसी प्रकार

(**भङ्गोत्पादद्वयमपि**) व्यय और उत्पाद ये दोनों भी (**निश्चितं**) निश्चितरूप से (**तत्त्वमेव**) तत्त्व **ही हैं।**

भावार्थ :- जो पदार्थ के अभाव - व्यय को करता है अथवा भाव के भाव - उत्पाद को करता है उसके निश्चित ही उत्पाद होता है क्योंकि पूर्व पर्याय का नाश होना ही उत्तर पर्याय का उत्पाद है और उत्तर पर्याय का उत्पन्न होना ही पूर्व पर्याय का व्यय है। इसके अतिरिक्त उत्पाद और व्यय क्या है ? तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सत्ता का निरंतर विद्यमान रहनेरूप ध्रौव्य पदार्थ का स्वरूप है उसी प्रकार पूर्वोत्तर पर्याय के नाश और उत्पत्तिरूप व्यय और उत्पाद से दोनों भी पदार्थ के स्वरूप हैं। मात्र ध्रौव्य के स्वीकृत करनेसे पदार्थ में कूटस्थ नित्यता आती है और मात्र उत्पाद व्यय के स्वीकृत करने से अनित्यता आती है। पदार्थ नित्यानित्यात्मक है इसलिये वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तीनों से तन्मय है।।९।।

एकः कोऽप्यस्खलितमहिमा प्रागभावाद्यभावै-
राक्रान्तोऽपि स्फुरसि भगवंस्त्वं सदा भाव एव।
एकोऽपि त्वं प्रसभमभितः प्रागभावाद्यभावै-
र्भिन्नः स्वामिन् कृतपरिणतिर्भासि रूपैश्चतुर्भिः।।१०।

अन्वयार्थ :- (**भगवन्**) हे प्रभो ! (**अस्खलितमहिमा**) अखण्ड महिमा के धारक (**कोऽपि एकः त्वम्**) कोई एक आप (**प्रागभावाद्यभावैः**) प्रागभाव आदि अभावों से (**आक्रान्तोऽपि**) व्याप्त होने पर भी (**सदा भाव एव स्फुरसि**) सदा भावरूप ही सुशोभित होते हैं। (**स्वामिन्**) हे नाथ ! (**त्वम्**) आप (**एकोऽपि**) एक होने पर भी (**अभितः**) सब ओरसे (**प्रसभं**) हठपूर्वक (**प्रागभावाद्यभावैः**) प्रागभाव आदि अभावों से (**भिन्नः**) नानारूप होकर (**चतुर्भिः रूपैः**) चार रूपों से (**कृतपरिणतिः**) परिणत (**भासि**) प्रतीत हो रहे हैं।

भावार्थ :- हे प्रभो ! आपकी महिमा अनिर्वचनीय है। क्योंकि आप प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन चार अभावों से युक्त होकर भी सदा भावरूप ही रहते हैं अर्थात् पर्याय की अपेक्षा आप उपर्युक्त अभावों से युक्त होकर भी द्रव्य की अपेक्षा सदा भावरूप ही रहते हैं। इसी प्रकार यद्यपि द्रव्य की अपेक्षा आप एक हैं तथापि पर्याय की अपेक्षा उपर्युक्त चार अभावों से युक्त होनेके कारण चाररूप अनुभव में आते हैं।।१०।।

पूर्णः पूर्णो भवति नियतं रिक्त एवास्ति रिक्तो
रिक्तः पूर्णस्त्वमसि भगवन् पूर्ण एवासि रिक्तः।
यल्लोकानां प्रकटमिह ते तत्त्वघातोद्यतं तद्
यत्ते तत्त्वं किमपि न हि तल्लोकदृष्टं प्रमार्ष्टि।।११।।

अन्वयार्थ :- (**भगवन्**) हे भगवन् ! (**पूर्णः नियतं पूर्णः भवति**) जो पूर्ण होता है वह नियम से पूर्ण ही होता है और (**रिक्तः रिक्त एव अस्ति**) जो रिक्त है वह रिक्त ही रहता है। परंतु (**त्वम्**) आप (**रिक्तः पूर्णः असि**) रिक्त होकर भी पूर्ण हैं और (**पूर्ण एव रिक्तः असि**) पूर्ण होकर भी रिक्त हैं। (**इह**) इस जगत् में (**लोकानां यत् प्रकटं**) लोगों के मध्य जो प्रकट है कि पूर्ण, पूर्ण ही रहता है और रिक्त, रिक्त ही रहता है (**तद्**) वह (**ते**) आपके (**तत्त्वघातोद्यतं**) तत्त्व का घात करनेवाला है परंतु (**ते यत् किमपि तत्त्वं**) आपका जो कोई अनिर्वचनीय महिमा से युक्त तत्त्व है (**तत्**) वह (**हि**) निश्चय से (लोकदृष्टं) लोक में देखे गये तत्त्व को (**न प्रमार्ष्टि**) नष्ट नहीं करता है। अर्थात् आपके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व लोकसिद्ध तत्त्व का प्रतिपादन करता है।

भावार्थ :- कुछ दर्शनकारों की मान्यता है कि जो पूर्ण है वह सदासे पूर्ण है और सदा पूर्ण रहेगा तथा किन्हीं की मान्यता है कि जो रिक्त है वह सदा से रिक्त है और सदा रिक्त रहेगा परंतु हे भगवन् ! आप रिक्त होकर भी पूर्ण हैं अर्थात् कर्मोदयजन्य विकारी भावों से रहित होकर भी स्वाभाविक ज्ञानादि गुणों से पूर्ण हैं और पूर्ण होकर भी - स्वाभाविक गुणों से पूर्ण होकर भी रिक्त हैं - उपाधिजन्य विकारी भावों तथा द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित हैं। लौकिक जनों की जो उपर्युक्त मान्यता है वह आपके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व का उपघात करती है परंतु आपका जो तत्त्व है - आपने जिस तत्त्व का प्रतिपादन किया है वह लोक में देखे गये प्रत्यक्ष दृष्ट का व्याघात नहीं करता अर्थात् लोक में यह जो प्रत्यक्ष देखा जाता है कि रागादि दोषों से परिपूर्ण आत्मा भी अपनी साधना के द्वारा उनसे विरक्त-शुद्ध वीतराग भाव को प्राप्त करता है और शुद्ध वीतराग भाव से पूर्णता को प्राप्त हुआ आत्मा कर्म नोकर्म से रिक्त अवस्था को प्राप्त होता है, उसका व्याघात नहीं करता है। इन सब कारणों से आपके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व कोई अनिर्वचनीय लोकोत्तर महिमा से युक्त सिद्ध है।।११।।

सर्वे भावाः सहजनियताऽन्योन्यसीमान एते
संश्लेषेऽपि स्वयमपतिताः शश्वदेव स्वरूपात्।
ज्ञानज्योत्स्नास्वरसविसरैः सर्वदा विश्वमेतद्
विश्वाद् भिन्नः स्नपय भगवन् सङ्करस्ते कुतः स्यात्।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**सहजनियताऽन्योन्यसीमानः**) जिनकी परस्पर की सीमा स्वभाव से ही नियत है ऐसे (**एते**) ये (**सर्वे भावाः**) समस्त पदार्थ (**संश्लेषेऽपि**) परस्पर एक दूसरे से संश्लिष्ट होनेपर भी (**स्वयं**) स्वयं (**शश्वदेव**) निरंतर ही (**स्वरूपात्**) अपने स्वरूप से (**अपतिताः**) अस्खलित ही रहते हैं - अन्यरूप नहीं होते हैं। (**भगवन्**) हे प्रभो ! (**विश्वाद् भिन्नः**) जगत् से भिन्न रहनेवाले आप (**ज्ञानज्योत्स्नानस्वररसविसरैः**) ज्ञानरूपी चाँदनी के स्वरस समूह से (**सर्वदा**) सदा (**एतत् विश्वं**) इस विश्व को (**स्नपय**) नहलाओ - प्रकाशित करो (**ते**) आपके (**सङ्करः**) अन्य पदार्थों के साथ संमिश्रण (**कुतः स्यात्**) कैसे हो सकता है ?

भावार्थ :- एक पदार्थ का अन्यरूप हो जाना सङ्कर दोष कहलाता है। यह सङ्कर दोष संसार के पदार्थों में सिद्ध नहीं होता है। यद्यपि वे परस्पर एक दूसरे से संश्लिष्ट हैं तथापि सबकी परस्पर की सीमा सहज रूप से नियत है, इसलिये वे स्वरूप से कभी च्युत नहीं होते हैं। यह चर्चा स्पष्ट भिन्न पदार्थों की रही परंतु जो ज्ञेय आपके ज्ञान में आकर अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा ज्ञानाकार परिणम रहे है उनमें भी संकर दोष नहीं है क्योंकि स्वभाव से ज्ञान, ज्ञान ही रहता है और ज्ञेय, ज्ञेय ही रहता है। हे भगवन् ! आप जगत् से भिन्न हैं तो भी अपने ज्ञानरूपी चाँदनी के प्रकाश से इस जगत् को प्रकाशित करो अर्थात् सबको जानो क्योंकि जानने मात्र से आपमें संकर दोष नहीं आता है।।१२।।

मोहः कर्मप्रकृतिभरतो मोहतः कर्मकिट्टं
हेतुत्वेन द्वयमिति मिथो यावदात्मा न तावत्।
क्षीणे त्वस्मिंस्तव विलसतो नूनमात्मैव नान्यो
निःसीम्न्यस्मिन्निवस सहजज्ञानपुञ्जे निमग्नः।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**कर्मप्रकृतिभरतः**) कर्म प्रकृतियों के समूह से (**मोहः**) मोह उत्पन्न होता है और (**मोहतः**) मोह से (**कर्मकिट्टं**) कर्मरूप कालिमा का सम्बन्ध होता है (**इति**) इस प्रकार (**द्वयम्**) कर्म और मोह - दोनों (**मिथो**) परस्पर (**हेतुत्वेन**) हेतुरूप से (**यावत्**) जबतक विद्यमान रहते हैं (**तावत्**) तबतक (**आत्मा न**) आत्मा, आत्मा नहीं है - शुद्धस्वरूप में परिणत नहीं है (**तु**) किन्तु (**अस्मिन्**) इन दोनों के (**क्षीणे**) क्षीण होनेपर (**विलसतः**) स्वभाव परिणति से सुशोभित रहनेवाले (**तव**) आपका आत्मा (**नूनं**) निश्चय से (**आत्मैव**) आत्मा ही रह जाता है (**अन्यः न**) अन्य नहीं। हे आत्मन् ! तूं (**निःसीम्नि**) सीमा रहित (**अस्मिन्**) इस (**सहजज्ञानपुञ्जे**) स्वाभाविक ज्ञान राशि में (**निमग्नः `सन्'**) निमग्न होता हुआ (**निवस**) निवास कर।

भावार्थ :- द्रव्यकर्म के उदय से आत्मा में मिथ्यात्व तथा रागद्वेषरूप मोह उत्पन्न होता है और उन मोह से नवीन द्रव्यकर्मों का बन्ध होता है। इन दोनों में परस्पर हेतुहेतुमद्भाव है। जबतक यह दोनों विद्यमान रहते हैं तबतक आत्मा अपने शुद्धस्वरूप में परिणत न होकर विभावरूप परिणत होता है परंतु जब उपर्युक्त दोनों नष्ट हो जाते हैं तब आत्मा अपने शुद्धस्वरूप में परिणत होकर स्वभावरूप परिणत हो जाता है। इस समय आत्मा, आत्मा ही रह जाता है और उसमें सीमा रहित सहज ज्ञान प्रकट हो जाता है। हे आत्मन् ! तूं उसी सहज ज्ञान में निमग्न होकर निवास कर।।१३।।

ज्ञानक्रीडारभसलसितैर्वल्गतः सर्वतस्ते
मोहाभावाद् भवति भगवन् कर्तृभावो न भूयः।
कर्तृत्वे वा स्वयमपि भवन् केवलो ज्ञानपुञ्जो
ज्ञानादन्यत् किमिह कुरुषें निर्विशङ्को रमस्व।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**भगवन्**) हे प्रभो ! (**ज्ञानक्रीड़ारभसलसितैः**) ज्ञानसम्बन्धी क्रीड़ा की सवेग चेष्टा से (**सर्वतः**) सब ओर (**वल्गतः**) संचार करनेवाले (**ते**) आपके (**मोहाभावात्**) मोह का अभाव हो जानेसे (**भूयः**) पुनः (**कर्तृभावो**) कर्तृत्व (**न भवति**) नहीं होता है अर्थात् जिस प्रकार मोह के रहते हुए कर्तृत्व भाव रहता था उस प्रकार मोह के नष्ट हो जानेपर कर्तृत्व भाव नहीं रहा। (**वा**) अथवा (**कर्तृत्व**) विवक्षावश कर्तृत्व भाव के स्वीकृत करने पर (**स्वयमपि**) स्वयं भी (**केवलो ज्ञानपुञ्जो भवन्**) मात्र ज्ञानसमूहरूप

होते हुए आप (**इह**) इस जगत् में (**ज्ञानात् अन्यत्**) ज्ञान से भिन्न (**किम् कुरुषे**) क्या करते हैं? अर्थात् कुछ नहीं। अतः (**निर्विशङ्कः रमस्व**) निःशङ्क होते हुए ज्ञान में क्रीड़ा करो।

भावार्थ :- अपने क्षयोपशम के अनुसार पदार्थों को जाननेवाला मोही जीव, अज्ञानवश परपदार्थों का कर्ता बनता है परंतु हे भगवन् ! आपके मोह का अभाव हो गया है अतः केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जानने पर भी आप परपदार्थों के कर्ता नहीं बनते हैं। कर्तृत्व का साक्षात् कारण मोहभाव है और मोहभाव का आपके अभाव हो चुका है अतः केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोकालोक को जानने पर भी आपके कर्तृत्व भाव नहीं रहा है। यदि किसी तरह आपमें कर्तृत्वभाव मानता ही है तो यतः आप स्वयं मात्र ज्ञानरूप हो रहे हैं अतः ज्ञान के ही कर्ता हैं अन्य पदार्थों के नहीं।[1] तात्पर्य यह है कि आप ज्ञान से बन्ध की आशंका कर लोकालोक को जानने से विरत न होओ क्योंकि बन्ध का कारण जानना नहीं है, मोह है।।१४।।

देवालम्बो भवति युगपत् विश्वमुत्तिष्ठतस्ते
बाह्यस्पर्शाद् विमुखमहिमा त्वं तु नालम्ब एव।
स्वात्मालम्बो भवसि भगवन्नुज्जिहानस्तथापि
स्वात्मा त्वेष ज्वलति किल ते गूढविश्वस्वभावः।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे भगवन् ! (**युगपत्**) एक साथ (**उत्तिष्ठतः**) उन्नत दशा को प्राप्त करने वाले (**ते**) आपके लिये (**विश्वम्**) यह विश्व (**आलम्बो भवति**) आलम्बन होता है - सहायक होता है - ऐसा कहा जाता है (**तु**) परंतु (**बाह्यस्पर्शात्**) **बा**ह्य पदार्थों के स्पर्श से (**विमुखमहिमा**) पराङ्मुख महिमावाले (**त्वम्**) आप (**नालम्ब एव**) आलम्बन से रहित ही हैं - आपको किसी बाह्य पदार्थ के आलम्बन की अवश्यकता नहीं हुई है। (**भगवन्**) हे भगवन् ! यद्यपि (**उज्जिहानः**) ऊपर उठते हुए आप (स्वात्मालम्बो भवसि)

---

१. आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ?
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्।।१७।। - समयसारकलश
यः करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित्।।५१।।
- समयसारकलश

अपनी आत्मा का आलम्बन लेनेवाले हैं (**तथापि तु**) तो भी (**ते**) आपकी (**एष स्वात्मा**) यह स्वात्मा (**किल**) निश्चय से (**गूढ विश्वस्वभावः**) जिसमें समस्त पदार्थों के स्वभाव छिपे हुए हैं ऐसा, (**ज्वलित**) प्रकाशमान है - ज्ञानपुञ्ज से देदीप्यमान है।

भावार्थ :- लोक में देखा जाता है कि जो मनुष्य ऊपर उठता है वह किसी बाह्य पदार्थ का आलम्बन लेकर ही ऊपर उठता है परंतु हे देव ! आप बाह्य पदार्थों के स्पर्श से ही विमुख हैं अतः आपको बाह्य पदार्थों का आलम्बन किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि आप अपने आत्मा के आलम्बन से ही ऊँचे उठे हैं - इस उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हुए हैं। परंतु आपका यह आत्मा भी साधारण आत्मा नहीं है। उसके अनेक स्वभाव गूढ हैं - अपनी अनंत सामर्थ्य से वह युक्त हैं ऐसे सातिशय आत्मा के उपादान से आप इस उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हुए हैं।।१५।।

यस्मिन् भावास्त्रिसमयभुवस्तुल्यकालं प्लवन्ते
यत्कल्लोलाः प्रसभमभितो विश्वसीम्नि स्खलन्ति।
स त्वं स्वच्छस्वरसभरतः पोषयन् पूर्णभावं
भावाभावोपचितमहिमा ज्ञानरत्नाकरोऽसि।।१६।।

अन्वयार्थ :- (**यस्मिन्**) जिसमें (**त्रयसमयभुवः**) तीन काल में होने वाले (**भावाः**) पदार्थ (**तुल्यकालं**) एकसाथ (**प्लवन्ते**) तैरते हैं - जाने जाते हैं, (**यत्कल्लोलाः**) जिसकी लहरें (**प्रसभं**) हठपूर्वक (**अभितः**) चारों ओर (**विश्वसीम्नि**) संसार की सीमा में (**स्खलन्ति**) टकराती हैं, जो (**स्वच्छस्वरसभरतः पूर्णभावं पोषयन्**) स्वच्छ स्वरस के भार से पूर्णता को पुष्ट कर रहा है अर्थात् आत्मरस के भार से जो लवालव भरा हुआ है तथा जो (**भावाभावोपचितमहिमा**) भाव और अभाव से बढ़ी हुई महिमा से युक्त है (**स त्वं**) वह आप (**ज्ञानरत्नाकरः असि**) ज्ञान के सागर है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप ज्ञानरत्नाकर - ज्ञान के समुद्र हैं क्योंकि जिसप्रकार समुद्र में अनेक पदार्थ तैरते हैं उसी प्रकार आपके ज्ञान में भी भूत, भविष्य और वर्तमान कालसम्बन्धी समस्त पदार्थ प्रतिसमय तैर रहे हैं अर्थात् तीनों काल सम्बन्धी पदार्थ आपके ज्ञान में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। जिस प्रकार समुद्र की लहरें चारों ओर सीमा से टकराती हैं उसी प्रकार आपके ज्ञानसागर की लहरें लोकालोकरूप

विश्व की सीमा में टकराती हैं। जिसप्रकार समुद्र अपने स्वच्छ सलिलसे भर कर पूर्ण होता है उसीप्रकार आप भी अपने आत्मरस से - आत्मसम्बन्धी गुणों से भरकर पूर्ण हैं और जिसप्रकार समुद्र भाव - जल के आगमन और अभाव - मलिन पदार्थों के बाहर उछलाने से युक्त होता है - इन दोनों कार्यों से उसकी महिमा बढ़ती है अथवा तरङ्गों के उन्नमन और अवनमन-ऊँची उठना तथा नीचे बैठना से जिसप्रकार समुद्र अपनी महिमा को बढ़ाता है उसी प्रकार आपका ज्ञानसागर भी भाव - नये नये भावों की उत्पत्ति तथा अभाव - मलिन भावों के विनाश से युक्त है - इन दोनों कार्यों से उसकी महिमा बढ़ रही है अथवा अगुरुलघु गुण के कारण होनेवाली वृद्धि और हानि से वह युक्त है।।१६।।

संविद्वीच्यस्तव तत इतो देव वल्गन्त्य एताः
शुद्धज्ञानस्वरसमयतां न क्षमन्ते प्रमार्ष्टुम्।
विश्वच्छायाघटनविकसत्पुष्कल व्यक्तिगूढां
प्रौधिं विन्दत् तदभिदधति ज्ञानसामान्यमेव।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे नाथ ! (**इतस्ततः**) इधर-उधर अर्थात् समस्त ज्ञेयों में (**वल्गन्त्यः**) संचार करनेवाली (तव) आपकी (**एताः**) ये (**संविद्वीच्यः**) ज्ञानरूप तरङ्गें (**शुद्धज्ञानस्वरसमयतां**) शुद्ध ज्ञानरूपी स्वरस से तन्मयता को (**प्रमार्ष्टुं**) छोड़ने के लिये (**न क्षमन्ते**) समर्थ नहीं हैं। वे (**तद्**) उस (**ज्ञानसामान्यमेव**) ज्ञान सामान्य को ही (**अभिदधति**) धारण करती हैं जो कि (**विश्वच्छायाघटनविकसत्पुष्कलं**) समस्त पदार्थों की छाया के पड़ने से विकसित तथा पूर्ण है और (**व्यक्तिगूढां**) प्रकटता से युक्त (**प्रौढिं**) पूर्ण सामर्थ्य को (**विन्दत्**) प्राप्त है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! व्यवहारन्य से यद्यपि आपका ज्ञान समस्त पदार्थों में संचार करता है अर्थात् उन्हें अपना ज्ञेय बनाता है तथापि वह निश्चयनय से आत्मज्ञानरूप ही होता है। आपके ज्ञान की कोई ऐसी अद्भुत महिमा है कि वह अनेक पदार्थों को अपने आपमें प्रतिबिम्बित करता हुआ भी शुद्ध सामान्य ज्ञानरूप ही रहता है। जिसप्रकार दर्पण में अनेक पदार्थ झलकते हैं पर दर्पण उन पदार्थों के विकल्प से रहित होता हुआ दर्पणरूप ही रहता है। उन पदार्थों के विषय में दर्पण का कुछ भी ममत्व भाव नहीं होता है उसीप्रकार आपके ज्ञान में स्वच्छता के कारण विश्व के समस्त

पदार्थ झलकते हैं परंतु आपका ज्ञान ज्ञान ही रहता है - उन अनंत ज्ञेयों में उसका ममत्वभाव नहीं होता है।।१७।।

अन्यद्विश्वं बहिरिह तव ज्ञानविश्वं तथान्यत्
संविद्विश्वं यदिह किल सा संविदेवावभाति।
सिंहाकारो मदननिहितः किं मधूच्छिष्टतोऽन्यो
विश्वाकारस्त्वयि परिणतः किं परस्त्वन्महिम्नः।।१८।।

अन्वयार्थ :- (**इह**) जगत् में (**बहिः विश्वं**) बाह्य विश्वं (**अन्यद्**) अन्य है (**तथा**) और (**ज्ञानविश्वं**) ज्ञानविश्व (**अन्यत्**) अन्य है। (**इह**) इनमें (**यत्**) जो (**संविद्विश्वं**) ज्ञानरूपी विश्व है (**किल**) निश्चय से (**सा संविदेव अवभाति**) वह ज्ञानरूप ही रहता है। जिस प्रकार (**मदननिहितः**) मैन (**मोम**) के द्वारा धारण किया हुआ - मैंन (**मोम**) से निर्मित (**सिंहाकारः**) सिंहका आकार (**किं**) क्या (**मधूच्छिष्टतः अन्यः**) मेन (**मोम**) से पृथक् है ? अर्थात् नहीं है, उसीप्रकार (**त्वयि परिणतः**) आपमें प्रतिबिम्बित (**विश्वाकारः**) विश्व का आकार (**किं**) क्या (**त्वन्महिम्नः**) आपकी महिमा से (**परः**) पृथक् है ? अर्थात् नहीं है।

भावार्थ :- बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से ज्ञेय के दो भेद हैं। संसार के दृश्य और अदृश्य पदार्थ बाह्य ज्ञेय हैं और ज्ञान के भीतर झलकने वाले उनके आकार अभ्यन्तर ज्ञेय हैं। इन दोनों ज्ञेयों में बाह्य ज्ञेय स्पष्ट ही ज्ञान से पृथक् पदार्थ है परंतु ज्ञान के भीतर झलकने वाला अन्तर्ज्ञेय निश्चय से ज्ञान ही है उससे भिन्न नहीं है। जैसे मेन (मोम) से बनाया हुआ सिंह का आकार मेन (मोम) से पृथक् नहीं है उसी प्रकार आपके ज्ञान में आये हुए ज्ञेय आपके ज्ञान से भी भिन्न नहीं है।।१८।

मित्वा मेयं पुनरपि मितेः किं फलं ज्ञातुरन्यत्
मातुं विश्वं स्वयमिह मितं नासि नित्योद्यतस्त्वम्।
दृक्संवित्त्योः स्खलितमखिलं रक्षतस्ते स्ववीर्य-
व्यापारोऽसौ यदसि भगवन्नित्यमेवोपयुक्तः।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**मेयं**) जानने योग्य पदार्थ को (**मित्वा**) जानकर (**पुनरपि**) पश्चात् प्रकट होने वाला (**मितेः फलं**) जानने का फल (**किं**) क्या (**ज्ञातुः**) जानने वालेसे (**अन्यत्**) पृथक् होता है ? अर्थात् नहीं। परंतु (**इह**) इस जगत् में (**विश्वं**) विश्व को (**मातुं**) जानने के लिये (**नित्योद्यतः**) निरंतर उद्यत रहने वाले (**त्वम्**) आप (**स्वयं**) स्वयं (**मितं नासि**) जाने हुए पदार्थ नहीं हैं अर्थात् जिस प्रकार ज्ञान का फल ज्ञाता से अभिन्न है उसप्रकार ज्ञेय, ज्ञाता से अभिन्न नहीं है - बहिर्ज्ञेय की अपेक्षा वह ज्ञाता से भिन्न ही है। (**भगवन्**) हे प्रभो ! (**यत्**) जिस कारण (**दृक्संवित्त्योः**) दर्शन और ज्ञान के (**अखिलं**) समस्त (**स्खलितं**) स्खलन की (**रक्षतः**) रक्षा करने वाले - उन्हें स्खलन से दूर रखने वाले आपका (**असौ**) यह (**स्ववीर्यव्यापारः**) आत्मबल का प्रभाव है जिससे आप (**नित्यमेवोपयुक्तः असि**) दर्शन और ज्ञान में नित्य ही उपयुक्त रहते हैं।

भावार्थ :- प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति ये चार पदार्थ हैं जो पदार्थ को जानता है उसे प्रमाता, जो जानने योग्य है उसे प्रमेय, जिसके द्वारा जाना जाता है उसे प्रमाण और जो जाननेरूप क्रिया है उसे प्रमिति कहते हैं। यह प्रमिति हि प्रमाण का फल है। यह फल साक्षात् और परम्परा के भेद से दो प्रकार का है। साक्षात् फल अज्ञान निवृत्ति है और परम्परा फल हान, उपादान और उपेक्षा है। यहाँ अभेद विवक्षा से प्रमितिरूप फल की चर्चा करते हुए आचार्य ने कहा है कि प्रमेय को जानने के पश्चात् अज्ञान निवृत्तिरूप जो फल होता है वह प्रमाता से भिन्न नहीं है क्योंकि अज्ञाननिवृत्ति प्रमाता की ही परिणति विशेष है। परंतु जिस प्रकार प्रमिति का फल प्रमाता से पृथक् नहीं है उसीप्रकार प्रमेय प्रमाता से पृथक् नहीं है, यह नियम नहीं है क्योंकि प्रमाता जिस प्रकार स्वद्रव्य को जानता है उसी प्रकार पर द्रव्य को भी जानता है। तात्पर्य यह है कि बहिर्मेय की अपेक्षा प्रमाता और प्रमेय पृथक्-पृथक् हैं। दूसरी बात यह है कि जिसप्रकार क्षायोपशमिक दर्शन और ज्ञान का धारक पुरुष निरंतर किसी पदार्थ में उपयुक्त नहीं रहता किन्तु क्रम-क्रम से ही उपयुक्त रहता है उस प्रकार क्षायिक दर्शन और ज्ञान का धारक पुरुष क्रम क्रम से उपयुक्त नहीं रहता। किन्तु निरंतर ही उपयुक्त रहता है। निरंतर उपयुक्त रहने का कारण यह है कि उसके ज्ञान और दर्शन के साथ जो क्षायिक अनंत वीर्य प्रकट हुआ है वह उन्हें स्खलित नहीं होने देता। इन्हीं दृष्टियों की अपेक्षा से यहाँ कहा गया है कि हे भगवन् ! आप विश्व को जानने के लिये निरंतर उपयुक्त रहते हुए भी विश्वरूप नहीं हैं तथा आप ज्ञान और दर्शन में निरंतर उपयुक्त रहते हैं।।१९।।

नानारूपैः स्थितमतिरसाद् भासयद् विश्वमेतत्
शब्दब्रह्म स्वयमपि समं यन्महिम्नाऽस्तमेति।
नित्यव्यक्तस्त्रिसमयभवद्वैभवारम्भभूम्ना
निस्सीमापि ज्वलति स तव ज्योतिषा भावपुञ्जः।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**नानारूपैः स्थितम्**) नानारूपों से स्थित (**एतद् विश्वम्**) इस विश्व - लोकालोक को (**अतिरसात्**) अत्यंत स्पष्टरूप से (**भासयत्**) प्रकाशित करने वाला (**शब्दब्रह्म अपि**) शब्दब्रह्म भी (**स्वयं**) अपने आप (**यन्महिम्ना**) जिसकी महिमा से (**समं**) एक साथ (**अस्तमेति**) अस्त को प्राप्त हो जाता है तथा (**त्रिसमयभवद्वैभवारम्भभूम्ना**) त्रिकालवर्ती आपके वैभवारम्भ की बहुलता से जो युक्त है ऐसी (**तव**) आपकी (**ज्योतिषा**) केवलज्ञानरूपी ज्योति के द्वारा (**नित्यव्यक्तः**) निरंतर प्रकट रहने वाला (स भावपुञ्जः) वह पदार्थों का समूह (**निस्सीमापि**) सीमा रहित होने पर भी (**ज्वलति**) प्रकाशमान हो रहा है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपकी केवलज्ञानरूपी ज्योति इतनी विशाल है कि उसकी महिमा से नानारूपों में स्थित समस्त विश्व को प्रकाशित करनेवाला शब्दब्रह्म भी स्वयं एकसाथ समाप्त हो जाता है। साथ ही वह ज्योति आपके त्रिकालवर्ती ऐश्वर्य को प्रारम्भ करनेवाली है अर्थात् आपके आर्हन्त्यपद का प्रारम्भ इस केवलज्ञानरूपी ज्योति के द्वारा ही होता है। इस केवलज्ञानरूपी ज्योति के द्वारा विश्व के अनंत पदार्थ निरंतर प्रकाशित रहते हैं।।२०।।

उद्यद्विश्वस्वरसमनिशं मर्मसु व्याप्य गाढं
लब्धप्रौढिस्तडिति परितस्ताडयन् सर्व भावान्।
देवात्यन्तं स्फुरति सततं निर्निमेषस्तवोच्चै-
रेकः कोऽयं त्रिसमयजगद्घस्मरो दृग्विकाशः।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे नाथ ! (**उद्यद्विश्वस्वरसम्**) उभरते हुए विश्व के यथार्थरूप को (**अनिशं**) निरंतर (**गाढं**) गाढरूप से (**मर्मसु व्याप्य**) अपने मर्म स्थानों में व्याप्त कर (**लब्धप्रौढिः**) जिसने पूर्णसामर्थ्य को प्राप्त किया है, जो (**परितः**) सब ओरसे (**सर्वभावान्**) समस्त पदार्थों को (**तडिति**) तड़-तड़कर - शीघ्र ही (**ताड़यन्**) ताड़ितकर रहा है -

अपना विषय बना रहा है। जो (**सततं**) निरंतर (**निर्निमेषः**) टिमकार से रहित है - निरंतर उपयोगरूप रहता है तथा जो (**त्रिसमयजगद्धस्मरः**) त्रिकालवर्ती लोक को जाननेवाला है ऐसा (**तव**) आपका (**अयं कः**) यह कोई (**दृग्विकाशः**) दर्शन गुण का विकाश - केवलदर्शन (**उच्चैः**) उत्कृष्टरूप से (**अत्यन्तं स्फुरति**) अत्यंत देदीप्यमान हो रहा है।

भावार्थ :- ऊपर के पद्य में केवलज्ञान की महिमा का वर्णन था और इस पद्य में केवलदर्शन की महिमा का वर्णन किया जा रहा है। आचार्य कहते हैं कि हे देव ! आपका केवलदर्शन समस्त विश्व को अपना विषय बनाकर पूर्ण सामर्थ्य को प्राप्त है। वह शीघ्र ही समस्त पदार्थों को देख रहा है, निरंतर उपयोगात्मक है और त्रिकालवर्ती समस्त जगत् को अपने आपमें निलीन करने वाला है।।२१।।

सर्वत्राप्यप्रतिघमहिमा स्वप्रकाशेन शुम्भन्
दूरोन्मज्जत्स्वरसविसरैर्द्रावयन् सर्वभावान्।
विश्वालम्बोच्छलितबहुलव्यक्तिसीमन्तितश्री-
रेकः कोऽयं विलसति विमोर्जात्यतैतन्यपुञ्जः।।२२।।

अन्वयार्थ :- (**सर्वत्रापि**) लोक-अलोक - सभी स्थानोंपर (**अप्रतिघमहिमा**) जिसकी महिमा निर्बाध है, जो (**स्वप्रकाशेन शुम्भन्**) अपने प्रकाश से सुशोभित हो रहा है (**दूसरोन्मज्जत्स्वरसविसरैः**) बहुत दूर तक प्रकट होनेवाले आत्मरस के समूह से जो (**सर्वभावान्**) समस्त पदार्थों को (**द्रावयन्**) द्रवीभूत करता है - उन्हें अपना विषय बनाता है और (**विश्वालम्बोच्छलितबहुलब्यक्तिसीमन्तितश्रीः**) समस्त पदार्थों के आलम्बन से झलकते हुए अनंत पदार्थों से जिसकी अन्तर्लक्ष्मी बढ़ रही है ऐसा (**विभोः**) आपका (**अयम् कः एकः**) यह कोई एक अद्वितीय (**जात्यचैतन्यपुञ्जः**) उत्कृष्ट चैतन्य का समूह (**विलसति**) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ :- यहाँ केवलज्ञान और केवलदर्शन के मूलाधाररूप चैतन्यगुण की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य कह रहे हैं कि विभु का शुद्ध चैतन्यपुञ्ज सर्वत्र निर्वाध है अर्थात् समस्त लोक अलोक को जानता है। आत्मप्रकाश से सुशोभित है। अपनी उत्कृष्ट महिमा से समस्त पदार्थों को जाननेवाला है और अपने आपके भीतर प्रतिबिम्बित होनेवाले अनंत पदार्थों से अपनी लक्ष्मी को सुशोभित करनेवाला है। हे प्रभो ! इन

सब विशेषताओं से आपका चैतन्यपुञ्ज अद्वितीय और अनिर्वचनीय है।।२२।।

एकाकारस्वरसभरतोऽनन्तचैतन्यराजीः
सज्जः कर्तुं प्रतिपदममूर्निर्विभागावभासाः।
आ विश्वान्तान्निविडनिकषैर्विष्वगुद्भासमानः
स्वामिन्नेकः स्फुरदपि भवान् कृत्स्नमन्यत् प्रमार्ष्टि।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**स्वामिन्**) हे प्रभो ! (**एकाकारस्वरसभरतः**) एकाकार आत्मरस के भार से जो (**प्रतिपदं**) पद-पदपर (**अमूः**) इन (**अनंतचैतन्यराजीः**) अनंत चैतन्य के विकल्पों को (**निर्विभागावभासाः**) निरंश प्रकाश से युक्त (**कर्तुं**) करने के लिए (**सज्जः**) तत्पर हैं तथा जो (**आ विश्वान्तान्निविडनिकषैः**) लोकान्त तक प्रसरित सघन संघर्ष के द्वारा (**विष्वग्**) सब ओरसे (**उद्भासमानः**) सुशोभित हैं ऐसे (**भवान्**) आप (**एकः**) एक ही (**स्फुरदपि**) स्पष्ट प्रकाशमान होनेवाले (**अन्यत् कृत्स्नम्**) सूर्यादि अन्य समस्त पदार्थों को (**प्रमार्ष्टि**) साफ कर रहे हैं - उन्हें निष्प्रभ कर रहे हैं।

भावार्थ :- हे प्रभो ! चैतन्य - ज्ञान दर्शन में ज्ञेय के आलम्बन से जो अनंत विकल्प उठ रहे हैं उन्हें आप एकाकार आत्मरस के भार से एकरूप करने के लिए सदा उद्यत हैं। आपका कहना है कि यतश्च वे विकल्प एक चैतन्य की ही परिणति हैं अतः उनमें भेद नहीं है। '[१]ज्ञान, ज्ञेयप्रमाण है, और ज्ञेय, लोकालोक प्रमाण है अतः ज्ञान भी लोकालोक प्रमाण है' इस सिद्धांत के अनुसार आपका ज्ञान विश्व के अन्त तक बड़ी सघनता से व्याप्त हो रहा है। इसी ज्ञान से आप सब ओरसे शोभायमान है। इस ज्ञान के द्वारा आपने विश्व के सूर्यादि अन्य समस्त प्रकाशमान पदार्थों को निष्प्रभ कर दिया है।।२३।।

पीतं पीतं वमतु सुकृती नित्यमत्यन्तमेतत्
तावद्यावज्जवलति वमनागोचरो ज्योतिरन्तः।
तस्मिन् देव ज्वलति युगपत् सर्वमेवास्य वान्तं
भूयः पीतं भवति न तथाप्येष वान्ताद एव।।२४।।

१. प्रवचनसार गाथा-२३।

अन्वयार्थ :- (**नित्यं**) निरंतर (**पीतं-पीतं**) बार-बार पिये हुए (**एतत्**) इस विकारी भाव को (**सुकृती**) पुण्यशाली जीव (**अत्यंतं**) अत्यन्तरूप से (**तावत्**) तब तक (**वमतु**) उगलता रहे (**यावत्**) जब तक (**वमनागोचरः**) वमन का अगोचर - जिसका वमन न किया जा सके ऐसी (**ज्योतिः**) केवलज्ञानरूपी ज्योति (**अन्तः**) भीतर (**ज्वलति**) प्रकाशमान होती है। (**देव**) हे भगवन् ! (**तस्मिन् ज्वलति `सति'**) उस केवलज्ञानरूपी ज्योति के देदीप्यमान होनेपर (**अस्य**) इस जीव का (**सर्वमेव**) सभी विकारी भाव (**युगपत्**) एकसाथ उस तरह (**वान्तं**) वान्त हो जाता है - बाहर निकल जाता है कि जिस तरह वह (**भूयः**) पुनः (**पीतं न भवति**) ग्रहण में नहीं आता। इस प्रकार इस आत्मा ने यद्यपि समस्त पर पदार्थों का त्याग किया है तथापि (**तथापि एष वान्ताद एव**) ममत्वभाव से छोड़े हुए पदार्थों का ज्ञाता होनेसे उन्हें ज्ञेय के रूप में ग्रहण करता ही है।

भावार्थ :- यहाँ आचार्य ने पुण्यशाली जीवों को उन समस्त विकारी भावों के उगलने की प्रेरणा दी है जिन्हें उन्होंने अनादिकाल से ग्रहण कर रक्खा है। विकारी भावों के उगलने का उपदेश तब तकके लिए है जब तक अन्तरंग में दिव्यज्योति प्रकट नहीं हुई है क्योंकि उस दिव्यज्योति के प्रकट होनेपर समस्त विकारीभाव स्वयं ही बाहर निकल जाते हैं। इस प्रकार बाह्य पदार्थों का स्वामित्व की अपेक्षा त्याग होनेपर भी यह आत्मा उन पदार्थों को जानता रहता है अर्थात् ज्ञेय के रूप में ग्रहण करता रहता है।।२४।।

एकानेकं गुणवदगुणं शून्यमत्यन्तपूर्णं
नित्यानित्यं विततमततं विश्वरूपैकरूपम्।
चित्प्राग्भारग्लपितभुवनाभोगरङ्गत्तरङ्गै-
रुन्मज्जन्तं कलयति किल त्वामनेकान्त एव।।२५।।

अन्वयार्थ :- (**किल**) निश्चय से (**अनेकान्त एव**) अनेकान्त ही (**त्वाम्**) आपको (**एकानेकं**) एक-अनेक, (**गुणवदगुणं**) गुण सहित, गुण रहित, (**शून्यमत्यन्तपूर्ण**) शून्य-अशून्य, (**नित्यानित्यं**) नित्य-अनित्य, (**विततमततं**) व्यापक अव्यापक, (**विश्वरूपैकरूपम्**) विश्वरूप एकरूप तथा (**चित्प्राग्भारग्लपितभुवनाभोगरङ्गत्तरङ्गैः उन्मज्जन्तं**) चैतन्य के समूह से संसार के आभोग विस्तार को क्षीण करनेवाली ज्ञान की उठती हुई तरंगों से (**उन्मज्जन्तं**) उन्मग्न होता हुआ (**कलयति**) सिद्ध करता है।

भावार्थ :- एक ही पदार्थ में परस्पर विरोधी दो धर्मों के अस्तित्व का विवक्षावश निरूपण करना अनेकान्त है। यह अनेकान्त ही आपको द्रव्य की अपेक्षा एक और पर्याय की अपेक्षा अनेक सिद्ध करता है। भेदनय की अपेक्षा गुणसहित और अभेदनय की अपेक्षा गुणरहित बताता है। परकीय चतुष्टय अथवा विभावभावों की अपेक्षा शून्य और स्वकीय चतुष्टय अथवा स्वभावभावों की अपेक्षा पूर्ण सिद्ध करता है। सामान्य की अपेक्षा नित्य और विशेष की अपेक्षा अनित्य सूचित करता है। शरीर प्रमाण होनेकी अपेक्षा अव्यापक और लोकालोकावभासी ज्ञान की अपेक्षा व्यापक बतलाता है तथा ज्ञेय की अपेक्षा विश्वरूप और ज्ञान की अपेक्षा एकरूप कहता है। इनके अतिरिक्त आप लोकालोकव्यापी ज्ञान की तरंगों से सदा उन्मग्न रहते हैं यह भी अनेकान्त ही बतलाता है।।२५।।

ॐ

(२३)

हरिणी छन्दः

जयति परमं ज्योतिर्जैत्रं कषायमहाग्रह-
ग्रहविरहिताक्मपोद्योतं दिवानिशमुल्लसत्।
ज्वलति परितो यस्मिन् भावा वहन्ति तदात्मतां
हुतवहहठाखण्डग्रासीकृतेन्धनवत् समम्।।१।।

अन्वयार्थ :- (**जैत्रं**) जो कर्मरूप शत्रुओं को जीतने के कारण विजयशील है, (**कषायमहाग्रहग्रहविरहिताक्मपोद्योतं**) जिसका उद्योत - प्रकाश कषायरूपी महाग्रह की चपेट से रहित होनेके कारण अकम्प है - निश्चल है और जो (**दिवानिशम्**) रातदिन (**उल्लसत्**) सुशोभित रहती है ऐसी (**परमं ज्योतिः**) केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योति (**जयति**) जयवन्त है (**यस्मिन् परितः ज्वलति `सति'**) जिसके चारों ओर प्रकाशित रहने पर (**भावाः**) पदार्थ (**हुतवहहठाखण्डग्रासीकृतेन्धनवत्**) अग्नि के द्वारा हठ पूर्वक सर्वांगरूप से ग्रस्त ईंधन के समान (**समम्**) एकसाथ (**तदात्मतां**) ज्योतिः स्वरूपता को (**वहन्ति**) धारण करते हैं।

भावार्थ :- यहाँ आचार्य, भगवान् के केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योति का यशोगान करते हुए कहते हैं कि हे भगवन् ! आपकी वह केवलज्ञानरूपी ज्योति कर्मशत्रुओं को जीतने के कारण विजयशील है, कषायरूपी महापिशाच की पकड़ से रहित होनेके कारण निश्चल प्रकाश से सहित है, रातदिन देदीप्यमान रहती है और जिसप्रकार अग्नि से व्याप्त ईंधन अग्निरूप हो जाता है उसीप्रकार उसके भीतर प्रतिफलित होनेवाले पदार्थ उसीरूप हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं वे अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा ज्ञानाकार ही हो जाते हैं।।१।।

त्वमसि भगवन् विश्वव्यापिप्रगल्भचिदुद्गमो
मृदुरसदृशप्रज्ञोन्मेषैः स्खलद्भिरयं जनः।
तदलमफलैर्वाक्यक्रीडाविकारविडम्बनैः
कतिपयपदन्यासैराशु त्वयीश विशाम्ययम्।।२।।

अन्वयार्थ :- (**भगवन्**) हे भगवन् ! (**त्वम्**) आप (**विश्वव्यापिप्रगल्भचिदुद्गमः**) लोकालोक में व्याप्त चैतन्य के उद्गम - केवलज्ञान से सहित हैं और (**अयं जनः**) यह मैं (**स्खलद्भिः**) स्खलित होनेवाले (**असदृशप्रज्ञोन्मेषैः**) हीनाधिक प्रज्ञा के उन्मेषों से - अल्पतम क्षायोपशमिक ज्ञानों से (**मृदुः**) कोमल - मन्दबुद्धि है (**तत्**) इसलिए (**त्वयि**) आपके विषय में (**अफलैः**) निष्फल (**वाक्यक्रीडाविकारविडम्बनैः**) वचनक्रीडा के विकार को विडम्बित करनेवाले (**कतिपयपदन्यासैः**) कुछ पदों की रचना करना (**अलम्**) व्यर्थ है (**ईश**) हे नाथ ! (**अयम्**) यह मैं तो (**आशु**) शीघ्र ही - कुछ कहे बिना ही (**त्वयि**) आपमें (**विशामि**) प्रवेश कर रहा हूँ - चुपचाप आपकी शरण में आ रहा हूँ।

भावार्थ :- आप अनंत ज्ञान के स्वामी हैं और स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ मैं अत्यंत अल्पज्ञानी हूँ अतः कतिपय शब्दों के द्वारा आपकी स्तुति करना व्यर्थ है। मैं ज्ञान और शब्द दोनों से न्यून हैं, अतएव शब्दों द्वारा आपकी स्तुति करना मेरे लिए शक्य नहीं है। यही सब विचारकर मैं आपकी शरण में आया हूँ।।२।।

किमिदमुदयत्यानन्दौघैर्मनांसि विघूर्णयत्
सहजमनिशं ज्ञानैश्वर्यं चमत्कृतिकारितैः।
प्रसभविलसद्वीर्यारम्भप्रगल्भगभीरया
तुलयति दृशा विश्वं विश्वं यदित्यवहेलय।।३।।

अन्वयार्थ :- (**चमत्कृतिकारितैः**) चमत्कार के द्वारा उत्पादित (**आनन्दौघैः**) आनंद के समूहों से जो (**मनांसि**) मनों को (**विघूर्णयत्**) घुमा रहा है - चञ्चल कर रहा है ऐसा आपका (**इदं**) यह (**सहजं**) स्वाभाविक (**ज्ञानैश्वर्यं**) ज्ञानरूपी ऐश्वर्य (**किम्**) क्या (**अनिशं**) निरंतर (**उदयति**) उदय को प्राप्त हो रहा है (**यत्**) जिस कारण वह (**इति**) इस तरह (**अवहेलया**) अनादर भाव से (**प्रसभविलसद्वीर्यारम्भप्रगल्भगभीरया दृशा**) हठपूर्वक

प्रकट होनेवाले वीर्य के आरम्भ से अत्यंत गंभीर दृष्टि के द्वारा (**विश्वं विश्वं**) सम्पूर्ण विश्व को (**तुलयति**) तुलित करता है - जानता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपका ज्ञानसाम्राज्य अनंतज्ञान. अनंतदर्शन, अनंतवीर्य और अनंतबल से परिपूर्ण है।।३।।

ललितललितैरात्मन्यासैः समग्रमिदं जगत्-
त्रिसमयलसद्भावव्याप्तं समं ज्वलयन्नयम्।
तदुपधिनिभाद् वैचित्र्येण प्रपञ्च्य चिदेकतां
ज्वलसि भगवन्नेकान्तेन प्रसह्य निरिन्धनः।।४।।

अन्वयार्थ :- (**भगवन्**) हे भगवन् ! (**त्रिसमयलसद्भावव्याप्तं**) तीन कालसम्बन्धी पदार्थों से व्याप्त (**इदं**) इस (**समग्रं**) सम्पूर्ण (**जगत्**) जगत् को जो (**ललितललितैः**) अत्यन्त सुंदर (**आत्मन्यासैः**) ज्ञान रश्मियों से (**समं**) एक साथ (**ज्वलयन्**) प्रकाशित कर रहे हैं ऐसे (**अयम्**) यह आप (**एकान्तेन**) नियम से (**निरिन्धनः**) अन्य सहायकों के बिना ही (**तदुपधिनिभात्**) जगत्‌रूप उपधि के छल से (**चिदेकतां**) चैतन्य की एकता को (**वैचित्र्येण**) नानारूप से (**प्रपञ्च्य**) विस्तृत कर (**ज्वलसि**) देदीप्यमान हो रहे हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप तीन कालसम्बन्धी पदार्थों से व्याप्त समस्त जगत् को किसी बाह्य पदार्थों की सहायता के बिना ही जानते हैं और जानते समय एकरूपता को धारण करनेवाले उस ज्ञान को ज्ञेयों की विभिन्नता से अनेकरूपता को प्राप्त कराते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, एक और अनेक इन दो परस्पर विरोधी भंगों से सहित है। ज्ञान सामान्य की अपेक्षा वह एक है और अनेक ज्ञेयों के प्रतिबिम्बित होनेसे अनेकरूप है। यहाँ अनेक भंग का उल्लेख किया गया है।।४।।

समपतितया स्फीतस्फीतोद्विलासलसद्दृशा
स्वरसकुसुमं विश्वं विश्वात्तवेश विचिन्वतः।
किमपि परतो नान्तस्तत्त्वग्रहं प्रतिपद्यते
विकसति परं भिन्नाभिन्ना दृगेव समन्ततः।।५।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे स्वामिन् ! (**समपतितया**) समानरूप से पड़नेवाली (**स्फीतस्फीतोद्विलासलस दृशा**) अत्यधिक उत्कृष्ट विलास से सुशोभित दृष्टि के द्वारा (**विश्वात्**) समस्त जगत् से (**विश्वं**) सम्पूर्ण (**स्वरसकुसुमं**) आत्मस्वभावरूपी पुष्प को (**विचिन्वतः**) चुननेवाले (**तव**) आपकी (**दृग्**) दृष्टि (**परतः**) अन्य बाह्य परद्रव्य से (**किमपि**) कुछ भी (**अन्तस्तत्त्वग्रहं**) अन्तरंग तत्त्व के ग्रहण को (**न प्रतिपद्यते**) प्राप्त नहीं होती है (**परं**) किन्तु (**भिन्नाभिन्ना**) भिन्न होकर भी अभिन्न रहनेवाली (**दृगेव**) दृष्टि ही (**समन्ततः**) सब ओर (**विकसति**) विकसित होती है।

भावार्थ :- हे प्रभो ! यह संसार एक उद्यान है इस उद्यान से आप अपनी प्रखर दृष्टि के द्वारा देखकर आत्मस्वभावरूपी पुष्प को चुन रहे हैं। इस चुनने की क्रिया में आपकी दृष्टि किसी बाह्य पदार्थ की सहायता नहीं लेती है किन्तु वह स्वयं ही सब ओर विकसित होती है। हे भगवन् ! आपके जो केवलदर्शन प्रकट हुआ है वह परनिरपेक्ष है - उसे किसी अन्य सहायक की आवश्यकता नहीं है तथा उस केवलदर्शन के द्वारा आप संसार के अन्य पदार्थों से पृथक् शुद्ध आत्मस्वरूप को ही ग्रहण करते हैं। क्योंकि परमार्थ से केवलज्ञान और केवलदर्शन आत्मा को ही विषय करते हैं व्यवहार से लोकालोक को विषय करते हैं। वह केवलदर्शन गुणगुणी के भेद को अपेक्षा आपके आत्मा से भिन्न है और प्रदेशभेद न होनेसे अभिन्न भी है।।५।।

इदमतिभरान्नानाकारं समं स्नपयन् जगत्
परिणतिमितो नानाकारैस्तवेश चकास्त्ययम्।
तदपि सहजव्याप्त्या रुन्धन्नवान्तरभावनाः
स्फुरति परितोऽप्येकाकारश्चिदेकमहारसः।।६।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे भगवन् ! (**नानाकारं**) नाना आकारों से युक्त (**इदम्**) इस (**समं**) समस्त (**जगत्**) जगत् को (**अतिभरात्**) अत्यधिक रूप से (**स्नपयन्**) नहलाने वाला - जानने वाला (**तव**) आपका (**अयम्**) यह (**चिदेकमहारसः**) चैतन्यरूप अद्वितीय महान् रस यद्यपि (**नानाकारैः**) नाना आकारों से (**परिणतिमितः**) परिणति को प्राप्त हुआ है अर्थात् नाना पदार्थों को जानने से नाना रूप हुआ है (**तदपि**) तोभी (**सहजव्याप्त्या**) सहज-स्वभाव की व्याप्ति के (**अवान्तरभावनाः**) अवान्तर - अन्तर्गत भावनाओं को - ज्ञेयाश्रित

(**रुन्धन्**) विकल्पों को रोकता हुआ (**परितोऽपि**) सभी ओर (**एकाकारः**) एकाकार ही (**स्फुरति**) सुशोभित है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपका केवलज्ञान नाना पदार्थों को जानने की अपेक्षा यद्यपि नानारूप परिणति को प्राप्त हुआ है तथापि अपने सहज स्वभाव से जब घटपटादि अन्य अवान्तर पदार्थों की विवक्षा को गौण कर दिया जाता है तब वह एकाकार ही रहता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक दर्पण, नाना पदार्थों को प्रतिबिम्बित करने से नानारूप परिणमन करता हुआ प्रतीत होता है परंतु परमार्थ से वह एक ही रहता है इसीप्रकार नाना पदार्थों को जानने की अपेक्षा केवलज्ञान नानारूप परिणमन करता हुआ प्रतीत होता है परंतु परमार्थ से वह एकाकार ही रहता है।।६।।

सममुदयतः शान्तातङ्कैः स्वभावविलासिभि-
श्चिदचलकलापुञ्जैः पुञ्जीकृतात्मविशुद्धिभिः।
अयमतिभरक्षोभारम्भैः स्फुटानुभवस्तव
प्रलयमगमच्चित्राकारः कषायपरिग्रहः।।७।।

अन्वयार्थ :- (**शान्तातङ्कैः**) जिनमें समस्त भय शांत हो गये हैं (**स्वभावविलासिभिः**) जो स्वभाव में विलसित हो रहे हैं और (**पुञ्जीकृतात्मविशुद्धिभिः**) जिनमें आत्मा की विशुद्धता एकत्रित हुई है ऐसे (**चिदचलकलापुञ्जैः**) चैतन्य की अविनाशी कलाओं के समूह के (**समं**) साथ (**उदयतः**) अभ्युदय को प्राप्त होनेवाले (**तव**) आपका (**अतिभरक्षोभारम्भैः**) अत्यधिक क्षोभ के आरम्भ से (**स्फुटानुभवः**) स्पष्ट ही अनुभव में आनेवाला (**चित्राकारः**) नाना प्रकार का (**अयम्**) यह (**कषायपरिग्रहः**) कषायरूप परिग्रह (**प्रलयम्**) विनाश को (**अगमत्**) प्राप्त हुआ है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप निर्भय, स्वभाव में लीन तथा आत्मविशुद्धि से युक्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों के साथ इस आर्हन्त्य अवस्थारूप ऐश्वर्य को प्राप्त हुए हैं इससे सिद्ध है कि आपका वह कषायरूप परिग्रह पहले ही नष्ट हो गया था जो रागद्वेष के कारण स्पष्ट ही अनुभव में आ रहा था तथा इष्ट अनिष्ट विषयों के भेद से नाना प्रकार का था। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार देदीप्यमान ज्वालाओं के प्रकट होते ही अग्नि की सधूम अवस्था नष्ट हो जाती है उसी प्रकार केवलज्ञानादि गुणों के प्रकट होते ही आत्मा की सकषाय अवस्था नष्ट हो जाती है।।७।।

उदयसि यदा ध्वस्ताधारं भरात् परितः (तोऽ)स्खलत्
प्रविततमिदं सम्यक् संविद्वितानमुद्ञ्चयन्।
अयमभिवन्नन्तस्तत्त्वं जनस्य निराश्रय-
ष्टसिति कपटग्रन्थिर्गाढस्तदा प्रविलीयते।।८।।

अन्वयार्थ :- (**ध्वस्ताधारं**) जिसने बाह्य आधार को नष्ट कर दिया है तथा जो (**भरात्**) बड़ी प्रबलता से (**परितः अस्खलत्प्रतितम्**) चारों ओर अस्खलितरूप से विस्तृत हो रहा है ऐसे (**इदं**) इस (**सम्यक् संविद्वितानम्**) सम्यग्ज्ञान के समूह को (**उदञ्चयन्**) प्रकट करते हुए आप (**यदा**) जिस समय (**उदयसि**) उदय को प्राप्त होते हैं (**तदा**) उस समय (**जनस्य**) जीवों के (**अन्तस्तत्त्वम्**) अन्ततत्त्व को (**अभिभवन्**) अभिभूत - तिरस्कृत करनेवाली (अयम्) यह (**गाढः**) मजबूत (**कपटग्रन्थिः**) कपटरूपी गाँठ (**निराश्रयः**) निराधार होती हुई (**टसिति**) शीघ्र ही (**प्रविलीयते**) बिलकुल नष्ट हो जाती है।

भावार्थ :- जिस समय लोकालोकावभासी, असहाय केवलज्ञान प्रकट होता है उस समय लोगों के अन्तस्तत्त्व को आच्छादित करनेवाली मोहरूपी मजबूत गाँठ अपने आप खुल जाती है। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान मोहक्षयपूर्वक ही होता है।।८।।

विषयततयो भान्त्योऽत्यन्तं विमुक्तपरिग्रहे
भवति विकृतिव्यापाराय प्रभो न भवन्त्यमूः।
प्रकृतिमभितः संश्रित्येव स्फुटं तव चिन्मयीं
स्वरसविकसच्छुद्धाकम्पोपयोगपरिप्लुताः।।९।।

अन्वयार्थ :- (**प्रभो**) हे भगवन् ! (**अत्यंतं विमुक्तपरिग्रहे**) जिनका परिग्रह - मूर्च्छाभाव बिलकुल छूट गया है ऐसे (**भवति**) आपमें (**भान्त्यः**) प्रकट होनेवाली (**अमूः**) ये (**विषयततयः**) विषयों की पङ्क्तियाँ (**विकृतिव्यापाराय**) विकार उत्पन्न करने के लिये (**न भवन्ति**) समर्थ नहीं हैं सो जान पड़ता है कि वे (**तव**) आपकी (**चिन्मयीं प्रकृतिं स्फुटं संश्रित्येव**) चैतन्यरूप प्रकृति का स्पष्ट आश्रय लेकर ही मानों (**स्वरसविकसच्छुद्धाकम्पोपयोगपरिप्लुताः**) आत्मस्वभाव से विकसित होनेवाले शुद्ध और निश्चल शुद्धोपयोग से व्याप्त हो जाती हैं।

भावार्थ :- क्षायोपशमिक ज्ञान में जो स्पर्श रस गन्ध वर्ण तथा शब्दरूप विषय आते थे वे सराग अवस्था में विकार के कारण हो जाते थे परंतु अब आपके क्षायिक ज्ञान में जो विषय आते हैं वे सराग अवस्था के नष्ट हो जानेसे कुछ भी विकार उत्पन्न नहीं करते हैं इससे ऐसा जान पड़ता है मानों वे विषय आपके चैतन्य स्वभाव का आश्रय करके ही विकार उत्पन्न करने की सामर्थ्य से रहित हो गये हैं। तात्पर्य यह है कि स्पर्शादि विषय आपके ज्ञेय मात्र रह गये हैं भोग्य नहीं।।९।।

निबिडनिबिडे मोहग्रन्थौ प्रसह्य विलायिते
तव परमिदं ज्ञातृ ज्ञानं न कर्तृ न भोक्तृ च।
यदिह कुरुते भुङ्क्ते वा तत्तदेव सदैव तत्
किल परिणतिः कार्यं भोगः स्फुटोऽनुभवः स्वयम्।।१०।।

अन्वयार्थ :- (**निबिडनिबिडे**) अत्यन्त सघन (**मोहग्रन्थौ**) मोहरूपी गाँठ के (**प्रसह्य**) हठ पूर्वक (**विलायिते**) नष्ट किये जाने पर (**तव**) आपका (**इदं**) यह (**परं**) उत्कृष्ट (**ज्ञानं**) ज्ञान, (**ज्ञातृ**) ज्ञाता ही रह गया है (**कर्तृन**) कर्ता नहीं है (**च**) और (**भोक्तृ न**) भोक्ता नहीं है। (**इह**) इस जगत् में (**तत्**) वह ज्ञान (**यत् कुरुते**) जिसे करता है (**वा**) अथवा (**यत् भुङ्क्ते**) जिसे भोगता है (**तत्**) वह (**सदैव**) सदा ही (**तदेव**) ज्ञान ही है, अन्य नहीं क्योंकि (**किल**) निश्चय से (**परिणतिः**) परिणति ही (**कार्यं**) कार्य ही और जो (**स्वयं अनुभवः**) स्वयं अनुभव होता है वही (**स्फुटः भोगः**) स्पष्ट भोग है।

भावार्थ :- जबतक मोह रहता है तभी तक ज्ञान में कर्तृत्व और भोक्तृत्व का भाव रहता है मोह के निकल जानेपर ज्ञान, मात्र ज्ञाता रह जाता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व की विवक्षा में वह ज्ञान ही कर्ता और ज्ञान ही भोक्ता होता है अन्य नहीं।।१०।।

त्रिसमयलसद्विश्वक्रीडासुखैकमहीधरः
स्फुरसि भगवन्नेकोऽपि त्वं समग्रभरक्षमम्।
प्रतिपदमिदं वस्त्वेवं स्यादिति स्पृशतो दृशं
सहजकलनक्रीडा मूर्तेर्नचास्ति भ्र(प)रस्तव।।११।।

अन्वयार्थ :- (**भगवन्**) हे नाथ ! (**त्रिसमयलसद्विश्वक्रीडासुखैकमहीधरः**) तीनों कालों में सुशोभित समस्त क्रीडाओं सम्बन्धी सुख के अद्वितीय पर्वत (**त्वम्**) आप (**एकोऽपि**) एक होते हुए भी (**समग्रभरक्षमम् `यथा स्यात्तथा'**) समग्र भार के धारण करने में समर्थ जिस तरह हों उस तरह (**स्फुरसि**) देदीप्यमान हो रहे हैं। (**प्रतिपदं**) पद-पद पर (**इदं वस्तु एवं स्यात्**) यह वस्तु ऐसी है इस प्रकार (**दृशम्**) दर्शन का (**स्पृशतः**) स्पर्श करने वाले - धारण करने वाले (**तव**) आपकी (**सहजकलक्रीडा**) सहज स्वभाव में रमणरूप जो क्रीडा है वह (**मूर्तेः**) ज्ञानदर्शनरूप मूर्ति से (**परः न चास्ति**) भिन्न नहीं है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! त्रिकाल सम्बन्धी क्रीड़ाओं के सुख के आधारभूत आप एक होकर भी समस्त भार धारण करने में समर्थ हैं। आपके ज्ञान में वस्तु का जैसा परिणमन अवभासित है वैसा ही उसका स्वभाव है। आत्मा की जो सहज स्वभाव में रमणरूप क्रीडा है वह आपके ज्ञायक स्वभाव से पर नहीं है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार ज्ञान दर्शन गुण आपसे अभिन्न हैं उसी प्रकार सुख गुण भी आपसे अभिन्न है।।११।।

स्फुरति परितो बाह्यार्थानां य एष महाभरः
स्वरससरसा ज्ञानस्यैतास्तवैव विभूतयः।
स्फुरति न जडश्चित्संस्काराद्विनैव निराकुलः
कलय युगपल्लोकालोकौ परैकलङ्कितः।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**परितः**) चारों ओर (**बाह्यार्थानां**) बाह्य पदार्थों का (**य एष महाभरः**) जो यह महान् भार (**स्फुरति**) स्फुरायमान होता है (**एताः**) ये (**तव**) आपके (**ज्ञानस्यैव**) ज्ञान की ही (**स्वरससरसाः**) आत्मरस से सरस (**विभूतयः**) विभूतियाँ हैं क्योंकि (**चित्संस्कारात् विना**) चैतन्य के संस्कार के बिना (**जडः**) केवल जड अचेतन पदार्थ (**नैव स्फुरति**) चेष्टा नहीं करता है अतः (**निराकुलः**) पर की आकुलता से रहित और (**परैः**) अन्य पदार्थों से (**अकलङ्कितः**) - निरपेक्ष होते हुए आप (**युगपत्**) एक साथ (**लोकालोकौ**) लोक और अलोक को (**कलय**) जानें।

भावार्थ :- हे भगवन् ! चारों ओर जो बाह्य पदार्थों का महान् समूह विद्यमान है वह सब अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा ज्ञान का ही परिणमन है क्योंकि ज्ञान की चेष्टाओं के बिना केवल जड़ की चेष्टाएँ नहीं होती हैं। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार छद्मस्थ

जीव, इन्द्रियों के आधारभूत शरीर की चेष्टाओं से पदार्थों को जानते हैं उसप्रकार आप शरीर की चेष्टाओं से पदार्थों को नहीं जानते। आप पर से निरपेक्ष रहकर ही लोकालोक को जानते हैं। इन्द्रियों की प्रवृत्ति क्रम से होती है इसलिये क्षायोपशमिक ज्ञान का धारक छद्मस्थ क्रम से ही पदार्थों को जानता है परंतु आप क्षायिकज्ञान के धारक हैं तथा इन्द्रियों की सहायता से निरपेक्ष हैं अतः एक ही साथ लोकालोक को जाननेवाले हैं।।१२।।

दलितदलनैश्छिन्नच्छेदैर्विभिन्नविभेदनै-
रनवधिलसत्पर्यायौघैर्विभक्तमनन्तशः।
निशितनिशितैः शक्त्युद्‌गारैरवारितविक्रमैः
कलय कलशः कुर्वन्नेतत्समस्तमतन्द्रितः।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**दलितदलनैः**) खण्डित को खण्डित करनेवाले (**छिन्नच्छेदैः**) छिन्न को छेदनेवाले और (**विभिन्नविभेदनैः**) विभिन्न को विभिन्न करनेवाले अर्थात् अत्यंत सूक्ष्म (**अनवधिलसत्पर्यायौघैः**) सीमातीत एवं शोभायमान पर्यायों के समूह से (**अन्तशः**) अनन्तोंबार (**विभक्तं**) विभाग को प्राप्त हुए (**एतत् समस्तं**) इन समस्त पदार्थों को (**अतिन्द्रियः `सन्'**) आलस्य रहित होते हुए आप (**निश्चितनिशितैः**) अत्यन्त तीक्ष्ण और (**अवारितविक्रमैः**) जिनके विक्रम को कोई रोक नहीं सकता ऐसे (**शक्त्युद्‌गारैः**) शक्ति के उद्‌गारों से (**कलशः कुर्वन्**) खण्ड-खण्ड करते हुए (**कलय**) जानो।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ को अपनी तीक्ष्ण ज्ञानशक्ति के द्वारा और भी सूक्ष्म करते हुए जानते हैं।।१३।।

चितिहुतवहस्यैकाङ्गारीकृतं परितो हठा-
द्यदतिकलनात् त्रैकोल्यं ते भवत्यतिमुर्मुरः।
स्वयमतिशयस्फीतिं संश्रिद्विशेषगरीयसी
जगदविषयं ज्ञानानन्त्यं तवैव विभाति तत्।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**परितः**) सब ओरसे (**हठात्**) हठपूर्वक (**चितिहुतवहस्य**) चैतन्यरूपी

अग्नि के (**एकाङ्गारीकृतम्**) प्रमुख अङ्गाररूप किया हुआ (**त्रैलोक्यं**) तीन लोक का समूह (**यदतिकलनात्**) जिसके द्वारा अत्यंत सूक्ष्मरूप से ज्ञान होनेके कारण (**ते**) आपके लिये (**अतिमुर्मुरः**) अत्यंत सूक्ष्म तिलगा (**अंगार**) रूप (**भवति**) होता है, जो स्वयं (**विशेषगरीयसी**) अत्यधिक गुरुतर (**अतिशयस्फीतिं**) बहुतभारी विस्तार को (**संश्रित्**) प्राप्त हो रहा है तथा जो (**जगदविषयं**) जगत् का अविषय है अर्थात् जगत् के अन्य जीवों को प्राप्त नहीं है (**तत्**) वह (**ज्ञानानन्त्यं**) ज्ञान का अनन्तपना (**तवैव**) आपके ही (**विभाति**) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! जो तीन लोक का समूह ज्ञानरूपी अग्नि के भीतर अङ्गार के समान था वह ज्ञान की जिस अनन्तता के कारण खण्ड-खण्डरूप से ज्ञान होनेके कारण तिलगा (अंगार) के समान जान पड़ने लगा तथा जो ज्ञान का अनन्तपना स्वयं अतिशय विस्तार को प्राप्त है, जगत् में जो किसी अन्य को प्राप्त नहीं है ऐसा ज्ञान का अनन्तपना आपके ही है। तात्पर्य यह है कि आपही अनंत ज्ञान के धारक हैं।।१४।।

ककुभि ककुभि न्यस्यन् धामान्ययं न नभोमणिः
कलयति तव ज्ञानाग्न्येकस्फुलितङ्गतुलामपि।
स्वयमुपयती प्राधान्येन प्रकाशनिमित्तता-
मजडकणिकामात्रापि स्यान्न जातु जडोपमा।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**ककुभि ककुभि**) प्रत्येक दिशा में (**धामानि**) किरणों अथवा तेज को (**न्यस्यन्**) विखेरनेवाला (**अयं**) यह (**नभोमणिः**) सूर्य (**तव**) आपके (**ज्ञानाग्न्येकस्फुलिङ्गतुलामपि**) ज्ञानरूप अग्नि के एक तिलगे की उपमा को भी (**न कलयति**) नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि (**प्राधान्येन**) प्रधानता से (**प्रकाशनिमित्तताम्**) प्रकाश की निमित्तता को (**स्वयम् उपयती**) स्वयं प्राप्त होनेवाली (**अजडकणिकामात्रापि**) चैतन्य की एक कणिका भी (**जातु**) कभी (**जडोपमा**) जड़ के तुल्य (**न स्यात्**) नहीं हो सकती है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! चारों दिशाओं में अपरिमित तेज को विखेरनेवाला सूर्य, आपके ज्ञानरूपी अग्नि के एक तिलगा के समान भी नहीं है। ठीक ही है क्योंकि ज्ञान की प्रधाननिमित्तता को प्राप्त होनेवाली चेतन की एक कणिका भी कभी जड़ की उपमा को प्राप्त नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि सूर्य जड़ है अतः वह

ज्ञान की उपमा को प्राप्त नहीं कर सकता है।।१५।।

अगुरुलघुभिः षट्स्थानस्थैर्गुणैः सहजैर्व्रजन्
क्रमपरिणतिं संविच्चक्रे नियत्युपवेशितः।
प्रभवविलयावासाद्यापि प्रतिक्षणमक्षरस्त्यजसि
न मनाक् टङ्कोत्कीर्णां कदापि चिदेकताम्।।१६।।

अन्वयार्थ :- जो (**षट्स्थानस्थैः**) अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनंतगुणवृद्धि, इन छह स्थानों में स्थित (**सहजैः**) सहजस्वभाविक (**अगुरुलघुभिः गुणैः**) अगुरुलघु गुणों के द्वारा (**संविच्चक्रे**) ज्ञान के समूह में (**क्रमपरिणतिं**) क्रमपूर्ण परिणमन को (**व्रजन्**) प्राप्त होते हुए (**नियत्युपवेशितः**) सामान्य को अपेक्षा अपरिणमनशीलता से युक्त हैं तथा (**प्रभवविलयौ**) उत्पाद और व्यय को (**आसाद्य अपि**) प्राप्त करके भी (**प्रतिक्षणं**) प्रत्येक समय (**अक्षरः**) अविनाशी हैं - ध्रौव्यरूप हैं ऐसे आप (**कदापि**) कभी भी (**टङ्कोत्कीर्णां**) टाँकी के द्वारा उकेरी हुई के समान नित्य (**चिदेकताम्**) चैतन्य की एकता को (**मनाक्**) कुछ भी (**न त्यजसि**) नहीं छोड़ते हैं।

भावार्थ :- यद्यपि द्रव्यस्वभाव के कारण अनंतभागवृद्धि आदि छह स्थानों में परिवर्तन करनेवाले सहज सिद्ध अगुरुलघुगुणों के द्वारा आप ज्ञानादि गुणों में क्रम से परिणमन करते हैं तथापि नियति से सहित है अर्थात् सामान्यदृष्टि से अपरिणमनशील हैं और यद्यपि प्रत्येक क्षण उत्पाद और व्यय को प्राप्त हो रहे हैं तथापि ध्रौव्यरूप हैं ऐसे आप अपने चैतन्य स्वभाव - ज्ञानादि गुणों में रञ्चमात्र भी सामान्यचित्स्वभावता को नहीं छोड़ते हैं - सामान्य की अपेक्षा आप एक नित्य चैतन्यस्वभाव को धारण करनेवाले हैं।।१६।।

क्रमपरिणतैर्भावैर्भावस्समं न विगाह्यते
सममतिभरात्तैराक्लान्तो भवांस्तु विभाव्यते।
तदिदमुभयं भूतार्थं सन्मिथो न विरुध्यते
कलयसि सदा यद्भावानां विभो क्रममक्रमात्।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**भावः**) कोई भी पदार्थ (**क्रमपरिणतैः**) क्रम से परिणत होने वाले (**भावैः**) भावों के द्वारा (**समं**) एकसाथ (**न विगाह्यते**) युक्त नहीं होता है (**तु**) किन्तु (**भवान्**) आप (**तैः**) उन क्रमवर्ती भावों से (**समं**) एकसाथ (**अतिभरात्**) अत्यधिकरूप से (**आक्लान्तः**) युक्त (**विभाव्यते**) जान पड़ते हैं (**इदं तद् उभयं**) यह दोनों बातें (**भूतार्थ सत्**) यथार्थ होती हुई (**मिथो न विरुध्यते**) परस्पर विरुद्ध नहीं हैं (**यत्**) क्योंकि (**विभो**) हे प्रभो ! आप (**सदा**) निरंतर (**अक्रमात्**) एकसाथ (**भावानां क्रम**) पदार्थों के (**क्रमं**) क्रम को (**कलयसि**) धारण करते हैं।

भावार्थ :- संसार के अन्य पदार्थों में जो परिणमन होता है वह एक साथ न होकर क्रम से ही होता है परंतु आप उन क्रमवर्ती भावों से एकसाथ युक्त हैं। यह यद्यपि विरोधरूप मालूम पड़ता है तथापि विरोधरूप नहीं है क्योंकि क्रम-क्रम से परिवर्तित होने वाले पदार्थ आपके ज्ञान में एकसाथ समाये हुए हैं अर्थात् प्रत्येक पदार्थ के त्रिकालवर्ती परिणमन आपके ज्ञान में आ रहे हैं इस दृष्टि से यह कहा जाता है कि आप क्रमवर्ती भावों से एकसाथ युक्त प्रतीत होते हैं। तात्पर्य यह है कि आप पदार्थों के त्रिकालवर्ती परिणमन को अपने केवलज्ञान के द्वारा एकसाथ जानते हैं।।१७।।

स्वयमपि परात् प्राप्याकारं परोपकृतं वहन्
परविरहितः सर्वाकारैः परस्य सुनिर्भरः।
अवगमरसः शुद्धोऽत्यन्तं तवैष विजृम्भते
स्वभररभसव्यापारेण स्फुरन् सममात्मनि।।१८।।

अन्वयार्थ :- जो (**स्वयं**) स्वयं (**परात्**) पर पदार्थ से (**परोपकृतं**) पर के द्वारा उपकृत (**आकारं प्राप्य**) आकार को प्राप्त कर (**वहन् अपि**) धारण करता हुआ भी (**परविरहितः**) पर से रहित है तथा (**परस्य**) पर पदार्थ के (**सर्वाकारैः**) समस्त आकारों से (**सुनिर्भरः**) अत्यंत परिपूर्ण है (**शुद्धः**) रागादिक विकारों से रहित होनेके कारण शुद्ध है और (**स्वभररभसव्यापारेण**) स्वस्वभाव के वेगपूर्ण व्यापार से (**आत्मनि**) अपने आत्मा में (**समम्**) एकसाथ (**स्फुरन्**) प्रकट है ऐसा (**तव**) आपका (**एषः**) यह (**अवगमरसः**) ज्ञानस्वभाव (**अत्यंत**) अत्यधिक (**विजृम्भते**) वृद्धि को प्राप्त हो रहा है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपका ज्ञान अपनी स्वच्छता के कारण दर्पण के समान

परपदार्थ से उसके आकार को ग्रहण कर यद्यपि अपने आपमें धारण करता है तो भी वह परमार्थ से पर पदार्थ से रहित है तथा रहित होनेपर भी उसके आकार से परिपूर्ण है अर्थात् अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा परपदार्थों के आकार आपके ज्ञान में समाये हुए हैं। रागादिक विकारी भावों का समूल नाश हो जानेसे आपका ज्ञान अत्यंत शुद्ध है तथा अपने शुद्ध स्वभावरूप परिणमन से आत्मा में सदा विद्यमान रहता है। ऐसा यह आपका वीतराग विज्ञान है।।१८।।

अवगमसुधाधारासारैर्लसन्नपि सर्वत-
स्तदतिभरतो ज्ञानैकत्वं न नाम विगाहसे।
अवधिरहितैरेकद्रव्यश्रितैर्निजपर्ययै-
र्युगपदपरैरप्युल्लासं प्रयासि सुखादिभिः।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**अवगमसुधाधारासारैः**) ज्ञानरूप अमृत की धाराओं की अनवरत वृष्टि के द्वारा (**सर्वतः**) सब ओरसे (**लसन्नपि**) सुशोभित होते हुए भी आप (**तदतिभरतः**) उसके अत्यधिक भार से (**ज्ञानैकत्वं**) मात्र ज्ञान के साथ एकत्व को (**न नाम विगाह से**) नहीं प्राप्त होते हैं किन्तु (**अवधिरहितैः**) सीमातीत (**एकद्रव्यश्रितैः**) एक द्रव्य सम्बन्धी (**निजपर्ययैः**) अपनी पर्यायों से उपलक्षित (**सुखादिभिः अपरैः अपि**) सुखादिक अन्य गुणों के द्वारा भी (**युगपत्**) एकसाथ (**उल्लासं**) उल्लास को (**प्रयासि**) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप ज्ञानामृत की धाराओं से निरंतर आप्लावित रहते हैं इसलिये ऐसा लगता है कि आप मात्र ज्ञानरूप ही हैं, परंतु परमार्थ ऐसा नहीं है क्योंकि अपने अवान्तर परिणमनों से युक्त सुखादि अन्य गुणों के साथ आपकी तन्मयता अनुभव में आती है। तात्पर्य यह है कि आप ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनंत गुणों से युक्त हैं तथा वे सब गुण अगुरुलघुगुणों के कारण अपने आपमें परिवर्तित होते रहते हैं।।१९।।

सततमभितो ज्ञानोन्मेषैः समुल्लसति त्वयि
द्वयमिदमतिव्याप्त्यव्याप्ती विभो न विभाव्यते।

बहिरपि पतन् यच्छुद्धोऽसि स्वरूपपरायणः
पतसि च बहिर्विष्वक् शुद्धस्वरूपपरोऽपि यत्।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे प्रभो ! (**सततं**) निरंतर (**ज्ञानोन्मेषैः**) ज्ञान के उन्मेषों - विकल्पों से (**समुल्लसति**) सुशोभित होनेवाले (**त्वयि**) आपमें (**अतिव्याप्त्यव्याप्ती**) अतिव्याप्ति और अव्याप्ति (**इदं द्वयम्**) यह दोनों दोष (**न विभाव्यते**) प्रतीत नहीं होते (**यत्**) क्योंकि (**बहिः पतन् अपि**) बाह्य पदार्थों में पड़ते हुए भी - बाह्य पदार्थों को जानते हुए भी आप (**स्वरूपपरायणः शुद्धः असि**) आत्मरूप में तत्पर रहनेवाले शुद्ध हैं (**च**) और (**यत्**) क्योंकि (**शुद्धस्वरूपपरोऽपि**) शुद्ध स्वरूप में तत्पर होते हुए भी (**विष्वक्**) सब ओरसे (**बहिः पतसि**) बाह्य पदार्थों में पड़ते हैं - उन्हें जानते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप निरंतर ज्ञान के उन्मेषों से समुल्लसित हो रहे हैं अर्थात् निरंतर ज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानते हैं। परंतु आपका वह ज्ञान बाह्य पदार्थों में फैल कर अतिव्याप्ति दोष से और स्वरूप में न रह कर अव्याप्ति दोष से दूषित नहीं है क्योंकि जब वह बाह्य पदार्थों को जानता है तब स्वरूप को भी जानता है और जब स्वरूप को जानता है तब बाह्य पदार्थों को भी जानता है। तात्पर्य यह है कि आपका ज्ञान स्वपरव्यवसायी है - निज और पर दोनों को जाननेवाला है।।२०।।

सममतिभरादेतत् व्याप्य प्रभास्यबहिर्बहि-
स्तदपि न भवान् देवैकोऽन्तर्बहिश्च विभाव्यते।
प्रभवविलयारम्भे विष्वग् भवत्यपि यद्बहि-
स्त्रिसमयभुवष्टङ्कोत्कीर्णाः पराकृतयस्त्वयि।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे भगवन् ! यद्यपि (**भवान्**) आप (**समम्**) एकसाथ (**अतिभरात्**) अत्यधिकरूप से (**अबहिः**) भीतर और (**बहिः**) बाहर (**व्याप्य**) व्याप्त होकर (**प्रभासि**) सुशोभित हो रहे हैं (**तदपि**) तो भी (**अन्तः च बहिः**) भीतर और बाहर (**एको न विभाव्यते**) एक नहीं मालूम होते हैं (**यत्**) क्योंकि (**बहिः**) बाहर में (**विष्वक्**) सब और (**प्रभवविलयारम्भे**) उत्पाद और व्यय के आरम्भों के (**भवति अपि**) होनेपर भी अन्तरङ्ग में (**त्वयि**) आपमें (**त्रिसमयभुवः**) तीन कालों में होनेवाली (**पराकृतयः**) पर पदार्थों की

आकृतियाँ (**टङ्कोत्कीर्ण**) टांकी से उकेली हुई के समान निरंतर विद्यमान है। अर्थात् बाह्य में उत्पाद और व्यय से सहित होने पर भी आप अन्तरङ्ग में उनसे रहित हैं - केवल ध्रुवरूप हैं।

भावार्थ :- हे प्रभो ! आप यद्यपि भीतर और बाहर दोनों ओर एकसाथ व्याप्त होकर सुशोभित हैं तथापि एक नहीं हैं क्योंकि बाह्य में तो आप उत्पाद और व्यय से युक्त पदार्थाकृतियों को जानते हैं अतः तद्रूप हैं और अनंतरंग में पदार्थों की त्रिकाल सम्बन्धी आकृतियाँ आपमें टङ्कोत्कीर्ण हैं अतः ध्रौव्यरूप हैं।।२१।।

त्रिसमयजगत्कृत्स्नाकारैः करम्बिततेजसि
स्फुरति परितोऽप्येकत्रात्मन्यसौ पुनरुक्तता।
वदति पुरुषानन्त्यं किन्तु प्रभो त्वमिवेतरै-
र्विषयपतितैः प्रत्येकं ते स्फुरन्त्यकृतद्वयाः।।२२।।

अन्वयार्थ :- (**त्रिसमयजगत्कृत्स्नाकारैः**) त्रिकाल और त्रिलोक के समस्त आकारों से (**करम्बिततेजसि**) जिसका तेज व्याप्त है ऐसे (**एकत्र आत्मानि**) एक आत्मा के (**परितः स्फुरति अपि**) सब ओर प्रकट होने पर भी (**असौ पुनरुक्तता**) यह पुनरुक्तता (**पुरुषानन्त्यं वदति**) आत्मा की अनंतता को कहती है (**किन्तु**) किन्तु (**प्रभो**) हे नाथ ! (**ते**) वे (**प्रत्येकं**) प्रत्येक अन्य आत्माएँ (**त्वमिव**) आपके ही समान (**विषयपतितैः**) विषय में आये हुए (**इतरैः**) अन्य पदार्थों के द्वारा (**अकृतद्वयाः**) उत्पाद और व्यय को न करते हुए ध्रुवरूप (**स्फुरन्ति**) स्फुरित होती हैं - अनुभव में आती हैं।

भावार्थ :- हे प्रभो ! यद्यपि पदार्थों की त्रिकालवर्ती आकृतियों से युक्त आत्मा एक ही है तथापि ज्ञेयों की विभिन्नता से आत्मा भी विभिन्न हैं ऐसा उपचार से कहा जाता है परंतु वे विभिन्न आत्माएँ भी आपके इसी आत्मा के समान हैं अर्थात् जिस प्रकार आपका यह आत्मा ज्ञेय बनकर आये हुए अन्य द्रव्यों की आकृतियों से सहित है उसी प्रकार वे आत्माएँ भी ज्ञेय बनकर आये हुए अन्य द्रव्यों की आकृतियों से सहित हैं और अन्य द्रव्यों सम्बन्धी उत्पाद व्यय को करनेवाली नहीं हैं।।२२।।

दृगवगमयोर्दिव्योच्छ्‌वासा निरावरणस्य ते
भृशमुपचिताः स्फूर्यन्ते तेऽप्रकम्पमहोदयैः।

अपि हि बहुना तन्माहात्म्यं परेण न खण्ड्यते
यदतिभरतो गत्वाऽऽनन्त्यं पुरैव विजृम्भिताः।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**निरावरणस्य**) ज्ञानावरण और दर्शनावरण से रहित (**ते**) आपके (**भृशमुपचिताः**) अत्यधिक संचय के प्राप्त हुए (**ते**) वे (**दृगवगमयोः**) दर्शन और ज्ञान के (**दिव्योच्छ्‌वासाः**) दिव्य विकल्प (**अपि हि**) यद्यपि (**अप्रकम्पमहोदयैः**) निश्चल - स्थायी महान् अभ्युदय के साथ (**स्फूर्यन्ते**) वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथापि (**बहुना परेण**) बहुतभारी अन्य पदार्थ के द्वारा (**तन्माहात्म्यं**) उनका माहात्म्य (**न खण्ड्यते**) खण्डित नहीं होता है (**यत्**) क्योंकि वे (**अतिभरतः**) अत्यधिक भार से (**आनन्त्यं गत्वा**) अनंतपने को प्राप्त कर (**पुरैव**) पहले ही (**विजृम्भिताः**) विस्तार को प्राप्त हो चुके हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! ज्ञानावरण और दर्शनावरण के नष्ट हो जाने से आपके जो केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रकट हुए हैं उनके अनंत अविभाग प्रतिच्छेद हैं अथवा अनंत ज्ञेयों की अपेक्षा उनके अनंत अवान्तर विकल्प हैं। वे सब विकल्प स्थायीरूप से स्फुरित हो रहे हैं - प्रकट हो रहे हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शन के उन अवान्तर विकल्पों की महिमा अन्य द्रव्य के द्वारा खण्डित नहीं होती क्योंकि वे अन्य द्रव्य के सहयोग के बिना स्वयं ही अनन्तपने को प्राप्त कर विस्तृत हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि इनके अनंत अविभाग प्रतिच्छेद स्वतः सिद्ध हैं।।२३।।

युगपदखिलैरेकः साकं पदार्थकदम्बकैः
स्वरसविसरैस्त्वं व्यातुक्षीं भरादिव दीव्यसि।
अथ च न परान् सिञ्चस्युच्चैः परैश्च न सिच्यसे
स्फुरसि मिलिताकारैरेकोपयोगमहारसैः।।२४।।

अन्वयार्थ :- (**त्वम्**) आप (**एकः**) एक होकर भी (**युगपत्**) एकसाथ (**अखिलैः पदार्थकदम्बकैः साकं**) समस्त पदार्थसमूहों के साथ (**स्वरसविसरैः**) आत्मस्वभावरूप रस के समूह से (**भरादिव**) जोर से मानों (**व्यातुक्षीं**) फाग (**दीव्यसि**) खेल रहे हैं (**अथ च**) फिर भी (**परान् न सिञ्चसि**) आप दूसरे पदार्थों को नहीं सींचते हैं (**च**) और आप स्वयं भी (**परैः**) दूसरे पदार्थों के द्वारा (**न सिच्यसे**) नहीं सींचे जा रहे हैं। मात्र (**मिलिताकारैः**) जिसमें पदार्थसमूहों के आकार मिले हुए हैं ऐसे (**एकोपयोगमहारसैः**)

एक उपयोगरूप महारस से (**स्फुरसि**) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ :- परस्पर एक दूसरेपर रङ्ग डालना फाग खेलना कहलाता है। हे भगवन् ! आप अकेले ही अनंत पदार्थों के साथ फाग खेलते हैं। फाग खेलने का रङ्ग निजस्वभाव रस है परंतु आश्चर्य इस बात का है कि इस फाग में न तो आपने ही पर पदार्थों को अपने रंग से रंगा है और न परपदार्थों के द्वारा आप ही रंगे जा सके हैं। मात्र परपदार्थों के आकार आपके ज्ञानोपयोग में आकार मिल गये हैं। तात्पर्य यह है कि आप अपने ज्ञातृस्वभाव से संसार के समस्त पदार्थों को जानते हैं परंतु जानते समय आपका ज्ञातृत्वस्वभाव आपके पास रहता है और ज्ञेय बने हुए समस्त पदार्थ अपने स्थानपर रहते हैं। ज्ञान, ज्ञेयरूप नहीं होता और ज्ञेय, ज्ञानरूप नहीं होते। ऐसा ही पदार्थ का स्वभाव है। मात्र ज्ञान की स्वच्छता के कारण ज्ञान में ज्ञेयों के आकार प्रतिफलित होते हैं।।२४।।

अविरतमिमाः सम्यग्बोधक्रियोभयभावना-
भरपरिणमद्भूतार्थस्य स्फुरन्तु ममाद्भुताः।
परमसहजावस्थालग्नोपयोगरसप्लवन-
मिलिततमामन्दानन्दाः सदैव तव श्रियः।।२५।।

अन्वयार्थ :- (**सम्यग्बोधक्रियोभयभावनाभरपरिणमद्भूतार्थस्य**) सम्यग्ज्ञान और सम्यक् क्रिया इन दोनों की भावनाओं के समूह से जिसे भूतार्थ - परमार्थ तत्त्व की प्राप्ति हुई है ऐसे (**मम**) मेरे (**अविरतं**) निरंतर (**तव**) आपकी (**अद्भुताः**) आश्चर्यकारक तथा (**परमसहजावस्थालग्नोपयोगरसप्लवनमिलतामन्दानन्दाः**) उत्कृष्ट स्वाभाविक अवस्था में लगे हुए उपयोगरूपी रस में तैरने से जिनमें बहुत भारी आनंद आकर मिला है ऐसी (**इमाः**) ये (**श्रियः**) अनंत चतुष्टयरूप लक्ष्मियां (**सदैव**) निरंतर ही (**स्फुरन्तु**) प्रकट हों।

भावार्थ :- इस पच्चीसिका के अन्त में आचार्य स्तुति के फलस्वरूप यह आकांक्षा प्रकट करते हैं कि हे भगवन् ! मैं ज्ञाननय और क्रियानय के एकान्त से विमुक्त हो दोनों की भावना से यथार्थता को प्राप्त करूँ अर्थात् दोनों नयों की भावना से ही मैं यथार्थरूपता को प्राप्त हो सकता हूँ क्योंकि मात्र ज्ञाननय की चर्चा करनेवाले अथवा मात्र क्रियानय की चर्चा करनेवाले जीव इसी संसारसमुद्र में मग्न रहते हैं किन्तु इसके विपरीत जो दोनों का आलम्बन लेते हैं वे ही संसारसमुद्र से पार होते

हैं[१]।

आचार्यने दूसरी आकांक्षा यह प्रकट की है कि जब मैं उभय नयों के आश्रय से भूतार्थता को प्राप्त कर लूं तब मेरे भी आपकी ये आश्चर्यकारक अनंत चतुष्टयरूप लक्ष्मियाँ निरंतर प्रकट हों। इन लक्ष्मियों की विशेषता यह है कि इनके द्वारा अपने सहज स्वभाव में लीन उपयोगरूपी रसमें तैरने से बहुत भारी आनंद की प्राप्ति स्वयं हो जाती है।।२५।।

---

१. मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति य -
न्मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च।।१२।।

- कलश, पुण्यपापाधिकार।

ॐ

(२४)

शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः

एकानेकमपूर्णपूर्णमततप्रस्तीर्णगूढस्फुटं
नित्यानित्यमशुद्धशुद्धभितस्तेजो दधत्यद्भुतम्।
दिव्यानन्तविभूतिभासिनि चितिद्रव्ये जिनेन्द्रेऽधुना
मज्जामः सहजप्रकाशभरतो भातीह विश्वस्पृशि।।१।।

अन्वयार्थ :- (**एकानेकम्**) एक और अनेक (**अपूर्णपूर्ण**) अपूर्ण और पूर्ण (**अततप्रस्तीर्णगूढस्फुटम्**) अविस्तृत और विस्तृत, गूढ और प्रकट (**नित्यानित्यं**) नित्य और अनित्य (**अशुद्धशुद्धम्**) अशुद्ध और शुद्ध तथा (**अद्भुतं**) आश्चर्यकारक (**तेजः**) तेज को (**अभितः**) सब ओरसे (**दधति**) धारण करनेवाले (**दिव्यानन्तविभूतिभासिनि**) दिव्य तथा अनंत विभूति से विभूषित, (**सहजप्रकासभरतः**) सहज स्वाभाविक प्रकाश के भार से (**भाति**) सुशोभित होनेवाले तथा (**विश्वस्पृशि**) समस्त विश्व का स्पर्श करनेवाले - सर्वज्ञ, (**चितिद्रव्ये**) चैतन्यद्रव्यरूप (**इह जिनेन्द्र**) इन जिनेन्द्र भगवान् में हम (**अधुना**) इस समय (**मज्जामः**) निमग्न होते हैं - भक्ति से उनके गुण चिन्तनमें तल्लीन होते हैं।

भावार्थ :- जिनेन्द्र भगवान् जिस तेज को धारण करते हैं वह सामान्य से एक है, विशेष की अपेक्षा अनेक है, विभाव भावों से रहित होनेके कारण अपूर्ण है, स्वभाव भावों से सहित होनेके कारण पूर्ण है, शरीर प्रमाण होनेसे अतत है, लोकालोकावभासी ज्ञान में सहित होनेके कारण प्रस्तीर्ण - विस्तृत है, अल्पज्ञानियों के अगोचर होनेसे गूढ है, ज्ञानी जनों के द्वारा ग्राह्य होनेसे स्फुट-प्रकट है, सामान्य की अपेक्षा नित्य है और विशेष की अपेक्षा अनित्य है, अन्तर्ज्ञेयों के संपर्क से सहित होनेके कारण अशुद्ध है, अन्य द्रव्य के संपर्क से रहित होनेके कारण शुद्ध है इस प्रकार विरोधी

धर्मों से युक्त होनेके कारण आश्चर्यकारक है। श्री जिनेन्द्रदेव अनंतचतुष्टयरूप लक्ष्मी से विभूषित हैं, सहज प्रकाश के भार से सुशोभित हैं, सर्वज्ञ हैं तथा चैतन्य द्रव्यरूप हैं ऐसे जिनेन्द्रदेव में हम इस समय भक्ति से निमग्न होते हैं। सर्वतोभाव से हम अपना उपयोग उन्हीं में स्थिर करते हैं।।१।।

एकस्याक्रमविक्रमैकरसिनस्त्रैलोक्यचक्रक्रम-
क्रीडारम्भगभीरनिर्भरहतोत्फुल्लोपयोगात्मनः।
आनन्दोत्कलिकाभरस्फुटदतिस्पष्टस्वभावस्य ते
नाधन्याः प्रपिबन्ति सुन्दरमिदं रूपं सुगुप्तं स्वतः।।२।।

अन्वयार्थ :- (**एकस्य**) जो एक - अद्वितीय हैं, (**अक्रमविक्रमैकरसिनः**) क्रमहीन पराक्रम से परिपूर्ण हैं, (**त्रैलोक्यचक्रक्रमक्रीडारम्भगभीरनिर्भरहठोत्फुल्लोपयोगात्मनः**) तीनों लोकरूपी चक्र की क्रमपूर्ण क्रीडा के आरम्भ से गंभीर तथा अत्यधिक हठ से विकसित उपयोग ही जिनका स्वरूप है और (**आनन्दोत्कलिकाभरस्फुटदतिस्पष्टस्वभावस्य**) जिनका अत्यंत स्पष्ट स्वभाव आनंदरूपी उत्कृष्ट कलिकाओं के समूह से विकसित हो रहा है ऐसे (**ते**) आपके (**सुंदरं**) मनोज्ञ तथा (**स्वतः सुगुप्तं**) अपने आपसे सुरक्षित (**इदं रूपं**) इस रूपका (**अधन्याः**) भाग्यहीन प्राणी (**न प्रपिबन्ति**) पान नहीं करते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप तीनों लोकों में अद्वितीय हैं, अनंतवीर्य से युक्त हैं, तीन लोक के ज्ञाता उत्कृष्ट केवलज्ञानरूपी उपयोग से सहित हैं तथा आपका स्वभाव अनंतसुख से परिपूर्ण है। हे नाथ ! आपके स्वतः सुरक्षित इस सुंदर रूप का दर्शन भाग्यहीन नहीं करते हैं। निकटभव्य जीव ही आपके इस सुंदर रूप का दर्शन कर सकते हैं, भाग्यहीन मनुष्य नहीं।।२।।

निःसीम्नोऽस्य भरात् स्खलद्भिरभितो विश्वस्य सीम्न्युज्ज्वलै-
र्वल्गद् वल्गुनिराकुलैककलनक्रीडारसस्योर्मिभिः।
चैतन्यामृतपूरनिर्भरभृतं स्फीतं स्वभावश्रिया
पीत्वैतत् तव रूपमद्भुततमं माद्यन्ति के नाम न।।३।।

अन्वयार्थ :- (**अस्य निःसीम्नः विश्वस्य सीम्नि**) इस सीमातीत विश्व की सीमापर (**भरात्**) जोर से (**अभितः**) चारों ओर (**स्खलद्भिः**) टकरानेवाली (**उज्जवलैः**) निर्मल (**वल्गुनिराकुलैक कलनक्रीडाररसस्य**) सुंदर और निराकुल अद्वितीय परिणमनसम्बन्धी क्रीडारस की (**ऊर्मिभिः**) तरंगों से जो (**वल्गत्**) चञ्चल है (**चैतन्यामृतपूरनिर्भरभृतं**) चैतन्यरूप अमृत के पूर से जो अत्यंत भरा हुआ है, (**स्वभावश्रिया स्फीतं**) जो स्वाभाविक लक्ष्मी से विस्तृत है तथा (**अद्भुततमं**) अत्यंत आश्चर्य को करनेवाला है ऐसे (**तव**) आपके (**एतत् रूपं पीत्वा**) इस रूप को पीकर (**के नाम न माद्यन्ति**) कौन नहीं मत्त होते हैं ? अर्थात् सभी मत्त होते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपके इस अत्यंत अद्भुत रूप के दर्शन कर सभी लोग हर्ष से विभोर हो जाते हैं।।३।।

एकः कोऽपि हठावरुद्धरभसस्फारप्रकाशस्त्वया
चिद्वीर्यातिशयेन केवलसुधापिण्डः किलालोडितः।
यस्याद्याप्यतिवल्गुवल्गितवलत्कल्लोलमालावली
त्रैलोक्योदरकन्दरास्वतिभरभ्रश्यद्भ्रमं भ्राम्यति।।४।।

अन्वयार्थ :- (**हठावरुद्धरभसस्फारप्रकाशः**) जिसके विशाल प्रकाश का वेग हठपूर्वक रोका गया था ऐसा (**कोऽपि**) कोई (**एकः**) अद्वितीय (**केवलसुधापिण्डः**) केवलज्ञानरूपी अमृत का समूह (**किल**) निश्चय से (**त्वया**) आपके द्वारा (**चिद्वीर्यातिशयेन**) आत्मवीर्य के अतिरेक से (**आलोडितः**) आलोडित किया गया है - मथा गया है (**यस्य**) जिसकी (**अतिवल्गुवल्गितवलत्कल्लोलमालावली**) अत्यंत सुंदर उठती हुई चञ्चल तरंगों की पंक्तियों का समूह (**त्रैलोक्योदरकन्दररासु**) तीन लोक के मध्यरूपी गुफाओं में (**अद्यापि**) आज भी (**अतिभरभ्रश्यद्भ्रमं `यथास्यातथा'**) अत्यंत भार से भँवर को नष्ट करता हुआ (**भ्राम्यति**) घूम रहा है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपने आत्मवीर्य से उस केवलज्ञान को प्राप्त किया था जिसका प्रकाश अत्यधिक विस्तृत था तथा जिसकी तरंगावली आज भी तीन लोकों के भीतर अनवरत घूम रही है।।४।।

दृग्बोधद्रढिमोपगूढविततत्रैलोक्यभारोन्मुख-
व्यायामार्पितचण्डवीर्यरभसस्फारीभवज्ज्योतिषः।
उच्चण्डोत्कलिकाकलापबहुलाः संभूय मुञ्चन्ति ते
स्पष्टोद्योतविकाशमांसलरुचश्चैतन्यनीराजनाः।।५।।

अन्वयार्थ :- (**दृग्बोधद्रढिमोपगूढविततत्रैलोक्यभारोन्मुखव्यायामार्पितचण्डवीर्यरभसस्फारीभवज्ज्योतिषः**) ज्ञान दर्शन की दृढ़ता से आलिङ्गित अत्यंत विस्तृत तीन लोक का भार धारण करने के सन्मुख बहुतभारी प्रचण्ड वीर्य के वेग से जिनकी ज्योति विशाल हो रही हैं तथा (**उच्चण्डोत्कलिकानीराजना**) चैतन्यरूपी आरतियाँ (**संभूय**) मिलकर (**स्पष्टोद्योतविकाशमांसलरुचः**) स्पष्ट प्रकाश के विस्तार से परिपुष्ट कान्तियों को (**मुञ्चन्ति**) छोड़ रही हैं - प्रकट कर रही हैं।

भावार्थ :- यहाँ भगवान् के सामान्य चैतन्य गुण को आरतियों का रूपक दिया गया है जिस प्रकार आरतियों में अनेक कलिकायें होती हैं उसी प्रकार चैतन्यरूपी आरतियों में भी ज्ञान-दर्शन वीर्य तथा सुख आदि अनेक कलिकाएँ हैं। ये सभी कलिकाएँ अत्यंत तेजस्वी हैं। इनकी किरणावली अत्यधिक विस्तृत है तथा ये सभी मिलकर स्पष्ट प्रकाश से विस्तृत रुचि - कान्ति अथवा आत्मश्रद्धा को प्रकट कर रही हैं।।५।।

एकस्योच्छलदच्छबोधमधुरद्रव्यात्मनोन्मज्जतः
कोऽनेकान्तरदुराशया तव विभो भिन्द्यात्स्वभावं सुधीः।
उद्गच्छद्भिरनन्तधर्मविभवप्राग्भारभिन्नोदयै-
र्देवत्वं यदि नाद्यतः स्वयमपि स्वादान्तरैः साधयेत्।।६।।

अन्वयार्थ :- (**विभो**) हे भगवन् ! (**उद्गच्छद्भिः**) प्रकट होने वाले तथा (**अनंतधर्मविभवप्राग्भारभिन्नोदयैः**) अनंत धर्मरूप ऐश्वर्य के प्राग्भार से जिनका उदय विभिन्न प्रकार का हो रहा है ऐसे (**स्वादान्तरैः**) विशिष्ट सुखों से (**यदि**) यदि (**आद्यतः**) प्रारम्भ से (**स्वयमपि**) स्वयं भी (**देवत्वं**) देवपने को (**न साधयेत्**) सिद्ध नहीं करता है तो (**कः सुधीः**) कौन बुद्धिमान् (**अनेकान्तदुराशया**) अनेकान्त की दुराशा से (**एकस्य**) एक और (**उच्छलदच्छबोधमधुरद्रव्यात्मना**) बढ़ते हुए निर्मल ज्ञान से मनोहर द्रव्य स्वरूप की अपेक्षा

(**उन्मज्जतः**) प्रकट होनेवाले (**तव**) आपके (**स्वभावं**) स्वभाव को भिन्न करेगा? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ :- अनेकांत कहता है कि स्वभाव, स्वभाववान् से कथंचित् अभिन्न है और कथंचित् भिन्न है। दोनों में प्रदेशभेद नहीं है इसलिए तो अभिन्न है और संज्ञा संख्या लक्षण आदि में भेद होनेसे भिन्न है। यहाँ आचार्य कहते हैं कि हे विभो ! आपके स्वभाव को आपसे भिन्न कहनेवाला पुरुष यदि सुखादि गुणों के कारण आपमें देवपना सिद्ध नहीं कर लेता है तो मात्र अनेकान्त की सिद्धि के लिए स्वभाव को आपसे भिन्न सिद्ध करना दुराशामात्र है।।६।।

अन्योन्यात्मकतारसादिव मिथो मूर्च्छद्‌मिभरुच्चावरै-
र्देव स्वस्य विरुद्धधर्मनिवहैर्निर्माणमुद्दामयन्।
भावाभावकरम्बितैकविकसद्‌भावस्वभावस्य ते
भात्युच्चैरनवस्थितोऽपि महिमा सम्यक् सदावस्थितः।।७।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे भगवन् ! (**भावाभावकरम्बितैकविकसद्भावस्वभावस्य**) उत्पाद और व्यय अथवा अस्तित्व और नास्तित्व से व्याप्त मुख्यरूप से विकसित होनेवाला ध्रुवभाव जिनका स्वभाव है ऐसे (**ते**) आपकी वह (**महिमा**) महिमा, जो कि (**अन्योन्यात्मकतारसादिव**) परस्पर एकरूपता के स्नेह से ही मानों (**मिथो मूर्च्छद्भिः**) परस्पर मिलते हुए (**उच्चावरैः**) उच्च तथा हीन - मुख्य गौण (**विरुद्धधर्मनिबहैः**) विरुद्ध धर्मों के समूह से (**स्वस्य निर्माणम् उद्दामयन्**) अपने आपके निर्माण को बढ़ाती है, (**उच्चैः**) उत्कृष्ट है और (**अनवस्थितोऽपि**) स्थिर न होकर भी (**सदावस्थितः**) सदा स्थिर रहनेवाली है, (**सम्यक्**) अच्छी तरह (**भाति**) सुशोभित हो रही है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! उत्पाद और व्यय से सहित ध्रौव्यरूप से सदा विकसित रहनेवाला ज्ञान स्वभाव से युक्त आपकी उत्कृष्ट महिमा अत्यधिक सुशोभित हो रही है। हे प्रभो ! आपकी यह महिमा, परस्पर की एकरूपता को स्नेह से मानों मिले हुए परस्पर विरोधी धर्मों के समूह से समुत्पन्न है तथा उत्पाद और व्यय की अपेक्षा अनवस्थित होकर भी ध्रौव्यरूप से सदा अवस्थित है।।७।।

चिन्मात्रं परिशुद्धमुद्धतरसप्राग्भारमेकं सदा
चिच्छक्तिप्रकरैरनेकमपि च क्रीडत्क्रमादक्रमात्।
द्रव्याप्त्याऽतिनिरुत्सुकस्य वसतश्चित्पिण्डचण्डत्विषि
स्वात्मन्यद्य तवेश शाश्वतमिदं तेजो जयत्येव नः।।८।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे भगवन् ! (**द्रव्याप्त्या**) स्वात्मोपलब्धि होनेसे जो (**अतिनिरुत्सुकस्य**) अत्यंत निरुत्सुक हैं - बाह्य वस्तुओं की प्राप्ति के लिए अनुत्कण्ठित है, तथा (**चित्पिण्डचण्डत्विषि**) चैतन्य के पिण्ड से सूर्यतुल्य (**स्वात्मनि**) अपने आपमें जो (**वसतः**) निवास कर रहे हैं ऐसे (**तव**) आपका (**चिन्मात्रं**) चैतन्यमात्र, (**परिशुद्धं**) सब ओरसे शुद्ध (**उद्धतरसप्राग्भारं**) उत्कट आत्मरस से परिपूर्ण (**एकं**) एक (**सदा**) निरंतर (**क्रमात् अक्रमात्**) क्रम और अक्रम से (**चिच्छक्तिप्रकरैः**) आत्मशक्तियों के समूह के साथ (**क्रीडत्**) क्रीडा करनेवाला, तथा इस दृष्टि से (**अनेकमपि**) अनेकरूपता को भी प्राप्त, (**शाश्वतमिदम्**) यह स्थायी (**तेजः**) तेज (**अद्य**) आज (**नः**) हम लोगों के समक्ष - हमारी श्रद्धा का विषय बनता हुआ (**जयत्येव**) जयवन्त ही प्रवर्तता है।

भावार्थ :- इस श्लोक में आचार्य ने भगवज्जिनेन्द्र के वास्तविक रूप और उनके तेज का वर्णन करते हुए कहा है कि हे भगवन् ! आपको द्रव्य की प्राप्ति हो चुकी है अर्थात् परपदार्थ से भिन्न और स्वकीय गुण पर्याय से अभिन्न एकत्व विभक्त आत्मतत्त्व की उपलब्धि हो चुकी है अतः आप अन्य वस्तुओं की प्राप्ति के लिए अत्यंत निरुत्सुक हैं तथा आप चैतन्य के पिण्ड से सूर्य के समान देदीप्यमान अपने आपमें निवास करते हैं - आपका उपयोग परपदार्थों से हटकर स्वरूप में ही रम रहा है। इस प्रकार की विशेषता को प्राप्त करनेवाले आपका तेज भी अपनी खास विशेषता रखता है। वह चैतन्यमात्र है - उसमें से रागद्वेषरूप विकारी भावों की पुट निकल गई है, अत्यंत शुद्ध है, अत्यन्तरूप से प्रकट हुए आत्मस्वभाव से परिपूर्ण है, सामान्य की अपेक्षा एक है तथा क्रम और अक्रम से आत्मशक्तियों के समूह के साथ क्रीड़ा करने से अनेक भी है और शाश्वत है, स्थायी है। हे प्रभो ! ऐसा आपका तेज आज हमारी श्रद्धा का विषय बनता हुआ नियम से जयवन्त हो रहा है।।८।।

वर्त्स्यद्वृत्तविवर्तवर्तिमहसा द्रव्येण गुप्तायतिः
पर्यायैरवकीर्यमाणमहिमा नावस्थितिं गाहसे।

एकोऽपि त्वमखण्डखण्डितनिजप्राग्भारधीरः स्फुर-
च्चिद्भारोङ्ध्रुतमातनोषि परमं कस्येश नोत्पश्यतः।।९।।

अन्वयार्थ :- (**वत्स्यर्द्धृत्तविवर्तवर्तिमहसा**) भावी और भूतपर्यायों में व्याप्त तेज से युक्त (**द्रव्येण**) आत्मद्रव्य की अपेक्षा जो (**गुप्तायतिः**) दीर्घता को सुरक्षित रखते हैं अर्थात् अवस्थित हैं और (**पर्यायैः**) पर्यायों की अपेक्षा (**अवकीर्यमाणमहिमा**) जिनकी महिमा बिखरी हुई है ऐसे (**त्वं**) आप (**अवस्थितिं न गाह से**) स्थायित्व को प्राप्त नहीं हैं अर्थात् अनवस्थित हैं। इस प्रकार (**ईश**) हे प्रभो ! (**अखण्डखण्डितनिजप्राग्भारधीरः**) विवक्षावश अविभक्त और विभक्त आत्मस्वभाव से धीरे तथा (**स्फुरच्चिद्भारः**) देदीप्यमान चैतन्य के समूह से युक्त आप (**एकोऽपि**) एक होकर भी (**उत्पश्यतः**) अवलोकन करनेवाले (**कस्य**) किस मनुष्य के (**परमं**) अत्यधिक (**अद्भुतं**) आश्चर्य को (**न आतनोषि**) विस्तृत नहीं करते हैं अर्थात् सभीके आश्चर्य को विस्तृत कर रहे हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप द्रव्य की अपेक्षा अवस्थित हैं और पर्यायों की अपेक्षा अनवस्थित हैं तथा आपका निज शुद्धस्वभाव, स्वभाव और स्वभाववान् में प्रदेशभेद न होनेसे अविभक्त है और संज्ञा संख्या आदिका भेद होनेसे विभक्त है, साथ ही आपका चैतन्यपुञ्ज अतिशय देदीप्यमान है - केवलज्ञानादि गुणों से युक्त होनेके कारण अत्यंत सुशोभित हो रहा है इस तरह आप एक होकर भी सभी दर्शकों को आश्चर्य उत्पन्न कर रहे हैं।।९।।

यन्नास्तीति विभासि मासि भगवन्नास्तीति यच्च स्वयं
भावाभावमयं ततोऽसि किमपि त्वं देव जात्यन्तरम्।
भाव (वा) भावमयोऽप्यभावमहसा नाभावतां नीयसे
नित्योद्योतविकाशहासविलच्चित्पिण्डचण्डोद्गमः।।१०।।

अन्वयार्थ :- (**भगवन्**) हे भगवन् ! (**यत्**) जिस कारण आप (**नास्ति इति विभासि**) नास्तिरूप सुशोभित हैं (**च**) **और** (**यत्**) जिस कारण (**अस्तीति भासि**) अस्तिरूप सुशोभित हैं (**ततः**) उस कारण (**देव**) हे देव ! (**त्वं**) आप (**भावाभावमयं**) अस्ति-नास्तिरूप (**किमपि**) कोई (**जात्यन्तरम्**) विलक्षण द्रव्य (**असि**) हैं इस प्रकार (**नित्योद्योतविकाशहासविलसच्चित्पिण्ड-**

चण्डोद्गमः) नित्य प्रकाश के विकाशरूपी हाससे सुशोभित चैतन्यपिण्ड के द्वारा जिनका अभ्युदय अत्यंत तेजपूर्ण है ऐसे आप (**भावाभावमयोऽपि**) भाव-अभाव - दोनों रूप होते हुए भी (**अभावमहसा**) अभाव के प्रभाव से (**अभावतां न नीयसे**) अभावरूपता को प्राप्त नहीं कराये जाते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप स्वचतुष्टय की अपेक्षा भावरूप और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्ति रूप हैं इस तरह उभयरूप होनेपर भी आप निरंतर प्रकाशमान चैतन्य पिण्ड से युक्त होनेके कारण अभावरूपता को कभी प्राप्त नहीं होते हैं अर्थात् आपकी यह परम शुद्ध अवस्था शाश्वत है, क्षणस्थायी नहीं है। आपमें अभावरूपता का जो भंग है वह मात्र परचतुष्टय के अभाव की अपेक्षा है, स्वचतुष्टय के अभाव की अपेक्षा नहीं।।१०।।

विश्वाकारविकाशनिर्भरपरिच्छेदप्रभाभावना-
दन्तर्गूढमपि प्रकाशमभितस्तत्तत्स्वभावश्रिया।
भावाभावपिनद्धबोधवपुषि प्रद्योतमाने स्फुटं
त्वय्येतच्चितिवल्लिपल्लवतुलां त्रैलोक्यमालम्बते।।११।।

अन्वयार्थ :- (**भावाभावपिनद्धबोधवपुषि**) उत्पाद-व्यय अथवा अस्ति-नास्ति से व्याप्त ज्ञान ही जिनका शरीर है ऐसे (**त्वयि**) आपके (**स्फुटं `यथा स्यात्तथा'**) स्पष्टरूप से (**प्रद्योतमाने `सति'**) प्रकाशित रहनेपर (**विश्वाकारविकाशनिर्भरपरिच्छेदप्रभाभावनात्**) समस्त पदार्थों के आकार सम्बन्धी विकाश के बहुतभारी परिज्ञानरूपी प्रभा के सद्भाव से (**अन्तर्गूढमपि**) अन्तर्निमग्न होनेपर भी जो (**तत्तत्स्वभावश्रिया**) उस उस स्वभावरूप लक्ष्मी के द्वारा (**अभितः**) सब ओर (**प्रकाशं**) प्रकाशमान हो रहा है ऐसा (**एतत्**) यह (**त्रैलोक्यं**) तीनों लोकों का समूह (**चितिवल्लिपल्लवतुलाम्**) चैतन्य-ज्ञानदर्शनरूपी लता के एक पल्लव की उपमा को (**आलम्बते**) प्राप्त होता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! पदार्थों के उत्पाद व्यय अथवा आस्ति-नास्ति पक्ष को जाननेवाले ज्ञान से युक्त आपके विद्यमान रहते हुए यह लोकत्रितय अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा यद्यपि आपके ज्ञान में अन्तर्निमग्न है तो भी बाह्य में अपने-अपने पृथक् स्वभाव से प्रकाशमान है और आपके ज्ञान में झलकता हुआ ऐसा जान पड़ता है मानों ज्ञान-दर्शनरूप लता का एक पल्लव ही हो। तात्पर्य यह है कि आपका ज्ञान अनंत है

तथा उसके भीतर झलकनेवाला लोकत्रय अत्यंत अल्प है। आपका ज्ञान इतना अधिक विस्तृत है कि उसमें ऐसे-ऐसे अनंत लोकत्रित झलक सकते हैं।।११।।

अन्तःस्तम्भितसावधानहृदयैर्देवासुरैस्तर्कित-
श्चित्सङ्कोचविकाशविस्मयकरः कोऽयं स्वभावस्तव।
एकस्मिन् स्वमहिम्नि मग्नमहसः सन्त्योऽपि चिच्छक्तयः
स्वे स्फूर्त्या यदनन्तमेतदभितो विश्वं प्रकाश्यासते।।१२।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**अन्तः स्तम्भितसावधानहृदयैः**) अन्तरंग में निश्चल तथा प्रमाद से रहित हृदयवाले (**देवासुरैः**) देव और असुरों के द्वारा (**तर्कितः**) तर्क का विषय बनाया हुआ तथा (**चित्सङ्कोचविकाशविस्मयकरः**) चैतन्य-ज्ञानदर्शन के संकोच और विकाश के कारण आश्चर्य को करने वाला (**तव**) आपका (**अयं**) यह (**कः स्वभावः**) कौन स्वभाव है ? कि (**यत्**) जिससे (**चिच्छक्तयः**) आत्मा की शक्तियाँ (**एकस्मिन् स्वमहिम्नि**) अपनी एक महिमा में (**मग्नमहसः सन्त्यः अपि**) निमग्न तेज होती हुई भी (**स्फूर्त्या**) अपने बल से (**एतत् अनंतं विश्वं**) इस अनंत विश्व को (**अभितः प्रकाश्य**) सब ओरसे प्रकाशित कर (**स्वे**) अपने आपमें (**आसते**) स्थित हो रही हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! सुर और असुर अपने हृदय को अपने भीतर निश्चल और सावधान कर आपके स्वभाव का विचार करते हैं परंतु अशक्तिवश विचार नहीं कर सकते हैं। आपका स्वभाव ज्ञान की दृष्टि से विस्ताररूप है तो दर्शन की दृष्टि से संकोचरूप भी है। इस परस्पर विरुद्धता के कारण आपका स्वभाव सबको आश्चर्य में डालनेवाला है। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि आत्मा की अनंत शक्तियाँ अपने-अपने स्वभाव में स्थिर रहती हुई भी इस समस्त विश्व को प्रकाशित करती हैं और आपमें निर्बाधरूप से विद्यमान रहती हैं। तात्पर्य यह है कि आप परस्पर विरोधी अनंत शक्तियों के भाण्डार हैं।।१२।।

निष्कम्पैकदृढोपयोगसकलप्राणार्प्पणास्फोटिताः
स्पष्टानन्तरुचः स्वशक्तय इमा विष्वक् स्फुटन्त्यस्तव।
आक्रम्य क्रमसन्निवेशवशतो विश्वं समस्तं भराद्
भान्त्योऽपि प्रसभावरुद्धरभसा लीयन्त एव त्वयि।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**निष्कम्पैकदृढोपयोगसकलप्राणार्प्णणास्फोटिताः**) निश्चल एक दृढ़ उपयोग के सर्वस्व समर्पण से जो प्रकट हुई हैं (**स्पष्टानन्तरुचः**) जिनकी अनंत किरणें स्पष्ट हैं और जो (**विष्वक् स्फुटन्त्यः**) सब ओर प्रकाशमान हैं ऐसी (**इमाः**) ये (**तव**) आपकी (**स्वशक्तयः**) आत्मशक्तियाँ (**क्रमसन्निवेशवशतः**) क्रमिक सन्निवेश के वश से (**भरात्**) बलपूर्वक (**समस्तं विश्वं**) समस्त लोकालोक को (**आक्रम्य**) व्याप्त कर (**भान्त्योऽपि**) सुशोभित होने पर भी (**प्रसभावरुद्धरभसाः**) जिनका वेग हठपूर्वक रुक गया है ऐसी होती हुई (**त्वयि एव**) आपमें ही (**लीयन्ते**) विलीन हो जाती हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपकी जो अनंत आत्मशक्तियाँ सब ओर अनुभव में आ रही हैं वे उपयोग की अत्यंत स्थिरता से प्रकट हुई हैं, स्वयं अनंत अविभागी प्रतिच्छेद से युक्त हैं और ज्ञानदर्शन के द्वारा अपना विषय बनाने के कारण समस्त विश्व में व्याप्त हैं। अर्थात् लोक-अलोक को जानने-देखनेवाली हैं। इस प्रकार व्यवहारनय से यद्यपि ये सर्वत्र व्यापक हैं तथापि निश्चयनय से आपके निज आत्मा में ही विलीन हैं अर्थात् आत्मा को छोड़ अन्यत्र व्याप्त नहीं हैं।।१३।।

दृग्ज्ञप्तिस्फुरितात्मनास्यनवधिः सान्तः प्रदेशश्रिया
देव क्वाऽप्यवधिर्न भाति भवतस्तेनोपयोगात्मना।
किन्त्वत्रापि निजप्रदेशनियतानन्तोन्नमत्केलयो
वक्ष्यन्त्यक्षतविश्वघस्मरचिदुल्लासाः स्वयं सान्तताम्।।१४।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे भगवन् ! (**दृग्ज्ञप्तिस्फुरितात्मना**) दर्शन और ज्ञान से देदीप्यमान आत्मा के द्वारा आप (**अनवधिः**) सीमा से रहित अर्थात् अनंत और (**प्रदेशश्रिया**) प्रदेशों की लक्ष्मी के द्वारा (**सान्तः**) सीमासहित अर्थात् सान्त (**असि**) हैं। इसप्रकार (**तेन उपयोगात्मना**) उस उपयोग स्वरूप की अपेक्षा (**क्वापि**) कहीं भी (**भवतः**) आपकी (**अवधिः**) अवधि (**न भाति**) सुशोभित नहीं है यह ठीक है (**किन्तु**) किन्तु (**अत्रापि**) इस लोक में (**निजप्रदेशनियतानन्तोन्नमत्केलयः**) जिनकी अनंत उत्कृष्ट क्रीड़ाएँ अपने प्रदेशों में नियत हैं - उन्हें छोड़ अन्यत्र नहीं जाती हैं ऐसे (**अक्षतविश्वघस्मरचिदुल्लासाः**) अखण्डरूप से समस्त विश्व को अपना विषय बनानेवाले चैतन्यगुण के विलास - ज्ञानदर्शन गुण के विकल्प (**स्वयं**) अपने आप (**सान्तताम्**) अन्तसहितपने को (**वक्ष्यन्ति**) धारण करते हैं अर्थात् उनकी अपेक्षा आप सान्त हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आपका दर्शन और ज्ञान अनंतानंत अविभागी प्रतिच्छेदों से सहित होने तथा समस्त लोकालोक को अपना विषय बनाने से अनंत है और उनसे अभिन्न होनेके कारण आप भी अनंत हैं परंतु जब प्रदेशों की अपेक्षा विचार करते हैं तब मात्र असंख्यात प्रदेशों के धारक होनेसे आप सान्त हैं। इसतरह उपयोग - ज्ञानदर्शन की अपेक्षा सीमा-रहित होनेपर भी आप आत्मप्रदेशों की अपेक्षा सान्त ही हैं।।१४।।

मज्जन्तीव जगन्ति यत्र परितश्चिच्चन्द्रिकासागरे
दूरोन्मग्न इवैष भाति तदपि त्वय्येव मग्नः सदा।
लोकैकान्तनिमग्नपुण्यमहिमा त्वं तु प्रभो भाससे
भावानामचलाविचिन्त्यमहिमा प्रायः स्वभावोऽद्भुतः।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**यत्र**) जिस (**चिच्चन्द्रिकासागरे**) चैतन्यरूप चाँदनी के सागर में (**जगन्ति**) तीनों लोक (**मज्जन्तीव**) मानों डूब रहे हैं उसमें (**एषः**) यह लोक यद्यपि (**दूरोन्मग्न इव**) दूर से उखरा हुआ सा (**भाति**) सुशोभित होता है (**तदपि**) तो भी (**त्वय्येव**) आपमें ही (**सदा मग्नः**) निरंतर मग्न रहता है। (**प्रभो**) हे स्वामिन् (**लोकैकान्तनिमग्नपुण्यमहिमा**) लोक के अनंततक जिनकी पुण्य महिमा निमग्न-व्याप्त हो रही हैं ऐसे (**त्वं**) आप (**भाससे**) अतिशय सुशोभित हो रहे हैं। सो ठीक ही है क्योंकि (**भावनां**) पदार्थों की (**अचलाविचिन्त्यमहिमा**) अविनाशी और अचिन्तनीय महिमा से युक्त (**स्वभावः**) स्वभाव (**प्रायः**) प्रायःकर (**अद्भुतः**) आश्चर्यकारी होता है।

भावार्थ :- हे प्रभो ! आपके चैतन्यरूपी चाँदनी के सागर में ये तीनों जगत् ऐसे जान पड़ते हैं मानों डूब रहे हों और यह लोक यद्यपि आपसे उन्मग्न हुआ है - आपके ज्ञान से ही प्रकाशित हुआ है तथापि आपमें ही निमग्न हो रहा है - आपके ज्ञान में निरंतर आता रहता है। आपकी महिमा लोकान्त तक व्याप्त है इससे जान पड़ता है कि पदार्थों की अविनाशी और अचिन्त्य महिमा से युक्त स्वभाव प्रायः आश्चर्यकारी होता ही है।।१५।।

स्वान्तःकुड्मलितेऽपि केवलकलाचक्रेऽक्रमव्यापिनि
क्रीडत्क्रोडगृहीतविश्वमहिमा कोऽयं भवान् भासते

लीनस्य स्वमहिम्नि यस्य सकलानन्तत्रिकालवली
पूजास्त्रङ्मकरन्दबिन्दुकलिकाश्रेणिश्रियं गाहते।।१६।।

अन्वयार्थ :- जिनके (**केवलकलाचक्रे**) केवलज्ञान की कलाओं का समूह (**स्वान्तःकुड्मलितेऽपि**) अपने आपमें नियंत्रित होनेपर भी (**अक्रमव्यापिनि**) एकसाथ सर्वत्र व्याप्त हो रहा है (**स्वमहिम्नि**) अपनी महिमा में (**लीनस्य**) लीन रहनेवाले (**यस्य**) जिनके लिये यह (**सकलानन्तत्रिकालावली**) समस्त तथा अनंत त्रिकालवली - तीनों कालों की पंक्ति (**पूजास्त्रङ्मकरन्दबिन्दुकलिकाश्रेणिश्रियं**) पूजा का माला के मकरन्द की बिन्दुओं की कणसन्तति की शोभा को (**गाहते**) प्राप्त हो रही है तथा (**क्रीत्क्रोडगृहीतविश्वमहिमा**) जिनके सुशोभित अन्तरात्मा में समस्त पदार्थों की महिमा गृहीत है - प्रतिबिम्बित है ऐसे (**अयं भवान्**) यह आप (**कः**) कौन (**भासते**) सुशोभित हो रहे हैं ?

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप कौन हैं यह मैं निर्धार नहीं कर पा रहा हूँ क्योंकि आपके समस्त कार्य आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले हैं। जैसे आपके केवलज्ञान की कलाओं का समूह यद्यपि आत्मप्रदेशों की अपेक्षा अपने आपमें नियंत्रित है अर्थात् जितने क्षेत्र में आपके आत्मप्रदेश हैं उतने में ही व्याप्त हैं तथापि जानने की अपेक्षा वह सर्वत्र युगपद् व्याप्त हो रहा है अर्थात् लोकालोक को जानता है। आप अपने आपकी महिमा में स्वयं लीन हैं तथापि समस्त विश्व की महिमा आपमें अन्तर्निलीन है और यह तीनों कालों की आवलियाँ ऐसी जान पड़ती हैं मानों पूजा की माला के मकरन्द की बूंदों के कण ही हों।।१६।।

पूर्वश्चुम्बति नापरत्वमपरः पूर्वत्वमायाति नो
नैवान्या स्थितिरस्ति सन्ततभवत्पूर्वापरीभावतः।
दूरोद्गच्चदनन्तचिद्घनरसप्राग्भाररम्योदय-
स्त्वं नित्योऽपि विवर्तसे स्वमहिमव्याप्तत्रिकालक्रमः।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**पूर्वः**) पूर्व परिणमन (**अपरत्वं**) पश्चात् होनेवाले परिणमन का (**न चुम्बति**) स्पर्श नहीं करता है और (**अपरः**) पश्चात् होनेवाला परिणमन (**पूर्वत्वं**) पूर्ण परिणमन को (**नो आयाति**) नहीं प्राप्त होता है। पदार्थों में (**सन्ततभवत्पूर्वापरीभावतः**) निरंतर होनेवाले पूर्वापरीभाव से (**अन्या स्थितिः नैव अस्ति**) अन्य स्थिति नहीं है अर्थात् जिनमें

पूर्वापरी भाव होता है उनमें यही स्थिति चलती है। परंतु (**दूरोद्‍गच्छदनन्तचिद्‍घनरसप्राग्भाररम्योदयः**) दूर तक विस्तृत अनंत चैतन्यरूपी घनरस की अतिशयिता से जिनका उदय अत्यंत रमणीय है तथा (**स्वमहिमव्याप्तत्रिकालक्रमः**) अपनी महिमा से जिन्होंने तीनों कालों के क्रम को व्याप्त कर रक्खा है ऐसे (**त्वं**) आप (**नित्योऽपि**) नित्य होकर भी (**विवर्तसे**) परिवर्तित हो रहे हैं।

भावार्थ :- जिन पदार्थों में पूर्वपरीभाव होता है उनमें आगे-पीछे होनेका क्रम रहता है परंतु आप अपने अनंत चैतन्य स्वभाव से सदा विद्यमान रहने के कारण नित्य हैं - आपमें आगे-पीछे होने का क्रम नहीं है। साथ ही यह बात भी है कि आप नित्य होकर भी परिवर्तित होते हैं अर्थात् द्रव्यदृष्टि से आप अपरिवर्तित हैं तो पर्यायदृष्टि से परिवर्तित भी हैं। द्रव्यदृष्टि से आपकी महिमा त्रिकालवर्ती है।।१७।।

गम्भीरोदरविश्वगह्वरगुहासंवृत्तनित्योच्छ्वसत्-
प्रोत्तालोत्कलिकाकलापविलसत्कालानिलान्दोलनात्।
आरब्धक्रमविभ्रमभ्रमकृतव्यावृत्तिलीलायितै-
रात्मन्येव विवृत्तिमेति किल ते चिद्वारिपूरः स्फुरन्।।१८।।

अन्वयार्थ :- (**गम्भीरोदरविश्वगह्वरगुहासंवृत्तनित्योच्छ्वसत्प्रोत्तालोत्कलिकाकलापविलसत्कालानिलान्दोलनात्**) जिसका मध्य भाग अत्यंत गहरा है ऐसे विश्वरूप गहरी गृहा में परिवर्तित होनेसे निरंतर उठती हुई बहुत भारी विकल्पावलिरूप तरंगों के समूह से सुशोभित कालरूपी वायु के द्वारा चलाये जानेके कारण (**आरब्धक्रमविभ्रमभ्रमकृतव्यावृत्तिलीलायितैः**) प्रारम्भ किये हुए क्रमिक संचार के भ्रम से किये हुए परिवर्तन की लीला से जो (**स्फुरन्**) सुशोभित हो रहा है ऐसा (**ते**) आपका (**चिद्वारिपूरः**) चैतन्यरूपी जल का प्रवाह (**आत्मन्येव**) आत्मा में हो (**किल**) निश्चय से (**विवृत्तिम्**) परिवर्तन को (**एति**) प्राप्त है।

भावार्थ :- यहाँ भगवन् के चैतन्य को जलप्रवाह का रूपक दिया गया है। जिस प्रकार किसी गहरी गुफा में निरन्तर उलट-फेर करनेवाला जल का प्रवाह निरंतर उठती हुई कल्लोलों से युक्त होता है उसी प्रकार भगवान् का चैतन्य भी इस विश्व के मध्यभागरूपी गहरी गुफा में निरंतर पदार्थों के उठते हुए विकल्पों से उलट-फेर करता है। इस उलट-फेर की अपेक्षा वह अनित्य भी है और सामान्य स्वभाव

की अपेक्षा नित्य भी है।।१८।।

अन्तःक्षोभभरप्रमाथविवशव्याघूर्णनव्याकुला
बारम्बारमनन्तताडनभवद्विश्वस्वभावान्तराः।
कालास्फालचलत्कलाः कलयसि स्वामिन् सदा तूलव-
च्चित्तत्वाच्चलितैकचण्डिमगुणाद् द्रव्येण निष्कम्पितः।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**स्वामिन्**) हे नाथ ! यद्यपि आप (**द्रव्येण**) द्रव्य की अपेक्षा (**सदा**) सदा (**निष्कम्पितः**) निश्चल हैं - ध्रुवरूप हैं तथापि पर्याय की अपेक्षा (**तूलवच्चित्तत्वात्**) तूल के समान चञ्चलचित्त से युक्त होनेके कारण (**चलितैकचण्डिमगुणात्**) चञ्चलता को प्राप्त हुए प्रमुख तेजस्विता गुण से (**कालास्फालचलत्कलाः**) काल के थपेड़े से चञ्चल उन कलाओं को (**कलयसि**) प्राप्त हो रहे हैं जो (**अन्तःक्षोभभरप्रमाथविवशव्याघूर्णनव्याकुलाः**) अन्तर्गत क्षोभसमूह के आघातसम्बन्धी विवशता से उत्पन्न चंचलता से व्याकुल हैं तथा (**बारम्बारं**) बार-बार (**अनन्तताडनभवद्विश्वस्वभावान्तराः**) अनंत आघातों से जिनके समस्त स्वभावों में अन्तर उत्पन्न हो रहा है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! द्रव्यदृष्टि से यद्यपि आप निष्कम्प हैं - आपमें कोई परिवर्तन नहीं होता है तथापि पर्यायदृष्टि से आप अनेक अवान्तर परिणमनों को प्राप्त हो रहे हैं। उन परिणमनों में कालद्रव्य की सहायता से प्रत्येक समय सूक्ष्म परिवर्तन जारी रहता है। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा समय-समय में वे परिवर्तन होते रहते हैं तथा बार-बार के इस परिवर्तन से ऐसा जान पड़ने लगता है जैसा कि आपके समस्त स्वभाव में अन्तर पड़ रहा हो।।१९।।

स्वैरेवोल्लसितैरनन्तविततज्ञानामृतस्यन्दिभि-
स्तृप्यन् विश्वविसर्पिपुष्कलदृशा सौहित्यमस्यागतः।
सान्द्रानन्दभरोच्छलन्निजरसास्वादार्द्रमाद्यन्महाः
स्वस्मिन्नेव निराकुलः कलयसि स्वस्मिन् सदैव स्थितिम्।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**अनन्तविततज्ञानामृतस्यन्दिभिः**) अनंत विस्तृत ज्ञानरूपी अमृत को

झरानेवाले (**स्वैरेवउल्लसितैः**) अपने ही उल्लासों से जो (**तृप्यन्**) तृप्त हो रहे हैं ऐसे आप (**विश्वविसर्पिपुष्कलदृशा**) सब ओर विस्तृत होनेवाली (**दृष्टि के द्वारा** (**सौहित्यम् आगतः असि**) परम तृप्ति को प्राप्त हैं तथा (**सान्द्रानन्दभरोच्छलन्निजरसास्वादार्द्रमाद्यन्महाः**) प्रगाढ़ आनंद के भार से छलकते हुए आत्मरस के आस्वाद से जिनका आत्मतेज आर्द्र होता हुआ वृद्धि को प्राप्त हो रहा है ऐसे आप (**स्वस्मिन् एव निराकुलः**) अपने आपमें ही निराकुल हैं तथा (**स्वस्मिन् एव सदा स्थितिं कलयसि**) अपने आप में ही सदा स्थिति को प्राप्त हो रहे हैं - आत्मस्वरूप में ही लीन हो रहे हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप अपने ज्ञानानंदस्वभाव में लीन होकर आत्मरस का आस्वादन कर रहे हैं।।२०।।

निष्कर्तृत्वनिरीहितस्य सततं गाढोपयोगग्रह-
ग्रस्तानन्तजगत्त्रयस्य भवतोऽप्यन्येन कार्यं न ते।
शुद्धैकास्खलितोपयोगमहसः सोऽयं स्वभावः किल
ग्राह्याकारकरम्बितात्मवपुषः साक्षाद् यदुद्वीक्षणम्।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**निष्कर्तृत्वनिरीहितस्य**) कर्तृत्व बुद्धि से रहित होनेके कारण जो इच्छाओं से रहित हैं ऐसे (**ते**) आपको (**सततं**) निरंतर (**गाढोपयोगग्रहग्रस्तानन्तजगत्त्रयस्य भवतः अपि**) गाढ उपयोगरूपी ग्रह से अनंत त्रिभुवन को ग्रस्त करने पर भी (**अन्येन कार्यं न**) अन्य पदार्थों से कार्य नहीं है। (**ग्राह्याकारकरम्बितात्मवपुषः**) ज्ञेयों के आकार से युक्त आत्मस्वरूप का (**यद्**) जो (**साक्षात्**) साक्षात् (**उद्वीक्षणम्**) अवलोकन है (**सोऽयं**) यह (**किल**) निश्चय से (**शुद्धैकास्खलितोपयोगमहसः**) शुद्ध अद्वीतीय तथा कभी स्खलित न होनेवाले उपयोगरूपी तेज का (**स्वभावः**) स्वभाव है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप परपदार्थों के मात्र ज्ञाता हैं कर्ता नहीं, अतः अपने केवलज्ञानरूप उपयोग के द्वारा तीनों लोकों के ज्ञाता होनेपर भी आपको किसी अन्य पदार्थ से प्रयोजन नहीं है। ज्ञेयाकार से युक्त आत्मस्वरूप का जो अवलोकन है यही शुद्ध अद्वितीय तथा कभी नष्ट न होनेवाले उपयोग का स्वभाव है।।२१।।

उद्दामोद्यदनन्तवीर्यपरमव्यापारविस्तारित-
स्फारस्फारमहोर्मिमांसलदृशां चक्रे तव क्रीडति[1]।

आक्रम्याकुलकृष्टमर्ममहिमप्रोत्तानितां नस्त्विषो
भावानां ततयो निरंतरमिमा मुञ्चन्ति जीवं किल।।२२।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**तव**) आपकी (**उद्दामोद्यदनन्तवीर्यपरमव्यापारविस्तारितस्फार-स्फारमहोर्मिमांसलदृशां**) अत्यधिकरूप से प्रकट होनेवाले अनंत वीर्य के उत्कृष्ट व्यापार से विस्तारित बहुत भारी बड़ी-बड़ी तरंगों से परिपुष्ट दृष्टियों के (**चक्रे**) समूह के (**क्रीडति `सति**') क्रीडा करते रहते हुए (**नः**) हमारी (**त्विषः**) कान्ति की (**आकुलकृष्टमर्ममहिमप्रोत्तानितां**) अत्यधिक खींची हुई मर्मसम्बन्धी महिमा के विस्तार पर (आक्रम्य) आक्रमण कर (**भावानां इमाः ततयः**) विविध विकारी भावों की ये पंक्पियाँ (निरंतरं) सदा (**किल**) निश्चय से (**जीवं**) प्राण (**मुञ्चन्ति**) छोड़ रही हैं।

भावार्थ :- हे प्रभो ! अनंत वीर्य के व्यापारस्वरूप आपमें जो अनंत दृष्टियों का समूह प्रकट हुआ है उसे देख कर - उसका अनुभव कर हमारे ये विकारी भाव स्वयं अपने विस्तार को छोड़ निष्प्राण हुए जा रहे हैं। तात्पर्य यह है कि आपकी विविध दृष्टियों का विचार करते ही हमारे विकारीभाव समाप्त हो रहे हैं।।२२।।

दृग्बोधैक्यमयोपयोगमहसि व्याजृम्भमाणेऽभित-
स्तैक्ष्ण्यं संदधतस्तवेश रभसादत्यन्तमुद्यन्त्यमूः।
विश्वव्याप्तिकृते कृताद्भुतरसप्रस्तावनाडम्बरा-
दूरोत्साहितगाढवीर्यगरिमव्यायामसम्मूर्च्छनाः।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**ईश**) हे नाथ ! (**दृग्बोधैक्यमयोपयोगमहसि अभितः व्याजृम्भमाणे `सति**') केवलदर्शन और केवलज्ञान की एकता से तन्मय उपयोगरूपी तेज के सब ओर विस्तृत हो**नेपर** (**तैक्ष्ण्यं संदधतः तव**) तीक्ष्णता को अच्छी तरह धारण करनेवाले आपकी (अमूः) ये, (**विश्वव्याप्तिकृते**) समस्त जगत् में व्याप्त होनेके लिए (**कृताद्भुतरसप्रस्तावनाडम्बराः**) जिन्होंने अद्भुत रस की प्रस्तावना के आडम्बर को किया है ऐसी (**दूरोत्साहितगाढवीर्यगरिमव्यायामसमूर्च्छनाः**) दूर तक बढ़े हुए अनंत वीर्यसम्बन्धी गौरव की विस्तृत संमूर्च्छनाएँ - अत्यधिक चेष्टाएँ (रभसात्) वेगपूर्वक (अत्यन्तं) अतिशयरूप

१. सप्तम्यन्तः प्रयोगः।

से (उद्यन्ति) प्रकट हो रही हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! एक साथ प्रकट होनेके कारण एकरूपता को प्राप्त हुए आपके केवलदर्शन और केवलज्ञान प्रकट हो रहे हैं तथा साथ ही अनंत वीर्य की गरिमा का भी अत्यधिक विस्तार हो रहा है।।२३।।

निष्कम्पाप्रतिघोपयोगगरिमावष्टम्भसम्भावित-
स्वात्मारामममहोदयस्य भवतः किं नाम निर्वर्ण्यते।
यस्याद्यापि मनागुदञ्चितचलज्ज्ञानाञ्चलक्रीडया
हेलऽऽन्दोलितमाकुलं तत इतो विश्वं बहिर्घूर्णति।।२४।।

अन्वयार्थ :- (**सम्भावितस्वात्मारामममहोदयस्य**) निश्चल और निर्बाध उपयोग की गरिमा के आलम्बन से जिनके आत्मरमण का महान् उदय सम्पन्न हो रहा है ऐसे (**भवतः**) आपका (**किं नाम निर्वर्ण्यते**) क्या वर्णन किया जाय? (**यस्य**) जिनके कि (**अद्यापि**) आज भी (**मनागुदञ्चितचलज्ज्ञानाञ्चलक्रीडया**) कुछ प्रकट चंचल ज्ञान के एक अंचल की क्रीड़ा से (**हेलान्दोलितं**) अनायास ही चंचलता को प्राप्त हुआ (**आकुलं**) व्यग्र (**विश्वं**) जगत् (**इतस्ततः**) इधर-उधर (**बहिर्घूर्णति**) बाहर ही झूमता रहता है।

भावार्थ :- हे प्रभो ! आपके क्षायिक ज्ञानोपयोग की महिमा तो निराली है ही परंतु क्षायोपशमिक ज्ञानोपयोग की महिमा भी कम नहीं थी क्योंकि उसमें भी यह विश्व प्रतिफलित होता था और प्रतिफलित होकर भी उस ज्ञानोपयोग से बाह्य ही रहता था। भाव यह है कि ज्ञानोपयोग चाहे क्षायिक हो और चाहे क्षायोपशमिक हो, उसमें प्रतिबिम्बित होनेवाले ज्ञेय उससे भिन्न ही रहते हैं।।२४।।

उत्सङ्गोच्छलदच्छकेवलपयःपूरे तव ज्यायसि
स्नातोऽत्यन्तमतन्द्रितस्य सततं नोत्तार एवास्ति मे।
लीलान्दोलिततचिद्विलासलहरीभारस्फुटास्फालन-
क्रीडाजर्जरितस्य शीतशिववद् विष्वग् विलीनात्मनः।।२५।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**तव**) आपके (**ज्यायसि**) श्रेष्ठ (**उत्सङ्गोच्छलदच्छकेवलपयःपूरे**)

मध्य में छलकते हुए निर्मल केवलज्ञानरूपी जल के पूर में (**अत्यन्तं स्नातः**) जो अत्यन्त स्नान कर रहा है, (**सततम् अतन्द्रितस्य**) जो निरंतर आलस्यसे रहित है, (**लीलान्दोलितचिद्विलासलहरीभारस्फुटास्फालनक्रीडाजर्जरितस्य**) लीलापूर्वक चंचलता को प्राप्त चैतन्य विलास की तरंगावलीसम्बन्धी स्पष्ट उछालने की क्रीड़ा से जो जर्जरित हो रहा है, तथा (विष्वक्) सब ओरसे (**विलीनात्मनः**) जिसका आत्मा विलीन हो रहा है ऐसे (**मे**) मेरा ([1]**शीतशिववत्**) सैन्धव नमक के समान (**उत्तार एव नास्ति**) निकलना ही नहीं है।

भावार्थ :- जिस प्रकार सैन्धव नमक की डली पानी में डाली जानेपर उसीमें घूलकर विलीन हो जाती है उसी प्रकार हे भगवन् ! मैं भी आपके केवलज्ञानरूपी जल के पूर में अवगाहन कर उसीमें विलीन हो जाना चाहता हूँ अर्थात् आपके केवलज्ञान का यशोगान कर मैं केवलज्ञानी बनने की आकांक्षा करता हूँ।।२५।।

---

१. `सैन्धवोऽस्त्री शीतशिवं माणिबन्धं च सिन्धुजे।' इत्यमरः द्वितीयकाण्ड, वैश्यवर्ग श्लोक ४२।।

ॐ

(२५)

शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः

स्पष्टीकृत्य हठात् कथं कथमपि त्वं यत् पुनः स्थाप्यसे
स्वामिन्नुत्कटकर्मकाण्डरभसाद् भ्राम्यद्भिरन्तर्बहिः।
तद्देवैककलावलोकनबलप्रौढीकृतप्रत्ययै-
स्तुङ्गोत्सादगलत्स्वकर्मपटलैः सर्वोदितः प्रार्थ्यसे।।१।।

अन्वयार्थ :- (**स्वामिन्**) हे नाथ ! (**उत्कटकर्मकाण्डरभसात्**) तीव्र कर्मसमूह के वेग सेभीतर और बाहर (**भ्राम्यद्भिः**) भ्रमण करनेवाले अर्थात् भीतर भ्रमरूप प्रवृत्ति करनेवाले और बाहर चतुर्गति में भ्रमण करनेवाले पुरुषों के द्वारा (**त्वम्**) आप (**कथं कथमपि**) किसी-किसी तरह (**हठात्**) हठपूर्वक अर्थात् पुरुषार्थ की प्रबलता से (**स्पष्टीकृत्य**) स्पष्ट कर (**यत्**) जिस कारण (**पुनः**) फिर (**स्थाप्यसे**) रख दिये जाते हैं - छोड़ दिये जाते हैं (**तत्**) उस कारण (**देवैककलावलोकनबलप्रौढीकृतप्रत्ययैः**) आपकी एक कला के अवलोकन के बल से जिनका श्रद्धान दृढ़ हो गया है तथा (**तुङ्गोत्सादगलत्स्वकर्मपटलैः**) अत्यधिक उत्सादना - निर्जरा से जिनका अपना कर्मसमूह नष्ट हो रहा है ऐसे मनुष्यों के द्वारा (**सर्वोदितः `त्वम्'**) सब प्रकार से उदित हुए - सर्वोदयरूप अवस्था को प्राप्त हुए आप (प्रार्थ्यसे) प्राप्त किये जाते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! तीव्र कर्मोदय के कारण जिनकी आत्मा संशय से परिपूर्ण है और उसी कारण जो चारों गतियों में परिभ्रमण कर रहे हैं ऐसे लोग यदि पुरुषार्थ की प्रबलता से जिस किसी तरह आपका साक्षात्कार करते भी हैं तो वे आपको पुनः छोड़ देते हैं - कर्मोदय के कारण आपके प्रति उनकी श्रद्धा दृढ़ नहीं रह पाती है परंतु आपकी अनंत कलाओंमें-से एक कला के भी अवलोकन से जिनकी श्रद्धा

सुदृढ़ हो गई है तथा तीव्र उत्सादना - अत्यधिक निर्जरा से जिनका अपना कर्मपटल क्षीण हो गया है ऐसे लोग आपके सन्मुख आते हैं - आपकी श्रद्धा रखते हैं क्योंकि आप सर्वोदयरूप हैं सबका कल्याण करते हैं।।१।।

देवावारकमस्ति किञ्चिदपि ते किञ्चिज्ज्ञगम्यं न यद्
यस्यासौ स्फुट एव भाति गरिमा रागादिरन्तर्ज्वलन्।
तद्घातायतपश्यतामहरहश्चण्डः क्रियाडम्बरो (रः)
स्पष्टः स्पष्टसमामृतस्तव किल स्पष्टत्वहेतुः क्रमात्।।२।।

अन्वयार्थ :- (**देव**) हे भगवन् **[तस्य]** उस मनुष्य के लिए (**ते आवारकं किञ्चिदपि अस्ति**) आपके साक्षात्कार में 'आवरण' करनेवाला कोई कारण है (**यत्**) जो कि (**किञ्चिज्ज्ञगम्यं न**) अल्पज्ञ मनुष्यों के लिए गम्य नहीं है अर्थात् सूक्ष्म होनेसे जिसे अल्पज्ञ मनुष्य नहीं समझ सकते है। (**यस्य**) जिसके (**अन्तः**) भीतर (**ज्वलन्**) प्रकाशमान (**रागादिः गरिमा**) रागादिरूप विपुलता (**स्फुट एव भाति**) स्पष्ट ही प्रतिभासित है - [उसे आपका साक्षात्कार नहीं होता किन्तु (**तद्घातायतपश्यताम्**) उस रागादिरूप गरिमा के घात द्वारा दूर तक विचार करनेवाले पुरुषों का वह (**क्रियाडम्बरः**) क्रियाकलाप जोकि (**स्पष्टसमामृतः**) स्पष्ट समता भावरूपी अमृत से सहित है और (**क्रमात्**) क्रम से (**अहरहः**) प्रतिदिन-उत्तरोत्तर (**चण्डः**) वृद्धि को प्राप्त हो रहा है (**किल**) निश्चय से (**तव**) आपके (**स्पष्टः स्पष्टत्वहेतुः**) साक्षात्कार का स्पष्ट हेतु है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! आप इतने स्पष्ट हैं फिर भी सबको आपका साक्षात्कार नहीं होता - सबको आपकी प्रतीति नहीं होती, इसका कुछ भी तो कारण होना चाहिए और वह कारण इतना अन्तर्निहित - अन्तर्गूढ है जिसे साधारण मनुष्य समझ नहीं पाते हैं। वह कारण यही है कि जिसके भीतर रागादि दोष विद्यमान हैं तथा जो व्यर्थ के क्रियाकाण्ड में फँसा हुआ है उसे आपका साक्षात्कार नहीं होता। आपके साक्षात्कार का स्पष्ट कारण यह है कि अन्तरंग में विद्यमान रागादि विकारी भावों को क्रम से दूर किया जाय और चरणानुयोग में प्रतिपादित क्रियाओं को करते हुए उन्हें समता भावरूपी अमृत से युक्त किया जाय। अज्ञानी जीव इस वास्तविक कारण को समझ नहीं पाते हैं इसलिए वे आपके साक्षात्कार से वञ्चित रहते हैं। हे प्रभो ! मेरे यह सब बाधक कारण दूर हुए हैं अतः मैं आपका साक्षात्कार कर रहा हूँ अर्थात्

आपके शुद्ध स्वरूप की मुझे अनुभूति हो रही है।।२।।

पूर्वासंयमसञ्चितस्य रजसः सद्यः समुच्छित्तये
दत्त्वा दुर्द्धरभूरिसंयमभरस्योरः स्वयं सादराः।
ये पश्यन्ति बलाद् विदार्य कपटग्रन्थिं श्लथत्कश्मला-
स्ते विन्दन्ति निशातशक्तिसहजावस्थास्थमन्तर्महः।।३।।

अन्वयार्थ :- (**ये**) जो (**पूर्वासंयमसञ्चितस्य**) पूर्ववर्ती असंयम द्वारा संचित (**रजसः**) कर्मरूप धूलिको (**सद्यः**) शीघ्र ही (**समुच्छित्तये**) नष्ट करने के लिए (**दुर्धरभूरिसंयमभरस्य**) कठिन उत्कृष्ट संयम के समूह को (**उरः दत्त्वा**) हृदय देकर अर्थात् हृदय में उत्कृष्ट संयम धारण कर (**स्वयं सादराः**) स्वयं आदर से युक्त होते हुए (**बलात्**) बलपूर्वक (**कपटग्रन्थिं विदार्य**) कपट की गाँठ को विदीर्ण कर (**श्लथत्कश्मलाः**) क्षीण पाप होते हुए (**पश्यन्ति**) देखते हैं (**ते**) वे (**निशातशक्तिसहजावस्थास्थं**) तीक्ष्ण शक्तियों से युक्त सहज अवस्था में स्थित (**अन्तर्महः**) अन्तस्तेज को (**विन्दन्ति**) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :- जो पुरुष असंयम अवस्था में बद्ध कर्मपटल को नष्ट करने के लिए उत्कृष्ट संयम धारण करते हैं तथा उत्साह पूर्वक कपट की गांठ को विदीर्ण कर अपने पापभार को कम करते हैं वे ही अनंत शक्तियों से युक्त सहज-स्वभाव में स्थित आभ्यन्तर तेज - आत्म प्रकाश को प्राप्त करते हैं।।३।।

ये नित्योत्सहनात् कषायरजसः सान्द्रोदयस्पर्द्धक-
श्रेणीलङ्घनलाघवेन लघयन्त्यात्मानमन्तर्बहिः।
ते विज्ञानघनीभवन्ति सकलं प्राप्य स्वभावं स्वयं
प्रस्पष्टस्फुटितोपयोगगरिमग्रासीकृतात्मश्रियः।।४।।

अन्वयार्थ :- (**ये**) जो (**नित्योत्सहनात्**) निरंतर के उत्साह से (**कषायरजसः**) कषायरूपी धूलि के (**सान्द्रोदयस्पर्द्धकश्रेणीलङ्घनलाधवेन**) तीव्र उदयवाले स्पर्द्धक समूह के निराकरण सम्बन्धी शीघ्रता से (**आत्मानं**) अपने आत्मा को (**अन्तर्बहिः**) भीतर और बाहर (**लघयन्ति**) भारहीन करते हैं (**ते**) वे (**स्वयं**) अपने आप (**सकलं स्वभावं**) समस्त स्वभाव को (**प्राप्य**)

प्राप्तकर (**प्रस्पष्टस्फुरितोपयोगगरिमग्रासीकृतात्मश्रियः `सन्तः'**) अत्यंत स्वष्टरूप से प्रकट उपयोग की गरिमा-महिमा से आत्मलक्ष्मी को प्राप्त करते हुए (**विज्ञानघनीभवन्ति**) विज्ञानघन - पूर्णज्ञानमय हो जाते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! निरंतर चलनेवाले आत्मपुरुषार्थ से जो कषायरूपी धूलि के उदयागत स्पर्धकों को नष्ट आत्मा को भीतर-बाहर भारहीन करते हैं - द्रव्य और भाव निर्जरा करते हैं उनका उपयोग अन्य विषयों से हटकर एक आत्मस्वरूप में ही लीन होता है और ऐसे जीव अपने स्वभाव को प्राप्तकर विज्ञानघन - पूर्णज्ञानमय हो जाते हैं।।४।।

बाह्यान्तःपरिवृत्तिमात्रविलसत्स्वच्चन्ददृक्सम्विदः
श्रामण्यं सकलं विगाह्य सहजावस्थां विपश्यन्ति ये।
पूर्वावाप्तमपूर्वतां सपदि ते साक्षान्नयन्तः शमं
मूलान्येव लुनन्ति कर्मकुशलाः कर्मद्रुमस्य क्रमात्।।५।।

अन्वयार्थ :- (**बाह्यान्तःपरिवृत्तिमात्रविलसत्स्वच्छन्ददृक्सम्विदः**) जिनके स्वाधीन दर्शन और ज्ञान बाह्य और अभ्यन्तर के परिणमनमात्र से सुशोभित हो रहे हैं अर्थात् रागद्वेष के वशीभूत हो पदार्थासक्त नहीं है ऐसे (**ये**) जो जीव (**सकलं श्रामण्यं विगाह्य**) पूर्ण मुनित्व को प्राप्त कर (**सहजावस्थां विपश्यन्ति**) अपनी स्वाभाविक अवस्था का अवलोकन करते हैं अर्थात् अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर लक्ष्य रखते हैं तथा (**कर्मकुशलः**) चरणानुयोग प्रतिपादित क्रियाओं के करने में कुशल हैं (**ते**) वे जीव (सपदि) शीघ्र ही (**पूर्वावाप्तं**) पहले प्राप्त हुए (शमं) शान्तभाव को (**साक्षात्**) स्वयं (**अपूर्वतां नयन्तः**) अपूर्वता को प्राप्त कराते हुए (**क्रमात्**) क्रम से (**कर्मद्रुमस्य**) कर्मरूपी वृक्ष की (**मूल्यान्येव**) जड़ों ही (**लुनन्ति**) काट देते हैं।

भावार्थ :- `अन्तर्मुख प्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख प्रकाश को ज्ञान कहते हैं' इस परिभाषा से जिनके दर्शन और गुण मात्र बाह्य और आभ्यन्तर परिणमन से सुशोभित हो रहे हैं ऐसे जो जीव मुनिपद को धारणकर आत्मा की सहज-स्वाभाविक वीतराग सर्वज्ञदशा की ओर लक्ष्य रखते हैं, चरणानुयोग में प्रतिपादित क्रियाओं के करने में कुशल हैं और पूर्व प्राप्त आंशिक वीतरागता को निरंतर बढ़ाते रहते हैं वे ही क्रम से कर्मरूपी वृक्ष की जड़ों को काटकर निर्वाणधाम को प्राप्त होते हैं।।५।।

ये गृह्णन्त्युपयोगमात्मगरिमग्रस्तान्तरुद्यद्गुण-
ग्रामण्यं परितः कषायकषणादव्यग्रगाढग्रहाः।
ते तच्चैक्ष्ण्यमखण्डपिण्डितनिजव्यापारसारं श्रिताः
पश्यन्ति स्वयमीश शान्तमहसः सम्यक् स्वतत्त्वाद्भुतम्।।६।।

अन्वयार्थ :- (**परितः कषायकषणात्**) सब ओरसे कषाय के नष्ट होनेसे (**अव्यग्रगाढग्रहाः**) जिनकी दृढ़ पकड़ व्यग्रता से रहित है ऐसे (**ये**) जो जीव (**आत्मगरिमग्रस्तान्तरुद्यद्गुणग्रामण्यं**) आत्मगरिमा से युक्त भीतर ही भीतर प्रकट होनेवाले गुणसमूह से युक्त (**उपयोगं**) केवलज्ञानरूप उपयोग को (**गृह्णन्ति**) ग्रहण करते हैं (**ईश**) हे नाथ ! (**अखण्डपिण्डितनिजव्यापारसारं तत्तैक्ष्ण्यं श्रिता**) अखण्डरूप से एकत्रित आत्मसम्बन्धी श्रेष्ठ व्यापार से युक्त उस उपयोग की तीक्ष्णता को प्राप्त हुए (**ते**) वे जीव (**शान्तमहसः `सन्तः'**) प्रशांत तेज से सहित होते हुए (**स्वयं**) अपने आप (**स्वतत्वाद्भुतम्**) आत्मतत्त्व के आश्चर्य को (**सम्यक्**) अच्छी तरह (**पश्यन्ति**) देखते हैं - उसका अनुभव करते हैं।

भावार्थ :- जब तक कषाय का उदय विद्यमान रहता है तब तक यह जीव निश्चल भाव से अपना उपयोग अपने आपमें स्थिर करने के लिए असमर्थ रहता है परंतु जब कषाय का उदय सर्वथा नष्ट हो जाता है तब शुक्लध्यान के द्वारा यह जीव अपने उपयोग को अपने आपमें बड़ी दृढ़ता से स्थिर करता है और उसी दृढ़ता के कारण इसे केवलज्ञानरूपी वह उपयोग प्राप्त हो जाता है जिसमें आत्मा की गरिमा से समस्त अन्तर्गत गुणों का समूह प्रकट हो जाता है। हे भगवन् ! जो जीव उस केवलज्ञानरूप उपयोग की तीक्ष्णता को प्राप्त हो जाते हैं उनकी आत्मा की समस्त प्रवृत्तियाँ आत्मा में ही केन्द्रित हो जाती हैं और वे रागद्वेष से रहित शांतचित्त होते हुए आत्मतत्त्व के चमत्कार को स्वयं देखने लगते हैं।।६।।

चित्सामान्यविशेषरूपमितरत्संस्पृश्य विश्वं स्वयं
व्यक्तिष्वेव समन्ततः परिणमत् सामान्यमभ्यागताः।
अन्तर्बाह्यगभीरसंयमभरारम्भस्फुरज्जागराः
कृत्यं यत्तदशेषमेवकृतिनः कुर्वन्ति जानन्ति च।।७।।

अन्वयार्थ :- (**चित्सामान्यविशेषरूपम् अभ्यागताः**) चैतन्य के सामान्य और विशेषरूप को अर्थात् दर्शन और ज्ञानरूप परिणति को प्राप्त हुए जो पुरुष (**इतरत्**) आत्मा से भिन्न (**विश्वं**) विश्व का (**संस्पृश्य**) अच्छी तरह स्पर्शकर - उसे जानकर (**समन्ततः**) सब ओरसे (**स्वयं व्यक्तिष्वेव**) स्वयं अपने आपमें (**परिणमत्**) परिणत होनेवाले (**सामान्यं**) सामान्य दर्शनरूप परिणति को (**अभ्यागताः**) प्राप्त हुए हैं तथा (**अन्तर्बाह्यगभीरसंयमभरारम्भस्फुरज्जागराः**) अन्तरङ्ग और बहिरंग गम्भीर संयम समूह के धारण करने में जो निरंतर सावधान रहते हैं ऐसे (**कृतिनः**) कुशल मनुष्य (**यत् कृत्यं**) जो करने योग्य है (**तत् अशेषमेव**) उसे समस्तरूप से ही (**कुर्वन्ति**) करते हैं (**च**) और (**जानन्ति**) जानते हैं।

भावार्थ :- आत्मा के चेतना गुण की दो परिणतियाँ होती हैं एक दर्शनरूप और दूसरी ज्ञानरूप। दर्शनरूप परिणति आत्मा को विषय करती है और ज्ञानरूप परिणति समस्त अन्य पदार्थों को विषय करती है। दर्शनरूप परिणति को सामान्य और ज्ञानरूप परिणति को विशेष कहते हैं। प्रथम यह जीव, आत्मा और उसकी अतिरिक्त समस्त पदार्थों को विषय बनाता है - उन्हें जानता है परंतु जैसे-जैसे शुक्लध्यान में तल्लीनता बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही इसका उपयोग अन्य पदार्थों से हटकर एक आत्मा में ही केन्द्रित होने लगता है। इस प्रकार अन्य पदार्थों से उपयोग हटने पर जो आत्मा को ही विषय करते हैं और इस कारण चैतन्य की आत्मग्राही सामान्य परिणति को जो पुनः प्राप्त हुए हैं तथा अंतरंग बहिरंग चारित्र के धारण करने में जो निरंतर जागृत रहते हैं - सदा सावधानी बरतते हैं ऐसे कुशल मनुष्य अपने करने योग्य कार्य को सम्पूर्णरूप से जानते हैं और करते भी हैं तथा उसके फलस्वरूप कर्मकालिमा को नष्टकर मोक्ष पद प्राप्त करते हैं।।७।।

चित्सामान्यमुदञ्च्य किञ्चिदभितो न्यञ्चन्निजव्यक्तिषु
स्पष्टीभूतदृढोपयोगमहिमा त्वं दृश्यसे केवलम्।
व्यक्तिभ्यो व्यतिरिक्तमस्ति न पुनः सामान्यमेकं क्वचिद्
व्यक्त (व्यक्त) व्यक्तिभरः प्रसह्य रभसाद् यस्याशयाऽपोह्यते।।८।।

अन्वयार्थ :- (**चित्सामान्यम्**) चैतन्य सामान्य को (**किञ्चित्**) कुछ (**उदञ्च्य**) ऊँचा उठाकर उसे कुछ प्राधान्य देकर जो (**अभितः**) सब ओरसे (**निजव्यक्तिषु**) अपने विशिष्यरूपों में (**न्यञ्चन्**) निमग्न हो रहे हैं ऐसे (**त्वम्**) आप (**केवलं**) मात्र (**स्पष्टीभूतदृढोपयोगमहिमा**)

अत्यंत स्पष्ट स्थिर उपयोग की महिमा से युक्त (**दृश्यते**) दिखाई देते हैं। (**पुनः**) फिर (**एकं सामान्यं**) एक सामान्य (**क्वचित्**) कहीं (**व्यक्तिभ्यो व्यतिरिक्तं**) विशेषों से भिन्न (**न अस्ति**) नहीं है (**यस्य आशया**) जिसकी आशा से (**व्यक्तव्यक्तिभरः**) स्पष्ट अनुभव में आनेवाले विशेषों का समूह (**प्रसह्य**) हठपूर्वक (**रभसात्**) वेग से (**अपोह्यते**) दूर किया जाता है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! ऐसा एकांत नहीं है कि आप सामान्य को विषय करनेवाले दर्शनोपयोग से ही सहित हैं और विशेष को विषय करनेवाले ज्ञानोपयोग से रहित हैं। आपके सुदृढ़ उपयोग की महिमा अत्यंत स्पष्ट है उस महिमा के बल से आप चित् सामान्य को कुछ प्रधानता देकर अपने विशिष्ट रूपों में निमग्न हो जाते हैं। दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग एक चैतन्य सामान्य की दो पर्यायें हैं अतः जब पर्याय की ओर लक्ष्य रहता है तब ये दो उपयोग अनुभव में आते हैं परंतु जब चैतन्य सामान्य की ओर लक्ष्य रहता है तब उपयोग के इन दोनों विकल्पों से दृष्टि हटकर मात्र एक उपयोग ही में रम जाती है। यह बात जुदी है कि कभी सामान्य को प्राधान्य दिया जाता है और कभी विशेष को। ऐसा एकान्त अभिप्राय इष्ट नहीं है कि मात्र सामान्य ही ग्राह्य है विशेष नहीं क्योंकि विशेष से भिन्न ऐसा कोई सामान्य नहीं है जिसकी आशा से स्पष्ट अनुभव में आनेवाले विशेषों को सर्वथा छोड़ा जा सके।।८।।

बाह्यार्थ स्फुटयन् स्फुटस्यहरहस्त्वं यत् स्वभावः स ते
दृष्टः केन निरिन्धनः किल शिखी किं क्वापि जातु ज्वलन्।
बाह्यार्थ स्फुटयन्नपि त्वमभितो बाह्यार्थभिन्नोदय-
प्रस्पष्टस्फुटितोपयोगमहसा सीमन्तितः शोभसे।।९।।

अन्वयार्थ :- (**त्वम्**) आप (**यत्**) जो (**अहरहः**) प्रतिदिन - प्रतिसमय (**बाह्यार्थं स्फुटयन्**) बाह्य पदार्थ को स्पष्ट करते हुए (**स्फुटसि**) प्रकट हो रहे हैं - अनुभव में आ रहे हैं सो (**सः ते स्वभावः**) वह आपका स्वभाव है अर्थात् बाह्य पदार्थों को स्पष्ट जानना आपका स्वभाव है क्योंकि (**किल**) निश्चय से (**किं**) क्या (**क्वचित् जातु अपि**) कहीं कभी भी (**केन**) किसीके द्वारा (**निरिन्धनः**) ईधन के बिना (**ज्वलन्**) जलती हुई (**शिखी**) अग्नि (**दृष्टः**) देखी गई है ? अर्थात् नहीं देखी गई है। इतना अवश्य है कि (**त्वम्**)

आप (**बाह्यार्थं स्फुटयन् अपि**) बाह्य पदार्थों को जानते हुए भी (**अभितः**) सब ओर (**बाह्यार्थ भिन्नोदयः**) बाह्य पदार्थों से भिन्न रहते हैं तथा (**प्रस्पष्टस्फुटितोपयोगमहसा**) स्पष्टरूप से प्रकट उपयोग के तेज से (**सीमन्तितः**) युक्त होते हुए (**शोभसे**) सुशोभित रहते हैं।

भावार्थ :- जिस प्रकार ईंधन को जलाना अग्नि का स्वभाव है उसी प्रकार ज्ञेय को जानना ज्ञान का स्वभाव है। वह ज्ञेय बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का होता है। घट-पटादि बाह्य ज्ञेय है और ज्ञान की भीतर पड़ा हुआ उनका विकल्प अन्तर्ज्ञेय है। ऐसा एकान्त नहीं है कि ज्ञान अन्तर्ज्ञेय को ही जानता है या बहिर्ज्ञेय को ही । अन्तर्ज्ञेय, बहिर्ज्ञेय से सम्बन्ध रखता है अतः जहाँ अन्तर्ज्ञेय के जानने की बात कही जाती है वहाँ बहिर्ज्ञेय का जानना स्वयंसिद्ध है क्योंकि अन्तर्ज्ञेय को जाने बिना बहिर्ज्ञेय का ज्ञान संभव नहीं है। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि हे भगवन् ! आप ज्ञानस्वभाव के कारण बाह्य पदार्थों को यद्यपि प्रतिसमय जानते हैं तथापि उनसे भिन्न रहते हैं जिस प्रकार मयूर के प्रतिबिम्ब से युक्त होनेपर भी दर्पण मयूर से भिन्न रहता है उसी प्रकार आपका ज्ञान, घट-पटादि बाह्य पदार्थों के विकल्पों से युक्त होने पर भी उनसे भिन्न रहता है।।९।।

बाह्यार्थान् परिहृत्य तत्त्वरसनादात्मानमात्मात्मना
स्वात्मारामममुं यदीच्छति भृशं सङ्कोचकुब्जोऽस्तु मा।
क्षिप्यन्तं प्रसभं बहिर्मुहुरमुं निर्मथ्य मोहग्रहं
रागद्वेषविवर्जितः समदृशा स्वं सर्वतः पश्यतु।।१०।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! (**आत्मा**) आपका आत्मा (**तत्त्वरसनात्**) परमार्थ का रसिक होनेसे (**बाह्यार्थान् परिहृत्य**) बाह्य पदार्थों को छोड़कर (**यदि**) यदि (**आत्मना**) अपने आपके द्वारा (**स्वात्मारामं**) स्वस्वभाव में रमण करनेवाले (**आत्मानं**) अपने आत्मा को (**इच्छति**) चाहता है तो (**भृशं**) अत्यधिक (**सङ्कोचकुब्जो मा अस्तु**) सङ्कोच से कुबड़ा (**छोटा**) न हो अर्थात् बाह्य पदार्थों को छोड़कर मात्र अपने आत्मा में ही संकुचित न रहे। (**मुहुः**) बार-बार (**प्रसभं**) हठपूर्वक (**बहिक्षिप्यन्तं**) बाह्य पदार्थों में ले जानेवाले (**अमुं मोहग्रहं**) इस मोहरूपी ग्रह को (**निर्मथ्य**) नष्टकर (**रागद्वेषविवर्जितः `सन्'**) रागद्वेष से रहित होता हुआ (**समदृशा**) समदृष्टि से (**स्वं**) अपने आपको (**सर्वतः**) सब ओर (**पश्यतु**) देखे।

भावार्थ :- स्वरूप समावेश के लिये यह आवश्यक नहीं है कि बाह्य पदार्थों को छोड़कर मात्र आत्मस्वरूप को ही जाना जाय किन्तु यह आवश्यक है कि जो मोहरूपी पिशाच इस आत्मा को बार-बार बाह्य पदार्थों में खींचकर ले जाता है उसे नष्ट किया जाय। मोहरूपी पिशाच के नष्ट होनेपर आत्मा रागद्वेष से रहित हो जावेगा और उस स्थिति में वह स्व तथा पर दोनों को जानने पर भी स्वरूप में समाविष्ट रह सकेगा। तात्पर्य यह है कि वीतराग दृष्टि ही स्वरूप समावेश का धन है।।१०।।

दृष्टोऽपि भ्रमकृत् पुनर्भवसि यद् दृष्टिं बहिर्न्यस्यतः
कस्यापि स्वककर्मपुद्गलबलक्षुभ्यत्त्विषस्त्वं पशोः।
तेनैवोत्कटपिष्टपेषणहठभ्रष्टं स्वकर्मेच्छवः
सम्यक् स्वोचितकर्मकाण्डघटनानित्योद्यता योगिनः।।११।।

अन्वयार्थ :- (**दृष्टिं बहिर्न्यस्यतः**) जो अपनी दृष्टि को बाहर रख रहा है तथा (**स्वककर्मपुद्गलबलक्षुभ्यत्त्विषः**) जिसकी आत्मदीप्ति अपने कर्मरूप पुद्गल के बल से क्षोभ को प्राप्त हो रही है ऐसे (**कस्यापि पशोः**) किसी अज्ञानी जीव को (**त्वम्**) आप (**यत्**) जिस कारण (**दृष्टोऽपि**) दृष्टि में आकर भी (**पुनः**) फिर (**भ्रमकृत्**) भ्रम को करनेवाले (**भवसि**) होते हैं। अर्थात् जो पुरुष मात्र बहिर्दृष्टि है उसे कदाचित् आपका श्रद्धान होता भी है तो वह पुनः भ्रम में पड़ जाता है (**तेनैव**) उसी कारण (**उत्कटपिष्टपेषणहठभ्रष्टं**) बहुतभारी पिष्टपेषण - अभ्यस्त विषयाभिलाषा की हठ से छूटे हुए (**स्वकर्मेच्छवः**) आत्मकर्तव्य के इच्छुक (**योगिनः**) योगी जन (**सम्यक्**) सम्यक् प्रकार से (**स्वोचितकर्मकाण्डघटनानित्योद्यताः**) अपने योग्य बाह्याचार के पालन में निरंतर उद्यत रहते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! ज्ञाननय और क्रियानय परस्पर सापेक्ष रहने पर ही आत्मकल्याण के लिये साधक होते हैं क्योंकि ज्ञाननय से निरपेक्ष मनुष्य, मात्र बाह्याचार में लीन रहते हुए परमार्थ से बाह्य रहते हैं। ऐसे जीवों को कदाचित् आपका श्रद्धान होता भी है तो वे उसमें दृढ नहीं रह पाते, शीघ्र ही उससे विचलित हो जाते हैं और जो मात्र ज्ञाननय में लीन रहते हैं वे अनादिकाल से अभ्यस्त विषय मार्ग में संलग्न रहते हैं उससे छूटने का पुरुषार्थ नहीं करते। यही सब विचार कर योगीजन

अपने पद के अनुरूप क्रिया - बाह्याचार के पालन में निरंतर तत्पर रहते हैं।।११।।

रागग्रामविनिग्रहाय परमः कार्यः प्रयत्नः परं
योगानां फलकृन्त जातु विहितो गाढग्रहान्निग्रहः।
सस्पन्दोऽपि विरज्यमानमहिमा योगी क्रमान्मुच्यते
निष्पन्दोऽपि सुषुप्तवन्मुकुलितस्वान्तःपशुर्बध्यते।।१२।।

अन्वयार्थ :- (**रागग्रामविनिग्रहाय**) राग समूह का सर्वथा निग्रह करने के लिये (**परम्**) अत्यधिक (**परमः**) उत्कृष्ट (**प्रयत्नः**) प्रयत्न (**कार्यः**) करना चाहिये, क्योंकि (**गाढग्रहात्**) उसकी सुदृढ़ पकड़ से (**विहितः**) किया हुआ (**योगानां**) मन वचन कायरूप योगों का (**निग्रहः**) दमन (**जातु**) कभी भी (**फलकृत् न**) फलदायक नहीं होता है (**विरज्यमानमहिमा**) राग को छोड़ने के लिये उन्मुख महिमा से युक्त (**योगी**) साधु (**सस्पन्दोऽपि**) प्रवृत्ति सहित होनेपर भी (**क्रमात्**) क्रम से (**मुच्यते**) मुक्त हो जाता है और (**सुषुप्तवत्**) गाढ निद्रा में निमग्न की तरह (**मुकुलितस्वान्तः**) चित्त को संकोचित करनेवाला (**पशुः**) अज्ञानी जीव (**निष्पन्दोऽपि**) निश्चल होने पर भी (**बध्यते**) बन्ध को प्राप्त होता है।

भावार्थ :- राग समूह बन्ध का प्रमुख कारण है क्योंकि उसके छोड़े बिना मात्र योगों - मन वचन काय की प्रवृत्तियों का दमन कार्यकारी नहीं होता है। रागद्वेष का क्षय करने के लिये प्रयत्नशील साधु पदानुकूल क्रियाओं को करता हुआ भी क्रम से मुक्ति को प्राप्त होता है और रागद्वेष से युक्त अज्ञानी पुरुष गाढनिद्रा में निमग्न की तरह निश्चल रहने पर भी बन्ध को प्राप्त होता रहता है इसलिये मोक्षाभिलाषी जीव को रागसमूह का विनिग्रह करने के लिये बहुत भारी प्रयत्न करना चाहिये।।१२।।

कर्मभ्यः कृतिनः क्रमाद् विरमतः कर्मैव तावद्गति-
र्यावद्वर्तितरज्जुवत् स्वयमसौ सर्वाङ्गमुद्वर्तते।

लब्धज्ञानघनाद्भुतस्य तु वपुर्वाणीमनोवर्गणा
यन्त्रस्पन्दितमात्रकारणतया सत्योऽप्यसत्योऽस्य ताः ।।१३।।

अन्वयार्थ :- (**क्रमात्**) क्रम पूर्वक (**कर्मभ्यः**) क्रियाओं से (**विरमतः**) विरत होनेवाले (**कृतिनः**) कुशल मनुष्य के (**कर्मोव**) क्रियारूप चारित्र हो (**तावत्**) तब तक (**गतिः**) लक्ष्य है - शरण है (**यावत्**) जबतक (**वर्तितरज्जुवत्**) बटी हुई रस्सी के समान (**असौ**) वह (**स्वयं**) स्वयं ही (**सर्वाङ्गं**) सर्वाङ्ग से (**उद्वर्तते**) खुलता है (**तु**) परंतु (**लब्धज्ञानधनाद्भुतस्य**) प्राप्त हुए ज्ञानधन से आश्चर्यपूर्ण मनुष्य के लिये (**वपुर्वाणीमनोवर्गणाः**) शरीर वचन और मनोवर्गणाएँ (**यन्त्रस्पन्दितमात्रकारणतया**) यन्त्र संचालित की तरह मात्र कारण होनेसे (**सत्योऽपि ताः अस्य असत्यः**) होती हुई भी इसके लिये नहीं होती हुई के समान हैं।

भावार्थ :- एक समय ऐसा भी आता है जब यह जीव क्रमपूर्वक क्रियाकाण्डरूप व्यवहार चारित्र से निवृत्त हो जाता है और स्वरूप में आचरणरूप निश्चय चारित्र से युक्त होता है परंतु यह क्रियाकाण्डरूप व्यवहार चारित्र भी उसके लिये तबतक शरणभूत रहता है जबतक कि कटी हुई रस्सी के समान यह बन्ध सर्वाङ्ग से स्वयं नहीं खुल जाता है। पूर्ण विज्ञानघन से आश्चर्य को प्राप्त होनेवाले जीव के जो शरीर, वचन और मनोवर्गणाएँ हैं वे मात्र यन्त्र संचालित की तरह हैं। अर्थात् वह बुद्धिपूर्वक उनकी क्रियाओं का कर्ता नहीं है अतः वे वर्गणाएँ इसके लिये उनकी होती हुई भी नहीं होती के समान हैं।।१३।।

निष्कम्पे हृदि भासि तस्य न बहिर्बल्गग्रहस्तम्भित-
क्षुभ्यज्जात्यहरेरिवोग्रतरसः स्तम्भेऽपि निष्कम्पता।
स्तम्भेनापि विनैव पङ्गुपदवीमायाति यस्मिन्मन-
स्तत्किञ्चित् किल कारणं कलयतां भासि त्वमेव स्वयम्।।१४।।

अन्वयार्थ :- हे भगवन् ! आप (**निष्कम्पे हृदि भासि**) निष्कम्प - निश्चल हृदय में सुशोभित होते हैं परंतु (**बहिर्वल्गग्रहस्तम्भितक्षुभ्यज्जात्यहरेरिव उग्रतरसः**) जिस प्रकार तीव्र वेगशाली उत्तम जाति का घोड़ा बाह्य में लगाम लगाने से यद्यपि रुक तो जाता है तथापि आगे बढ़ने के लिये क्षुभित - चञ्चल होता रहता है उसी प्रकार (**तस्य**

स्तम्भेऽपि न निष्कम्पता) रोकने पर भी उस मन में निष्कम्पता - निश्चलता नहीं हो पाती। किन्तु (**स्तम्भेनापि विनैव**) रुकावट के बिना ही (**यस्मिन्**) जिसमें (**मनः**) मन (**पङ्गुपदवीम् आयाति**) लंगड़ेपन को प्राप्त हो जाता है - जिसे पाकर मन की चञ्चलता समाप्त हो जाती है (**किल**) निश्चय से (**तत् किञ्चित् कारणं कलयताम्**) उस किसी अनिर्वचनीय कारण को प्राप्त करनेवाले मनुष्यों के हृदय में (**त्वम्**) आप (**स्वयमेव**) स्वयं ही (**भासि**) सुशोभित होने लगते हैं।।

भावार्थ :- मन की चञ्चलता दो प्रकार की है एक योगजनित और दूसरी कषायजनित। योगजनित चञ्चलता को रोक लेने पर भी अंतरंग में विद्यमान कषायजनित चञ्चलता उसे बारबार चञ्चल करती रहती है। हे भगवन् ! जिसने मात्र योगजनित चञ्चलता को रोका है उसके हृदय में आपका ध्यान आता तो है परंतु कषायजनित चंचलता के विद्यमान रहने से आपका वह ध्यान स्थिरता को प्राप्त नहीं हो पाता। हाँ ऐसी अवस्था आ जावे कि कषायजनित चंचलता भी शांत हो जावे और उसके शांत हो जाने पर मन एक प्रकार से पंगु हो जावे अर्थात् उसकी चपलता दूर हो जावे तो फिर ऐसे मन में जो आपका ध्यान आवेगा वह स्थिर हो जायगा। इसी अभिप्राय से यहाँ कहा गया है कि जिसमें मन पंगु बन जाता है उस किसी अनिर्वचनीय कारण को प्राप्त करने वालों के हृदय में आप स्वयं सुशोभित होने लगते हैं।।१४।।

छायास्पर्शरसेन शान्तमहसो मत्तप्रमत्ताशयाः
श्रामण्याद्द्विपमीलनेन पतितास्ते यान्ति हिंसां पुनः।
आक्रम्याक्रमपाकदग्धरजसि स्फूर्य (र्ज) त्स्वभावाद्भुते
कर्मज्ञानसमुच्चये न रमते येषां मतिः स्वैरिणी।।१५।।

अन्वयार्थ :- (**आक्रम्य अक्रमपाकदग्धरजसि**) आक्रमण कर जिसने अक्रमपाक - अविपाक निर्जरा के द्वारा कर्मरूपी धूलि को जला दिया है तथा जो (**स्फूर्जत्स्वभावाद्भुते**) प्रकट होनेवाले शक्तिशाली स्वभाव से आश्चर्यकारी है ऐसे (**कर्मज्ञानसमुच्चसे**) क्रियानय और ज्ञाननय के समूह में (**येषां स्वैरिणी मतिः**) जिनकी स्वच्छन्द बुद्धि (**न रमते**) रमण नहीं करती है (**ते**) वे (**शान्तमहसः**) शांत तेज की (**छायास्पर्शरसेन**) छायामात्र के स्पर्श से (**मत्तप्रमत्ताशयाः**) प्रमत्तचित्त तथा (**द्विपमलिनेन**) गजनिमीलना - उपेक्षाभाव के कारण

(**श्रामण्यात् पतिताः**) वास्तविक मुनिपद से पतित होते हुए (**पुनः**) फिर से (**हिंसां यान्ति**) हिंसा को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :- जो आत्मपरिणामों की ओर लक्ष्य न देकर मात्र क्रियाकाण्ड में निमग्न रहते हैं वे क्रियानयवादी हैं और जो मात्र 'शुद्धोऽहं बुद्धोऽहं' की रट लगाते हैं तदनुसार प्रवृत्तिरूप चारित्र का पालन नहीं करते हैं वे ज्ञाननयवादी हैं। ये दोनों ही मिथ्यावादी हैं और संसार में भटकनेवाले हैं। इसके विपरीत जो पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को समझकर तदनुसार प्रवृत्ति करते हैं वे क्रियानय और ज्ञाननय के समुच्चय में लीन हो संसार सागर से पार होते हैं। यहाँ क्रिया और ज्ञाननय के समुच्चय की महिमा को वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि वह समुच्चय सब ओरसे आक्रमण कर किसी क्रम के बिना ही अर्थात् अविपाक निर्जरा के द्वारा युगपत् ही कर्मरूपी धूलि को भस्म कर देता है तथा उसमें आत्मा का टङ्कोत्कीर्ण शुद्ध स्वभाव प्रकट हो जाता है। ऐसे क्रियानय और ज्ञाननय के समूह में जिनकी स्वच्छन्द - व्यवहाराभास, निश्चयाभास अथवा उभयाभास में प्रवृत्त रहनेवाली बुद्धि रमती नहीं है वे मुनि परमार्थ से शांतरस को प्राप्त नहीं हैं किन्तु शांतरस की छायामात्र के स्पर्श से ही अपने आपको कृतकृत्य मानकर प्रमत्त हो जाते हैं। और आत्मा अनात्मा के अवगम के विना निरंतर होनेवाले आस्रव से निर्भय हो जाते हैं। जिस प्रकार हाथी आँख बन्ध कर किसी आशङ्का से उपेक्षा करने लगता है उसीप्रकार मैं तो 'सम्यग्दृष्टि हूँ अतः मुझे बन्ध नहीं होता, मेरे भोग भी कर्मनिर्जरा के कारण हैं' ऐसी विपरीत श्रद्धा के कारण आस्रव से उपेक्षाभाव धारण करते हैं - उससे निवृत्त होनेका पुरुषार्थ नहीं करते हैं वे श्रामण्यपद - परमार्थ मुनिपद से पतित हो पुनः हिंसाभाव को - अविरत अवस्था को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि ऐसे जीव मात्र द्रव्यलिंग को धारण कर बारबार मुनिपद से भ्रष्ट होते हैं।।१५।।[१]

---

१. मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च।।१११।। स. क.
सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमह जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात् सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः।।१३७।। स. क.

सामान्यं क्षणमुन्नमय्य सपदि प्रक्षीणतैक्ष्ण्याः समं
सामान्यन्निपतन्त ऊर्जितनिजव्यक्तिष्वबद्धादराः।
एते घर्घरघोरघोषसरलश्वासानिलैर्वालिशा
ऐकाग्रयं प्रविहाय मोहपिहिता दुःशिक्षया शेरते।।१६।।

अन्वयार्थ :- (**प्रक्षीणतैक्ष्ण्याः**) जिनके कषाय की तीव्रता क्षीण हो गयी है तथा (**ऊर्जितनिजव्यक्तिषु**) अपनी सुदृढ़ विशेषताओं में जो (**अबद्धादराः**) आदर से रहित हैं ऐसे पुरुष (**सपदि**) शीघ्र ही (**क्षणं**) क्षणभर के लिये (**सामान्यम् उन्नमय्य**) सामान्य - द्रव्यदृष्टि को ऊँचा उठाकर - उसे प्रधानता देकर पश्चात् (**समं**) साथ ही अथवा सम्पूर्णरूप से (**सामान्यात् निपतन्तः**) सामान्य - द्रव्यदृष्टि से (**निपतन्तः**) पतित होते हुए (**मोहपिहिताः**) मोह से आच्छादित (**एते**) ये (**बालिशाः**) अज्ञानी पुरुष (**दुःशिक्षया**) खोटी शिक्षा के कारण (**घर्घरघोरघोषश्वासानिलैः**) भयंकर घुर्राटों के शब्द से युक्त श्वासोच्छ्वास की वायु से (**ऐकाग्रयं विहाय**) एकाग्रता को छोड़कर (**शेरते**) शयन करते हैं।

भावार्थ :- संसार के प्राणी अनादिकाल से अपने विशेष व्यक्तित्व में मूढ हो अहंकार से तन्मय हो रहे हैं तथा विषय-कषायसम्बन्धी तीक्ष्णता के कारण आत्मस्वभाव से भष्ट हो रहे हैं। ऐसे ही जीवों में यदि कदाचित् किन्हीं की तीक्ष्णता नष्ट होती है और अपने विशेष व्यक्तित्व का अहंकार छूटता है तो वे क्षणभर के लिये अपने सामान्य उपयोग - द्रव्यदृष्टि को ऊँचा उठाते हैं - उसे प्रधानता देते हैं परंतु अनादिकालीन संस्कारों के कारण वे पुनः शीघ्र ही उस सामान्य उपयोग से पतित हो अपने विशेष व्यक्तित्व के अहंकार में निमग्न हो जाते हैं तथा मोह से आच्छादित हो खर्राटे भरते हुए प्रगाढ़ निद्रा में लीन हो जाते हैं। ऐसे जीवों को आचार्यने बालिश - अज्ञानी कहा है तथा उनकी इस अज्ञानता का कारण दुःशिक्षा - खोटी शिक्षा को बताया है।।१६।।

तीक्ष्णं तीक्ष्णमिहोपयोगमचलस्वालम्बबद्धोद्धतं
साक्षात्खण्डितकालखण्डमनिशं विश्वस्य ये बिभ्रति।
ते भूतार्थ विमर्शसुस्थितदृशः सर्वत्र सन्तः समा-
श्चित्सामान्यविशेषसम्भृतमतिस्पष्टं स्वमध्यासते।।१७।।

अन्वयार्थ :- (**ये**) जो मनुष्य (**इह**) इस जगत् में (**अनिशं**) निरंतर (**विश्वस्य**) विश्वासकर - आत्मस्वरूप की दृढ प्रतीतिकर (**अचलस्वालम्बद्धोद्धतं**) अपने आपके अचल आलम्बन में बद्ध होनेसे शक्तिशाली तथा (**खण्डितकालखण्डं**) कालखण्ड को खण्डित करनेवाले अर्थात् प्रत्येक समय स्वरूप में स्थिर रहनेवाले (**तीक्ष्णं तीक्ष्णं**) अत्यंत तीक्ष्ण उपयोग को (**साक्षात् बिभ्रति**) साक्षात् धारण करते हैं (**ते**) वे (**भूतार्थविमर्शसुस्थितदृशः**) भूतार्थ-परमार्थ तत्त्व के विचार में सुस्थिर दृष्टि रखनेवाले (**सर्वत्र समाः सन्तः**) इष्ट-अनिष्ट में मध्यस्थ होते हुए (**चित्सामान्यविशेषसम्भूतं**) चैतन्य के सामान्य विशेषभाव से परिपूर्ण तथा (**अतिस्पष्टं**) अत्यंत स्पष्ट (**स्वम्**) अपने आपमें (**अध्यासते**) अधिष्ठित होते हैं - निवास करते हैं।

भावार्थ :- जो परमार्थ के विचार में अपनी दृष्टि को सुस्थिर रखते हैं अर्थात् निश्चयाभास के दूषित विचार से अपने श्रद्धान को सुरक्षित रखते हैं वे एकांत सामान्य अथवा एकान्त विशेष के पक्ष से मुक्त होकर कथंचित् सामान्य और कथंचित् विशेष को प्रधानता देते हुए, दोनों स्वभावों से परिपूर्ण आत्मस्वभाव में लीन रहते हैं।।१७।।

अत्यन्तद्रढितोपयोगनिबिडग्रस्तश्रुतज्ञानभू-
भूयोभिः समसंयमामृततरसैर्नित्याभिषिक्तः कृती।
एकः कोऽपि हठप्रहारदलितध्वान्तः स्वतत्त्वं स्पृशन्
विश्वोद्भासि विशालकेवलमहीमाक्रम्य विश्राम्यति।।१८।।

अन्वयार्थ :- (**अत्यन्तद्रढितोपयोगनिविडग्रस्तश्रुतज्ञानभूः**) अत्यंत दृढीकृत उपयोग के द्वारा जिसने श्रुतज्ञान की भूमिको अत्यधिक व्याप्त किया है अर्थात् जो पूर्वविद् होकर पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क नामक शुक्लध्यान में अपना उपयोग दृढता के साथ स्थिर रखता है (**भूयोभिः समसंयमामृतरसैः**) अत्यधिक सम्पूर्ण संयमरूप अमृत के रसों से अर्थात् यथाख्यात चारित्ररूप सुधा के रसों से जो (**नित्याभिषिक्तः**) निरंतर अभिषिक्त रहता है (**कृती**) कृतकृत्य है अर्थात् मोह का सर्वथा क्षण हो जाने से किसी कार्य की इच्छा से रहित है और (**हठप्रहारदलितध्वान्तः**) हठपूर्वक प्रहार से जिसने अज्ञानन्धकार को नष्ट कर दिया है अर्थात् ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों का क्षय कर जिसने सर्वज्ञदशा प्राप्त कर ली है ऐसा (**कोऽपि एकः**) कोई एक निकट भव्यजीव (**स्वतत्त्वं स्पृशन्**)

आत्मतत्त्वका स्पर्श करता हुआ बारबार अपना उपयोग आत्मा में ही लगाता हुआ (**विश्वोद्भासिविशालकेवलमहीम् आक्रम्य**) समस्त पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली विशाल केवलज्ञान की भूमिको प्राप्त कर (**विश्राम्यति**) विश्राम करता है।

भावार्थ :- यह जीव केवलज्ञान की भूमि स्वरूप अरहन्त अवस्था को किसप्रकार प्राप्त होता है ? इसका व्यवस्थित क्रम बतलाते हुए आचार्य ने कहा है कि पहले निश्चयनय के यथार्थबोध से आत्मतत्त्व का निर्णय कर उसमें स्थिर होना चाहिये तदनन्तर श्रुतज्ञान की उच्चतम भूमिका पूर्वविद् अवस्था को प्राप्त कर उसके माध्यम से मोहनीय कर्म का क्षय कर यथाख्यातचारित्ररूप पूर्ण चारित्र को प्राप्त करे। इसके पश्चात् शेष घातिया कर्मों का क्षय कर अज्ञानतिमिर का सदा के लिये विनाश करे तथा परपदार्थों से निवृत्त होकर अपने ज्ञानोपयोग को आत्मस्वरूप में स्थिर करे। ऐसा करने से ही यह जीव लोकालोक की प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञान से युक्त अरहन्त अवस्था को प्राप्त होता है।।१८।।

आजन्मानुपलब्धशुद्धमहसः स्वादस्तवासौ स्फुटः
सर्वाङ्गं मदयन् प्रसह्य कुरुते कन्न प्रमादास्पदम्।
माद्यन्तोऽपि निशातसंयमरुचो नैव प्रमाद्यन्ति ये
तेषामेव समुच्छलस्यविकलः काले विलीनैनसा।।१९।।

अन्वयार्थ :- (**आजन्मानुपलब्धशुद्धमहसः**) जिसे जन्म से लेकर अबतक शुद्ध आत्मतेज की उपलब्धि नहीं हुई ऐसे मनुष्य को (**तव**) आपका (**असौ**) यह (**सर्वाङ्गं मदयन्**) सर्वाङ्ग में मद उत्पन्न करनेवाला (**स्फुटः स्वादः**) स्पष्ट स्वाद - स्पष्ट अनुभव (**कं**) किसे (**प्रसह्य**) हठपूर्वक (**प्रमादास्पदम्**) प्रमादी (**न कुरुते**) नहीं करता है ? अर्थात् सभी को करता है परंतु (**निशातसंयमरुचः**) संयम में तीव्ररुचि रखनेवाले (**ये**) जो मनुष्य (**माद्यन्तः अपि नैव प्रमाद्यन्ति**) मत्त होते हुए भी प्रमत्त नहीं होते हैं (**तेषामेव**) उन्हीं के आप (**विलीनैनसा**) पाप के नष्ट हो जानेसे (**काले**) योग्यसमयपर (**अविकलः**) पूर्णरूप से (**समुच्छलसि**) प्रकट होते हैं - अनुभव में आते हैं।

भावार्थ :- जिन जीवों को आजतक शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं हुई है उन्हें कदाचित् आपका अनुभव होता भी है तो वह उन्हें प्रमाद उत्पन्न करानेवाला होता है। परंतु जो मानव संयम में तीव्ररुचि रखते हैं और प्रमाद के अवसर में भी

प्रमाद नहीं करते हैं उन्हीं के पापों का क्षय होता है और पापक्षय के फलस्वरूप उनकी आत्मा में आप पूर्णरूप से प्रकट होते हैं अर्थात् उपर्युक्त जीव ही आपका अनुभव कर पाते हैं। तात्पर्य यह है कि जो जीव कदाचित् आपकी श्रद्धा कर भी लेते हैं वे यदि प्रमत्त हो संयम से भ्रष्ट रहते हैं तो उनके हृदय में आपकी श्रद्धा सुदृढ़ नहीं रह सकती। आपकी श्रद्धा को सुदृढ़ बनाये रखने के लिये संयम में प्रगाढ़रुचि होना आवश्यक है।।१९।।

यन्मिथ्यापि विभाति वस्त्विह बहिः सम्यक् तदन्तर्द्रवं
भारूपं न विपर्ययस्य विषयो व्यक्तिर्हि साऽप्यात्मनः।
साक्षात्क्षीणमलस्य गोचरमिते सम्यग्बहिर्वस्तुनि
व्यक्तिश्चेत् परिवर्तते किमनया ज्ञानस्य नाज्ञानता।।२०।।

अन्वयार्थ :- (**इह**) इस जगत् में (**यद् वस्तु**) जो वस्तु (**बहिः**) बाह्य में (**मिथ्यापि विभाति**) मिथ्या भी मालूम होती है (**तत् अन्तर्द्रवं भारूपं सम्यक्**) दीप्तिरूप होकर अन्तर में अवतीर्ण हुई वह वस्तु (**सम्यक्**) समीचीन है (**विपर्ययस्य विषयो न**) मिथ्याज्ञान का विषय नहीं है (**हि**) क्योंकि (**सा अपि**) वह भी (**आत्मनः व्यक्तिः**) आत्मा की व्यक्ति है। तात्पर्य यह है कि बहिःप्रमेय की अपेक्षा ही प्रमाणाभास का व्यवहार होता है अन्तःप्रमेय की अपेक्षा नहीं। फिर (**साक्षात् क्षीणमलस्य**) जिसकी कर्मकालिमा साक्षात् क्षीण हो चुकी है ऐसे किसी मनुष्य के (**सम्यग् बहिर्वस्तुनि**) कोई समीचीन बाह्य वस्तु (**गोचरम् इते**) विषय को प्राप्त होती है और विषय को प्राप्त होनेपर (**चेत्**) यदि (**व्यक्तिः परिवर्तते**) उस बाह्य वस्तु का कोई विशिष्टरूप परिवर्तित होता है तो (**अनया किम्**) इससे क्या हानि है ? (**ज्ञानस्य अज्ञानता न**) उसके ज्ञान में अज्ञानता नहीं आती है।

भावार्थ :- वस्तु के मिथ्या और सम्यक्पने का व्यवहार अन्तःप्रमेय के ऊपर निर्भर है बाह्य प्रमेय के ऊपर नहीं। क्योंकि अन्तःप्रमेय आत्मा की परिणति है अतः उसीके आधारपर वस्तु में मिथ्या और सम्यक्पने का व्यवहार होता है।।२०।।

अन्तर्बाह्यविवर्त्तिं किञ्चिदपि यद् रागादि रूपादि वा
तत्कुर्वन्न विशेषतः सग(म)मपि ज्ञानानलस्येन्धनम्।

विश्वेनापि धृतप्रमेयवपुषाऽशेषेण संधुक्षितः
साक्षाद् वक्ष्यति कश्मलं समरसः शश्वत् प्रमाता ज्वलन्।।२१।।

अन्वयार्थ :- (**अन्तर्बाह्यविवर्ति**) भीतर और बाहर विद्यमान (**यत् किञ्चित् रागादि रूपादि वा**) जो कुछ रागादिक अथवा रूपादिक है (**तत्**) उसे (**समममपि**) संपूर्णरूप से जो (**विशेषतः**) विशेषरूप से (**ज्ञानानलस्य इन्धनं न कुर्वन्**) अपनी ज्ञानरूपी अग्नि का ईन्धन नहीं करता है अर्थात् उनका मात्र ज्ञाता न रह कर तद्रूप अपने आपको परिणमाता है ऐसा (**प्रमाता**) जाननेवाला - ज्ञायक (**धृतप्रमेयवपुषाः**) प्रमेयाकारको धारण करनेवाले (**विश्वेन**) समस्त विश्व के द्वारा (**अशेषेण**) संपूर्णतया (**संधुक्षितः**) समुत्तेजित हुआ यद्यपि (**शश्वत् ज्वलन्**) निरंतर जानने में तत्पर रहता है और (**साक्षात् समरसः**) साक्षात् मध्यस्थ भी होता है तो भी यह निश्चित है कि वह (**कश्मलं वक्ष्यति**) कर्मकालिमा अथवा दुःख को (**वक्ष्यति**) धारण करेगा।

भावार्थ :- जो रागादिक अन्तरङ्ग में और रूपादिक बाह्य में विद्यमान हैं उन्हें विवेकी पुरुष अपने ज्ञान के विषय तो बनाता है परंतु उनरूप अपने तो परिणमाता नहीं है अर्थात् रागादिक और रूपादिक का कर्ता तथा भोक्ता नहीं बनता है परंतु इसके विपरीत जो अपने आपको तद्रूप करता है वह ज्ञाता कितना ही समरस - मध्यस्थ क्यों न हो तथा पदार्थों को जानने के लिये कितना ही क्रियाशील क्यों न हो, नियम से कर्मकालिमा का पात्र होता है और उसके फलस्वरूप दुःख भी उठाता है।।२१।।

लब्धज्ञानमहिम्न्यखण्डचरिप्राग्भारनिस्तेजना-
न्नश्यत्सञ्चितकश्मले मनसि नः शुद्धस्वभावस्पृशि।
अत्यन्ताद्भुतमुत्तरोत्तरलसद् वैशद्यमुद्योतिभिः
प्रत्यग्रस्फुरितैः प्रकाशमभितस्तेजोऽन्यदुज्जृम्भते।।२२।।

अन्वयार्थ :- (**लब्धज्ञानमहिम्नि**) जिसने ज्ञान की महिमा को प्राप्त किया है, (**अखण्डचरितप्राग्भारनिस्तेजनात्**) अखण्ड चारित्र समूह की तीक्ष्णता से जिसकी चिरसंचित कालिमा छूट रही है तथा जो (**शुद्धस्वभावस्पृशि**) शुद्ध स्वभाव का स्पर्श कर रहा है ऐसे (**नः**) हमारे (**मनसि**) मन में (**अत्यन्ताद्भुतम्**) अत्यंत आश्चर्यकारी (**उद्योतिभिः**

प्रत्यग्रस्फुरितैः) जिसकी निर्मलता उत्तरोत्तर बढ़ रही है तथा जो (**अभितःप्रकाशम्**) सब ओरसे प्रकाशमान है ऐसा (**अन्यत् तेजः**) एक अन्य ही तेज (**उज्जृम्भते**) वृद्धि को प्राप्त हो रहा है।

भावार्थ :- आचार्य कह रहे हैं कि हे भगवन् ! आपके स्तवन से मेरे मन ने ज्ञान की महिमा को प्राप्त कर लिया है। न केवल ज्ञान की महिमा को प्राप्त किया है किन्तु अखण्ड चारित्र के प्रभाव से उसकी चिरसंचित कालिमा भी छूट गई है तथा आत्मा के ज्ञानानंद स्वभाव में ही रमने लगा है। साथ ही मेरे मन में एक सा आश्चर्यकारी अन्य तेज प्रकट हो रहा है जिसकी निर्मलता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है तथा जो सब ओरसे प्रकाशमान है।।२२।।

ये साक्षात् प्रतिभान्ति कल्मषमषीं प्रक्षालयन्तोऽखिलां
दूरोन्मग्नविचित्रसंयमरसस्रोतस्विनीसङ्गमाः।
अन्तःशान्तमहिम्न्यसीममहसि मूर्च्छोच्छलन्मूर्च्छना
एतास्ताः परमात्मनो निजकलाः स्फूर्जन्ति निस्तेजिताः।।२३।।

अन्वयार्थ :- (**ये**) जो पुरुष (**साक्षात्**) साक्षात् (**अखिलां**) सम्पूर्ण (**कल्मषमषीं**) कालिमारूपी स्याही को (**प्रक्षालयन्तः**) धोते हुए (**प्रतिभान्ति**) सुशोभित होते हैं तथा (**दूरोन्मग्नविचित्रसंयमरसस्रोतस्विनीसङ्गमाः**) जिन्हें बहुत दूर तक प्रकट हुए विचित्र संयमरसरूपी नदी का समागम प्राप्त हुआ है ऐसे पुरुषों की (**असीममहसि**) अनंत तेज से युक्त (**अन्तशान्तमहिम्नि**) अन्तरङ्ग की शांतमहिमा में (**परमात्मनः**) परमात्मा की (**एताः ताः निजकलाः**) ये वे निजकलाएँ (**स्फूर्जन्ति**) प्रकट होती हैं जो (**मूर्च्छोच्छलन्मूर्च्छनाः**) निरंतर प्रवर्धमान हैं तथा (**निस्तेजिताः**) तीक्ष्णता को प्राप्त हैं - अतिशयरूप से प्रकट हैं।

भावार्थ :- हे भगवन् ! जो पुरुष राग-द्वेषरूपी कालिमा को नष्ट कर स्वरूपाचरण - यथाख्यात चारित्ररूप उत्कृष्ट संयम को धारण करते हैं उनके प्रशांत अन्तःकरण में परमात्मा की समस्त कलाएँ प्रकट होती हैं अर्थात् वे स्वयं परमात्मा बन जाते हैं।।२३।।

---

१. यह श्लोक समयसार कलशा के निर्जराधिकार में १४१ नम्बरपर ज्यों का त्यों दिया गया है। मात्र तृतीय चरण में `मन्ये' के स्थानपर यस्य पाठ है।

[१]अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमा संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव।
मन्ये भिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकी भवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः।।२४।।

अन्वयार्थ :- (**यत्**) जिसकारण (**निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव**) पूर्णरूप से पिये हुए समस्त भाव समूहरूपी रस के बहुतभारी भार से मत्त की तरह दिखनेवाली (**इमा**) ये (**अच्छाच्छाः**) अत्यंत निर्मल (**संवेदनव्यक्तयः**) ज्ञान की विशेषताएँ (**स्वयम् उच्छलन्ति**) स्वयं छलक रही हैं - प्रकट हो रही हैं इस कारण मैं (**मन्ये**) मानता हूँ कि (**एषः सः भगवान् चैतन्यरत्नाकरः**) यह वह भगवान् चैतन्यरूपी सागर ही (**उत्कलिकाभिः**) तरंगों से (**वल्गति**) चञ्चल हो रहा है जो (**भिन्नरसः**) भिन्न रस से युक्त है (**एकोऽपि अनेकीभवन्**) एक होता हुआ भी अनेकरूप है तथा (**अद्भुतनिधिः**) आश्चर्यों का भाण्डार है।

भावार्थ :- हे भगवन् ! ज्ञान की विविध विशेषताओं को देखकर ऐसा जान पड़ता है मानों अप्रतिम ऐश्वर्य का धारक चैतन्यरूपी सागर ही लहरा रहा है। तात्पर्य यह है कि ये ज्ञान-दर्शन के विकल्प उसी एक चैतन्यगुण के विविध परिणमन हैं।।२४।।

ज्ञानाग्नौ पुटपाक एष घटतामत्यन्तमन्तर्बहिः
प्रारब्धोद्धतसंयमस्य सततं विष्वक्प्रदीप्तस्य मे।
येनाशेषकषायकिट्टगलनस्पष्टीभवद्वैभवाः
सम्यग्भान्त्यनुभूतिवर्त्मपतिताः सर्वाः स्वभावश्रियः।।२५।।

अन्वयार्थ :- (**सततं विष्वक् प्रदीप्तस्य**) जो निरंतर सब ओर देदीप्यमान हो रहा है ऐसे (**मे**) मेरे (**अन्तर्बहिःप्रारब्धोद्धतसंयमस्य**) भीतर-बाहर प्रकट हुए उत्कृष्ट संयम का (**एषः पुटपाकः**) यह पुटपाक (**ज्ञानाग्नौ**) ज्ञानरूपी अग्नि में (**घटताम्**) संपन्न हो (**येन**) जिससे (**अशेषकषायकिट्टगलनस्पष्टीभवद्वैभवाः**) समस्त कषायरूपी कीट के निकल जानेसे जिनका वैभव स्पष्ट हो रहा है ऐसी (**सर्वाः स्वभावश्रियः**) समस्त स्वभावरूपी

लक्ष्मियाँ (**अनुभूतिवर्त्मपतिताः**) अनुभूति के मार्ग में पड़ कर (**सम्यग् भान्ति**) अच्छी तरह सुशोभित हो रही हैं।

भावार्थ :- यतश्च ज्ञानपूर्वक होनेवाले संयम में दृढ़ता रहती है अतः मेरी प्रार्थना है कि हे भगवन् ! मेरे संयम का पुटपाक ज्ञानरूपी अग्नि में संपन्न हो जिससे रागादिक विकारी भाव नष्ट होकर मेरा ज्ञाता दृष्टा स्वभाव अच्छी तरह प्रकट हो सके।।२५।।

वसन्ततिलकावृत्तम्

अस्याः स्वयं रभसि गाढनिपीडितायाः संविद्विकासरसवीचिभिरुल्लसन्त्याः।
आस्वादयत्वमृतचन्द्रकवीन्द्र एष हृष्यन् बहूनि मणितानि मुहुः स्वशक्ते।।१।।

अन्यवार्थ :- (स्वयं रभसि गाढनिपीडितायाः) जो वेग से स्वयं अतिशय पीडित है तथा (संविद्विकासरसवीचिभिः) सम्यग्ज्ञान के विकासरूपी रस की तरंगों से जो (उल्लसन्त्याः) उल्लसित - सुशोभित हो रही है ऐसी (अस्याः स्वशक्तेः) अपनी इस शक्ति के (बहुनि मणितानि) बहुत भारी शब्दों का (एषः अमृतचन्द्रकवीन्द्रः) यह अमृतचंद्र कवीन्द्र (हृष्यन्) हर्षित होता हुआ (मुहुः) अनेक बार (आस्वादयतु) आस्वादित करे।

भावार्थ :- स्तोत्रात्मक शक्तिमणित कोष की रचना कर उसके कर्ता अमृतचंद्र आचार्य यह आकांक्षा प्रकट करते हैं कि इसके फलस्वरूप मैं अपनी आत्मशक्ति का रसास्वादन करूँ।।१।।

स्याद्वादवर्त्मनि परात्मविचारसारे ज्ञानक्रियातिशयवैभवभावनायाम्।
शब्दार्थसङ्घटनसीम्नि रसातिरेके व्युत्पत्तिमाप्तुमनसां दिगसौ शिशूनाम्।।२।।

अन्वयार्थ :- (स्याद्वादवर्त्मनि) स्याद्वाद के मार्ग में, (परात्मविचारसारे) निज और पर के श्रेष्ठ विचार में, (ज्ञानक्रियातिशयवैभवभावनायाम) ज्ञान और क्रिया के अतिशय पूर्ण वैभव की भावना में, (शब्दार्थसङ्घटनसीम्नि) शब्द और अर्थ की संघटनसम्बन्धी सीमा में तथा (रसातिरेके) रस की अधिकता में (व्युत्पत्तिमाप्तुमनसाम्) व्युत्पत्ति-विशिष्टज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक (शिशूनाम्) अल्पज्ञ जनों के लिये (असौ) मेरी यह रचना (दिक्) दिशा प्रदर्शन करनेवाली है।

भावार्थ :- इस रचना के अभ्यास से अल्पज्ञजनों को स्याद्वाद का मार्ग, निजपर का उत्कृष्ट विचार, ज्ञान और चारित्र की उत्कृष्टभावना, शब्द और अर्थ का सुंदर समावेश तथा प्रकरणानुकूल रस इन सबका यथार्थ ज्ञान प्राप्त होगा।

इत्यमृतचन्द्रसूरीणां कृतिः शक्तिमणितकोशो नाम लघुतत्त्वस्फोटः समाप्तः

इस प्रकार अमृतचंद्र सूरि की कृति शक्तिमणित कोषः `अपर नाम' `लघुतत्त्वस्फोट' समाप्त हुआ।

पद्यानुक्रमणिका

पद्य	पृष्ठ	पद्य	पृष्ठ
अ		अनया विचरन्ति नित्यशो	२९९
अकर्तृ विज्ञातृ तवेदमद्भुतम	१२०	अनवस्थितमेवमाश्रयन्	२४१
अकर्तृसंवेदनधाम्नि सुस्थितः	११७	अनवस्थमवस्थित एष भवान्	२१५
अक्रमात्क्रममाक्रम्य	१८८	अनेकोऽपि प्रपद्य त्वा	१९४
अखण्डमहिमानन्त	१८७	अनन्तशः खण्डितमात्मनो महः	१०५
अखण्डदर्शनज्ञान	१७८	अनंतविज्ञानमिहात्मना भवान्	१०७
अखण्डसत्ताप्रभृतीनि	०८७	अनंतधर्मप्रथितैःप्रदेशैः	१५२
अखण्डितः स्वानुभवस्तवायं	१६७	अनंतशो द्रव्यमिहार्थपर्ययै	०८९
अखण्डितद्रव्यतया त्वमेकता	३१६	अनंतसामान्यगभीरसारणी	१०४
अगाधधीरोद्धतदुर्द्धरं भरात्	०६६	अनंतरुपस्पृशि शांततेनसि	१०६
अगुरुलघुभिः षट्स्थानस्थैः	३६०	अनंतरूपैरुद्यद्भि	१७६
अचलात्मचमत्कृतचंद्ररुचा	२२५	अनंतबलसन्नद्धं	१७५
अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति	४०५	अनंतवीर्यव्यापार	१९०
अजडत्वमात्रमवयाति चेतना	२०१	अनंतधर्मसम्भार	१९२
अजडप्रमातरि विभौ त्वयि स्थिते	२०२	अनंतभावावलिका स्वतोऽन्यतः	०६८
अजडाद्यविभागतः स्थितः	२९४	अनाकुलत्वादिभिरात्मलक्षणैः	०९२
अजडादिमयः सनातनो	२९६	अनाकुलः स्वयं ज्योति	१८३
अजडादिविशेषणानि ते	२९३	अनादिनष्टं तव धाम यद्बहिस्	०६१
अजडादिविशेषैर्भृता	२९३	अनादिसंसारपथादपेत	१४९
अजडादिविशेषैरयं	२९१	अनादिमथ्यान्तचिदेकभासि	१६२
अजरः पुरुषो जिन स्वयं	२८८	अनादिरक्तस्य तवायमासीत्	१२७
अजस्रमश्रान्तविवेकधारया	११४	अनाद्यनन्तक्रमचुम्बिवैभव	०७८
अज्ञानमारुतरयाकुलविप्रकीर्णा	०३७	अनारतं बोधरसायनं पिबन्	११२
अतएव वियत्कालौ	१८६	अनारतोत्तेजितशांततेजसि	१२४
अतत्त्वमेव प्रणिधानासौष्ठवात्	३०१	अंतर्बाह्यविवर्ति किञ्चिदपि	४०२
अनिशितमनंशमूलसत्ता	२५२	अंतःक्षोभभरप्रमाथविवश	३८१
अत्यन्तदृढितोपयोग	४००	अस्याः स्वयं रभसि	४०७
अत्यन्तमतमितरेतरसव्यपेक्षं	०४४	अंतर्निमग्नानन्यनयस्वभावं	१५६
अधृष्यमन्यैर्विहरन्तमेककं	०९६	अंतःस्तम्भितसावधान	३७६
अध्यारूढोऽन्योन्यविरुद्धो	२८७	अंतःकषायक्षपणः प्रसह्य	१४६

पद्य	पृष्ठ	पद्य	पृष्ठ
अन्यः कर्ता कर्म किलान्यत्	२८३	अयं हि सन्नेव भवस्तव व्यगाद्	३२०
अन्यद्विश्वबहिरिह तव	३४३	अयं भवद्बोधसुखैकसीकरो	११२
अन्योन्यात्मकतारसादिव मिथो	३७२	अलमाकुलप्रलपितैर्व्यवस्थिनं	२१३
अन्योऽन्यमापिबति वाचक	००६	अवगमसुधाधारासारैः	३६२
अन्योन्यवैररसिकाद्भुततत्त्वतन्तु	०१४	अवबोधशक्तिरपयाति नैक्यतो	२१०
अन्यो नश्यत्युदयति परः	३३४	अवस्थितिः सा तव देव	१३७
अन्वयाव्यतिरेकेषु	१९३	अवाप्तभूतार्थविचारसारो	१४२
अपेलवः केवलबोधसम्पदा	०७२	अविरतमिमाः सम्यक्	३६६
अपवादपदैः समन्ततः	२४०	अश्नन् भवान्निजनिकाचितकर्मपाक	०४८
अपरोक्षतया त्वयि भाति	२२१	असीमसंवर्धितबोधवल्लरी	०६५
अपारबोधामृतसागरोऽपि	१६६	असीम्नि संसारमहिम्नि पञ्चधा	१०९
अप्येतत् सदिति वचोऽत्र	२६१	असौ स्वतो भाववतस्तव प्रभो	३२४
अबाधितस्तत्त्वविदां विभुक्ते	१२७	अस्तीति ध्वनिरनिवारितः प्रशम्या	२६५
अभाव एवैष परस्पराश्रयो	३१०	अस्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे	२६१
अभावतां नयन् भाव	१९५	आक्षेपपरिहाराभ्यां	१९१
अभावभावोभयरूपमेकं	१५३	आजन्मानुपलब्धशुद्धमहसः	४०१
अभावभावादिविकल्पजालं	१६१	आत्मा माता मेयमिदं	२८४
अभितः स्फुटितस्वभावया	२९८	आत्मा भवसि कर्तेति	१८२
अभितोऽनुभवन् भवद्विभा	३००	आत्मीकृताचलितचित्पपरिणाममात्र	०२२
अभिभूय कषायकर्मणा	२३१	आत्मेति ध्वनिरनिवारितात्मवाच्यः	२५८
अभिन्नभिन्नस्थितमर्थमण्डलं	०९१	आद्यान्तमध्यादिविकल्पकल्पः	१६९
अभेदभेदप्रतिपत्तिदुर्गमं	०९१	आद्यं ज्योतिर्द्वयात्मक	२७२
अमन्दबोधानिलकेलिदोलितं	०६५	आयुः स्थितिं स्वामवशोपभोग्या	१३०
अमन्दनिर्वेदपरेण चेतसा	०९४	आलम्ब्य विश्वं किल पुष्कलेयं	१५२
अमन्दसंवेदनसान्द्रमूर्तिः	१४०	आलोक्यसे जिन यदा त्वमिहाद्भुतश्रीः	०३१
अमी वहन्तो बहिरर्थरूपतां	०७४	**इ**	
अयमनवधिबोधनिर्भरः	२४६	इतीदमुच्चावचमस्तमामृशत्	३१४
अपि हि बहुना तन्मा	३६५	इतीदमत्यन्तमुपप्लवावहं	३११
अनेकोऽप्यसि मन्ये त्वं	१८६	इत्येवं स्फुटसदसन्मयस्वभावं	२७०
अयमुदयदनन्तबोधशक्तिम्	२४३	इदमेकमनन्तशो हठात्	२३२
अयमूर्जितशक्तिचमत्कृतिभिः	२१६	इदमेवमिति च्छिन्दन्	१८७
अयमेकविशेष्यतां गतस्	२९२	इदमेकमेव परिणाममागतं	२१२

पद्य	पृष्ठ
इदमेव विभाति केवलं	२९७
इदमेव देव सहभाविनीं तप	२००
इदमद्य ददद्विशदानुभवं	२२५
इदमतिभरान्नानाकारं	३५३
इदमुदयम(द)नन्तशक्तिचक्रं	२५०
इदमीश निशायितं त्वया	२३२
इदमचलमनाद्यनन्तमेकं	२५२
इदं तव प्रत्ययमात्रसत्तया	०७९
इदं तवोदेति दुरासहं महः	०६१
इमाः स्वतत्त्वप्रतिवद्धसंहृताः	०६२
इयं सदित्युक्तिरपेक्षते सद्	१३४
इयं द्रघीयसी सम्यक्	१७३
उ	
उत्तानयसि गम्भीरं	१८९
उत्पादितोऽपि मुनिसुव्रत रोपितस्त्व	०१७
उत्सङ्गोच्छलदच्छकेवलपयः	३८४
उदगाद्युदेति तदेव विभौ	२१८
उदयति न भिदा समानभावात्	२५०
उदयति प्रकाशयति लोकमंशुमान्	२०८
उदयति यदा ध्वस्ताधारं	३५५
उदीयमानव्यमानमेव सद्	३१९
उद्दामसंयमभरोद्वहनेऽप्यखिन्नः	०४९
उद्दामोद्यदन्तवीर्यपरम	३८२
उद्यद्विश्वस्वरसमनिशं	३४५
उद्वम्य मांसलमशेषकषायकिट्ट	०५३
उन्मञ्जतीति परितः विनिमज्जतीति	००७
उपप्लवायोच्छलिताः स्वयं बलात्	३१३
उपर्युपर्युच्छलदच्छधामा	१५८
उपर्युपर्यध्यवसायमालया	०९७
उपर्युपर्युर्जितवीर्यसम्पदा	११४
उपैषि भावं त्वमिहात्मना भवान्	०७०
ए	
एक एवोपयोगस्ते	१७७
एकस्य शुद्धस्य निराकुलस्य	१७२
एकः कषायानभिषेणयंस्त्वं	१२८
एकः साक्षादक्षरविज्ञान	२८६
एतत्ततः प्रभृतिशांतमनन्ततेज	०५४
एकस्योच्छलदच्छबोध	३७१
एकस्याक्रमविक्रमैक	३६९
एकस्मादपि वचस्ते द्वयस्य सिद्धौ	२६७
एकः कोऽप्यस्खलितमहिमा	३३६
एकः कोऽपि हठावरुद्धरभस	३७०
एकं प्रकाशकमुशन्त्यपरं प्रकाश्य	००६
एकं भावं शाश्वतमुच्चै	२८५
एकं प्रपीतविषमापरिमेयमेय	०१२
एकाकरस्वरसभरतो	३४७
एकान्तात् सदिति वचो विसर्पि	२६३
एकानेकौ द्वौ सम	२७५
एकानेकं गुणवद्गुणं	३४८
एकानेकमपूर्णपूर्णसतत	३६८
एकान्तादसदिति गीर्जगत्समग्रं	२६४
एकाग्रपूर्णस्तिमिताविभाग	१७०
एको भावस्तावक एषो	२७३
एकोऽप्यनेकत्वमुपैति कामं	१६९
एको न भासयसि देव	००३
एकोऽप्यनेक इति भासि न चास्यनेक	०१५
एकोऽनेको न भवति न चा	३३४
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्त्तमुप्तं	०३०
एकोऽपि त्वमखण्डखण्डित	३७४
एवमेवेति न क्वापि	१८३
क	
ककुभि ककुभि न्यस्यत्	३५९

पद्य	पृष्ठ
करोति भावस्तव बोधवस्तुतां	३२७
कर्मभ्यः कृतिनः क्रमात्	३९५
कलयन्ति भवन्तमनन्तकलं	२२९
कषायनिष्पीडनलब्धसौष्ठवः	०९८
कषायसंघट्टनघृष्टशेषया	११०
कालत्रयोपचितविश्वरसातिपान	
किञ्च ब्रूमः किमिह दहना	३३०
किमनित्यतया विना क्रमस्	२३७
किमदमुदयत्यानन्दौघैः	३५१
कियत्कित्संयमसीमवर्त्मनि	११६
कियत्स्फुटं किञ्चिदनादिसंवृत्तं	११०
कुतोऽन्तरर्थो वहिरर्थनिह्नवे	०८३
कुर्वन्नपूर्वकरणं परिणामशुद्ध्या	०५१
कृतावतारानितरेतरं सदा	०८९
क्रमपरिणतैर्भावैर्भावस्समं	३६०
क्रमभाविभावनिकुरम्बमालया	१९९
क्रमतः किल वाच्यतामियाद्	२३५
क्रमाक्रमाक्रान्तविशेषनिह्नवा	०८५
क्रमापतद्भूरिविभूतिभारिणी	०८५
क्रिययेरितपुद्गलकर्ममलश्	२२८
क्रियमाणदृशिज्ञप्ती	१८१
क्रियाकारकसामग्री	१८२
क्रियां भावत्वमानीय	१८१
क्रियैव मूलं भवमूलमुल्वणं	०९४
क्षणक्षयस्त्वां कुरुते पृथक् पृथक्	३२०
क्षणक्षयस्थेषु कणेषु संविदो	३०५
क्षणक्षयोत्सङ्गितचित्कणावली	३०४
क्षणभङ्गविवेचितचित्कलिका	२१८
ग	
गतं तवापोहतया जगत्त्रयं	३१२
गतो गत्वान्न करोति किञ्चन	३०४
गम्भीरोदरविश्वगह्वरगुहा	३८०
गलत्यबोधः सकले कृते बलाद्	३०५
गिरां बलाधानविधानहेतोः	१३८
घ	
घटितो घटितः परितो झटसि	२१९
च	
चितिमात्रमिदं दृशिबोधमयं	२१४
चित्सामान्यमुदञ्च्य	३९१
चितिहुतवहस्यैकाङ्गारीकृतं	३५८
चित्तेजसा साकमनादिमग्न	१६४
चित्सामान्यविशेषरूप	३९०
चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा	०४१
चिदितीत (श) विशेषणं	२९०
चिदेकधातोरपि ते समग्रता	१०१
चिदेकरूपप्रसरस्तवायं	१५८
चिद्भारभैरवमहोभरनिर्भराभिः	०४०
चिन्मात्रं परिशुद्धमुद्धतरस	३७३
छ	
छायास्पर्शरसेन शांतमहसो	३९७
ज	
जडतोऽभ्युदेति न जडस्य वेदना	२०३
जडमजडमिदं चिदेकभावं	२५३
जयति परमं ज्योतिर	३५०
जातं जातं कारणभावेन	२८१
जिन केवलैककलया निराकुलं	२१२
जिनवर परितोऽपि पीड्यमानः	२४४
जिनाय जितरागाय	१८५
ज्ञातृत्वसुस्थितदृशि प्रसभाभिभूत	०३९
ज्ञानक्रीडारभसलसितै	३३९
ज्ञानाग्नौ पुटपाक एष	४०५

पद्य	पृष्ठ	पद्य	पृष्ठ
त		त्वद्भावभावनाव्याप्त	१८४
ततः कथञ्चित् सकलात्मवीर्यं	१४५	त्रिकालविस्फूर्जदनन्तपर्यय	१०२
ततस्त्वया व्याप्तपरापरेण	१४५	त्रिसमयलसद्विश्वक्रीडा	३५६
ततो गलत्यायुषि कर्म पेलवं	१०१	त्रिसमयजगत्कृत्स्नाकारैः	३६४
तथा सदोऽन्ते जित (जिन) वीर्य सम्पदा	०७६	त्रिसमयजगदेकदीपकोऽपि	२५६
		त्रैलोक्यं विधिमयता नयन्न चास्ते	२६०
तपोभिरध्यात्मविशुद्धिवर्द्धनैः	०९६	त्वमनन्तचिदुद्गमसङ्कलनां	२१९
तद्योगाद् विधिमधुराक्षरं ब्रुवाणा	२५९	त्वमनन्तधर्मभरभावितोऽपि सन्	२०१
तदेव रूपं तव सम्प्रतीयते	३१०	त्वमनेकचिदर्चिकदम्बरुचा	२१५
तन्मुख्यं विधिनियमद्वयाद्युक्तं	२६८	त्वमनन्तवीर्यबलवृंहितोदयः	२११
तयोः सहैवापततोर्विरुद्धयोः	३२५	त्वमसि भगवन् विश्व	३५१
तवं संगममेव वदन्ति सुखं	२२९	त्वमनित्ययावभाससे	२३६
तव सहजविभाभरेण विश्वं	२५४	त्वमात्ममाहात्मयनिराकुलोऽपि सन्	१२३
तव बोधकलामहर्निशं	२३१	त्वमात्मसात्मयज्ञचिदेकवृत्तिता	११६
तवार्हतोऽत्यन्तमहिम्नि संस्थितिं	११८	त्वमुपर्युपरि प्रभो भवन्	२९२
तवात्र तेजस्यनुभूतिमात्रे	१६३	त्वमुच्छिखाप्रस्खलितैकधारया	०९७
तवेति विस्पष्टविकाशमुल्लसद्	१२१	त्वमेकनित्यत्वनिखातचेतसा	०७१
तवेति सत् प्रत्ययपीतमज्जसा	३२४	त्वमेक एवैक रसस्वभावः	१६५
तवेदमुच्चावचमीश मज्जयज्	११८	त्वमेकतां यासि यदीश सर्वथा	३१७
तस्यास्तं गमनमनिच्छता	२५९	त्वमीश विज्ञानघनौघघस्मरे	३०९
तस्मिन् भवानप्रचलप्रदेशः	१४८	द	
तीक्ष्णं तीक्ष्णमिहोवयोगमचल	३९९	दलितदलितैश्छिन्नच्छेदै	३५८
तिर्यग्विभक्तवपुषो भवतो य एव	०२९	दीप्रः प्रार्थयते विश्वं	१७४
तीक्ष्ण्यो (तीक्ष्णो) पयोग निर्व्यग्र	१८४	दृवगमयोर्दिव्योच्छ्वासा	३६४
तीर्थाद् भवन्तः किल तद् भवद्भ्यो	१३१	दृग्बोधद्रढिमोपगूढवितत	३७१
तीव्रैस्तपोऽभिरभितस्तव देव नित्यं	०५०	दृग्बोधमात्रमहिमन्यपहायमोह	०४४
तेजः स्पृशामि तव तत् दृशिबोधमात्र	०२४	दृग्बोधैक्यमयोपयोगमहसि	३८३
त्वदंशसंवुक्षणदारुणो भवन्	३२८	दृग्बोधवीर्योपचितात्मशक्तिः	१५०
त्वदेकविज्ञानघनाभिषैधनात्	३०९	दृग्बोधयोस्तैक्ष्ण्यविधायि वीर्यं	१४८
त्वद्वैभवैककणवीक्षण	०३४	दृग्ज्ञप्त्योः सहकारीद	१७८
तेन ध्रौव्यप्रभवविलप	३३५	दृग्ज्ञप्तीभवतो नित्यं	१८०

पद्य	पृष्ठ
देवांप्येवं भवति न भवान्	३३२
दृग्ज्ञप्तिस्फुरितात्मनास्यनवधिः	३७७
दृढोपयुक्तस्य तव स्फुटन्त्यः	१५०
दृगवगमगभीरमात्मतत्त्वं	२४७
द्रव्येणैको नित्यमपीशासि	२७४
दृशि दृश्यतया परितः स्वपरा	२२२
दृशिबोधसुनिश्चलवृत्तिमयो	२२७
द्दश्यज्ञेया (य) बहिर्वस्तु	१८०
दृष्टः कस्मिन् कश्चिदनेकेन	२७५
दृष्टोऽपि भ्रमकृत् पुनर्भवसि	३९४
देव स्फुटं स्वयमिमं मम चित्तकोशं	०५८
देवालम्बो भवति युगपत्	३४०
देवावारकमस्ति किञ्चदपि	३८७
ध	
धत्तेऽसौ विधिरधिकं निषेधमैत्री	२७०
ध्रुवं तव द्वयात्मकतैव यद् भवान्	३१७
न	
न कदाचनापि परवेदनां विना	२०४
न कार्यं कारणं नैव	१९६
न किल स्वमिहैककारणं	२३७
न किलैकमनेकमेव वा	२३६
न किलैकमनेकतया घटते	२१७
न किञ्चनापि प्रतिभाति बोधतो	३०७
न खलु स्वपरप्रकाशने	२९९
न च वेदनात्मनि सदात्मनात्मनः	२०४
न चैकसामान्यमिदं तव प्रभो	३२४
न जात्वभावस्य विभाति तुच्छता	३२६
न ते विभक्तिं विदधाति भूयसी	०६८
न ते कर्मादिरद्यपेक्षित्वात्	१८०
न परानवभासयन् भवान्	२३९
न पराश्रयणं न शून्यता	२८९
न परावमर्शरसिकोऽभ्युदीयते	२०६
न भवन्ति यतोऽन्यथा क्वचिद्	२३४
न भासि सामान्यविशेषवत्तयो	३२१
न मानमेयस्थितिरात्मचुम्बिनी	०८४
न यस्य विश्वास्तमयोत्सवे स्पृहा	३१४
न वर्द्धसे यासि च सर्वतुङ्गता	०७७
न वार्थसत्ता पृथगर्थमण्डलीं	०८२
न विना श्रयिणः किलाश्रयो	२३३
न शब्दसत्ता सह सर्ववाचकैः	०८२
नश्वरत्वं दृशिज्ञप्त्यो	१७९
न हि बोधमयत्वमन्यतो	२३८
न हि वाच्यमवाच्यमेव वा	२३४
निजगरिमनिरंतरायपीड	२५६
नानारूपैः स्थितमतिरसाद्	३४५
नावस्थितिं जिन ददासि न चानवस्था	०२७
नास्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे	२६२
नास्तीति ध्वनितमनंकुशप्रचारात्	२६५
निजभावभृतस्य सर्वतो	२९१
नितान्तमिद्धेन तपोविशोषितं	०९३
नित्यं किं हि स्यात्	२७६
नित्यानित्यौ द्वौ सम	२७७
नित्योदिते निजमहिम्नि विमग्नविश्वे	०३१
नित्योऽपि नाशमुपयासि न यासि नाशं	०१०
निरर्गलोच्चालविशालधाम्नो	१५७
निरवधि भवभूमि निम्नखातात्	२४५
निरवधिघटमानभावधारा	२५१
निरवधि च दधासि निम्नभावं	२४६
निरवधिनिजबोधसिन्धुमध्ये	२४८
निर्दारितोऽपि घटसे घटितोऽपि दारं	०१६
निर्भागोऽपि प्रसभमभितः	३३१
निविडनिविडे मोहग्रन्थौ	३५६

पद्य	पृष्ठ	पद्य	पृष्ठ
निवृत्ततृष्णस्य जगच्चराचरं	१०३	प्रत्यक्षमुत्तिष्ठति निष्ठुरेयं	१३७
निःसीम्नोऽस्य भरात् स्सलद्भिरभितो	३६९	प्रत्यक्षार्चिःप्रचयखचितै	३२९
निषीदतस्ते स्वमहिम्न्यनन्ते	१६७	प्रदेशभेदक्षणभेदखण्डितं	०८६
निष्कर्तृत्वनिरीहितस्य सततं	३८२	प्रदीपवन्निर्वृतिमागतस्य ते	३०६
निष्कम्पाप्रतिघोपयोगगरिमा	३८४	प्रमातृरूपेण तव स्थितस्य	१५१
निष्कम्पे हृदि भासि तस्य	३९६	प्रमातृमेयाद्यविभिन्नवैभवं	१०५
निष्कम्पैकदृढोपयोगसकल	३७६	प्रमेयवैशद्यमुदेति यद्बहिः	०७५
नूनं नान्तर्विशति न बहिर्	३३१	प्रवर्तते नैव न चातिवर्तते	१२२
नो सामान्यं भाति विनैवा	२७४	प्रलाप (प्रहाय) विश्वं सकलं बलाद् भवान्	१११
प			
परवेदना न सहकार्यसम्भवे	२०५	प्रसह्य माँ भावनयाऽनया भवान्	१०८
परवेदनास्तमयागाढसंहता	२०५	प्रागभावादयोऽभावाश्	१९३
परस्परं संवलिते दीप्यता	०६७	प्राप्यानिवृत्तिकरणं करणानुभावा	०५२
परस्परापोहतया त्वयि स्थिताः	३११	**ब**	
पर प्रदेशैर्न परः प्रदेशी	१५१	बद्धोऽपि मुक्त इति भासि न चासि मुक्तो	०१९
परापरोल्लेखविनाशकृद्बलात्	३०१		
परात्परावृत्तचिदात्मनोऽपि ते	०७३	बहिरङ्गहेतुनियतव्यवस्थया	२११
परात्मनोस्तुल्यमनादिदुःख	१३८	बहिरन्तरप्रतिहतप्रभाभरः	२०९
परिणतसकलात्मशक्तिसारः	२५५	बहुरूपचिदुद्गमरूपतया	२२६
पश्चादशेषगुणशीलभरोपपन्नः	०५६	बाह्यान्तःपरिवृत्तिमात्रविलसत्	३८९
पिवन्नपि व्याप्तहठेन विश्वं	१३५	बाह्यार्थान् परिहृत्य तत्त्व	३९३
पीतं पीतं वमतु सुकृती	३४७	बाह्यार्थ स्फुटयन् स्फुट	३९२
पूर्णः पूर्णो भवति नियतं	३३७	विभ्रता तदतद्रूप	१९१
पूर्वश्चुम्बति नापरस्त्वमपरः	३७९	बोधप्रधानः किलं संयमस्ते	१४७
पूर्वासंयमसञ्चितस्य रजसः	०३८	बोधाग्निरिन्धनीकुर्वन्	१७५
प्रकाशयन्नप्यतिशायिधामभि	०७२	बोधातिरिक्तमितरत् फलमाप्तुकामाः	०३७
प्रकृतिर्भवतः परिणाममयी	२२०	बहिरपि पटन यच्छुद्धोऽसि	३६३
प्रच्छादयन्ति यदनेकविकल्पशङ्कु	०२६	**भ**	
प्रतिपदमेतदेवमित्यनन्ता	२४८	भगवन्नवकीर्णकश्मलो	२९६
प्रतिक्षणं संस्पृशता स्ववीर्यं	१२९	भवतीति न युज्यते क्रिया	२९५
प्रतिसमयलसद्विभूतिभावैः	२५१	भवत्सु भावेषु विभाव्यतेऽस्तिता	०६९

पद्य	पृष्ठ
भवने भवतो निरङ्कुशे	२९५
भवन्तमप्यात्ममहिम्नि कुर्वती	०७९
भावाभावं तव रयपतः	३३५
भवस्य पन्थानमनादिवासितं	०९५
भावाभावौ द्वौ सम	२७९
भावो भवस्यतिभृतः सहजेन धाम्ना	०२९
भावो भवन् भासि हि भाव एव	१७१
भावाद्भिन्नः कीदृगभाषोऽत्र	२७८
भामात्रमित्युक्तलितप्रवृत्ति	१७०
भावास्सहभुवोऽनन्ता	१८८
भावानामनवधिनिर्भरप्रवृत्ते	२६९
भिन्नो भेदं स्पृशति न विभो	३३२
भिन्दंस्तमोऽनादिदृढप्ररूढं	१३२
भिन्नोऽस्मिन्भुवनभरान्न भाति भावो	२६४
भूतं भवद्भावि समस्तविश्वं	१५३
भूतोऽधुना भवसि नैव न वर्तमानो	०१२
भृतोऽपि रिक्ततामेषि	१९७
भृतोऽपि भूयो म्रियसे स्वधामभिः	१२२
भ्रान्त्वा समस्तं जगदेव दीनं	१५४
भ्रान्तोऽप्यविभ्रममयोस्ति सदाभ्रमोऽपि	०२१
म	
मज्जन्तीव जगन्ति यत्र	३७८
मन्दः समस्वादभरेण नक्तं	१४४
महताप्यविकासभरेण भृशं	२२४
माताऽसि मानमसि मेयमसीशमासि	००२
मार्गावताररसनिर्भरभावितस्य	०४३
मार्गावतारे शमसंभृतात्मा	१४२
मित्वा मेयं पुनरपि मितेः	
मुख्यत्वं भवति विवक्षितस्य साक्षात्	२६९
मुहुर्मिथःकारणकार्यभावतो	०८९
मुहुर्मुहुर्वञ्चितचित्प्रहारैः	१२९
मोहः कर्मप्रकृतिभरतो	३३८
मोहोदयस्खलितबुद्धिरलब्धभूमिः	०४६
य	
यः प्रागासीर्वर्त्स्यदपेक्षः	२८५
य एवास्तमुपैषि त्वं	१९५
यतस्तवेदं प्रतिभासि शब्द	१४०
यत् तद् द्रव्यं रक्षति	२७६
यत्रास्तमेति बहिरर्थतमस्यगाधे	०२७
यदत्र किञ्चित् सकलेऽर्थमण्डले	१०३
यथैकतां यासि तथा समानता	३२२
यदमूर्त इति स्फुटोदयं	२८९
यदि बोधमबोधमालालुलितं	२२८
यदि सर्वगतोऽपि भाससे	२४०
यदिदं वचसां विषयाविषयः	२२३
यदि दृश्यनिमित्तक एष दृशि	२२३
यदि स्वयं नान्त्यविशेषतां व्रजेः	३१५
यदेव बाह्यार्थघनावघट्टनं	०७४
यद् द्रव्यपर्ययगतं श्रुतबोधशक्त्या	०४९
यन्नास्तीति विभासि भासि	३७४
यद्भाति भाति तदिहाथ च (न) भात्यभाति	००४
यस्मादिदं विधिनिषेधमयं चकास्ति	०२८
यस्मिनवस्थितिमुपैत्यनवस्थितं तत्	००८
यस्मिन् भावास्त्रिसमयभुवस्	३४१
यन्मिथ्यापि विभासि वस्त्विह	४०२
यान्ति क्षणक्षयमुपाधिवशेन भेद	०१५
युगपदखिलैरेकः साकं	३६५
ये नित्योत्सहनात् कषायरजसः	३८८
ये साक्षात् प्रतिभान्ति कल्मवमर्षी	४०४
ये निर्विकल्पसविकल्पमिदं महस्ते	०२५
ये भावयन्यविकलार्थवतीं जिनानां	०२३

पद्य	पृष्ठ
ये साधयन्ति भगवंस्तव सिद्धरूपं	०३५
ये गृह्णन्त्युपयोगमात्मगरिम	३९०
यैरेव देव पशवोऽशुभिरस्तबोधाः	०३८
योगान् जिघांसुरपि योगफलं जिघृक्षुः	०५५
र	
रागग्रामविनिग्रहाय परमः	३९५
रोमन्थमन्थरमुखो ननु गौरिवार्थो	०३३
ल	
लीनस्य स्वमहिम्नि	३७९
लब्धज्ञानमहिम्न्यखण्ड	४०३
ललितललितैरात्मन्यासैः	३५२
लोकप्रकाशनपरः सवितुर्यथा वा	००५
व	
वत्स्यद्वृत्तविवर्तवर्तिमहसा	३७३
वल्गत्वन्ये ज्ञाननिमित्त	२८२
वस्तूना विधिनियमोभयस्वभावा	२५८
वहन्त्यनन्तत्वममी तवान्यया	०६४
वाग्विप्रुषस्ते कृतचित्रमार्गाः	१३२
विघटितघटितानि तुल्यकालं	२५३
वाच्यादन्यत् किञ्चिदवाच्यं	२८०
वाच्यावाच्यौ द्वौ सम	२८०
विचित्ररूपाकृतिभिः समन्ततो	३०७
विज्ञानघनविन्यस्त	१९८
विज्ञानतन्तव इमे स्वरसप्रवृत्ता	०३६
वितृष्णता ज्ञानमनन्तरायं	१४९
विदग्धरोगीव बलाविरोधात्	१४४
विधिवद् दधती स्ववैभवात्	२९८
विधिरेष निषेधवाधितः	२३३
वधिनियमभयाद्धुतस्वभावात	२४९
विनैव विश्वं निजवस्तुगौरवात्	०८१
विनोपयोगस्फुरितं सुखादिभिः	०८४

पद्य	पृष्ठ
विपक्षसापेक्षतयैव शब्दाः	१३३
विभो विधानप्रतिषेधनिर्मितां	०६९
विभाति भावो न निराश्रयः क्वचित्	३२५
विभाति वृत्तिं न विनैव वृत्तिमान्	३१८
विभो विशेष्यस्य तवाविशेषतो	३१८
विरता मम मोहयामिनी	२४२
विशदेन सदैव सर्वतः	२९०
विशिष्टवस्तुत्वविविक्तसम्पदो	०६७
विशीर्यमाणैः सहसैव चित्कणैः	३०३
विशुद्धबोधप्रतिबद्धधाम्नः	१६०
विशुद्धचित्पूरपरिप्लुतस्त्व	१६६
विशुद्धयति व्याप्तिरसेन वल्गिता	३०२
विश्वग्रासादनाकाङ्क्षः	१७६
विश्वग्रासातिपुष्टेन	१७५
विश्वाभिलेहिभिरनाकुलचिद्विलासैः	०३२
विश्वाकारविकाशनिर्भर	३७५
विश्वैकभोक्तरि विभौ भगवत्यनन्ते	०४१
विश्रान्तरागरुषितस्य तपोऽनुभावा	०४५
विषयततयो भान्त्योऽत्यन्तं	३५५
विषया इति स्पृशति वीर	२०७
विष्वग्व्याप्तः सत्यविशेषे	२८४
विष्वक्ततोऽपि न ततोऽस्य ततोऽपि नित्य	०१९
विषयं परितोऽवभासयन्	
वृत्तं तत्त्वमनन्तं स्व	१८९
वैद्यस्य विश्वगुदयावलिकाः स्खलन्ती	०४७
व्यतीतसंख्येष्वपि शक्त्यरक्षया	११३
व्यवहारदृशा पराश्रयः	२३९
व्यपोहितुं द्रव्यमलं न पर्यया	०९०
व्यापारयद् दुःखविनोदनार्थं	१३९

पद्य	पृष्ठ
श	
शनैः समुद्धव्यवसायसम्पदा	०९९
शब्दानां स्वयमुभयात्मिकास्ति शक्तिः	२६७
शब्दानां स्वयमपि कल्पितेऽर्थभावे	२६०
शब्दार्थसंक्रमवितर्कमनेकधाव-	०५३
शमरसकलशावलीप्रवाहैः	२४४
शुद्धोपयोगरसनिर्भरबद्धलक्ष्यः	०४७
शून्योऽपि निर्भरभूतोऽतिभूतोऽपि चान्य	००९
श्रितसहजतया समग्रकर्म	२४६
श्रेणी प्रवेशसमये त्वमथाप्रवृत्तं	०५१
स	
स एवास्तमुपैषित्वं	
सततमभितो ज्ञानोन्मेषैः	३६२
सतो न नाशोऽस्ति न चासदुद्भवो	३१९
सतो निरंशात् क्रमशोंऽशकल्पनात्	०८७
सत्प्रत्ययः संस्पृशतीह विश्वं	१३५
सत्यस्मिन् स्वपरविभेदभाजि विश्वे	२६२
समग्रशब्दानुगमाद् गभीरया	०८०
समग्रसामान्यमुपैति वस्तुतां	३२३
समस्तनिस्तीर्णचरित्रभारः	१४७
समन्ततो दृष्टिरवारितेयं	१५४
समन्ततः सौरभमातनोति	१६४
समस्तमन्तः स्पृशतापि विश्वं	१३१
समस्तमन्तश्च बहिश्च वैभवं	०९२
समस्तावरणोच्छेदात्	१७७
समन्ततश्चिद्भरनिर्भरो भवान्	१२५
समन्ततः स्वावयवैस्तव प्रभो	३०३
समन्तमन्तश्च बहिश्च वस्तु तत्	३१२
समन्ततोऽनन्तगुणाभिरद्भुतः	०९८
समस्तमेतद् भ्रम एव केवलं	३१३
समामृतक्षालनगाढकर्मणा	११५
समामृतानन्दभरेण पीडिते	१००
समामृतस्वादविदां मुनीनां	१४०
समा विशेषो भवतो भवन्ति ये	३२३
समपतितया स्फीत	३५२
समुच्छलत्यत्र तदा द्वितीये	१५९
समुदेति विनैव पर्ययैः	२३३
सममुदयतः शान्तातङ्कैः	३५४
सममतिभरादेवत् व्याप्य	३६३
सम्प्रत्यनन्तसुखदर्शनबोधवीर्य	०५६
संक्रामसीव लिखसीव विकर्षसीव	०५८
सदैक एवायमनेक एव वा	०७१
सदोदितानन्दविभूतितेजसा	०६०
संप्रत्यसंकुचितपुष्कलशक्तिचक्र	०४०
सन्नप्यसन्स्फुटमसन्नपि	०११
संरक्षतस्तेऽस्खलितार्थदृष्टेः	१४३
संविद्वीच्यस्तव तत इतो	३४२
स विभाति विभामयोऽस्ति यो	२९६
सर्वं विदित्वैक्यमपि प्रमार्ष्टुं	१३६
सर्वं सददित्यैक्यमुदाहरन्ती	१३४
सर्वं वाच्यं द्वयात्मक	२७९
सर्वत्राप्यप्रतिघमहिमा	३४६
सर्वा क्रिया कारककश्मलैव	१६७
सर्वात्मकोऽसि न च जातु-	०१३
सर्वे भावाः सहजनियता	३३८
सहजप्रमार्जितचिदच्छरूपता	१९९
सहजा सततोदिता समा	२९७
सहजा सदा स्फुरति शुद्धचेतना	२०९
साक्षादसंख्यगुणनिर्जरणस्रजत्व	०५४
साक्षादनित्यमप्येत	१९४
साक्षात्कषायक्षपणक्षणेऽपि	१३०
सापेक्षो यदि न विधीयते विधि	२६६

पद्य	पृष्ठ	पद्य	पृष्ठ
सामान्यस्योल्लसति महिमा	३३३	स्वभावबद्धाचलितैकदृष्टेः	१६२
सामान्यं क्षणमुन्नमय्य सपदि	३९९	स्वभावसीमानमनन्यवाधितां	१२०
सुचरितशिंतसंविदस्त्रपातात्	२४५	स्वस्मै स्वतः स्वःस्वमिहैक भावं	१६८
सुनिष्तुषान्तावधिशुद्धमूलतो	३१५	स्याद्वादवार्मनि परात्म	४०७
सुविशुद्धैश्चिदुद्गारै	१७४	स्वद्रव्याद् विधिरयमन्यथा निषेधः	२७१
सूर्याशुजाः पावकविप्रुषस्ते	१४३	स्ववैभवस्य ह्यनभिज्ञतेजसो	०६३
सोऽयं भावः कर्म यदेतत्	२८१	स्वस्मिन्निरुद्धमहिमा भगवंस्त्वयायं	०३३
स्यात्कारः किमु कुरुतेऽसतीं सतीं वा	२६६	स्वं सूक्ष्मकिट्टहठघट्टनयावशिष्ट	०५२
स्वद्रव्याद्यैः स्फूर्जसि	२७७	स्पष्टीकृत्य हठात्कर्थ कथमपि	३८६
स्वयमेकमनेकमप्यदस्	२३५	स्वान्तःकुड्मलितेऽपि केवल	३७८
स्वयमेव देवभुवनं प्रमेयतां	२०८	स्वायंभुवं मह इहोच्छलदच्छमीडे	००१
स्वयमेव देवभुवनं प्रकाश्यतां	२०७	स्वैरेवोल्लसितैरनन्तवितत	३८१
स्वयं हि कुम्भादितया न चेद् भवान्	३०८	स्पृशन्नपि स्वांशुभरेण भूयसा	११९
स्वयं प्रबुद्धाखिलवास्तवस्थितिः	१००	स्पृशदपि परमोद्गमनविश्वं	२५५
स्वयमपि परात्प्राप्याकारं	३६१	स्फुटभावमात्रमपि वस्तु ते भवत्	२०९
स्वयं समानैरिह भूयते हि यत्	३२२	स्फुरति परितो बाह्यार्थानां	३५७
स्वयं दृग्ज्ञप्तिरूपत्वात्	१७९	स्फुरत्यभावः सकलस्य यः प्रभौ	३२७
स्वपरोभयभासि ते दिशां	२३८	**ह**	
स्पराकृतिसङ्कलनाकुलिता	२२२	हठघट्टनयानया तव	२४१
स्परूपपररूपाभ्यां	१८६	हठस्फुटच्चित्कलिकोच्छलन्महो	१२५
स्वरूपगुप्तस्य निराकुलात्मनः	१०७	हेतुरेव समग्रोऽसि	१९६
स्वरूपसत्तावष्टम्भ	१९१	ह्लियते हि परैर्विषयै	२२६
स्ववीर्यसाचिव्यबलाद् गरीयसी	१०२		

पाठको की नोंध के लिये

पाठको की नोंध के लिये